ाल वाराणसी में जन्मी प्रतिभा-सपन्न
ंस्कृत एव चित्रकला में एम० ए० किया।
ला-इतिहास विभाग, काशी हिन्दू
० एच० डी० की उपाधि से सम्मानित
१९८० ई० तक यू० जी० सी० रिसर्च
डाक्टरल रिसर्च, भारत कला भवन मे
प में १९७८ ई० में वसन्त कन्या
ासी में अस्थायी चित्रकला प्रवक्ता पद
:९८० ई० से दृश्य कला संकाय, का०
कला इतिहास प्रवक्ता तथा १९८६ ई०
पर कार्यरत है।

चित्रकला मे आपकी रुचि बाल्यकाल
की कवितायें, कहानियां, लेख विभिन्न
ाशित होते रहे हैं। आपके अनेक चित्र,
, पुरस्कृत एवं प्रशंसित हुए हैं। सस्कृत
ला समन्वित आलोचनात्मक आपके
एवं विदेश की प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओं
क हैं। अनेक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय
ेलनों में आमंत्रित व्याख्यान तथा
ने प्रस्तुत किया है। आपने चित्रकला
ंधी विषयों पर आयोजित अनेक सभाओं
या है।

संकाय, का० हि० वि० वि०, जीवाजी
लियर के अध्ययन मंडल की, इंडियन
र्ट हिस्टोरियन तथा इन्टैक की सदस्या
द आश्रम, पांडिचेरी की वाराणसी शाखा
ा भी हैं।

000-9

भारतीय चित्रकला के मूल स्रोत

संस्कृत साहित्य के उल्लेखों पर आधारित

परम पूज्य माता-पिता की पुण्य स्मृति

में

सादर समर्पित

विषयानुक्रमणिका

ग्रन्थ - परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ वैदिक काल से चौदहवी शती तक के बृहद् संस्कृत साहित्य की मूल कृतियों में उल्लिखित चित्रकला के संदर्भों पर आधारित है। इसमे चित्रकला के विविध आयामों का सर्वेक्षणात्मक एवं आलोचनात्मक परिशीलन प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य के चित्रोल्लेखों की तुलना ऐतिहासिक स्थलों के चित्रों एवं विभिन्न शैलियों के चित्रो से करके उसका समानान्तर प्रमाण भी इसमें प्रस्तुत किया गया है। सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक समन्वय से चित्रकला के इतिहास तथा ऐतिहासिक चित्रो में समय और स्थान के साथ हुए परिवर्तन पर समुचित प्रकाश डाला गया है। कुछ कला - इतिहासवेत्ताओ द्वारा उद्धृत चित्रोल्लेखों की व्याख्या का प्रायोगिक विधियों से समन्वय स्थापित न होने तथा अनेक त्रुटियो एवं भ्रान्तियों से युक्त होने के कारण उनका पुनर्मूल्यांकन भी इसमे किया गया है। इसमे संस्कृत साहित्य द्वारा परिलक्षित चित्रकला की अनेक नवीन विशेषताओं पर भी विचार प्रस्तुत किया गया है जिन पर आज तक कोई कार्य नही हुआ। भारतीय चित्रकला में अनुस्यूत वैदिक ऋषियों के गूढ गम्भीर दार्शनिक विचारों का विवेचन भी इसमें सस्कृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य में किया गया है जो इस कला के मूलस्रोत एवं प्राण हैं।

इस प्रकार यह ग्रन्थ साहित्य - मर्मज्ञो, भारतीय चित्रकला कोविदों, शोधकर्ताओं, आधुनिक चित्रकारों तथा कला - इतिहास के विद्यार्थियों के लिए प्रेरणा स्रोत का कार्य करेगा, हिन्दी में इस विषय पर अभी तक कोई प्रकाशित ग्रंथ नही है। आशा है, इस कृति का स्वागत सभी क्षेत्रो के पाठकों द्वारा किया जायेगा।

अतः परं प्रवक्ष्यामि चित्रसूत्रं तवानघ ।
उर्वशीं सृजता पूर्वं चित्रसूत्रं नृपात्मज ।।१।।

नारायणेन मुनिना लोकानां हितकाम्यया ।
प्राप्तानां वञ्चनार्थाय देवस्त्रीणां महामुनिः ।।२।।

सहकाररसं गृह्य ऊर्वी चक्रे वरस्त्रियम् ।
चित्रेण सा ततो जाता रूपयुक्ता वराप्सराः ।।३।।

एवं महामुनिः कृत्वा चित्र लक्षणसंयुतम् ।
ग्राहयामास स तदा विश्वकर्माणमच्युतम् ।।४।।

पुरोवाक्

प्रस्तुत ग्रंथ "भारतीय चित्रकला के मूलस्रोत" मेरे शोध-प्रबन्ध पर आधारित है। चित्रकला के मूलस्रोत विशद संस्कृत साहित्यो में प्राप्त होते हैं। वैदिक काल से चौदहवीं शती तक के संस्कृत ग्रंथो के चित्रोल्लेखों का गवेषणापूर्ण आलोचनात्मक परिशीलन इसमें किया गया है। भारतीय चित्रकला मे अनुस्यूत वैदिक ऋषियो के गूढ़, गंभीर दार्शनिक विचारो का विवेचन भी इसमें संस्कृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे किया गया है। वे इस कला के प्राण है। वैदिक ग्रंथो के गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन चित्रकलाओ का मूलस्रोत ब्रह्म द्वारा निर्मित प्रकृति है। चित्रकारों ने प्रकृति से ही सुन्दरतम रूप एवं रग को लिया है। क्षण-क्षण नवीन रूप धारण करने वाली प्रकृति का सर्वोत्तम रूप साधक को चिर यौवना हिरण्यमयी उषा मे परिलक्षित होता है, जिससे कवि और चित्रकार प्रेरणा ग्रहण करते है। चित्रसूत्र की कथा मे भी चित्रकला को प्रारंभ करने का श्रेय स्वयं नारायण को है जिन्होने परम सुंदरी उर्वशी अप्सरा का सर्व प्रथम चित्रांकन किया। तत्पश्चात् नारायण ने इस कला को आगे बढाने के लिए विश्वकर्मा को सौंप दिया। नारायण ने लोगों के हित की कामना से चित्र-सूत्र का निरूपण किया था। सत्य, शिवं, सुन्दरं के मूलभाव को समझने की शक्ति कवि तथा चित्रकार को निरतर साधना से प्राप्त होती है, कवि शब्दो मे और चित्रकार रूपों में उसे चित्रपट पर अभिव्यक्त करता है। चित्रपट ही चित्रकार के मनोभावों का दिग्दर्शन कराता है। कलाकार सामाजिक प्राणी है, अतः उसकी अभिव्यक्ति में तत्कालीन समाज, धर्म, दर्शन, राजनैतिक स्थिति इत्यादि परिलक्षित होती है। इन सबको साहित्य रूपी कुंजी से जाना जा सकता है।

इस ग्रंथ में भारतीय चित्रकला के विभिन्न सैद्धांतिक पहलुओ पर एवं तकनीक आदि प्रायोगिक विधियों में समयानुसार हुए परिवर्तनो पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही संस्कृत साहित्य के चित्रोल्लेखो की तुलना ऐतिहासिक स्थलों के चित्रो एवं विभिन्न शैलियो के चित्रो से करके उसका समानांतर प्रमाण भी प्रस्तुत किया गया है। कुछ विद्वानो ने तकनीकी प्रायोगिक ज्ञान के अभाव के कारण संस्कृत साहित्य के चित्रोल्लेखों की व्याख्या करने में अनेक त्रुटियाँ की हैं। अतएव उन त्रुटियो एवं भ्रांतियो के संशोधन के लिए उनका पुनर्मूल्यांकन भी किया गया है। इससे अनेक नवीन तथ्य उभर कर सामने आये हैं। प्रायः शिल्पकार तकनीकी बारीकियो को शास्त्रकारों को स्पष्ट नही बतलाते थे, अतएव शिल्पशास्त्रकारो ने उन्हे शास्त्रों में लिपिबद्ध नही किया है जिससे आधुनिक विद्वानो को उसे समझने में अनेक कठिनाइयाँ एवं भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई है। इस ग्रंथ में वैसे कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण करने का यथासंभव पूर्ण प्रयास किया गया है। इसमें संस्कृत साहित्य के चित्रकला संबंधी अनेक नवीन एवं रोचक उल्लेखों का भी विश्लेषण किया गया है जिन पर अभी तक किसी का ध्यान नही गया था।

प्रस्तुत विषय पर अध्ययन करने के लिए मुझे मेरे गुरु सुप्रसिद्ध कलाविद् श्रद्धेय प्रो० आनन्द कृष्ण ने प्रेरित किया था। उनकी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। कलामर्मज्ञ श्री कार्ल खंडालवाला, रायकृष्णदास डा० मोतीचन्द्र, श्री सी० शिवराममूर्ति, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री विजयकृष्ण कलाशिल्पी श्री नन्दलाल बोस एवं उनके प्रिय शिष्य तथा मेरे कलागुरु श्री शान्तिरंजन बोस, शैलेन्द्र नाथ दे प्रभृति महानुभावों से भी सत्परामर्श एव ज्ञान प्राप्त करने का मुझे अनेक बार सौभाग्य प्राप्त हुआ, एतदर्थ मैं उन सबके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

मैं अपने परम पूज्य माता-पिता के सौहार्दपूर्ण सहयोग एवं आशीर्वाद के पुण्य प्रसाद के फलस्वरूप इस ग्रन्थ-रचना में सफल हो सकी, उनके चरणारविन्दो मे मेरा कोटिशः प्रणाम है।

इस ग्रंथ को उपादेय बनाने में सहयोग के लिए मैं अपने सहपाठियों एवं शुभचिंतकों, विशेषतः डा० टी० के० विश्वास, डा० आर० पी० सेन, श्री वी० पी० त्रिपाठी और श्री आर० सी० पाठक के प्रति सद्भावना व्यक्त करती हूँ तथा हृदय से साधुवाद देती हूँ।

ग्रंथ संबंधी चित्रों को उपलब्ध कराने में सहयोग के लिए भारत कला भवन, अमेरिकन एकेडमी तथा ग्रन्थालयों के अधिकारियों के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ। इस ग्रंथ के प्रकाशन में त्रुटि रहित सुन्दर मुद्रण के लिए प्रकाशक ने जो अथक प्रयास किये है, एतदर्थ मैं उनकी भी परम आभारी हूँ। फिर भी ग्रंथ में यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो मैं उसके लिए पाठको से क्षमा प्रार्थी हूँ।

भानु अग्रवाल

कार्तिक पूर्णिमा, १९९०
वाराणसी।

भूमिका

विश्व साहित्य मे संस्कृत साहित्य अति समृद्ध एवं अतुलनीय है। यह साहित्य न केवल बृहत्तर भारत मे ही, वरन् विश्व के विद्वानों और रसिकों के हृदय मे भी कला और साहित्य के प्रति अनन्तकाल से अनुराग जगाता रहा है, जो रसज्ञ और सहृदय हैं उनके हृदय मे ही साहित्य एवं कला रस-संचार करती है और वे ही उसकी वाणी का मर्म समझ पाते है।

भारतीय चित्रकला के समग्र अध्ययन के लिए उसकी प्रकृति, विधान और शास्त्रीय पृष्ठभूमि को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि उसके मूल स्रोत भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति को साथ मिलाकर देखा जाये। संस्कृत साहित्य मे चित्रकला के विविध अंगो पर विवेचनात्मक उल्लेख मिलते है, जिनका विश्लेषणात्मक अध्ययन करना अत्यावश्यक है। चित्रकला के उदाहरणों से इनकी पुष्टि होती है, परन्तु उनके साथ-साथ अनेक ऐसे उपांगों का भी पता चलता है जिनका अभी तक कोई चाक्षुष प्रमाण नही मिला है। वस्तुत: ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। साहित्यिक सदर्भो से इन चित्रों की और उनकी परम्पराओं की कुंजी मिल जाती है। संस्कृत साहित्यो में चित्रकला के ये अगणित उल्लेख कभी अनायास, कभी जान-बूझकर कवियो, नाटककारों ने समाविष्ट किये है।

चित्रकला संबंधी यह सामग्री वेदो से प्रारम्भ होकर चौदहवी शती तक के मूल संस्कृत ग्रन्थो मे संकलित की गई है, किंतु सातवी शती तक के संस्कृत साहित्यों को विशेष रूप से यहाँ लिया गया है, क्योंकि इन्ही ग्रन्थों की परम्पराओं पर आगे के अधिकाश ग्रन्थों की रचना की गई है जिनके उल्लेख तथा उद्धरण यथास्थान दिये गये हैं। वस्तुत: यहाँ इन साहित्यो मे चित्रकला के उल्लेखो का मूल उद्देश्य किसी विशेष प्रवृत्ति के विकास को प्रकट करना है। ऐसी स्थिति में ये काल-सीमा प्रधान नही रह जाती। इसी प्रकार यहां अजंता के अतिरिक्त एलोरा, पाल, मुगल, राजस्थानी, पहाड़ी शैलियों तथा समकालीन चित्रो की चर्चा भी इसी उद्देश्य से की गई है। वस्तुत: परम्परागत समाज, साहित्य तथा कला मे ऐसी भावात्मक एक सूत्रता दीर्घकाल तक चलती रही।

संस्कृत साहित्य में वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पंचदशी, काव्य, कथा आदि साहित्यिक विधा के अतिरिक्त जीवन की अन्य महत्वपूर्ण विधाओं, जैसे—चित्र, संगीत, नाट्य, प्रहसन आदि मनोविनोद के रोचक साधनों के साथ ही नाट्यशास्त्र, शिल्पशास्त्र (विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मानसोल्लास, समरांगणसूत्रधार, शिल्परत्न आदि), धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि भौतिक जगत् के साधनभूत, जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं गंभीर विषयों पर भी ग्रन्थों की रचना की गई है। भास, कालिदास, बाणभट्ट, दण्डी, भारवि, भवभूति, श्रीहर्ष, माघ आदि कवियों ने अपनी अमर कृतियों में किसी-न-किसी प्रसंग में चित्रकला के आदर्श प्रस्तुत किये है। इनके अतिरिक्त पालि एव प्राकृत भाषा के बौद्ध तथा जैन साहित्यों में भी चित्रकला के बहुश. उल्लेख है, जो इन संस्कृत साहित्यों से अत्यधिक साम्य रखते है, उनका भी उल्लेख करना मैंने यहां आवश्यक समझा। इन साहित्यों मे कला की प्रभूत सामग्री विद्यमान है। प्रस्तुत ग्रंथ में चित्रकला जैसे रोचक एव गूढ़ विषय का अध्ययन इन्ही सब ग्रन्थों के आधार पर किया गया है तथा अजंता आदि गुफा-चित्रों एवं मध्यकालीन चित्रों से उन साहित्यिक उल्लेखों की तुलना की गई है। ये चित्र भित्ति, तालपत्र, काष्ठफलक, कागज, हाथी दाँत पर विशेषत: बनाये गये है।

विश्व के दृश्य — कला जगत् में संभवतः भारतीय चित्रकला सर्वाधिक समृद्ध एवं चिर प्राचीन है। वह नयनाभिराम तथा आनन्ददायक होने के साथ ही, गहन जीवन-दर्शन, धर्म, कल्याण-भावना, शिक्षण से निहित है। वह सत्यं, शिवं, सुन्दरं है। उसके अध्ययन से तत्कालीन समाज और संस्कृति पर गहरा प्रकाश पड़ता है। प्राचीन भारतीय समाज में चित्रकला उच्चवर्ग के दैनिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन गई थी। सम्भ्रान्त व्यक्तियों के शयनकक्ष में चित्रोपकरण, चित्रपट अवश्य रखे रहते थे, जिससे जब भी तरंग उठे, चित्रांकन कर सकें। इस साहित्य में ऐसी कोई घटना नहीं है जहाँ प्रेम-संबंध में चित्रकला न दर्शाई गई हो। ये उल्लेख चित्रकला के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इनके द्वारा भारतीय चित्रकला में भावों का विस्तार, कल्पना एवं हस्तकौशल्य-प्रतिभा का सर्वोत्तम प्रमाण मिलता है और तदनुसार सुन्दर रूपों की सृजन-शक्ति, कला की उपासना पर निर्भर है। चित्रकला मानव का विलास-साधन और मन का कुतूहल ही नहीं वरन् लोक-कल्याण, धर्म, दर्शन, शिक्षा, आनन्द और अध्यात्म-साधना के उद्देश्य से की जाती थी। उसका स्थान समाज में बहुत ऊँचा था। उसमें जीवन-दर्शन की गहरी सच्चाई थी। चित्रकला, पर्वतों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, मनुष्यों में राजा के समान ही सर्वश्रेष्ठ है। चित्रसूत्र में कहा है :—

यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां
यथाण्डजानां गरुडः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशः
तथा कलानामिह चित्रकल्पः॥

संस्कृत साहित्य और विष्णुधर्मोत्तरपुराण के "चित्रसूत्र" में मानव-जीवन के चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विवेचन भी बहुत सुन्दर किया है। विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है :—

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मंगल्यं परमं चैतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥

वात्स्यायन के कामसूत्र में भी कहा गया है कि सुसंस्कृत मानव के लिए चौंसठ कलाओं का ज्ञान परमावश्यक है। चौसठ कलाओं का सर्वप्राचीन उल्लेख यजुर्वेद (३०।४-२०) में प्राप्त होता है। उसमें अन्य कलाओं के साथ "आलेख्य" का भी वर्णन है। मनोरंजन के साधन के साथ ही सौंदर्य-विधान और रूप-समृद्धि की ओर इन चौंसठ कलाओं का विशेष लक्ष्य था। गुप्तकाल में कालिदास ने रघुवंश में सर्वप्रथम "ललितकला" शब्द का प्रयोग किया है। उस समय ललित कला और शिल्प में भेद लोगों की दृष्टि में आ गया था जैसा आज भी दोनों में भेद किया जा रहा है।

ये कलायें मानव को सौभाग्य प्रदायिनी हैं। उसमें कहा है—"कलानां ग्रहणादेव सौभाग्यमुपजायते।" अभिनन्दनीय इन चौंसठ कलाओं का ज्ञान स्त्री-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक था, क्योंकि ये कलायें सुभगा, सिद्धा, सुभगंकरणी, स्त्रियों की प्यारी हैं। आचार्यों ने शास्त्रों में इनकी ऐसी ही व्याख्या की है :—

"नन्दिनी सुभगा सिद्धा सुभगंकरणीति च।
नारी प्रियेति चाचार्यैः शास्त्रेष्वेषा निरुच्यते॥"

इन कलाओं का ज्ञान अक्षय धन-लाभ, सुखोपभोग, तुष्टि और सद्गति का साधन है। चित्रकार चित्ररचना करके इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कर लेता है।

धर्म और दर्शन के उदार क्षेत्र में संयम तथा तप के जिन आदर्शो की कल्पना समय-समय पर प्रकट होती रही, उसी को मूर्तिमान सुन्दर रूप मे जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास कलाकारो ने किया। अजंता के चित्रो मे सम्राट्-सम्राज्ञी केवल अपने रूप-सौन्दर्य के कारण उतने आकर्षक नहीं बने हैं जितने कि धर्ममय जीवन की उस योजना के अन्तर्भूत होने के कारण, जिसके सर्वातिशायी केन्द्र बुद्ध थे। अजंता के भित्तिचित्रों को बाणभट्ट की भाषा मे 'त्रिलोकी संपुजन' और 'दर्शितविश्वरूपा' कहा जा सकता है, जिसमें तीनों लोको के चराचर प्राणियो का – देव, दानव, मानव, यक्ष सिद्ध, गंधर्व किन्नर आदि सभी का चित्रण है। अजंता चित्रों में सुन्दर प्रतिकृतियो के निर्माण मे किसी-न-किसी भावगम्य आदर्श लोक की रचना की गई है। बाह्य रूप-विधान पर भाव की यह प्रधानता समस्त भारतीय चित्रकला की विशेषता है। भौतिक सौन्दर्य शब्द के सौन्दर्य की भाँति है और मानस-सौन्दर्य अर्थगत सौन्दर्य की भाँति है। शब्द और अर्थ दोनो ही काव्य एवं रसानुभव के लिए आवश्यक है। गुप्तकाल की चित्रकला और साहित्य मे यह संतुलन सर्वोत्तम रूप से पाया जाता है। उसमे पवित्रता और आंतरिक उल्लास का भाव दीखता है।

गुप्तकाल में भित्तिचित्रो के अतिरिक्त चित्रपट भी बने रहे होंगे, किन्तु वे अप्राप्य है। नेपाल और तिब्बत मे जो मन्दिरो के थानके या ध्वजपट मिलते है, वे भारतीय चित्रपटो की पद्धति पर बने हैं। वही परपरा अभी भी चली आ रही है। राजस्थान मे नाथद्वारा मंदिरो के चित्रपट भी इसी परंपरा मे बनाये जा रहे है। गुप्तकाल मे रचित ग्रथ विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र मे जिन विधि-विधानों का वर्णन किया है, उसी परम्परा मे अजता के भित्ति चित्रो का निर्माण भी हुआ है। कालिदास भी गुप्तकाल के महाकवि है, अत उनके काव्यों के वर्णन और अजंता के अनेक चित्रो मे अत्यधिक साम्य है। इसी प्रकार अन्य संस्कृत के कवियो की रचनाओ का तथा चित्रकला का तुलनात्मक अध्ययन करने से अनेक चीजें स्पष्ट होती है।

साहित्य ने कला के रूप को समृद्ध किया है और कला ने साहित्य की व्याख्या की है। इनका पारस्परिक संबध भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट और रमणीय पक्ष है। कला और साहित्य दोनों को परखने से रस-प्रतीति का एक नया मार्ग उपलब्ध होता है। साहित्य में जो विषय पारिभाषिक शब्दो से उल्लिखित होने पर भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं होते, वे कला के मूर्त उदाहरणों से स्पष्ट प्रतीत होते है। कला के रूप-विधान मे जो अर्थ मूक रूप से उपस्थित हैं, वे साहित्य की भाषा और शब्दावली से सजीव होकर अपना परिचय देते है और उसका रसानुभव अति आनन्ददायी होता है। इस प्रकार भारतीय चित्रकला मे साहित्य की मार्मिक व्याख्या है। अत. कला के प्रति स्वागत और सौहार्द का भाव संस्कृत साहित्य की विशेषता है।

संस्कृत साहित्य के पारिभाषिक शब्दों तथा उल्लेखों पर कई विद्वानों ने स्फुट लेख लिखे है, जिनमें कुमार-स्वामी, वासुदेव शरण अग्रवाल, शिवराममूर्ति का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कुमारस्वामी ने वैदिक परिभाषाओ को मानवीय ज्ञान और कला की मूल कुंजी मानकर उनकी विलक्षण व्याख्या की है जो प्राचीन होते हुए भी नवीन है। उनकी कीर्ति मूर्तिकला के व्याख्याता के रूप में विशेष हुई। उन्होंने जो ज्ञानधारा प्रवाहित की, उसी धारा को और भी प्रखर रूप मे वासुदेवशरण अग्रवाल तथा शिवराममूर्ति ने आगे बढ़ाया तथा कला और साहित्य को एक नया आयाम देकर, नयी व्याख्या करके, उसमे प्राण सचार करके, जन सामान्य के लिए भी बोधगम्य कर दिया। परन्तु इन विद्वानो की व्याख्याओ मे भी अनेक अशुद्धिया रह गई है। जैसे कुमारस्वामी ने ऋग्वेद (१।१४५।५) में अग्निदेव का चित्र चमडे पर बने होने का उल्लेख किया है जो युक्तिपूर्ण नही प्रतीत होता; यथा :—

'स ईं मृगो अप्यो वनर्गुरुप त्वच्युपमस्यां नि धायि।
व्यब्रवीद्वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्वां ऋतचिद्धि सत्यः ॥'

इस ऋचा मे 'त्वच्' तथा 'चिद्धि' शब्द से सभवतः क्रमशः 'चर्म' और 'चित्रित' का उन्हे भ्रम हो गया होगा।

इसी प्रकार इन विद्वानों ने चित्रसूत्र, मानसोल्लास, [illegible] आदि [illegible] की जो व्याख्या की है उसमें भी अनेक स्थानों पर त्रुटियां दिखलाई [illegible], जिनका पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक है वह इस ग्रंथ में यथास्थान किया गया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र [illegible] अनेक त्रुटियां की हैं, जिन्हें कुमारस्वामी ने काफी संशोधित करने का प्रयास किया है। [illegible] ने उन [illegible] भी शुद्ध करके "चित्रसूत्र" नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना की है। [illegible] मानसोल्लास [illegible] वर्णित अनेक तकनीकी उपकरण एवं विधि-विधान संबंधी [illegible] इन विद्वानों ने अनेक त्रुटियां की हैं, जैसे—कंदाकृति, कांतिसारुति, [illegible] आदि। [illegible] अजन्ता के भित्तिचित्रों की तकनीकी प्रक्रिया का वर्णन अशुद्ध किया है।

इन सब त्रुटियों के होने का मुख्य कारण चित्रकला के प्रायोगिक [illegible] ज्ञान का अभाव तथा संस्कृत साहित्य के पारिभाषिक शब्दों के यथोचित अर्थ-ज्ञान में कमी है। [illegible] —

'न वेत्ति शास्त्रविन् कर्म न शास्त्रार्थं कर्मविन् [illegible]
यो वेत्ति [illegible] स हि [illegible] ॥'

जो शास्त्रज्ञ हैं वे कलाकोविद नहीं हैं और जो कलाकोविद हैं वे शास्त्रज्ञ नहीं हैं। [illegible] विद्वान् में इन दोनों गुणों का समन्वय दुर्लभ होने के कारण भारतीय [illegible] का सम्यक्-रूपेण सही मूल्यांकन नहीं हो सका है। तुलसीदास ने भी [illegible] व्यक्त किया है। चित्रसूत्र में कहा गया है कि जो श्रेष्ठ व्यक्ति शास्त्र का ज्ञाता है, चित्रकला [illegible], उसके द्वारा बनाया गया चित्र लक्ष्मी (धन) प्रदान करता है और उससे दारिद्र्य दूर करते हैं, मनोरथों का पूर्ण [illegible] प्राप्ति कराता है — शिवराममूर्ति ने पहले चित्रकला का अध्ययन किया था और बाद में [illegible] का भी गहन अध्ययन किया। इसीलिए वे अपने जीवन के संध्याकाल में 'चित्रसूत्र' की [illegible] करने में समर्थ हो सके। इसी प्रकार अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी पुनर्मूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

फर्गूसन, पर्सी ब्राउन, खंडालवाला आदि विद्वानों ने भारतीय चित्रकला पर वर्णनात्मक [illegible] विवेचनयुक्त विशिष्ट ग्रंथ लिखे हैं। इसी प्रकार ओल्डेनबर्ग, मैकडानल, कीथ, [illegible] आदि विद्वानों ने वैदिक एवं लौकिक संस्कृत शब्दावलियों में कला, शिल्प, चित्र, सौंदर्य आदि शब्दों का विश्लेषण किया है। कुमारस्वामी, वासुदेवशरण अग्रवाल, शिवराममूर्ति ने चित्रकला और संस्कृत साहित्य का समन्वयात्मक अध्ययन किया है। मैंने भी इस ग्रंथ में इसी समन्वयात्मक अध्ययन का चयन किया है, क्योंकि उपर्युक्त विद्वानों के अध्ययन में जो त्रुटियां रह गई हैं उसे दूर करना आवश्यक है। इसके साथ ही चित्रकला के अनेक प्रसंग जो इन विद्वानों से अछूते रह गए हैं, ऐसे नवीन संदर्भों का उल्लेख, व्याख्या एवं आलोचनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करना अपेक्षित है। इस दिशा में समुचित प्रकाश डालना प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य है। इसमें संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त चित्रकला संबंधी अनेक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी की गई है, जिन पर अभी तक किसी ने विचार नहीं किया है।

चित्रकला संबंधी कुछ शब्दों एवं प्रकरणों की दार्शनिक व्याख्या भी मैंने इसमें प्रस्तुत की है। चित्रों के बाह्य सौंदर्य वर्णन के साथ ही उनके आंतरिक गूढ़ अर्थ पर भी विचार प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्यों में प्रचलित चित्रकला के दुर्बोध शब्दों का तथा चित्रोपकरण, चित्रप्रक्रिया संबंधी विभिन्न आधुनिक नाम भी मैंने लिखे हैं जिससे विद्वानों, सामान्य पाठकों एवं छात्रों को भी समझने में बहुत सुविधा होगी। कुछ संस्कृत

शब्दो के प्रचलित अंग्रेजी शब्दों, का भी उल्लेख करना मैंने यहाँ उचित समझा। जैसे—कुण्डलितपट (स्क्रोल पेंटिंग), पुत्तलिका (स्टको), भित्तिचित्र (म्यूरल), तूलिका (ब्रश), गज (प्लास्टर), लेप्यचित्र (पेंटेड पेंटिंग), वर्तना (शेडिंग), छायातप (लाइट एण्ड शेड), झलक (ह्यू, टोन), प्रतिकृति (पोर्ट्रेट) आदि। इससे पाठक अंग्रेजी शब्दों के स्थान पर उन संस्कृत शब्दों का प्रयोग सरलता से कर सकते है।

भारतीय जनता की सांस्कृतिक चेतना मे चित्रकला के जो अर्थ किसी समय निहित थे और अनेक उदाहरणो मे जिनकी परम्परा लोककला मे अभी तक चली आई है, उन्हे चित्रकला और साहित्य के अन्योन्याश्रित संबंध से अधिक स्पष्टता से पहचाना जा सका है, जैसे—पिष्टपंचांगुल (थापा, हस्तक), रंगवल्ली (रांगोली, अल्पना, धूलिचित्र), पत्रावली या पत्रभंगरचना (भित्ति अथवा शरीर पर फूल-पत्ती से लता-वल्लरी का अलंकरण करना), अरिपन (ऐपन) आदि। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत के अनेक पारिभाषिक शब्द आज लोक प्रचलित हो गये है। इसी प्रकार कालिदास, बाणभट्ट आदि के ग्रन्थों तथा शिल्पशास्त्रो में भी अनेक पारिभाषिक शब्दावलियाँ हैं, जैसे—भावोपपन्नता, युक्तलेखता, वर्णाढ्यता, उन्मीलन, मन.शिला, धातुराग, वर्तिका, कूर्चक, मणिभूमि, कुड्यभूमिबंधन, यन्त्रचित्रशालागृह, प्रतिच्छन्दक चित्र, लेख्यपुत्रिका, अभिलिखितवीथिका, शालभंजिका, दोहद, निधिशृंग आदि। कला और संस्कृति से विभूषित इन समृद्ध शब्दावलियो की व्याख्या इस ग्रन्थ मे यथास्थान की गई है।

बाणभट्ट के ग्रन्थों में रंगो के विभिन्न शेडों पर भी विशद् विचार किया है, जिसे परिशिष्ट में यहाँ दिया जा रहा है। उनके वर्ण-विन्यास चातुरी को देखकर—''वर्णोच्छिष्टं जगत्सर्वम्''—यह उक्ति सर्वथा उचित प्रतीत होती है। कलाकार रंगों के समुचित प्रयोग से चित्र मे अधिक रंजकता ला देता है।

कला और साहित्य के घनिष्ठ संबंध का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अध्याय दो में सविस्तार बताया गया है। उसमें कहा गया है कि बिना चित्रसूत्र के ज्ञान के मूर्ति-विज्ञान, नृत्त शास्त्र (नृत्य, नाट्य), वाद्य, संगीत को यथाविधि नहीं जाना जा सकता, और कहा है कि संस्कृत तथा प्राकृत दो प्रकार के गीत है एवं अपभ्रंश तृतीय प्रकार का गीत है। इसमे स्पष्टत: साहित्य की ओर संकेत है। साहित्य गद्य-पद्य दो प्रकार का होता है। गद्य कथा रूप में, पद्य छंद मे कहा जाता है। छंद भी अनेक प्रकार के होते हैं। छंद का संबंध रस से है। रस कला का प्राण है। अत: साहित्य और कलायें एक दूसरे पर प्राचीन काल से आश्रित मानी गई हैं।

चित्रकला का इतिहास साहित्यिक प्रमाणो के बिना अधूरा रह जाता है, अत: उसका भी अध्ययन अपेक्षित है। भारत में अनेक संस्कृतियों के समान प्रागैतिहासिक काल मे भी चित्रकला के प्रमाण उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि की शैल-गुफाओं से प्राप्त हुए है, किन्तु पूर्व-वैदिक तथा उत्तर-वैदिक युग से हमें चित्र के कोई भी अवशेष नहीं मिलते। तत्कालीन चित्रकला संबंधी प्रमाण साहित्यिक स्रोतो से ही प्राप्त होते है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ये सभी अवांतर स्रोत है। इस युग के एक भी शिल्पशास्त्रीय ग्रंथ नही उपलब्ध है, फिर भी इनमें प्रकारान्तर से चित्रकला के संकेत हैं जिनका उल्लेख मैंने प्रथम अध्याय में किया है।

संस्कृत साहित्य अतीतकाल से शताब्दियों तक संवर्धित एवं सुसम्पन्न होता रहा, किन्तु अनेक कारणो से वह निधि नष्ट हो गई। जो कुछ थोडी सामग्री बची रह कर प्रकाश मे आयी है वही इस ग्रंथ के ज्ञान के आधार है। अजंता के भित्तिचित्र ही सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण शेष है। यद्यपि जोगीमारा गुफा के चित्र उससे भी प्राचीन है किन्तु उन चित्रों के ऊपर कई बार अकुशल कलाकारो द्वारा चित्रांकन किये जाने के कारण वह प्राचीन

चित्र-निधि समाप्त हो गई है। अतः अजंता, बाघ, सिगरिया आदि के गुफाचित्र तथा तत्कालीन साहित्य, विशेषतः भास, कालिदास बाणभट्ट के संस्कृत ग्रन्थो तथा कुछ बौद्ध साहित्यों में वर्णित चित्रोल्लेख पारस्परिक संबंध रखते है। गुप्तकाल में ही विष्णुधर्मोत्तर पुराण की भी रचना हुई थी जिसमें चित्रसूत्र के तीन अध्यायों में चित्र-निर्माण विधि, चित्र-प्रशंसा, चित्रकार द्वारा शुभ मुहूर्त में चित्राकन प्रारंभ करना, विधि-विधान, रंग-निर्माण-प्रक्रिया, भूमिबंधन, रस, भाव आदि का सविस्तार वर्णन है। इस चित्रसूत्र का गहन अध्ययन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अजंता, बाघ गुफाचित्रो के विधि-विधान में इन्हीं नियमों का पालन किया गया है और कालिदास के ग्रंथो मे चित्र के अनेक उल्लेख इन्हीं भित्तिचित्रों मे पूर्णतः मिलते-जुलते हैं अथवा थोड़ा साम्य रखते हैं, जैसे अजंता में वर्णित छदन्त जातक में अंकित हाथियों की जल-केलि, स्तम्भ पुत्तलिका, शंखपद्मनिधि, उड़ते दिव्य गायक गंधर्व, विरही यक्ष बादलो में उड़ते, किन्नर-किन्नरी वाद्य बजाते, नाग-नागिनी आदि।

चित्रसूत्र में घर से निधिशृंग तथा शंखपद्म बनाने का उल्लेख है। गुप्तकालीन सुप्रसिद्ध शासक समुद्रगुप्त के एक सुवर्ण-सिक्के पर देवी को हाथ में निधिशृंग लिए अंकित किया गया है। इसका अंकन तत्कालीन "अजंता के भित्तिचित्रो मे नहीं दिखता। अजंता के अधिकांश भागों के नीचे के चित्र स्थानों की असावधानी बुरी तरह क्षत-विक्षत कर दिये गये है, संभवतः इन्हीं चित्रों से यह चित्र भी नष्ट हो गया हो। निधिशृंग का अंकन शुभ माना जाता था और समाज मे बहुप्रचलित था, तभी उसका अंकन कुषाण काल और गुप्तकाल के सिक्कों पर प्राप्त होता है। इसी प्रकार पद्म के ऊपर शंख का अंकन करना भी शुभ माना जाता था। इसका भी अंकन अजंता की १७वीं गुफा में भित्तियों तथा स्तंभों पर किया गया है। गुप्तकाल में शून्यभित्ति को अमांगलिक या असुरों का स्थान समझा जाता था। अतः शिल्प या चित्र में पत्रलता इत्यादि अभिप्रायों से उसे अलंकृत किया जाता था। कला का उद्देश्य शोभा और मांगलिक दिव्य पदार्थों के अंकन द्वारा आरक्षण भी था।

अजंता के चित्रों में आलंकारिकता के साथ ही सूक्ष्म मानव-संवेदनाओं का भी अंकन है। इन भावनाओं को प्रकट करने के लिए मुख्य रूप से शारीरिक भावभंगिमाओं, नेत्र तथा हस्त मुद्राओं का बहुमुखी और व्यापक प्रयोग है। इस स्थल पर हम साहित्यिक स्रोतो से ऐसी अनेक सूचनायें पाते है जो इन प्रवृत्तियों की कुंजी है, उनका विवेचन भी यहाँ किया गया है। वस्तुतः ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

"ललित विस्तर" में सिद्धार्थ को धनुर्विद्या का अभ्यास करते, पट्टिका पर लिखते, वीणा का अभ्यास करते, शुकसारिका की बोली बोलने की कला इत्यादि कलाओं के ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है। इसी दृश्य का अंकन अजंता में १७वीं गुफा के एक चित्र मे है। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में जो चीजें प्रचलित थीं उनका अंकन चित्रकारों ने चित्रों मे किया है। इसी प्रकार पालि ग्रन्थ "दिव्यावदान" में लिखा है कि एक द्वारकोष्ठक की छत में भवचक्र का चित्र लिखा गया था। अजंता, गुफा १७ के बाहरी बरामदे की बायीं भित्ति पर सचमुच भवचक्र का अंकन है। कला और साहित्य दोनों समाज के दर्पण है। इन्हीं दृष्टियो से अनेक साहित्यिक उल्लेखों का तुलनात्मक अध्ययन इस ग्रंथ में किया गया है, जिससे अनेक नवीन पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है।

रामायण, कालिदास, भवभूति आदि के ग्रंथों मे वर्णित प्रकृति-चित्रण भी अजंता के चित्रों से मिलते-जुलते है। बाणभट्ट की "कादम्बरी" में कमलवन का वर्णन है जो सित्तनवासल गुफा में बने कमलवन सरोवर से साम्य रखता है। घरों में शोभा एवं समृद्धि के लिए बनाये गये लतावल्लरी प्रधान संतानकमाला का वर्णन आता है जिसके अनेक प्रकार के लता-वितान, शालभंजिका, दोहद आदि के दृश्य अजंता के भित्तिचित्रों, साँची, भरहुत आदि के तोरण, वेदिकाओ, स्तंभों पर बनाये गये हैं। इसी प्रकार वनदेवता तथा निधियों का वर्णन कालिदास ने

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में किया है, जिनका अंकन बोधगया तथा भरहुत के शिलापट्टों पर मिलता है। आलंकारिक और परम्परागत होते हुए भी इनका लक्ष्य सूक्ष्म मानव सवेदनाओं को प्रकट करना है।

प्राय: सभी कवियो ने प्रतिकृति चित्र (पोर्ट्रेट) बनाने का अनेक स्थानों पर वर्णन किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि लोग चित्रकला मे निपुण होते थे और प्रतिकृति चित्र बनाने तथा बनवाने का शौक था। प्राचीन काल मे तूलिका और वीणा जीवन-संगिनी के समान लोग रखते थे। जो लोग इन कलाओं में कुशल होते थे वे "कला विदग्ध" कहे जाते थे।

रस कला की आत्मा है। रस लोकोत्तर अनुभूति है। भरत नाट्यशास्त्र में नौ रस, उनके नौ भाव, देवता तथा वर्ण का भी उल्लेख है, जिनका चित्रकला से घनिष्ठ संबंध है। चित्र में नव-रस तथा भावों का अंकन करना चित्र का गुण माना गया है। भाव और रस, ध्वनि और रस, ध्वनि एव व्यजना का भी विशद विवेचन इस ग्रंथ मे है। इसी प्रकार काव्य में प्रयुक्त छन्द, ध्वनि, व्यजना, अलकार (डिजाइन, नायिकाओं के अलंकार), प्रतीक आदि का भी अध्ययन चित्रकला की दृष्टि से किया गया है।

काव्य के शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों का सादृश्य कहाँ तक लतावल्लरी-प्रधान अलंकरणों से है, यह भी इस ग्रंथ में दर्शाया गया है, जिस पर अभी तक किसी भी विद्वान् का ध्यान नहीं गया था। भारतीय कला में ऐसे लतावल्लरी-प्रधान अलंकरणों का बाहुल्य है। उसका रहस्योद्घाटन करना भी आवश्यक है।

अजंता के चित्रों में सपूर्ण भारतीय समाज के सौंदर्यबोध का प्रतिबिम्ब मिलता है। संस्कृत कवियों की रचनाओं और चित्रसूत्र से इसकी पुष्टि होती है। सातवीं शती के उत्तरार्ध से भारतीय कला और साहित्य का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है उसका आभास भी अजता के चित्रों से मिलता है। चित्रसूत्र में इस ह्रास के कुछ लक्षणों की ओर इंगित किया गया है, जैसे — "बृहद्गण्डौष्ठनेत्रत्वम्" आदि। इस प्रकार इसमे चित्र के गुण–दोष दोनों बताये गये हैं।

महाकवि भास "दूतवाक्य" नाटक में दुर्योधन द्वारा चित्र के गुणों का विश्लेषण कराते हुए कहते हैं — "अहो अस्य वर्णाढ्यता, अहो भावोपपन्नता, अहो युक्तलेखता, अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः।" इसी प्रकार कालिदास "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" मे भी दुष्यंत द्वारा चित्र मे रेखा की प्रशंसा कराते हैं...... "लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्" और चित्रसूत्र मे कहा है "रेखां प्रशंसन्त्याचार्या .....।" चित्रकार और दर्शक दोनो ही चित्र के गुण-दोष को बताते थे, जजमेंट करते थे। इन साहित्यिक उल्लेखों से चित्र, चित्रकार एवं चित्रकार के प्रति समाज के दृष्टिकोण का भी पता लगता है। चित्रकार के संबंध मे ऐसी महत्वपूर्ण जानकारी या निष्कर्ष का भी उल्लेख यहाँ किया गया है।

शिल्पशास्त्रों में भित्तिचित्र प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले अनेक वृक्षो के रसो का उल्लेख है। उन वृक्षों के आधुनिक नाम लोगो को ज्ञात न होने के कारण उसका वर्णन करने में भी विद्वान् असमर्थ रहे हैं। यहाँ पर मैंने उनके नाम हिन्दी मे देकर विद्वानों एव चित्रकारों के लिए मार्ग सुगम कर दिया है।

प्राचीनकाल में आजकल की भांति चित्रोपकरण सुलभ नहीं थे। अत: चित्रकार को चित्रांकन प्रारम्भ करने के पूर्व पग-पग पर बड़े अध्यवसाय एवं विस्तृत प्रयोग की आवश्यकता होती थी। उसे भूमि या आधार (भित्ति, पट्ट, पट आदि), मृत्तिका आदि लेप, लेपद्रव्य, वज्रलेप, सुधालेप, रंग, वर्तिका, तूलिका आदि की प्राप्ति के लिए कठिन

परिश्रम करना पड़ता था। इन सब उपकरणों को चित्रोपयोगी बनाने तथा उनके प्रयोग की विभिन्न विधि भी इस ग्रन्थ में बतलाई गई है जो विशेषतः चित्रकारों के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें रंगादि धातुवर्ण बनाने की तथा चित्र में उन्हें प्रयोग करने की विधि भी बतलाई गई है। चित्र के लिए महत्वपूर्ण वर्तिका-विधि (बेडिंग) का भी यहाँ वर्णन है। प्राचीन उपकरणों के आधुनिक नाम और प्रक्रिया का भी यहाँ समावेश करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया, जिससे आधुनिक लोग भी इसका लाभ उठा सकें। चित्रकला के विधि-विधानों के पुस्तकीय ज्ञान के साथ ही कुछ प्रयोगात्मक अध्ययन स्वयं करके भी उनके आधार पर प्राचीन एवं अर्वाचीन विधियों के संबंध में लिखने का मैंने प्रयास किया है।

यशोधर ने कामसूत्र की 'जयमंगला' टीका में आलेख्य के प्रसंग में अत्यधिक महत्वपूर्ण चित्र के षडंगों–रूपभेद, प्रमाणादि का वर्णन किया है। ये षडंग प्राचीनकाल से चित्रकला के मेरुदण्ड रहे हैं। इनके समुचित समावेश से चित्र मनोहर बनता है। षडंग की सूक्ष्म, गम्भीर व्याख्या अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखी है जिसका उल्लेख करके मैंने षडंगो की दार्शनिक एवं भावपूर्ण व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की है। चित्रकार रंग और रेखा से रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य तथा वर्णिका भंग का समावेश करके चित्र-रचना में रसोत्पत्ति, गति एवं सजीवता लाने का प्रयास करता है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार ब्रह्म अरूप है, उसे रूप देना चित्र या मूर्ति द्वारा ही संभव है। अरूप से रूपोद्भावना अर्थात् प्रकृति से विकृति की कल्पना चित्र का मर्म है। कुशल कलाकार द्वारा षडंगों से युक्त चित्र अतीव सौंदर्य का बोध कराता है।

कला और सौंदर्य का नित्य सहचर संबंध है। भारतीय सौंदर्यशास्त्र में कवि मम्मट द्वारा प्रतिपादित आनन्द और रस की अवधारणा तथा अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित काव्य-तत्वों में 'चारुत्वप्रतीति' की धारणा इसी में आती है। चित्रकला में भी यही चारुत्व या चारुता प्रधान होती है। ऋग्वेद के 'उषा' सूक्त में नैसर्गिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा दिखलाई देती है। उसमें सौंदर्यवाची अनेक शब्दों का उल्लेख है, जैसे–सुनरी, सुरूपा, सुशोभा, सुभगा, सुरभा, सुशिल्पा, श्री आदि। सौंदर्य हिन्दी में 'ईस्थेटिक्स' का पर्याय बनकर प्रचलित हुआ है। जिस कला में सौंदर्यानुभूति नहीं वह कला के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती। सुन्दर-असुन्दर, बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य का भी विवेचन है। वस्तुतः सौन्दर्य सम्पूर्ण चराचर जगत में विद्यमान है। सम्पूर्ण विश्व के विराट् रूप में सौन्दर्य की ही स्वर लहरी अनुगुंजित होती है।

इन सरस साहित्यिक उल्लेखो के वातायन द्वारा चित्रकला की उत्पत्ति, उद्देश्य, व्याप्ति, तकनीक, चित्र के षडंग, रस-छंद-प्रतीक-अलंकारादि का आलोचनात्मक विवेचन, सौन्दर्यबोध इत्यादि का साक्षात् प्रमाण हम प्राप्त करते हैं और उनमें छिपी मानसिक, कल्पना आदि से भी परिचित होते हैं, जिसका समावेश इस ग्रंथ के विभिन्न अध्यायों में किया गया है।

संस्कृत साहित्य एवं चित्रकला का सम्यक् मंथन करने पर सारांश निकलता है कि काव्य और चित्र का विषय एक है। प्रेम तथा धर्म को दोनों ने ही सर्वाधिक महत्व दिया है। समाज में चित्रकला का अत्यन्त उच्च स्थान था। साहित्य एवं चित्रकला समान रूप से समाज की कल्याणकारी भावनाओ को प्रतिबिम्बित करते हैं। साहित्य-शास्त्र के दूसरे अंग भी चित्रों में प्रयुक्त हुए है, यथा–अलंकार, रस और कहीं-कहीं ये रेखायें, जिनकी तुलना छन्द से की जाती है। समय के प्रवाह के साथ-साथ चित्र की तकनीक में भी परिवर्तन आता गया है, उस पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ से भविष्य के शोधकर्ताओं को भी पृष्ठभूमि मिल जायेगी।

लोक की रसात्मक प्रवृत्ति को ज्ञान द्वारा पुनः विकसित करना और कला के प्रति मंगलमय, उदार एवं उत्साहात्मक भावना जाग्रत करना वर्तमान समय की है। ज्ञान विज्ञान मे आविष्कार एवं गवेषणा को

अग्रसर किया है, जिसका प्रभाव कला पर भी अत्यधिक पड़ रहा है। उसमें भी सौंदर्य तथा रसानुभूति को समझने के लिए नित्य नये रूप-रंगो का प्रयोग हो रहा है। समीक्षा के नये मानदण्ड बन रहे है। कलाओ के बहुमुखी उत्थान से हम अपने विस्मृत आत्मचैतन्य को शीघ्र ही प्राप्त कर सकते है। अपने कुशल चित्रकारों के वर्णाढ्य चित्रपटों और भित्तिचित्रो को फिर से नवीन रूप में साक्षात् देखकर हमारे समाज में आनन्दमय जीवन के नये अध्याय का प्रारम्भ हो सकता है।

काव्य, मूर्ति, चित्र आदि सभी कलाओ के सर्जन का लक्ष्य एक है आनन्द की प्राप्ति। इस दृष्टि से प्राचीन एवं नवीन, सभी कलाओ का लक्ष्य भी आनन्दानुभूति कराना है। शिल्प-साधना और योग-साधना मे समानता है। कलाकार कला-साधना द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। योग-साधना में ब्रह्म-ज्ञान से ऐक्य तथा आनन्ददानुभूति प्राप्त होती है, उसी प्रकार कला-साधना में उस 'विराट्' के दर्शन की अभिलाषा रहती है। तप भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। तप की शक्ति के बिना भारतीय संस्कृति मे जो कुछ ज्ञान है वह फीका रह जाता है। तप से ही यहाँ का चिंतन सशक्त और रसमय बना है।

लेरि
१९
विश
की
फेल
कि
मह
पर
हि
से

सं
पत्र
प्रद
स
अ
में
क
श
ए
व

श्री
व

1

चित्रकला के साहित्यिक स्रोत

भारतीय चित्रकला के मूल स्रोत संस्कृत साहित्य मे विद्यमान है। ये साहित्य भारत की अमूल्य निधि है और विश्व के सुधीजनों के लिए यह ज्ञान का भंडार है। अन्य विषयों के अतिरिक्त इसमें चित्रकला के प्रत्येक आयामो पर भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

चित्र शब्द को यद्यपि वैदिक काल में तथा उसके पश्चात् भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया, किन्तु चित्र-कला के अर्थ में इसका प्रयोग वैदिक काल के बहुत बाद में प्रारंभ हुआ। प्राचीन साहित्यों मे कला एवं शिल्प शब्दो का प्रयोग चित्रकला के संदर्भ में भी किया गया। प्रथम शती ईसा पूर्व से लेकर सातवी शती तक के संस्कृत साहित्यों में चित्रकला को विशिष्ट स्थान मिलने के कारण ये इस अध्ययन के लिए विशेष महत्व के हैं। इस काल के प्रमुख कवियो मे महाकवि भास, कालिदास, बाणभट्ट आदि ने तत्कालीन चित्रकला को अपने काव्यों मे अभिव्यक्त किया है। गुप्तकाल (चौथी-पांचवीं शती) भारतीय कलाओ का स्वर्णिम युग था, जिसमे चित्रकला भी अपने सर्वांगो से परिपूर्ण होकर प्रस्फुटित हुई और चरमसीमा पर पहुँच गई। इस समय कला के बाह्य रूप एवं आन्तरिक अर्थ राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त कर चुके थे। इसके परवर्ती कवियों ने गुप्त परम्पराओं मे रूढ हुए चित्रकला के उपमानों को ही आगे बढ़ाया। इन साहित्यो मे इस कला का विभिन्न रूपों मे निरूपण मिलता है जो स्थान एवं काल से संबद्ध प्रतीत होते हैं। इस प्रकार संस्कृत साहित्य के सम्यक् अनुशीलन से चित्रकला की मूक भाषा को जानने के अतिरिक्त आधु-निक चित्रकला को भी नया आयाम दिया जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में विषयगत कालक्रम के अनुसार संस्कृत साहित्यों में उल्लिखित चित्रकला के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

वैदिक युग में चित्रकला :—भारतीय कला के इतिहास में आदि युग, वैदिक युग है। इस युग में कला, साहित्य और जीवन के वे मूल विचार स्फुट हुए जिनसे भारतीय संस्कृति पल्लवित हुई। इस युग में कला का जो रूप रहा होगा उसका पुरातात्विक प्रमाण अभी तक नही प्राप्त हुआ है। किन्तु कला की अप्रत्यक्ष चर्चा मात्र से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि कला के बाह्य उपकरणों की ओर विशेष ध्यान न देकर उन प्रतीकों और लक्षणो की कल्पना करते रहे जिनका आश्रय लेकर उत्तरकाल की कला प्रस्फुटित हुई। परवर्ती युगो में राजवंशों द्वारा पल्लवित और संवर्धित चित्रकला का आधुनिक वर्गीकरण भ्रामक हो सकता है।

वैदिक काल में "शिल्प"– शब्द का प्रयोग ललित कला, यथा – नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र, काव्य आदि और उपयोगी कला जैसे तक्षण, रंजन, वास्तु आदि, दोनों के लिए ही हुआ है। पाणिनि ने ललितकला को चारुशिल्प और उपयोगी कला को कारुशिल्प कहा है। कौषीतकि ब्राह्मण (२९।५) मे नृत्य, गीत और वाद्य का सामूहिक नाम शिल्प है। ऐतरेय ब्राह्मण में शिल्प के संबंध मे कहा गया है कि यह यजमान को छन्दोमय करता है तथा उसकी आत्मा का संस्कार करता है :–

ॐ शिल्पानि शंसन्ति देव शिल्पानि ।
एतेषां वै शिल्पानामनुकृतिरिह शिल्पमधिगम्यते ।
आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि,
छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते ॥

संहिता-साहित्य (ऋक्, यजुः, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण एवं आरण्यक) में चित्रकला का वर्णन प्रतीकात्मक रूप मे है । यद्यपि आनन्द कुमारस्वामी, रायकृष्णदास आदि विद्वानो के अनुसार ऋग्वेद (१।१४५।५) मे अग्निदेव का चित्र चमड़े पर बने होने का उल्लेख है; किन्तु इस सन्दर्भ मे उनके उल्लिखित उक्त सूक्त का अर्थ ही भिन्न है :-

'स ईं मृगो अप्यो वनर्गुरुप त्वच्युपमस्यां नि धायि ।
व्यब्रवीद्वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्वाँ ऋतचिद्धि सत्यः ॥१।१४५।५॥

वस्तुतः उपर्युक्त ऋचा का अर्थ है—वन में फिरने वाला अग्नि ईंधन मे व्याप्त होता है। मेधावी यज्ञ ज्ञाता अग्नि मनुष्यो मे रहकर यज्ञ-कर्म में प्रेरित करता हुआ ज्ञान देता है ॥५॥ अतः अर्थ की दृष्टि से भी कहीं चित्र बने होने का उल्लेख है ही नहीं । इसमे 'त्वच्' तथा 'चिद्धि' शब्द से संभवतः क्रमशः 'चर्म' (त्वच्=चमड़ा) और 'चित्रण' (चित्र) का उन्हें भ्रम हो गया होगा, जो किसी रूप मे यथेष्ठ नहीं प्रतीत होता ।

कला के अनेक लक्षण और चिह्न की अर्थवत्ता का प्रथम विकास वैदिक मंत्रो मे ही पाया जाता है। सभवतः चित्रकला का प्रादुर्भाव यज्ञ-वेदियों की रेखा-कृतियों से हुआ होगा । कालान्तर मे ऐसी विभिन्न रेखाकृतियों का संयोजन करके ऋषियों ने उसे मनुष्य के मानसिक अथवा शारीरिक दशा का प्रतीक माना होगा और यही यौगिक सिद्धान्त का आधार है। तन्त्र सिद्धि के यन्त्र भी संभवतः इसी पर आधारित हैं। इसके बाद ऐसे ही संयोजन के भिन्न-भिन्न रूप को विविध प्राणियों की रूपरेखा मानकर उसके आधार पर वास्तविक अंकन का प्रयास हुआ होगा, जिसके उन्नत रूप में प्राणियों के चित्रांकन हुए और उनकी परम्परा बन गयी ।

ऋग्वेद (१।५।५) मे यज्ञशालाओं के चारों चौखट पर हिरण्यमयी द्वार-देवियों (द्वारोदेवीः) की अलंकृत आकृतियों के अंकन का उल्लेख है, जिसे पाणिनि (५०० ई० पू०) ने प्रतिकृति कहा है । यही प्रतिकृति शब्द मुगल चित्रकारों की भाषा में 'शबीह' तथा अंग्रेजी मे 'पोर्ट्रेट पेंटिंग' के नाम से प्रचलित हुआ ।

ऋग्वेद के 'उषा सूक्त' (१।११३) में उषा देवी की अति रमणीय रूपरचना की कल्पना ऋषियों ने की है जो नित्य प्रति नवीन सौन्दर्य से अलंकृत होकर मर्त्य प्रजाओं के लिए अमृत का दान करती हुई हिरण्यरथ में बैठकर आकाश में संचरण करती है । उस समय सभी सहृदय व्यक्ति उसकी श्री से भाव-विभोर हो जाते हैं । उसके लिए ऋषियों ने 'सुमेके' (सुन्दर शरीर वाली), 'चित्रा' (सुन्दर वर्ण वाली या विचित्र वर्ण वाली) इत्यादि शब्द प्रयुक्त किये है। इसी सूक्त में उषा और रात्रि (नक्तोषसा) जो प्रकाश और अंधकार की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं, उन्हें एक ही शब्द 'विरूपे' से संबोधित किया गया है । जिस प्रकार सृष्टिक्रम में 'समानबन्धू' उषा और रात्रि के संयोग का क्रम है, उसी प्रकार प्रकाश और अंधकार (साया-उजाला) चित्रांकन का आधार है । चित्र में साया दिखलाते ही उसके उजले पक्ष का भी बोध हो जाता है । प्रकृति के नैसर्गिक सौंदर्य, देवशिल्प से मानवी चित्रकार निरंतर प्रेरणा लेता रहता है । उन सौंदर्य प्रेमी एवं कला प्रवण ऋषियों ने रात्रि और उषा के शब्द-चित्र रचे । संभव है उन ऋषियों ने इनका रेखांकन भी किया हो । वेदमंत्रों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थों में प्रतीकात्मक अर्थों द्वारा कला को परमेश्वर की प्राप्ति एवं आध्यात्मिक उन्नति का माध्यम माना गया है। स्वस्तिक, चक्र, पूर्णकुम्भ,

कमल आदि का कलात्मक संप्रेषण वैदिक काल मे हुआ। उसे सत्यं, **शिवं, सुन्दरं** की भद्रात्मक भावना से युक्त माना गया। अत: उस कला को नैसर्गिक पद प्राप्त हुआ तथा समाज और साहित्य मे उसकी महत्ता बढ़ी।

उपनिषदादि आध्यात्मिक **ग्रन्थों में चित्रकला** :—आध्यात्मिक दृष्टि से चित्रकला का स्वरूप-विवेचन विराट् भाव-रूप में प्रतिष्ठित है। परमेश्वर की यह विराट् सृष्टि सत्य, शिवं एवं सुन्दरं – त्रिविध गुणो के समाविष्ट होने से सत्य, शाश्वत और आनन्दमयी है, किन्तु मानव की चित्र-रचना उक्त गुणों का किंचित् प्रयास मात्र ही है। परब्रह्म रूपी कलाकार ने अपनी विराट् कलाकृति का निर्माण हिरण्यगर्भ—"**हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे**"—के रूप में किया (ऋग्० १०।१३१।१), जिसका बसोहली शैली (प्राय: १७३० ई०) का एक चित्र 'छवि' भाग १ मे प्रकाशित है। परमेश्वर की इस विराट् सृष्टि के सबंध मे बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि विश्वकला का समस्त शिल्प इन्ही देव-शिल्पों की अनुकृति मात्र है। तैत्तिरीयोपनिषद् (२।७) मे—'**रसो वै सः**'—के द्वारा परमात्मा को रस स्वरूप आनन्दमय कहा है। परमात्मा स्वयं को जिस प्रकार जड-चेतनमय जगत् के रूप में देखकर आनन्दित होता है, उसी प्रकार कलाकार भी स्वनिर्मित मनोरम रचना मे स्वात्मानुभूति के अनुसार रस-संचार कर परमानंदित होता है। वस्तुत: कला की आत्मा रस है।

वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म को और उसकी अभिव्यक्ति को आनन्दमय कहा गया है (ब्रह्मसूत्र, १।१।१२), जिसकी आनन्दमयी सत्ता सोलह कलाओं द्वारा दर्शायी जाती है। छान्दोग्योपनिषद् (४।६।३; ४।७।३) मे अग्नि के अनन्त कलारूप वर्णन में पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, समुद्र, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् आदि ये सब कला के ही द्योतक कहे गये हैं। इसमें (छान्दो०, ४।५।२; ४।८।३) चक्षु, श्रोत्र, मन को भी कला कहा गया है। कठोपनिषद (२।२।९) में—'**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**'—के द्वारा कहा है कि परमात्मा अपने को अनेक रूपो में प्रतिबिम्बित करता है, जिसे बाद के साहित्यो, जैसे·—महाभारत, गीता, भागवत, रामायण आदि में विश्वरूपदर्शन के रूप में वर्णित किया गया है (चित्र १, विष्णु द्वारा विश्वरूप प्रदर्शन)। भारतीय चित्रकला के षडंग के 'रूपभेद' मे जगत् के इन्हीं विभिन्न रूपों का दिग्दर्शन होता है जिसे चित्रकार चित्रपट पर अंकित करता है। इस प्रकार उपनिषदों में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों द्वारा संपूर्ण चराचर को कला स्वरूप माना गया है और चित्रकला के गूढतत्व इन्ही मे निहित है। कठोपनिषद् (२।३।१७) मे वर्णित है—'**तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां**'—कि जीव में आत्मा उसी प्रकार अलग रहता है जिस प्रकार 'मुञ्जात्', मूज घास की 'इषीका' कूची या सीक (में रंग)। इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल में चित्रकला के लिए ब्रश का प्रयोग किया जाता रहा होगा और मूंज का ब्रश बनाने का निषेध किया गया है।

कठोपनिषद् (१।२।१, २।३।५), मुण्डकोपनिषद् (३।१।१) तथा पंचतंत्र (मित्रसंप्राप्ति, १३४) मे प्रतीकात्मक ढंग से 'छायातप' अर्थात् छाया और प्रकाश की दार्शनिक व्याख्या, संभवतः चित्रकला के संदर्भ मे साया एवं उजाला लगाकर चित्र के वस्तुगत रूप को उभारने या गोलाई दिखलाने को सूचित करता है। शिल्पशास्त्रों में चित्रकला की इस तकनीक को 'वर्तना' (शेडिंग) कहा गया है।

मैत्रेयोपनिषद् (४।२) में कहा है—'**चित्रभित्तिरिव मनोरम**' अर्थात् चित्रित भित्ति की भाँति मिथ्या, किंतु मनोरम् है। इसी उपनिषद् (६।७) में है कि ईश्वर इस संसार के जीवो मे भासित होता है और आनन्द-रंग से विभोर हो जाता है। 'स्वात्मनिरूपणम्' (९५) में शंकराचार्य कहते है—"आत्मा के इस विस्तृत चित्रपट पर, आत्मा स्वयं जगत् — चित्र को चित्रित करता है। वही उसका 'चित्राभास' है, जो चित्रकला में द्विआयामी चित्र के रूप में जाना जाता है। इसका वर्णन बाद के 'शिल्परत्न' आदि ग्रन्थों मे भी आया है। इस प्रकार उपनिषदों का

जितना ही मंथन किया जाये उसमें से उतने ही प्रकार के कला-रत्न प्राप्त होते हैं। वस्तुतः इन उपनिषदों में वेदों का सार है और उपनिषदों का सार तत्व गीता में है।

इस प्रकार परमतत्व की ओर अग्रसर करने वाली कलाकार की अभिव्यक्ति केवल [illegible], आकर्षक, मोहक और उत्प्रेरक ही नहीं होती वरन् सबके लिए मंगलकारिणी भी होती है। उसमें शिवत्व होता है और वह स्वतःमेव सुन्दर एवं परमानन्ददायिनी होती है। वस्तुतः जिसका लक्ष्य परमतत्व की प्राप्ति है, वही कला है।

पंचदशी चित्रदीप प्रकरण :—कला के आध्यात्मिक प्रतिमानों का गम्भीर विवेचन पंचदशी के चित्रदीप प्रकरण में विद्यारण्यमुनि (माधवाचार्य) ने भी किया है। चित्र के विधि-विधान सम्बन्धी विवरण की समता यहाँ आध्यात्मिक भाव से जितनी सुन्दर देखने को मिलती है उतनी किसी भी अन्य ग्रन्थ में नहीं है।

विद्यारण्य मुनि (१२वीं, १३वीं शती) विरचित चित्रदीप के निम्न प्रकरण में चित्रपट निर्मित करने की चार अवस्थाओं—धौत (धुला हुआ), घट्टित (घुटाई किया हुआ), लांछित (रेखांकित) और रंजित (वर्णपूरित)—की उपमा परमात्मा की क्रमशः चार अवस्थाओं— चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट्—से की गयी है :-

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ॥१॥

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥२॥

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्न विलेपनात् ।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात् ॥३॥

यहाँ 'स्याद्घट्टितोऽन्न विलेपनात्'—में कहा है कि सफेद धुले कपड़े पर अन्न का लेप (भात या मांड़ का लेप) करके घुटाई करना चाहिए। आज भी चित्रकार चित्रांकन योग्य वस्त्र के भूमिबंधन के लिए इस विधि का प्रयोग करते हैं। मुगल चित्रकार इसी प्रकार के मांड़ और सफेदा लगे कपड़े को कौड़ा या सीप के चिकने भाग से अच्छी तरह रगड़ कर, समतल, चिकना और उज्ज्वल करके चित्रांकन योग्य बनाते थे (मोतीचन्द्र—'दि टेक्नीक आफ मुगल पेंटिंग)। मद्रास, नेपाल, उड़ीसा आदि में भी इसी विधि से चित्रपट तैयार करते हैं। आसाम में कई तह जमाये हुए लंबे कपड़े पर चित्रांकन किया जाता है, जिसे वहाँ 'तुलापात' कहते हैं। उस पर काली स्याही से रेखांकन करके वर्णपूरित करते हैं। किंतु दक्षिण भारत में पौराणिक कथानक के चित्रपट तथा राजस्थान में पाबूजी के पट कोरे कपड़े पर बिना भूमिबंधन के बनाये जाते हैं, जिसमें प्रायः रंग कपड़े से छन कर उस पार चला जाता है।

'मष्याकारैर्लाञ्छितः' में लाञ्छित का अर्थ रेखांकित है और मष्याकारैः अर्थात् स्याही से बनाया गया रेखांकन। मुगल चित्रकार आज भी टिपाई के विकसित रूप के लिए 'स्याहकलम' शब्द का प्रयोग करते हैं, जो संस्कृत के शुद्ध रूप 'मष्याकारैः' का हिन्दी रूप है। लांछित चित्र में वर्णपूरित (रंजित) करने को मुगल चित्रकार 'रंगकारी' कहते हैं। यह शब्द आज भी अत्यधिक प्रचलित है।

इसके श्लोक (६।४) में बतलाया गया है कि चित्रकार को चित्रांकन के लिए उसी प्रकार चिंतन, मनन, ध्यान आदि की आवश्यकता होती है जिस प्रकार ब्रह्म ध्यान के लिए साधक को। श्लोक (६।५) में वर्णन है कि

चित्रपट पर सभी प्रकार के जड़-चेतन, उच्च-नीच, छोटी-बड़ी आदि सभी विषय-वस्तुओं का अंकन समभाव से करना चाहिये। श्लोक (६।६) मे–'चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा' के द्वारा जीव के विविध रूपो से परे परब्रह्म की उपमा, चित्राधार पर अंकित वस्त्रो से सुसज्जित मानवों से की है। ये कल्पित दृश्य-वस्त्र वास्तविक वस्त्रों से पृथक् होने के कारण अव्यावहारिक होते है। यहाँ चित्रपट के लिए चित्राधार शब्द का प्रयोग है जिसके लिए आजकल प्रचलित शब्द 'ड्राइंग बोर्ड' या 'कैनवास' है।

श्लोक (६।२३) मे 'चित्प्रतिबिम्बित:' का अर्थ चिदाभास है। श्लोक (८।३२) मे अल्प भास को 'आभास' कहा गया है, उसी प्रकार अल्प प्रतिबिम्ब भी होता है। निश्चय ही वह प्रतिबिम्ब बिम्ब के लक्षण से हीन होने पर भी बिम्ब की भाँति भासित होता है। इसलिए वह बिम्ब का आभास या चिदाभास कहा जाता है। श्रुति में वर्णित— 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (ऋग्० ६।४७।१८; कठो० २।२।९), "छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति" (कठो० १।३।१) श्लोक द्वारा चित्रकला के षडंग मे रूपभेद और सादृश्य के संबंध मे इसी प्रतिबिम्ब, चिदाभास आदि को व्यक्त किया गया है। 'ब्रह्मसूत्र' (३।२।१८) द्वारा ब्रह्म के रूप के प्रतिरूप (अर्थात् पर रूप) के संदर्भ में आत्मा को बहुआयामी रूपों (सर्वरूपो) में व्यक्त किया है जिनको चित्रकार अपने चित्रण का विषय बनाकर तथा उस कृति के दर्शन से परमानन्द की अनुभूति करता है। वस्तुत: चित्रकार चित्र रचना करने की इच्छा से जब ध्यान करता है, उसके ध्यान मे सर्वरूप समाविष्ट रहते है। उसका प्रज्ञान या मन जब एक रूप को पकड़ पाता है तब वही रूप स्फुट होकर चित्र मे अभिव्यक्त हो जाता है, शेष रूप हट जाते है। वही रूप-कृति चित्रकार की अभिव्यक्ति हो जाती है। उस रूप में अपने प्रतिरूप या प्रतिबिम्ब की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति होगी, वह रचना उतनी ही श्रेष्ठ मानी जायेगी।

चित्रदीप (६।१३१, १८३) में प्रसारित एवं संकोचित चित्रपट की तुलना ईश्वर द्वारा अपने मे सम्पूर्ण जगत् को विलीन एवं दिग्दर्शित करने से की गई है। इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल मे कुण्डलित चित्रपट प्रचलित रहे होगे।

इसी में ही (६।१९३, २०१, २०४) ब्रह्म की माया के दृष्टांत से चित्रपट की तुलना की गई है। श्लोक (६।२८९, २९०) में चित्र निर्मिति के सन्दर्भ मे वर्णित किया है कि जिस प्रकार माया अपने आत्मचैतन्य के ऊपर जगत् रूपी चित्र को अंकित करके जगत् की सृष्टि करती है—'पटे चित्रमिवार्पितम्'—उसी प्रकार चित्रकार कल्पना द्वारा अपने शुद्ध हृदय-पटल पर चित्र की रूपरेखा अंकित करने के पश्चात् चित्रपट पर उसका चित्रांकन करता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से चित्रदीप मे चित्रकला के अंत स्वरूप का विवेचन, उसके उच्चादर्शों एवं उपयोगिता का परिष्कृत वर्णन है।

तन्त्र-ग्रन्थ :—इसमें चित्रकला को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। तन्त्र एक व्यापक विचार-पद्धति और कृत्यों का द्योतक है जो शैव-शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि सभी सम्प्रदायों की अवधारणाओं में परिव्याप्त है। तांत्रिक ज्ञान तथा उसके क्रियाकलाप सदैव रहस्यात्मक एव गुह्य माने गये हैं। तांत्रिक ग्रंथ भी अनेक है, जैसे—शक्तिसंगमतन्त्र, शारदातिलकतंत्र, योगिनीतंत्र, माहेश्वरीतंत्र, महानिर्वाणतंत्र, त्रिपुरारहस्य, मातृकाभेदतंत्र, मेरुतंत्र, गुह्यसमाजतंत्र, कामकलाविलास इत्यादि। तन्त्र-साहित्य इतना बृहद् है कि उसका अध्ययन भी एक स्वतंत्र ग्रंथ का विषय है।

तांत्रिक-साहित्यो में मंत्रों, यन्त्रों, पद्म, चक्र, कुण्डलिनी आदि के प्रतीकात्मक चित्र बनाये जाते हैं। समस्त तान्त्रिक कला मूलत: यन्त्रों पर आधारित है। ध्वन्यात्मक या शब्दात्मक प्रतीक मन्त्र है और जितने प्रकार की

कलापरक अभिव्यक्ति तन्त्र के अन्तर्गत दिखाई देती है जिसे तांत्रिक शिल्पशास्त्र में 'यन्त्र' कहा जाता है। यंत्र द्वारा किसी देवता की शक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित किया जाता है। यह शक्ति मूर्ति और शिलाओं दोनों के लिए प्रयोग की जाती है। देवी-देवता का साकार चित्र या प्रतिमा भी साधना या ध्यान के लिए यंत्र का एक प्रकार है।

यंत्र के निर्माण मे सुनिश्चित तांत्रिक परिभाषाओं के अनुसार वर्ण, अंक, रेखा, प्रतीकात्मक आकार तथा अन्य विविध स्वरूपो का अंकन भोजपत्र, धातुपत्र, कागज, वस्त्र, शिला, रत्नखण्ड आदि पर किया जाता है। अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृतियो एवं प्रतीकात्मक स्वरूपों को आधार मानकर तांत्रिक कला में जिन लोकप्रिय यंत्रो के उदाहरण प्राप्त होते हैं उनका विस्तार असीमित है। ये सभी ज्यामितिक आकृतियाँ भी यंत्र कही जाती हैं। प्रमुख यंत्र है—श्रीयंत्र, श्रीचक्रयंत्र, लक्ष्मीयंत्र, श्रीविद्यायंत्र, दुर्गायंत्र, कालीयंत्र, छिन्नमस्तायंत्र, चतुर्लिङ्गसर्वतोभद्रयंत्र, अष्टलिंगतोभद्रयंत्र, कच्छपाकारयंत्र आदि।

विभिन्न यंत्रो के निर्माण में परंपरा से प्राप्त तांत्रिक प्रतीकों को कलाकारों ने देवी-देवताओं के ध्यान, पूजा-साधना आदि तांत्रिक विनियोगों के उद्देश्य से अंकित की है। शाक्त संप्रदाय में शिव-शक्ति के संयुक्त प्रतीकात्मक स्वरूप को श्रीविद्यायंत्र कहते हैं और उन्हें कामेश्वरी, कामकला, परमशिवशक्ति इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। देवी यंत्र की अधिष्ठात्री देवी ललिता, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरा आदि हैं।

शक्ति-पूजा के अन्तर्गत अनेक देवियों की पूजा की जाती है जिसे 'विद्या' कहा जाता है। इन देवियों के विभिन्न स्वरूप विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार कल्पित किये गये हैं। इनमें देवियों के दस रूप विशेष प्रसिद्ध हैं जिन्हें 'दशमहाविद्या' कहा जाता है। शक्तिसंगमतंत्र में इनके नाम दिये हैं — काली, तारा, छिन्नमस्ता, सुन्दरी, बगला-मुखी, कमला, मातंगी, भुवनेश्वरी, भैरवी और धूमावती। इन दशमहाविद्याओं के अतीव सुन्दर चित्र (प्रायः १८वीं-१९वीं शती के) भारत कला भवन में हैं तथा वाराणसी के प्रसिद्ध लक्ष्मी मंदिर में एक भित्ति पर २०वीं शती के बने हैं। इनकी मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। प्राचीन काल से इनकी पूजा अत्यंत लोकप्रिय थी।

तंत्र-पूजा का प्राण मंत्र है। तंत्र के अनुसार 'अ' से 'क्ष' तक के अक्षर वर्णमातृका बनाते हैं जो साक्षात् शक्ति के स्रोत हैं। प्रत्येक अक्षर बीजमंत्र है और सभी बीजाक्षर बीजमंत्रों के मूल हैं एवं संकेताक्षर हैं। ये बीजाक्षर हैं—ॐ, ह्रीं, क्लीं, ऐं, श्री आदि। इन संयुक्ताक्षर बीजमंत्रों का अंकन भी राजस्थानी, पहाड़ी, नेपाली आदि चित्रकलाओं में किया गया है जो विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। तंत्र ग्रंथों, वेदान्त दर्शन, पतञ्जलि के महाभाष्य में शब्द को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म को ओंकार या प्रणव कहा गया है। बीजाक्षरों में ओंकार का सर्वप्रमुख स्थान है। इसे भारतीय धर्म एवं दर्शन में सर्वोच्च रहस्यपूर्ण बीजमंत्र माना गया है। बीजाक्षरों के प्रयोग करने का प्रयोजन है किसी विस्तृत गुह्य विषय को संक्षेप में बतलाना। किसी गुह्य तंत्र को गुह्यातिगुह्य बनाने के लिए बीजाक्षरों का प्रयोग किया जाता है। बीजाक्षरों के शुद्ध प्रयोगों से सहज सिद्धि प्राप्त की जा सकती है और इनकी पवित्रता एवं गुह्यता का प्रभाव मन पर पड़ता है। इन बीजाक्षरों को लिखना भी कला है। इनके लिखने में प्रत्येक अक्षर में रेखा की गोलाई, मोटाई, लम्बाई आदि का विशेष अर्थ होता है, उसे ध्यान में रख कर लिखा जाता है। इनके संबंध में विस्तृत जानकारी के लिए 'तन्त्रसिद्धान्त और साधना' ग्रंथ द्रष्टव्य है। राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली के चित्रों में इन बीज मंत्रों के अनेक चित्र प्राप्त होते हैं, जिनमें से कुछ चित्रों को अजित मुकर्जी ने अपने ग्रंथ 'तंत्र-आसन' में तथा फिलिप राउसन ने 'दि आर्ट आफ तन्त्र' में प्रकाशित किया है। पटना के श्री चैतन्य पुस्तकालय में भी बीज पत्र पर लिखा 'सृष्टि संदर्शन' का तांत्रिक सचित्र खर्रा है जिसमें 'अ' से 'क्ष' तक के बीजमंत्र लिखे हैं और सृष्टि संबंधी अनेक तांत्रिक चित्र अंकित हैं।

तंत्रकला मे वर्ण या रंग की प्रतीकता भी महत्वपूर्ण है। विभिन्न तत्वों और सैद्धांतिक भावों को प्रकट करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। प्रधान वर्ण श्वेत, रक्त, पीत, नील हैं। इन्हीं मूलवर्णों के मिश्रित वर्णों से अन्य रंगों के प्रतीक का विस्तार इस तंत्र कला मे दृष्टिगोचर होता है, जैसे—पृथ्वी तत्व का वर्ण पीला, जल तत्व का श्वेत, अग्नि का रक्त वर्ण, वायु का नील और आकाश का श्याम वर्ण है। गायत्री मन्त्र का प्रथम वर्ण चम्पा की तरह पीला माना गया है। तंत्र मे बिन्दु क्रमशः श्वेत तथा रक्त वर्णों से अंकित किये जाने पर शिव-शक्ति का प्रतीक माने जाते हैं। शिव-शक्ति के चिन्मय विलास को यह इंगित करता है।

सृष्टि के प्रतीक स्वरूप कमल का अंकन भी तंत्र कला में बहुशः प्राप्त होता है। ये कमल कहीं चतुर्दल, षड्दल, द्वादशदल, सहस्रदल इत्यादि अनेक प्रकार के चित्रित किये जाते हैं जो साधक मे आध्यात्मिक साधना के विकास क्रम की अवस्था विशेष को द्योतित करते हैं। विभिन्न पद्म पंखुडियो से घिरे चक्रों के विभिन्न नाम हैं, जैसे—चतुष्दलपद्म से घिरे चक्र को मूलाधार चक्र, षड्दलपद्मचक्र को मणिपूर चक्र, दशदलपद्मचक्र को स्वाधिष्ठान चक्र, द्वादशदलपद्मचक्र को अनाहत चक्र कहते है।

तंत्र के प्रतीकों मे कुण्डलिनी का स्थान सर्वप्रमुख है। कुण्डलिनी सभी मानवो मे स्थित ब्रह्म की सुषुप्तशक्ति मानी गई है जो साधना द्वारा जागृत की जाती है। इसका आकार कुण्डलीकृत सर्पिणी के समान माना गया है जो निष्क्रिय बैठी रहती है। चित्रो मे इसका अंकन कुण्डलित सर्प के समान करते हैं। शनै:-शनैः उसके जाग्रत होने पर वह अपना शीर्ष ऊपर उठाती है। यह कुण्डलित शक्ति सुषुम्ना नाड़ी मे स्थित षड्चक्रों को साधक द्वारा जाग्रत किये जाने पर मस्तक में स्थित सहस्रदलकमल मे जब प्रविष्ट होती है तब उसे अनहद नाद सुनाई पड़ता है और वह साधक शिव-शक्ति के चरम विलास, आत्मा-परमात्मा के मिलन एवं दर्शन का अनुभव करके परमानन्द की प्राप्ति करता है। इन सभी तान्त्रिक विषयों के चित्रों का अति रमणीय अंकन भारत कला भवन में सुरक्षित १७६० ई० की एक नेपाली सचित्र तांत्रिक पोथी में है।

ज्योतिष शास्त्र :—ज्योतिष शास्त्र में यद्यपि चित्रकला का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु प्रकारांतर से उन उल्लेखों में ग्रह-नक्षत्रादि को प्रदर्शित करने के लिए जो रेखांकन वृत्त, त्रिकोण, आयताकार आदि का किया जाता था उससे आभास होता है कि उन्हे रेखाचित्रों का ज्ञान था। इसी प्रकार नभमंडल में नक्षत्रों के विभिन्न समूहों से मेष, मिथुन, कन्या, धनु इत्यादि राशियों के आकार-प्रकार से जो रेखाकृति दिग्दर्शित होती है, उसका अंकन ग्रन्थो मे ज्योतिषाचार्य करते रहे है। उससे प्रतीत होता है कि उस समय रेखाचित्रों द्वारा चित्रकला का बीजारोपण हो चुका था।

ज्योतिष शास्त्रो में सामुद्रिक लक्षणों को भी बतलाया गया है। इन्हीं लक्षणों को संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में जैसे काव्य, नाटक, कथा, पुराणादि मे मानव-सौंदर्य के लक्षणों के रूप मे भी वर्णित किया गया है। ये सामुद्रिक लक्षण आगे चलकर स्त्री-पुरुषों के आदर्श सौंदर्य के मापदण्ड बन गये, जिनका विस्तृत वर्णन विष्णुधर्मोत्तरपुराण (अध्याय ३७) में किया गया है, जिसके आधार पर आज भी प्रमाण युक्त रमणीय रूप का चित्रांकन किया जा रहा है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय लोगो को चित्रकला तथा सौंदर्यबोध का अच्छा ज्ञान रहा होगा।

'नैषधीयचरित' में दमयन्ती के सौंदर्य का वर्णन करते समय श्रीहर्ष ने इन सामुद्रिक शुभलक्षणो की स्वच्छन्दता से परिगणना की है। ऊँचा ललाट, धनुषाकार भृकुटि, कमलनयन, शुक-नासिका, कम्बुकंठ, कपाटवक्ष (पुरुषों का), सिंहकटि मृणालदण्ड के समान लोचदार बाहु, क्षीण-कटि (नारियों की) उत्तम मानी जाती है।

सिंह-कटि पुरुष राजा होता है और वानर या ऊँट की भाँति कटि वाला धनी होता है। इसी प्रकार बहुत से शुभाशुभ लक्षण 'हरिवंशपुराण' (सर्ग २३) में तथा अनेक ज्योतिष ग्रन्थों में [illegible] हैं। इन शुभलक्षणों से युक्त चित्रों को बनाने का निर्देश चित्रसूत्र (३७।४,६) में किया गया है। उसमें कहा है कि राजाओं के इस प्रमाण में, महापुरुष लक्षण-युक्त, हाथों में तीन सुन्दर रेखायें तथा चंद्र-खंड [illegible] अंकित करना चाहिये, भौहों के मध्य मंगलमय ऊर्णा (घुमावदार रोम, बुद्धमूर्तियों में [illegible]) बनाना चाहिये जो मूलतः सामुद्रिक लक्षण हैं। घुंघराले, श्याम, पतले, स्निग्ध, दक्षिणावर्त केश, धनुराकार, मत्स्योदर या नीलोत्पल अथवा पद्मपत्र सदृश नेत्र शुभ माने गये हैं। इन लक्षणों के अतिरिक्त हंस, भद्र, मालव्य, रुचक और शशक प्रमाण के पुरुष तथा उनके अंग-प्रत्यंगों के नाप के अनुसार भी वे शुभाशुभ कहे गये हैं।

पारस्कर गृह्यसूत्र :—इसमें पारस्कर मुनि ने ([illegible] प्रथम [illegible]) प्रारम्भ में कहा है कि जिस प्रकार चित्रकर्म में धीरे-धीरे अनेक रंग (राग) उन्मीलित ([illegible]) होते हैं, उसी प्रकार [illegible] अनेक प्राचीन संस्कारों से शनैः शनैः बढ़ता है। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि उस समय चित्रकला का ज्ञान लोगों को रहा होगा और चित्रकार एक के बाद एक अनेक रंगों को चित्राकृति में लगाकर चित्रोन्मीलन करते रहे होंगे।

रामायण :—चित्रकला प्राचीन भारत में [illegible] थी और वाल्मीकि रामायण में उसका अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। उसमें चित्र का प्रयोग प्रायः भवन की भित्तियों, कक्षों और रथों के अलंकरण के रूप में ही अधिक हुआ है। सुन्दरकाण्ड और उत्तरकाण्ड में [illegible] के संबंध में विशेष चर्चायें देखने को मिलती हैं। लंका में सीता की खोज करते समय हनुमान को [illegible] चित्रशालायें तथा चित्र-सुसज्जित क्रीड़ागृह भी दिखे थे। वाल्मीकि ने—"लतागृहाणि चित्राणि चित्रशालागृहाणि च।" ([illegible]।३४) — में चित्रशालाओं का बहुवचन में प्रयोग किया है। इससे अनेक प्रकार की चित्रशालाओं का संकेत मिलता है, यथा—राजमहलों में स्थित राजकीय चित्र-शाला, व्यक्तिगत चित्रशाला या अंतःपुर के वासभवन में चित्रशाला तथा नगर के मध्य स्थित सार्वजनिक चित्रशाला। इससे ज्ञात होता है कि भारत में चित्रकला का अस्तित्व अति प्राचीन काल से है, यद्यपि उसके तत्कालीन उदाहरण अब उपलब्ध नहीं हैं। कैकेयी का राजप्रासाद अन्तःपुर चित्रों से सुशोभित था (२।१०।१२)। रावण के राज प्रासाद की चित्रशाला अपने युग की विख्यात चित्रशालाओं में थी। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में चित्रशाला का सर्वप्रथम उल्लेख इसी ग्रंथ में हुआ है। राम के राजप्रासाद में भित्तिचित्र उत्कीर्ण थे (सूत्कीर्णं भक्तिभिः, ५।१५।३५)। वे भित्तिचित्र सूत्कीर्ण[1] अर्थात् अच्छी तरह उत्कीर्ण या उकेरे हुए थे और 'भक्तिभि'—काट-काटकर (स्टैंसिल), सतह से उभरे हुए (अंग्रेजी—'बास रिलीफ' में) बने थे।

रावण के पुष्पक विमान में स्वर्ण-खचित चित्रकारी अर्थात् गंगा-जमुनी काम **'कांचन चित्रांगम्'**—(६।१२१।२४) किया हुआ था। उस विमान की भूमि पर, केसरपत्र-परिपूर्ण पुष्प युक्त वृक्षावली से सुशोभित, पर्वतमाला चित्रित थी (५।७।९)। उत्तरकाण्ड में उल्लेख है कि भित्ति पर दृष्टि और मन को सुख प्रदान करने वाले अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक दृश्य अंकित थे तथा उसकी शोभा-वृद्धि के लिए बेल-बूटे (भक्ति-चित्र) बने थे—**'बहु आश्चर्यं भक्तिचित्रं ब्रह्मणा परिनिर्मितम्'** (७।१५।३८)। चतुरशिल्पियों द्वारा निर्मित, पक्षियों, वृक्षों तथा अद्भुत पदातियों के चित्रों से

---

[1] 'सूत्कीर्ण'—दीवार की सतह पर बने ऐसे अलंकरण को मुस्लिम वास्तुकार 'चीराकशी' (सतह को चीरकर अर्थात् खरोचकर आकृति का रूप देना) कहते हैं।

प्राचीनकाल में संभवतः अंकन को स्थायित्व देने के लिए इस प्रक्रिया का प्रयोग होता था। नागार्जुनकोंड में भी एक शिला पट्ट पर अर्द्धचित्र (रिलीफ चित्र) बनाने के लिए बारीक रेखाओं से चीराकशी की गयी है।

चित्रित शिविका (पालकी) में बाली का शव श्मशान-भूमि में ले जाया गया था (४।२५।२२)। लंका नगरी के तोरण बेल बूटों से सुशोभित थे—"लता-पंक्तिविराजितैः" (५।२।१८)। हाथियों के मस्तक (३।१५।१५) तथा रमणियों के कपोलों पर सुन्दर चित्रकारी (पत्रभंगरचना) की जाती थी—'सपत्ररेखाणि सरोचनानि वधूमुखानीव नदीमुखानि।' (४।३०।५५)। योद्धाओं की पताकाओं पर तरह-तरह की आकृतियां अंकित रहती थी। धूम्राक्ष के रथ में मृग और सिंहों के मुख बने हुए थे (मृगसिंहमुखैर्युक्तम्—६।५१।२८)। रावण के रथ में पिशाच-वदन चित्रित थे। इससे प्रतीत होता है कि उस समय वस्त्र, काष्ठ तथा धातु पर भी चित्रकारी की जाती रही होगी।

महाभारत:—रामायण की भाँति महाभारत में भी चित्रकला के अनेक प्रसंग है। 'महाभारत' (३।२९३।१३) में सत्यवान् के संबंध में कहा गया है कि बाल्यकाल में उसको घोड़े का बहुत शौक था। वह मिट्टी का घोड़ा बनाता और भित्ति पर घोड़े के चित्र अंकित करता था। इसीलिए उसका नाम चित्राश्व पड़ा। महाभारत (आदि पर्व, अ० १२८) में गंगा के किनारे एक 'जल-केलिगृह' का वर्णन है जिसकी भित्ति और छतें चित्रित थीं। इसी के 'द्रोणपर्व' (अ० १८१) में उल्लेख है कि मूर्छावस्था में अभिभूत अतिथि भीम का अपूर्व चित्रण चित्रपट पर कुशल चित्रकारों द्वारा किया गया।

मयासुर ने युधिष्ठिर के लिए जिस सभागृह (सभापर्व—३।२०-३७) का निर्माण किया था, वह जल के स्थान पर स्थल और स्थल के स्थान पर जल की भ्रांति उत्पन्न करने वाला था। '**सभारूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान्मयः** ॥३।२७॥' यह सभागृह उत्तम द्रव्यों से तथा रत्नों से युक्त प्राकार एवं तोरण वाला था। इसमें स्फटिकमणि से सन्निश्र सोपान—'चित्रस्फटिकसोपाना' नाना प्रकार के रत्नों से अलंकृत भित्ति पर अनेक पुत्तलिकायें चित्रित थीं तथा पुष्पित कमल-सरोवरों, हंस आदि रमणीय पक्षियों से चित्रित मतिभ्रमित करने वाली भूमि थी। इस प्रकार सभाभवन अनेक प्रकार के चित्रों से, बहुत धन से विश्वकर्मा द्वारा अतीव सुन्दर निर्मित की गई थी—'**बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा**' ॥३।२७॥ यह कहां तक सत्य है अथवा कल्पनामात्र है, यह कहना कठिन है। यदि इसे सत्य माना जाय तो निश्चय ही एक अलौकिक रचना रही होगी।

इसके 'शांतिपर्व' मोक्षधर्म (१८४।३३-३४) में रूप के १६ प्रकार कहे गये हैं—"**ज्योति पश्यन्ति रूपाणि रूपश्च बहुधा स्मृतम्**।" जो चित्रकला के प्रधान अंग है।

अष्टाध्यायी:—इसमें पाणिनि ने शिल्प को 'चारु' अर्थात् ललित कलायें और 'कारु' अर्थात् औद्योगिक कलायें — इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया है, जिससे प्रतीत होता है कि शिल्प को उस युग (लग० ५वीं शती ई० पू०) में बहुत महत्व दिया गया। जीवन से संबधित किसी भी उपयोगी व्यापार की गणना शिल्प के अन्तर्गत ही थी। चित्रांकन, मूर्ति-निर्माण तथा नृत्य, संगीत, वाद्य आदि ललित कलायें चारु-शिल्प के अंतर्गत थीं (३।१।१४६, ३।२।५५, ४।४।५६)। किन्तु उनके करने वाले पेशेवर लोगों की गणना कारु-शिल्पियों में की जाती थी। हाथ से शिल्प या उद्योग-धन्धा करने वाले के लिए उस समय 'कारि' शब्द प्रयुक्त होता था (४।१।१५२)। काशिका में 'कारि' शब्द का अर्थ कारु-शिल्पी है (कारिशब्दः कारूणां तन्तुवायादीनां वाचकः)। अर्थशास्त्र (२।३६) में भी 'कारुशिल्पिनः' शब्द आया है। कात्यायन ने शिल्पी के लिए पाणिनीय कारि शब्द का प्रयोग किया है (४।१।१५९ वा०)। उर्दू का 'कारीगर' शब्द भी इसी की व्यंजना करता है। बंगाल में चारु और कारु शिल्प शब्दों का प्रयोग करने की परम्परा आज भी है। इसके संबंध में नन्दलाल बोस का (व्यक्तिगत संपर्क से प्राप्त) कथन है कि कारु वह शिल्प है जिससे आनन्द और धन दोनों प्राप्त हों तथा चारु वह शिल्प है जिससे केवल आनन्द की प्राप्ति होकर आत्मिक सुख प्राप्त हो।

चौंसठ कलाओं की जो गणना साहित्य में पाई जाती है उसका आरम्भ सम्भवतः पाणिनी युग से हुआ। सौंदर्य विधान, रूप समृद्धि, मनोरंजन एवं विनोद आदि के साधन की ओर इन शिल्पों का विशेष लक्ष्य था। प्रत्येक शिल्प का संवर्धन शनैः शनैः विशेष श्रेणियों द्वारा होने लगा। ये श्रेणियाँ समुदाय भी कालान्तर में जाति-रूप में परिणत हुए। इस प्रकार अष्टाध्यायी में 'शिल्प' व्यापक शब्द था जो कला के दोनों भेदों - चारुशिल्प और कारु-शिल्प - के लिए प्रयुक्त होता था।

'ललितविस्तर' (शिल्पसंदर्शनपरिवर्त, १२।३५८–३७१) में भी सिद्धार्थ द्वारा शिल्पों के अध्ययन करने का उल्लेख है। उसमें छियानवे प्रकार के शिल्पों की तालिका है जिनमें चित्रकला का भी नामोल्लेख है। इन सभी कलाओं में सिद्धार्थ के पारंगत होने का वर्णन है। अजंता, गुफा १७ (चित्रित. फलक ८९) में एक चित्र अंकित है जिसमें कुछ बालक विभिन्न शिल्पों का अभ्यास करते चित्रित हैं, जैसे–आलेख्य, धनुर्विद्या, वीणावादनादि। वहीं भित्ति पर पिंजड़े में कपोत-युगल, शुक-सारिका, सरोद, आरी, परशु, धनुष-बाणादि टंगे हैं (चित्र–२)। इनमें पाँच बालकों को एकाग्रता से पट्टिका पर सम्भवतः चित्रकला का अभ्यास करते प्रदर्शित किया है। विद्वानों ने गुप्तकालीन इस चित्र को सिद्धार्थ की कला-शिक्षा माना है। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में शिल्पों का ज्ञान उच्च-निम्न सभी वर्गों के स्त्री-पुरुषों के लिए आवश्यक था। इसके अभाव में लोग समाज में आदरणीय नहीं माने जाते थे। शिल्प-निपुणता की परीक्षा प्रतियोगिताओं में विजयी होने से होती थी और विवाह-संबंधों के लिए कन्या के पिता ऐसे ही कला-कुशल वर की तलाश में शिल्प प्रतियोगिता करवाते थे। गोपा के पिता दण्डपाणि शाक्य ने भी अपनी कन्या के लिए सुयोग्य वर प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता करवायी थी और सिद्धार्थ के शिल्प-कौशल से प्रसन्न होकर अपनी कन्या का विवाह उनसे कर दिया। यह प्रकरण ललितविस्तर के उपर्युक्त संदर्भ में उल्लिखित है। इससे सिद्ध होता है कि जीवन में जितना आवश्यक विद्या का अभ्यास था उतना ही शिल्प का अभ्यास भी महत्वपूर्ण था और उसकी शिक्षा बाल्यावस्था से ही दी जाती थी।

वाल्मीकि रामायण में चित्र, मूर्ति आदि कलाओं के लिए भी शिल्प शब्द का प्रयोग है। पालि तथा बौद्ध-साहित्य में शिल्प के लिए 'सिप्प' शब्द का प्रयोग किया गया है। शनैः-शनैः चारु और कारु शिल्पों में चारु अर्थात् ललित कलाओं का पद ऊँचा उठता गया। गुप्तयुग में कालिदास ने ललितकला शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग रघुवंश (८।६७) में किया है–'**गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।**'

रंग आदि सामग्री, गुण और द्रव्य, इन दोनों के लिए राग शब्द था (६।४।२६-२७, '**घञि च भावकरणयोः भावे-विचित्रो रागः, करणे-रज्यतेऽनेनेति रागः**')। इसी प्रकार रक्त या लोहितक, कालक, मञ्जिष्ठ (८।३।९७), नीली (४।१।४२), रोचना या गोरोचना (४।२।२) आदि रंगों के प्रयोग चित्रकला के लिए और वस्त्र रंगने के लिए भी होता था।

पाणिनि ने संघ-राज्यों के अंक और लक्षणों की चर्चा की है। इन लक्षणों से उन राज्यों के सांकेतिक चिह्नों का अभिप्राय है जो पशु, पक्षी, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि होते थे। स्वस्तिक, स्रुवा, अंकुश, बाण, कुण्डल आदि प्रतीकों को पशुओं पर चिह्नित करने के लक्षणों की भी चर्चा पाणिनि ने की है और उन्हें किस प्रकार अंकित किया जाता था इसका भी उल्लेख किया है। ये चिह्न गायों के कान, पूँछ, प्लीहा, पीठ, उदर आदि पर पहचानने के लिए लगाये जाते थे। इनमें से कुछ चिह्न भारत की प्राचीन आहत मुद्राओं पर भी अंकित पाये जाते हैं। पशुओं को चिह्नांकित करने की प्रथा आज भी प्रचलित है। अतएव पाणिनि के समय में भी चित्रों का पर्याप्त प्रचार था।

अर्थशास्त्र :—यद्यपि कौटिल्य (तीसरी शती ई० पू०) के अर्थशास्त्र में चित्रकला का उल्लेख नगण्य है तथापि इसमें कारु शब्द का प्रयोग मिलता है–'कारुशिल्पिनः' (२।३६)। इससे यह प्रतीत होता है कि जो कलाकार अपने कार्य में निरन्तर लगा रहता था उसे उस कला का कलाकार न कह कर उस कला का शिल्पी कहते थे। उसमे (२।४३।२७) कारुक शिल्पियो की नामावली है जिसमें चित्रकार का भी नामोल्लेख है और इन शिल्पियों के कार्यों की भी तालिका दी गई है। शिल्पियों की आजीविका का प्रबन्ध नगरों तथा गावों से आने वाली आय द्वारा किया जाता था। कोई भी व्यक्ति यदि इन्हें प्रताडित करता था, उसे कठोर दण्ड देने का इसमें विधान है। इसमे कहा गया है कि शिल्पी (कारु) लोग ईमानदार नही होते (अशुचयो हि कारवः–३।६८।१२)। क्योकि इसमें (४।७९।४) समाहर्ता (कर आदि का संग्राहक) द्वारा गुप्त षडयंत्र कार्यों को जानने के लिए यमपट को दिखाकर जीविका चलाने वाले (कार्तान्तिक) कारीगर आदि गुप्तचरो को नियुक्त करने का विधान है। **'समाहर्ता जनपदे.. कार्तान्तिक . कारुशिल्पि-कुशीलव...प्रणिदध्यात्।'**

नाट्यशास्त्र :—भरत मुनि ने (पहली शती ई० पू०) इसमे रंगमंच के निर्माण और अभिनय के साथ ही चित्र, मूर्ति, वास्तु, नृत्य, गीत आदि कलाओं पर बहुत गंभीरता से विचार किया है। वे कहते है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्मंनाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते ।।१।११६।।

न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प, न विद्या, न कोई कला, न योग और न कार्य जो नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता हो। इसीलिए भरत ने इन सबका संयोजन नाट्य में किया है। नाट्यशास्त्र (२।३४) में प्रेक्षागृह के विवेचन-क्रम में भित्ति-चित्र बनाने का उल्लेख है जिसका प्रारंभ वास्तु-निर्माण की भांति सूत्र के रेखाकन (सूत्रपात रेखा) से होता है। उसके पश्चात् ब्रह्म रेखा के अन्दर ही चित्र-रचना करते है। नाट्य मंडप की भित्ति उठाने के बाद, उस पर 'सुधालेप' करना चाहिये। अभिनवगुप्त ने भित्तिलेप (शृंग (शंख) बालुका शुक्तिकालेपः) बालू के साथ सीप और शंख के चूर्ण मिलाकर तैयार किया हुआ लेप माना है। इस सुधाकर्म या सुधालेप करने की विधि 'शिल्परत्न' में भी है। भित्ति पर सुधालेप हो जाने तथा सब ओर से परिमार्जित, समतल, शोभायुक्त हो जाने के उपरान्त उन पर चित्रांकन करना निर्दिष्ट है।

समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत् ।।९०।।
चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा।
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम् ।।९१।। ना० शा०, द्वि० अ०।

चित्रकारी में स्त्री-पुरुष, युगल के अंकन तथा लताबन्ध आदि भोगो वाली रतिक्रीडा के चरितो का मनोरम आलेखन होने को उचित माना गया है।

सुब्बाराव तथा मनमोहन घोष ने उपर्युक्त श्लोक में 'लताबन्ध' का अर्थ लताओ का आलेखन माना है जो यथोचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः इस प्रसंग में 'लताबन्ध' एक आलिंगनपाश का प्रकार है, कामसूत्र एवं अजंता के चित्रों तथा खजुराहो आदि मंदिर की मूर्तियो से यही प्रमाणित होता है।

रंगमंच को तैयार करने के लिए, 'पात्रानुकूल अभिनेता की मुख एवं वस्त्राभूषण की सज्जा या आहार्याभिनय तथा उसमें रंगों के संबंध का भरत मुनि ने इस प्रकार वर्णन किया है–**'वर्णानां तु विधिं ज्ञात्वा तथा प्रकृतिमेव च, कुर्यादङ्गस्य रचनाम्।''** वर्ण की विधि और प्रकृति अर्थात् कौन वर्ण आकृति को गोपित करता है और कौन वर्ण

उसे उचित रीति से अभिव्यक्ति करता है. इसकी विधियों को जानकर कौन वर्ण आनन्ददायक है जिससे वैराग्य का बोध होता है, कौन अनुराग को सूचित करता है इत्यादि वर्णों की प्रकृति को समझकर ही अंगों की रचना करनी चाहिए। इस प्रकार उसमें वर्ण मिश्रण संबंधी तकनीकों पर भी प्रकाश डाला गया है। नाट्यशास्त्र (छठे अध्याय) रस-प्रकरण में विभिन्न रसों के विभिन्न वर्णों की चर्चा की गई है। यथा– श्यामो भवति शृंगारः ... पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥' ६।४२-४३॥ शृंगार रस का वर्ण श्याम, हास्य का शुक्ल कहा गया है, करुण रस का कपोत और रौद्र का रक्त वर्ण माना गया है। वीर रस का वर्ण गौर (स्वच्छगौर, उज्ज्वल), भयानक रस का कृष्ण (काला), बीभत्स का नील वर्ण और अद्भुत रस का पीत कहा गया है। यहाँ पर प्रस्तुत कारिकाओं में शान्त रस की चर्चा नहीं है। अभिनवगुप्त यहाँ पर एक भिन्न परम्परा का भी उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार 'पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः' के स्थान पर 'स्वच्छपीतौ शमाद्भुतौ' पाठ है और इसमें शम का रंग निर्मल सिद्ध होता है। यह शान्त को रसों में स्वीकार करने वालों का दृष्टिकोण है। इसमें सफेद, लाल, नीला पीला — ये चार स्वभावज वर्ण कहे गये हैं (सितो नीलश्च पीतश्च चतुर्थो रक्त एव च। एते स्वभावजा वर्णा .) और इसमें (२१।३०-९५) कहा है कि इन वर्णों के मिश्रण से अनेक विभिन्न उपवर्णों की सृष्टि होती है।

'नाट्यशास्त्र' में स्थान (ऋज्वागत, साचीकृत, पार्श्वागत, पृष्ठागत आदि नौ स्थान) हस्तक (नृत्य की हस्त मुद्रायें, चतुर्थ अध्याय में) बतलाये गये हैं. जैसे पुष्पपुट मुद्रा (९।५००) में दोनों हाथों की सर्पशीर्ष स्थिति में (९।८४) अंगुलियों को एक ओर संश्लिष्ट करते हैं। शुकतुण्डमुद्रा (९।४६)—अराल नामक हस्तमुद्रा की मुद्रा में जब अनामिका अंगुली वक्र की जाती है तब उसे शुकतुण्ड कहते हैं। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के अध्याय ९ में कटकामुख, लताहस्त (लता के समान हाथ), चतुर, खटकामुख, पताका, त्रिपताका, कपित्थ (पाठभेद-कपित्थक), सर्पशीर्ष, सिंहमुख, मृगशीर्ष इत्यादि मुद्राओं का नृत्य के प्रसंग में वर्णन है। इन्हीं मुद्राओं तथा इनके करणों (वेष्टित, अंचित, स्वस्तिक, समनख, वलित, ललित, वैशाखरेचित, परिवृत्त, लोलित आदि करण) का चित्रकला में भी प्रयोग किया जाता था। अजंता के भित्तिचित्रों में हस्त-मुद्राओं तथा उनके करणों एवं भंगिमाओं को अतीव सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है जिससे वे चित्र स्वयं अपने भाव को अभिव्यक्त कर देते हैं। ये मुद्रायें चित्रकला में बहुत महत्व एवं निजत्व रखती हैं। इन सब मुद्राओं का सुन्दर अंकन दक्षिण भारत के चिदम्बरम् मंदिर की मूर्तियों में है। विष्णु-धर्मोत्तर के नृत्याध्याय में भी इन मुद्राओं का वर्णन है।

नाट्यशास्त्र में संगीत की राग-रागिनियों पर भी विचार किया है। इन पर १८वीं सदी में बहुत चित्र बने। नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में 'भाव' का विवेचन है जो चित्र-रचना में उसका प्राण होता है। अंगोपांगों से युक्त अभिनय भी बिना मुखराग के शोभित नहीं हो सकते (८।१६५), क्योंकि इनके माध्यम से अत्यन्त सूक्ष्म मनो-भाव व्यक्त होते हैं जिसे चित्रों में अंकित करने से उसमें सजीवता आ जाती है। इस प्रकार इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमें चित्र को सजीव बनाने के हर पक्ष पर प्रकाश डाला गया है।

कामसूत्र :— यह भी चित्रकला संबंधी प्रमुख ग्रंथ है। वात्स्यायन (लगभग २री–३री शती) के 'कामसूत्र' पर सर्वप्रथम यशोधर (१३वी शती) ने 'जयमंगला' नामक टीका लिखी है। इसमें प्रथम अधिकरण, अध्याय तीन की टीका में आलेख्य (चित्र) के 'षडंग' को एक श्लोक में बतलाया गया है, जो उन्हें परम्परा से प्राप्त था। वह निम्न है :–

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रस्य षडंगकम् ॥

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र में भी इन षडंगों का विस्तृत विवेचन है। ये षडंग भारतीय चित्रकला के मेरुदंड हैं।

प्राचीन भारत की चित्रकला में इन षडंगों की सुयोजना आवश्यक समझी जाती थी। सभी चित्रकार अपनी कृतियों में इसका पूर्णरूपेण पालन करने का प्रयास करते थे। अजन्ता और बाघ के गुफाचित्रों में चित्रकला के उक्त षडंगों को बड़ी सावधानी से दिखलाया गया है। भारतीय चित्रकला के सिद्धान्तों के अनुसार जिस चित्र में षडंगों का सम्यक् निरूपण न किया गया हो, वह चित्र कहलाने योग्य नहीं हैं। षडंग-साधना बड़ी श्रमसाध्य है।

"कामसूत्र" के विद्यासमुद्देश्य प्रकरण में काम की उपायभूत ६४ कलाओं में "आलेख्य" की भी गणना वात्स्यायन ने की है, जिनका उल्लेख "यजुर्वेद" के (३०।४-२२) मंत्रों में है। ये कलायें वैदिक काल से ही प्रचलित थीं। इससे ज्ञात होता है कि चित्रविद्या के साथ-साथ चित्रकला का यह षडंग भी उसी समय से प्रचलित रहा होगा और उससे तत्कालीन समाज भली-भाँति परिचित रहा होगा। किन्तु वे सभी ग्रन्थ अब लुप्त हो चुके हैं। आलेख्य (चित्र) दो प्रकार के होते थे – (१) चित्रकार द्वारा बनाया हुआ चित्र और (२) साहित्य में वर्णित शब्द-चित्र।

वात्स्यायन कहते हैं कि इन चतुःषष्ठी कलाओं के प्रयोगों का अभ्यास कन्या को एकान्त में करना चाहिए। यद्यपि इन सभी कलाओं का ज्ञान स्त्री-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक था। ये कलायें अनुरागजनक एवं आत्म-विनोदार्थ होती थीं। इसीलिए "विदग्धमाधव" (उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४१७) में चित्रपट को "विलासफलक" कहा गया है। कला-ग्रहण करने का फल वे बतलाते हैं कि कलाओं के ज्ञान प्राप्त करने मात्र से ही सौभाग्य जाग उठता है – "कलानां ग्रहणादेव सौभाग्यमुपजायते" (१।३।२२)। किन्तु देश-काल की परिस्थिति प्रतिकूल होने से इन कलाओं के प्रयोगों की सफलता में सन्देह हो जाता है। इन कलाओं के ज्ञान से गणिका भी समाज में आदरणीय बन जाती थी और राजा उसका सम्मान करता था, गुणवान् लोग उसकी प्रशंसा करते थे और उससे कलायें सीखने के लिए प्रार्थना करते थे, इस प्रकार वह सबका लक्ष्यबिन्दु बन जाती थी (१।३।१७-१८)। चौंसठ कलाओं के प्रयोगों को जानने वाली राजपुत्री और मंत्रीपुत्री, हजारों रनिवास वाले पति को भी वश में कर सकती थीं तथा पति से वियुक्त होने पर अथवा महान् विपत्ति में फँस जाने पर कदाचित् उसे अपरिचित स्थान में भी जाना पड़े तो वह अपनी कलाओं द्वारा सुखपूर्वक निर्वाह कर सकती थी (१।३।१९-२०)। पुरुषों के लिए भी वे कहते हैं कि वार्तालाप करने में निपुण, चाटुकार पुरुष यदि कुशल कलाकार हो तो वह अप्रशंसनीय होते हुए भी स्त्रियों के चित्त को शीघ्र आकृष्ट कर लेते थे (१।३।२१)। इसीलिए वात्स्यायन कहते हैं कि इन अभिनन्दिनीय चौंसठ कलाओं का अनुष्ठान प्रत्येक गृहस्थ को करना चाहिए, क्योंकि ये कलायें सुभगा, सिद्धा, सुभंगकरणी है, स्त्रियों की प्यारी हैं और आचार्यों ने शास्त्रों में भी इनकी ऐसी ही व्याख्या की है –

> नन्दिनी सुभगा सिद्धा सुभंगकरणीति च।
> नारीप्रियेति चाचार्यः शास्त्रेष्वेषा निरुच्यते ॥२।१०॥३८॥

कामसूत्र में ये कलायें अक्षय सुखोपभोग, तुष्टि और सद्गति का साधन मानी गई है। चित्रकार इस भौतिक जीवन में चित्र-रचना करके आनन्द और यश लाभ तो करते ही हैं, साथ ही दर्शकों पर भी ये अच्छा प्रभाव डालते हैं। इन चौंसठ कलाओं के दो वर्ग हैं – (१) ललितकला, (२) इतर कलायें तथा कौशल। तत्कालीन समाज में इन कलाओं का अत्यधिक प्रचार, प्रसार एवं आदर था और इन कलाओं को जानने वाले नागरिक सुसंस्कृत माने जाते थे। इन कलाओं की परम्परा हिन्दू समाज में किसी न किसी रूप में अभी भी चली आ रही है। कालिदास ने अपनी रचनाओं के कुछ नायकों को चित्र-रचना करते हुए प्रस्तुत किया है इनमें भी अभिज्ञानशाकुन्तलं के नायक दुष्यन्त का जो वर्णन उन्होंने किया है उससे ज्ञात होता है कि वह एक उत्कृष्ट चित्रकार भी था। वह बड़े मनोयोग

और कुशलता से चित्र बनाता था तथा बारीक-रेखा, लावण्य, त्रिभागत विभाग, वर्तना, भाव इत्यादि को अपनी चित्र-रचना में प्रयुक्त करता था। इस उद्धरण से भी कामसूत्र के उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

कामसूत्र के चतुर्थ अध्याय नागरकवृत्तप्रकरणम् में बहि. प्रकोष्ठ की सज्जा का निर्देश बहुत सुन्दर और सजीव है। इस प्रकार की सज्जा अजन्ता आदि के प्राचीन चित्रों में अंकित की गई है। इसमें शय्या के समीप चित्रफलक और वर्तिकासमुद्गक रखने का उल्लेख है। वर्तिकासमुद्गक - रंग, ब्रश, तूलिका, रंग इत्यादि चित्रकला-सामग्री रखने की मंजूषा थी। इन सबका किसी गृहस्थ के यहाँ होना आदर्श गृह का परिचायक था। कामसूत्र के बहि. प्रकोष्ठ की सजावट के समान वर्णन मृच्छकटिकम् नाटक में भी है। जब शर्विलक नामक चोर चारुदत्त के घर में चोरी के लिए घुसा तो वह उसकी सज्जा को देखते ही आश्चर्यचकित रह गया। कहीं वीणा, मृदंग, दर्दुर, पणव आदि वाद्य टंगे थे, कहीं चित्रफलक, कहीं पुस्तकें रखी थीं। वस्तुतः सरस हृदय नागरिक के लिए वीणा और चित्रफलक ये दो वस्तुएँ जीवन-संगिनी के समान थीं।

इसके बालोपक्रमणप्रकरण नामक तृतीय अध्याय (पृ० २०३) में युवक प्रेमी के अपनी प्रेयसी कन्या को रंग का डिब्बा (पटोलिका) उपहार में देने का वर्णन है जिसमें अलक्तक (चित्राकन के लिए लाल या अरुण रंग), मनः शिला (मैनसिल), हरिताल (पीत वर्ण), हिंगुल (सिंदूरी रंग), श्याम (हरा या नील) रंग आदि रंग होते थे — पटोलिकानामलक्तकमनः शिलाहरितालहिंगुलकश्यामवर्णकादीनाम्।

वात्स्यायन ने बहिः प्रकोष्ठ का जितना सजीव वर्णन किया है उतना अन्त. प्रकोष्ठ का नहीं। किन्तु कादम्बरी में बाणभट्ट ने अन्तःपुर का बहुत ही मोहक वर्णन किया है। राजा चन्द्रापीड ने जिस समय कादम्बरी के अन्तःपुर में प्रवेश किया तो उसकी भित्तियों की मनोरम चित्रकारी देखकर वह क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गया। इसकी दीवारों के ऊपरी भाग में कल्पवल्ली के चित्र, उसके पर नृत्यमुग्ध विद्याधरी इत्यादि के चित्र अंकित थे।

कामसूत्र की भांति विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र (३।४३।४८) से भी प्रतीत होता है कि अन्त.पुर की नारियों में मनोरंजन की भावना सर्वोपरि रहती थी। चित्रकारी उनका प्रमुख मनोविनोद था। जिस गृह में चित्रकला का वास रहता था वह गृह मंगलमय समझा जाता था। इसीलिए प्रत्येक नागरिक के भवन में तूलिका, चित्रकारी के उपकरणों की मंजूषा तथा चित्रफलक विद्यमान रहता था। अन्तःपुर – वासिनियां समय समय पर चित्रकला द्वारा अपना मनोरंजन किया करती थीं। वे काष्ठ अथवा हाथी दांत के फलक, चिकने शिलापट्ट, ताम्रपत्र अथवा वस्त्र पर चित्र बनाती थीं। कामसूत्र के अंतःपुरिकावृत्तप्रकरण (५।६) में वर्णन है कि अंत.पुर में प्रीति के लिए मिलन के चित्र बनाना चाहिये – "यथ संपातोऽन्यान्यात्र चित्रकर्मवस्तसत्प्रत्ययः... ॥ १९ ॥"

इसमें (५।५) वर्णन है कि राजा अपनी प्रेयसी को अपने प्रासाद में बुलाकर, वहां की चित्रशाला आदि रमणीय वस्तुओं को दिखलाये – "मणिभूमिका...चित्रकर्माणिक्रीडामृगान् ..पुरस्ताद्दर्शयानि स्युः ॥१६॥ इसी के एक प्रकरण (अध्याय २) में उल्लेख है कि नायिका के सामने नायक उसके चित्र अथवा मूर्ति का चुम्बन करके अपना प्रेम प्रकट करे – "बालकस्य चित्रकर्मणः प्रतिमायाश्च चुम्बनं संक्रान्तकमालिङ्गनं च ॥२९॥"

इसके चतुर्थ अध्याय (पृ० ४४४) में है कि नायक अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए उसी के अनुरूप चित्र दिखाये। इसी के दूतीकर्मप्रकरण (पृ० ५१३) में एक महत्त्वपूर्ण आख्यान पट का वर्णन है। इसके द्वारा कथा-कहानी कही जाती थी। इसमें निर्देश है कि नायिका को इसी आख्यानपट के चित्र दिखाकर, रसमयी रोचक कहानियां सुनाकर और उसकी प्रशंसा करके उसको प्रसन्न करे – "सैनां शीलतोऽनुप्रविश्य आख्यानकपटैः...तां रञ्जयेत् ॥२॥"

टीकाकार यशोधर के अनुसार 'आख्यानकपटं' से अभिप्राय है – 'यमुपदिश्याख्यानकानि चित्रलिखितानि ।' आख्यानपट से प्रतीत होता है कि यह कुण्डलितपट[1] (उदयसुन्दरीकथा, पृ० ५१) होता था जिसमे सम्पूर्ण कथायें अंकित होती थीं और उसे एक ओर से खोलते तथा दूसरी ओर से लपेटते हुए बीच का दृश्य दिखलाते रहे होंगे अथवा सम्पूर्ण पट को पूरा फैलाकर प्रदर्शित किया जाता रहा होगा (पंचदशी, ६।१३१) । 'नेपाली तोरण' तथा जगन्नाथपुरी के पट इस वर्ग में रखे जा सकते हैं । भारत कला भवन में जगन्नाथपट एवं दो नेपाली तोरण हैं, जिनमे से एक में दुर्गा और दूसरे में कृष्ण अंकित हैं । इस प्रकार के कागज पर बने हुए रामायण चित्रावली और कृष्णलीला के चित्रों को सड़क के किनारे टाग कर डण्डे से दिखलाकर कथा कहने की परम्परा प्राचीन काल से विद्यमान रही है । बंगाल मे आज भी इसे 'पट्ट'[2] कहते हैं । 'त्रिविक्रम' नाटक में भी लम्बे चित्रपट दिखलाने का उल्लेख है । राजस्थान मे पाबूजी का पटचित्र प्रचलित है । पट लम्बा फैला रहता है और चित्र दिखलाने वाली स्त्री कथा कहती और पट के चित्र को दिखलाती जाती है । इन चित्रों को कथा के तारतम्य से अंकित नही किया जाता था । बीच-बीच में किसी दूसरे विषय के भी चित्र अंकित रहते थे । अजंता में भी भित्तिचित्रों को जातक-कथा के तारतम्य से नही बनाया गया है, क्योंकि उसमे कथा का एक दृश्य एक भित्ति पर बना है तो दूसरा दृश्य तीसरी या चौथी भित्ति पर ।

चतुर्भाणी :– महाकवि श्यामिलक (५वीं शती) विरचित 'पादताडितकम्' (पृ० १९६) में डिण्डियों की बन्दरो से उपमा दी है । इसमें विट ने लाट देश के चित्रकार निरपेक्ष को प्रद्युम्न के मंदिर की ध्वजा जब चित्रित करते देखा तो देखते ही वह डिण्डियों (गुण्डों) की चित्रकला को अपशब्द कहने लगा । वह कहता है, भला इस चित्र की कौन-सी विशेषता डिण्डियों को प्रिय है ? सुन :–

आलेख्यमात्मलिखितैर्विनाशयन्ति नाशे, सौधेषु कूर्चकमषीमलमर्पयन्ति ।।

ये डण्डिया लोग बने-बनाये चित्र में कुछ लीप-पोत कर उसे नष्ट कर डालते हैं, घर की पुती हुई दीवारों पर कूंची से स्याही पोत कर उन्हें गन्दा कर देते हैं ।

उपर्युक्त श्लोक के आधार पर आभास होता है कि चित्रकला लोककला के रूप में बहुत प्रचलित थी और लोग स्याही अथवा कज्जल से भी अनगढ आकृतियाँ भित्ति पर अंकित कर देते थे, जो सर्वथा उपहासास्पद होती थीं ।

---

१. कुण्डलितपट :– इसी प्रथा के अनुसार जन्मकुण्डली बनाने की परम्परा अभी भी प्रचलित है । किन्तु इनमें चित्रकला के ह्रास के कारण कोई चित्र न देकर केवल ज्योतिष के ज्यामितिक चक्रादि अंकित किये जाते हैं । भारत कला भवन में कई प्रकार के कुण्डलित पट हैं । जैसे – (१) सचित्र जन्मकुण्डली जो करीब १० इंच चौड़ी है जिसके प्रारम्भ में गणेश चित्रित हैं, (२) गीता का खर्रा (चार पैनल में) (३) बंगाल की लोककला का चित्रित खर्रा, जिसमें धर्मोपदेश का प्रसंग अंकित है, आदि ।

अकबर ने अपनी हम्जानामा चित्रावली के १४०० चित्रपटों को इसी परम्परा मे बनवाया था, किन्तु अवलोकन एवं चित्राधार मे संरक्षण की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक दृश्य के एक-एक पट को अलग-अलग (लगभग २ × २ फुट नाप का) बनवाया था । उन चित्रपटों में से कुछ ही प्राप्य हैं, जिनमे से कुछ चित्र भारत कला भवन एवं Staatsbibliothek Library (Berlin) में भी सुरक्षित हैं ।

२. अजित घोष, ओल्ड बंगाल पेंटिंग्स : पट्ट ड्राइंग्स, जर्नल इंडियन आर्ट ऐण्ड लेटर्स, खण्ड २, २, १९२६, पृ० ४४ ।

आज भी जहाँ-तहाँ दीवारों पर कूँची से अनगढ़ आकृतियाँ अंकित की हुई दिखाई देती है। सम्भवतः यह मनुष्य की आदिकालीन प्रवृत्ति या मनोवृत्ति का द्योतक है जो प्रागैतिहासिक गुफा-चित्रों से प्रगट होता है। इसी प्रवृत्ति या मनोवृत्ति का अपरिष्कृत रूप अपना नाम लिख देना है जिससे प्राचीन गुफाचित्र, इमारतें और मूर्तियाँ भी नहीं बचीं हैं। इसी प्रवृत्ति का दूसरा पक्ष है जिसमे गाँवों में पीली मिट्टी की लिपी-पुती दीवार पर चूने एवं गेरू से विविध आलंकारिक आकृतियाँ बनाते हैं।

इसी पादताडितकम् (पृ० २१९) में लक्ष्मी के चित्रपट का उल्लेख है – 'लक्ष्मीचित्रालेख्यपटे'। इसमे (पृ० १७९) वर्णन है कि एक प्रौढ़ा मनोविनोद के लिए स्वयं चित्र लिख रही है तथा (पृ० १३१ में) वेश्याओं के भव्य महलों में चित्रों से आलिखित चित्रशाला का भी उल्लेख है।

पुराण :– पुराण १८ है[1] तथा इनके भी बहुत से उपपुराण हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण यद्यपि विष्णुपुराण का का एक खिल (परिशिष्ट) है। इसके तृतीय खण्ड मे 'चित्रसूत्र' है। इसके अतिरिक्त पद्म, भागवत, स्कन्द, मत्स्य, अग्नि इत्यादि पुराणों में चित्रकला के उल्लेख अत्यल्प हैं, जो निम्नवत् सन्दर्भों में वर्णित हैं।

पद्मपुराण :– इसके उत्तरखण्ड (२२१।१–११) मे कहा गया है कि केरल राज्य के मन्त्री की पुत्री के पास एक "चित्र-पुस्तिका" (संभवतः चित्राधार, एल्बम) थी, जिसे उसने राजकुमारी हेम गौरांगी को दिखलाया। तब राजकुमारी ने निश्चय किया कि उसमे चित्रित तीर्थों का वह अवश्य भ्रमण करेगी। इसी पुराण के सृष्टि खण्ड (४३।४४९) मे कहा गया है कि भगवान् शंकर के क्रीड़ा-गृह की भित्ति पर पालतू मयूरों और राजहंसों के भव्य चित्र अंकित थे।

स्कन्दपुराण :– इसमें शिल्पकला के साथ ही चित्रकला का भी उल्लेख है। इस पुराण के नागर खण्ड में वर्णन है कि राजकुमारी रत्नावली जब विवाह योग्य हो गयी थी तो उसके पिता अनर्तराज ने सुयोग्य वर की खोज के लिए दूर-दूर देशो मे अपने चित्रकारों को भेजा था। उन्हें यह आदेश दिया गया था कि वे प्रत्येक सुयोग्य राजकुमार का चित्र (पोर्ट्रेट पेंटिंग) लाकर उसके समक्ष उपस्थित करें। इस प्रकार उन चित्रकारों द्वारा लाये गये चित्रों को देखकर राजकुमारी ने अपने लिए वर का चुनाव किया था।

मत्स्यपुराण :– इसके १२९–१३० वें अध्यायों में असुरशिल्पी मय द्वारा निर्मित त्रिपुर भवन का विषद वर्णन है जिसकी अनेक चित्रशालाओं से युक्त बतलाया गया है।

अग्निपुराण :– इसमें मूर्तिकला और स्थापत्य कला पर विशेष प्रकाश डाला गया है। मूर्तिकला के सम्बन्ध मे जो प्रमाण तथा अनुपात उल्लिखित हैं वही सब चित्रकला में भी प्रयुक्त होते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण :– इसमे उल्लेख है कि एक स्थापत्य शिल्पी शूद्रा का पुत्र व्यावसायिक चित्रकार था।

भागवतपुराण :– इसमें (१०।२।६२) उषा अनिरुद्ध के प्रेम विवाह की कथा है। उषा की सखी चित्रलेखा ने

---

१. १८ पुराणों की सूची :– (१) ब्रह्म, (२) पद्म, (३) विष्णु, (४) शिव, (५) भागवत, (६) नारदीय, (७) मार्कण्डेय, (८) अग्नि, (९) भविष्य, (१०) ब्रह्मवैवर्त, (११) लिंग, (१२) वराह, (१३) स्कन्द, (१४) वामन, (१५) कूर्म, (१६) मत्स्य, (१७) गरुड, (१८) ब्रह्मांड।

अनेक राजकुमारों का चित्र अंकित किया था उसमें अनिरुद्ध का भी चित्र था, जिसे देखकर उसने स्वप्नदृष्ट अपने भावी पति को पहचान लिया और अंतत: उससे विवाह हुआ।

हरिवंशपुराण :– इसके ५५वें सर्ग में "भागवत" की कथा के समान ही बाणासुर की पुत्री उषा और अनिरुद्ध के मिलन की कथा है। उषा को उदास देखकर उसकी सखी चित्रलेखा ने संसार भर के प्रसिद्ध पुरुषों का चित्र अंकित करके उसके सम्मुख प्रस्तुत किया, जिन्हें देखकर उसने अपना मनोभिलषित प्रियतम पहचान लिया। इस कथानक में ही सर्वप्रथम एक नारी चित्रकर्त्री चित्रलेखा का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार कृष्ण और रुक्मिणी की प्रणय कथा इसके ४२वें सर्ग में है। वर्णन है –

कृष्णं श्रीमन्नुनाचित्तभित्तौ नारदचित्रकृत् ।
वर्णरूपवयोविद्धं विलिख्य बहिरुद्ययौ ॥४४॥
विलिख्य पट्टके स्पष्टं रुक्मिण्या रूपमद्भुतम् ।
हरयेऽदर्शयद्गत्वा चित्तसंमोहकारणम् ॥४५॥
दृष्ट्वा चित्रगतां कन्यां श्यामां स्त्रीलक्षणाञ्चिताम् ।
पप्रच्छ हरिरित्येवं द्विगुणादरसंगतः ॥४६॥
कस्येयं भगवन् ! कन्या विचित्रा पट्टके त्वया ।
दृश्यते मानुषी किंवा दिविजासुरकन्यका ॥४७॥

नारद रूपी चित्रकार, रुक्मिणी के हृदय-पटल (चित्तभित्ति) पर वर्ण, रूप तथा अवस्था से युक्त कृष्ण का चित्र अंकित कर चले गये। तत्पश्चात् नारद ने चित्रपट पर रुक्मिणी का विभ्रम उत्पन्न करने वाला रूप अंकित किया और उस चित्रपट को श्रीकृष्ण को दिखाया। उस चित्रगत कन्या को देखकर कृष्ण ने उक्त कन्या के सम्बन्ध में नारद से जिज्ञासा की। इस उद्धरण में नारद को चित्रकृत् कहा है, संभवत: वे चित्रकार भी थे। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय चित्रपट पर चित्रांकन किया जाता था।

इस पुराण के ग्यारहवें सर्ग में कहा गया है कि चक्रवर्ती भरत के यहाँ निन्यानवे हजार चित्रकार उसकी निधि थे – "चित्रकारसहस्राणि सर्वनिर्माणविदः सह ॥१२३॥ इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस समय चित्र-कला का इतना अधिक प्रचार था कि सभी व्यक्ति चित्रकला को जानते थे।

इसके सर्ग ५९ में भगवान् नेमिनाथ के गिरनार पर्वत पर विहार के अनुपम वर्णन के प्रसंग में उल्लेख है कि गुहा आदि में देव कुंकुम (केसर चूर्ण) के रस से नाना प्रकार के बेल-बूटे बनाकर अपनी चित्रकर्म की कुशलता को प्रकट करते थे –

गुहाकादिषुपत्राणि चिन्वन्त कोइ कुर्म रसैः ।
चित्रकर्मकलां चित्रां स्वामाविष्कुर्वतो यथः ॥ ५९।४३ ॥

इसी में अन्यत्र उल्लेख है कि मण्डप की चित्रभित्ति रत्नमयी लता के चित्रों से सुशोभित थी – "युक्तो रत्नलताचित्रभित्तिभि." – (५७।५४)। इस पुराण के सर्ग ८ में उल्लेख है कि कितनी ही देवियाँ मरुदेवी के अक्षर, आलेख्य (चित्र) आदि कला-कौशल की प्रशंसा करती थीं ("अक्षरालेख्य...। कलाकौशलमन्यास्तु प्रशंसन्ति समन्ततः" ॥४३॥)। चित्रादि कलाओं में कुशल व्यक्ति प्रशंसित होते थे।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण :– यह (३री-४थी शती) में रचित ग्रन्थ विष्णुपुराण का परिशिष्ट है। इसके तृतीय खण्ड मे अध्याय ३५ से ४२ तक "चित्रसूत्र" प्रकरण को संवादात्मक रूप में वर्णित किया गया है जिसमे चित्र सम्बन्धी अनवरत परिचय है। दामोदरगुप्त (९वीं शती) ने कुट्टनीमतं (पृ० १२४-१२५) में चित्रसूत्र का भी उल्लेख किया है – ' "भरतविशाखिलदत्तिलवृक्षायुर्वेद चित्रसूत्रेषु ..।"

चित्रसूत्र में मार्कंडेय मुनि ने राजा वज्र की चित्रकला सम्बन्धी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान किया है। इसके छोटे-छोटे अनुष्टुप् छन्दो मे चित्रगत गंभीर भाव भरे हुए हैं। भारतीय चित्रकला-साहित्य मे चित्र की परिभाषा तथा विधि-विधान इत्यादि की प्रौढ परम्परा को प्रदर्शित करने वाले इस ग्रन्थ के समान अन्य कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है जिसमें इतना सुस्पष्ट, सुबोध और विस्तृत वर्णन हो।

विष्णुधर्मोत्तरकार ने यह स्पष्ट बतलाया है कि चित्रकार का काम सरल नहीं है। इसके लिए प्रतिभा, साधना और निष्ठा की नितान्त आवश्यकता है। यह कार्य बहुत ही गंभीर और अतिशय पवित्र है। इसीलिए मार्कण्डेय मुनि चित्रसूत्र को समझने का रहस्य बतलाते हुए कहते हैं – "विना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्" – अर्थात् नृत्त (नाट्य, नृत्य) के अभ्यास के बिना चित्रसूत्र को समझना अत्यन्त कठिन है, और यह चित्रकला गीत, वाद्य, नृत्त पर आधारित है।

"चित्रसूत्र" के नौ अध्यायों के नाम इस प्रकार हैं – (१) आयामाध्यायमानम् (२) प्रमाणाध्याय, (३) सामान्यमानम्, (४) प्रतिमालक्षणाध्याय, (५) क्षयवृद्धयध्याय, (६) रंगव्यतिकरः, (७) रूपवर्तना, (८) रूपनिर्माणम् और (९) शृंगारादिभावयुक्तादि। इन्हीं अध्यायों मे भारतीय चित्रकला की व्यापकता और उसके विधि-विधान सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण बातें बतलाई गई है।

"चित्रसूत्र" अध्याय ३५ में शरीर की ऊँचाई के अनुसार पाँच प्रकार के पुरुष माने गये हैं, यथा – "हंस, भद्र, मालव्य, रुचक और शशक। इसी प्रमाण के अनुरूप देवता, मनुष्य आदि अंकित किये जाते थे। चित्रसूत्र अध्याय ३५ से ३९ तक विभिन्न अंगों के प्रमाण, शरीर मुद्राओं (ऋज्वागत आदि स्थान) के माप का वर्णन है। उसी के अध्याय ४० में लेप्यकर्म, वज्रलेप और रंग बनाने की विधि दी गई है। चित्रसूत्रकार ने अध्याय ४१।१ में सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र इन चार प्रकार के चित्रों को मुख्य माना है। उनके अनुसार जगत् की वस्तुओं का तद्वत्-चित्रण करने के साथ ही उसमें थोड़ी कल्पना का समावेश करके चित्र को प्रस्तुत करना ही "सत्य" है जिसे सुकुमार, प्रमाण तथा सुन्दर आधार से युक्त तथा (नितंब मे सीधे के) लम्बे अंगों वाला होना चाहिये। जो चित्र चतुरस्र, सुडौल एव परिपूर्ण हो, न लम्बा हो न उत्कट आकृति वाला हो परन्तु आधार एवं प्रमाण से युक्त हो, उसे "वैणिक" कहते हैं। जिसके सभी अंग दृढ़ एवं पुष्ट हो और न गोल हों न उत्कट उसे "नागर" चित्र कहते है। स्वल्प मालाओं एवं आभूषणो से युक्त चित्र "मिश्र" कहलाता है। वर्तना भी तीन प्रकार की कही गई है – पत्रवर्तना, आहैरिक वर्तना, और बिन्दु वर्तना।

चित्रसूत्रकार ने चित्र में सादृश्य दिखाना ही चित्र की सबसे बड़ी विशेषता माना है। – "चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम्।" – यहाँ पर उनका सादृश्य से आशय साक्षात् प्रतिबिम्ब – "दर्पणे प्रतिबिम्बवत् सादृश्यम्" – उतारना नही है वरन् यथार्थ चित्रण के लिए कला में कल्पना का भी समावेश होना चाहिये। जैसे किसी सरोवर का चित्र अंकित करना हो तो उसमें मछली, कछुए, बतख एवं कमल आदि का संयोजन कल्पना द्वारा करना चाहिये। इसके अतिरिक्त व्यक्ति-चित्रण मे उसका तद्वत् चित्रण भी सादृश्य चित्रण है।

चित्रसूत्र, अध्याय ४२ में मनुष्य, देव, दानव आदि के "रूपनिर्माण" का वर्णन है और "ऋतुचित्र" बनाने की बहुत प्रशस्त नियमावली दी गई है। संध्या, उषा काल, रात्रि आदि प्रकृति चित्रों के निर्माण करने के नियम और विधान भी चित्रसूत्र मे दिये गये हैं। कालिदास ने ऐसे ही परम्परागत नियमों को अपनी रचना "ऋतुसंहार" का आधार बनाया था। विष्णुधर्मोत्तर में रात्रि का अंकन करने के लिए आकाश में चन्द्रमा, तारे, सोते हुए व्यक्ति, चोरी करते चोर, अर्धरात्रि में कृष्णाभिसारिकानायिका, डाकिनी आदि का अंकन करने का निर्देश है। १८वी शती में पहाड़ी चित्रकारों का एक प्रिय विषय रात्रि में कृष्णाभिसारिका नायिका का अंकन रहा है (चित्र ३)।

चित्रसूत्र, अध्याय ४३ मे "नव-रस चित्रण-विधान" में वर्णन है कि युद्ध, श्मशान, करुणा और अमंगल के चित्र अपने घर में कदापि नहीं लगाना चाहिये, किन्तु राजसभा और देवमंदिरों में सभी रसों के चित्र रखे जा सकते हैं। सामान्यतया आवासगृहों में शृंगार, हास्य, शान्त रस के चित्र लगाना चाहिये। निधिशृंग, विद्याधर, हाथ मे निधियों को लिए हुए भर्गगज, गरुड, ऋषि इत्यादि मांगलिक पदार्थों को घरो में सदा चित्रित करना चाहिये। चित्रसूत्रकार कहते हैं —

चित्रकर्म न कर्त्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप ॥४३।१७॥

चित्रकार को अपनी चित्रकारी को स्वयं अपने घर मे ही नहीं सीमित रखना चाहिये। वरन् दर्शको के सम्मुख एव प्रतिस्पर्धाओं में रखकर यश एवं धन का अर्जन करना चाहिए।

चित्रकला के समस्त रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए चित्रसूत्रकार कहते हैं कि अच्छे चित्र शुभ लक्षण सम्पन्न वही हैं जिनमे माधुर्य, ओज, सजीवता और चेतनता हो।

हसतीव च भूलम्भो श्लिष्यतीव तथा नृप।
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते ॥४३।२१।
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्।

इसके अध्याय ४१ और ४३ में चित्र के गुण-दोषों का भी वर्णन है। संस्कृत साहित्य में रस ही ऐसा शब्द है जिसका पूर्ण विवेचन नहीं हो सका है। चित्रसूत्रकार ने लोगों में इसी रस के रसास्वादन की परिसीमा, क्षमता या पहुँच के सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा है कि आचार्य रेखाओं की और विचक्षण (बुद्धिमान् लोग) वर्तना (शेडिंग) की प्रशंसा करते हैं, स्त्रियाँ आभूषण (भूषण) की इच्छा रखती हैं और इतरजन (अन्य सामान्य लोग) रंगों की सम्पन्नता पसन्द करते हैं — "रेखां प्रशंसन्त्याचार्या.. वर्णाढ्यमितरेजनाः ॥" आकार-रेखायें जितनी ही स्पष्ट बारीक और घुमावदार होती हैं उतनी ही वे कलापूर्ण होती है एवं वही रेखायें जितनी कम प्रखर एवं कम बारीक होंगी, उतनी ही वे कमजोर कल्पना, अदक्षता का प्रमाण देती हैं। इसीलिए आचार्यजन रेखा की प्रशंसा करते हैं। अन्त मे वे चित्रसूत्र मे कहते हैं—

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मांगल्यं परम (प्रथम) चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ॥४३।३८॥
यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां यथाण्डजानां गरुड प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशस्तथा कलानामिह चित्रकल्पः ॥४३।३९॥

जिस प्रकार पर्वतों मे सुमेरु, अंडजों में गरुड़, मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ है उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला

श्रेष्ठ है यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करने वाली है। जिस गृह मे इसकी प्रतिष्ठा की जाती है वहाँ मंगल होता है। इस प्रकार "चित्रसूत्र" चित्रकला संबंधी सर्वांगपूर्ण शास्त्र है। फिर भी चित्रसूत्रकार का कथन है कि चित्रशास्त्र इतना विस्तृत है कि सौ वर्षों तक लगातार वर्णन किया जाय तब भी यह पूर्ण नहीं हो सकता।

विष्णुधर्मोत्तर के "चित्रसूत्र" के पश्चात् विशेषतः चार और ग्रन्थ रचे गये जिनमें चित्रकला संबंधी प्रचुर वर्णन हैं। वे क्रमशः ये हैं – (१) समरांगणसूत्रधार, (२) अभिलषितार्थचिन्तामणि या मानसोल्लास, (३) अपराजित-पृच्छा और (४) शिल्परत्न। इनके अतिरिक्त नग्नजित् द्वारा रचित "चित्रलक्षण" नामक ग्रन्थ भी है जो अब मूल संस्कृत मे उपलब्ध नही हैं, उसका तिब्बती भाषा में अनुवाद ही उपलब्ध है जिससे उसके विषय का बोध होता है। "नारदशिल्प" शिवतत्वरत्नाकर, शिल्पशास्त्र, प्रजापतिशिल्प तथा सरस्वतीशिल्प भी अब अनुपलब्ध है।

समरांगणसूत्रधार :– ११वीं शती मे परमार राजा भोज द्वारा रचित वास्तुकला के इस ग्रन्थ मे ८४ अध्याय हैं। इसका अन्तिम भाग "चित्रकर्म" का है। यह बड़ी विदग्धता से लिखा गया है। चित्रकर्म के इन अध्यायो मे – चित्रोद्देश्य, भूमिबंधन, लेप्यकर्मादि, अण्डक प्रमाण, मानोत्पत्ति (वैष्णवस्थानलक्षण, ऋज्वागतादिस्थान, वैष्णवादिस्थान लक्षण, पंचपुरुषस्त्री लक्षण), रसदृष्टिलक्षण का विवेचन है। इसमे भी लेप्यकर्म एवं रस दृष्टि की विस्तृत व्याख्या है। इस चित्रकर्म के आठ अंग उक्त ग्रन्थ में (७१।१४-१५) कहे गये हैं – (१) वर्तिका, (२) भूमिबन्धन, (३) रेखा-कर्म, (४) लक्षण, (५) वर्णकर्म (वर्णकर्म), (६) वर्तनाकर्म, (७) लेखकरण, और (८) द्विककर्म।

अभिलाषितार्थचिन्तामणि या मानसोल्लास :– चालुक्यवंश नरेश सोमेश्वर ने १२वीं शती में "अभिलाषितार्थ-चिन्तामणि" अर्थात् आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाली मणि अथवा "मानसोल्लास" नामक विलक्षण ग्रंथ लिखा था, जो १९२६ में मैसूर विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। सोमेश्वर स्वयं को चित्रविद्या–विरंचि कहते हैं। उनके मता-नुसार चार प्रकार के चित्र होते हैं –

(१) **विद्धचित्र** :– विद्ध अर्थात् सादृश्य लगनेवाले चित्र "सादृश्यं लिख्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥" (९३९) ॥ मुगल शैली की चित्रकारी की भाषा में इसे 'शबाहत लगना' कहते हैं। सादृश्य का अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति चित्रकार अपने मन में करता है – "दृश्यमानस्य चेतसः।"

(२) **अविद्ध चित्र** :– सादृश्य से परे, आकस्मिक कल्पना अथवा स्मृति पर आधारित रेखांकन, जिसे आजकल "टिपाई" कहते हैं –

"आकस्मिके लिखामीति यदा तूद्दिश्य लिख्यते। आकारमात्रसम्पत्ते तदाविद्धमिति स्मृतम् ॥९४० ९४१॥"

(३) **रसचित्र** :– श्रृंगारादि नव-रसो के चित्रण को 'रसचित्र' कहते है और ये भावपूर्ण होने के कारण "भाव चित्र" भी कहलाते है। इस प्रकार के रसचित्रो की रचना विचक्षण या निपुण चित्रकार करते हैं। भारतीय कला के अधिकतर चित्र इसी श्रेणी के है।–

"श्रृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ॥९४१॥
भावचित्रं तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम्। तद्वैर्वर्णकैर्लेख्यं रसचित्रं विचक्षणैः ॥९४२॥"

(४) **धूलिचित्र** :– रंग के चूर्ण को भुरक कर या पानी में घोलकर भूमि पर इससे चित्रांकन किया जाता

है इसलिए इसे धूलि-चित्र कहा जाता है – "चूर्णितैर्वर्णकैर्लेख्यं धूलिचित्रं विदुर्बुधाः ।" इस प्रकार के चित्र हिन्दुस्तान मे प्रायः सर्वत्र बनाये जाते हैं । इन्हे विभिन्न प्रान्तो में अल्पना, सांझी, रांगोली, रंगवल्ली, मुग्गू, कोलम्, चौक पूरना, माडना इत्यादि नामों से जाना जाता है ।

अभिलषितार्थचिन्तामणि (३।१३९-१८१) से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समृद्ध नागरिकों के घर की दीवारें स्फटिकमणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान चिकनी (श्लक्ष्ण, क्षतविवर्जित) हुआ करती थी। उनके ऊपर प्रगल्भ, भावुक, चित्र-निर्माण-कुशल, सूक्ष्मरेखा विशारद, चतुर वर्णकार या चित्रकार, जो पत्रलेखन में कुशल होते थे, विविध रसों के चित्र अंकित करते थे । चित्र-रचना के लिए रंग मे स्थायित्व लाने के लिए भैंस के चर्म से तैयार किये हुए वज्रलेप का मिश्रण करते थे । शखचूर्ण, मिश्री (सिता), वज्रलेप और "चंद्रसमप्रभ" – श्वेत जस्ताभस्म (जिंक आक्साइड) – से भित्ति बार-बार लीपी जाती थी और स्वच्छ दर्पण-तुल्य हो जाने पर चित्रकार उस पर आलेखन करते थे ।

इसमे चार शुद्ध वर्ण (मूलरंग) और नाना प्रकार के मिश्रवर्ण बनाने की प्रक्रिया, स्वर्ण-प्रयोग-विधि तथा निम्नोन्नतप्रदेशों में छाया-प्रकाश आदि वर्तना विधि भी बतलाई गई है । तूलिका, लेखनी, वर्तिका बनाने की विधि भी दी गई है । लेखनी तीन प्रकार की होती थी – स्थूल, मध्य और सूक्ष्म । "चित्रसूत्र" की परंपरा के अनुसार सोमेश्वर भी नव-स्थान (ऋज्वागतादि) तथा तालमान का वर्णन करते हैं ।

अपराजितपृच्छा :– १२वी शती में गुजरात के कुमारपाल सोलंकी के राज्य में विद्यमान भुवनदेव द्वारा विरचित स्थापत्यकला के इस ग्रन्थ में चित्रशास्त्र के अंश भी हैं । उसमें मध्यकालीन चित्र–स्थापत्य का प्रभाव प्रतिबिम्बित है । इस ग्रंथ में चित्र-शास्त्र के प्रतिपादन मे कुछ नवीनता भी है, जैसे इसमें नागर, द्राविड, वेसर, कलिंग, यामुन तथा व्यन्तर – इन छः चित्रशैलियों का वर्णन है । इसमें चित्रसद्भावनिर्णय, रूपमान, तालमान चित्रपत्रोत्पत्ति-निर्णय, रसदृष्टिकण्ठकभेद, पद्मपत्रवर्तनानिर्णय, लेपकर्मविधि (मृत्तिकाबन्धन, सुधाबन्धन), चित्रकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षण आदि पर भी विचार किया गया है जिसका उल्लेख इस ग्रंथ मे यथास्थान किया गया है । विष्णुधर्मोत्तर के समान ही इसमें भी सूत्र २२४ में अरूप ब्रह्म से रूपोद्भावना का वर्णन है जो चित्र का मर्म है । इसमे – "कूपो जले . तद्वच्चित्रमय विश्वं चित्रं विद्धे तथैव च ॥" – के द्वारा सम्पूर्ण चराचर त्रैलोक्य चित्रमूलोद्भव माना है । इसके 'पत्ररचनाभेद' में प्रकृति-चित्रण (लैण्डस्केप पेंटिंग) का संकेत प्रतीत होता है । साथ ही कुलीन स्त्रियो मे प्रचलित मनोरंजनार्थ की जाने वाली शरीर पर पत्ररचना का भी निदर्शन है ।

शिल्परत्न :– श्रीकुमार द्वारा १६वी शती में विरचित इस ग्रन्थ में चित्रलक्षण[1] नामक एक अध्याय है । इसमें चित्र के तीन प्रकार के वर्गीकरण है – चित्र अर्धचित्र और चित्राभास ।[2] (१) चित्र अर्थात् चारों ओर से उभार दिखाने वाला, (२) अर्धचित्र अर्थात् हल्का उभार इंगित करने वाला, (३) चित्राभास अर्थात् आलेखन, जिससे चित्र का आभास ही मिले । "सरस्वतीशिल्प" मे भी इसका वर्णन है तथा वर्ण-संस्कार अर्थात् रंग बनाने की विधि भी दी हुई है । "शिल्परत्न" मे पाँच प्रकार के मूलरंग-श्वेत, पीत, रक्त, श्याम और नील – कहे गये हैं । इन

---

१. सर आशुतोष मुकर्जी कामेमोरेशन वाल्यूम, १९२६-२८, पृ० ४९ से ६१ में कुमारस्वामी ने शिल्परत्न के चित्रलक्षण पर टीका लिखी है ।

२ आभास या चित्राभास का अर्थ कुमारस्वामी ने पेंटिंग माना है, द० जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी, खण्ड ४८ पृ० २५१ तथा खण्ड ५२, १९३२, पृ० २०८ ।

रंगों के हल्के व गहरे विभिन्न प्रकार, वर्तिका, ब्रश, स्वर्ण-लगाना तथा उसे चमकाना इत्यादि का भी वर्णन है। इसमे "रसचित्र' (तरल विधि), और "धूलिचित्र" (चूर्ण विधि) तथा "भावचित्र" का भी वर्गीकरण किया गया है। यहाँ पर रसचित्र का अर्थ मानसोल्लास की भांति केवल भावचित्र ही नहीं, वरन् तरल रंग और भाव दोनो ही हैं।

चित्रलक्षण . – नग्नजित् ने इसमें धार्मिक चित्रों और उनके प्रधान लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है। एक अध्याय मे मनुष्य की आकृतियों के अनुपात की भिन्नता, राजाओं और अतिमानवीय आकार में भेद, आदि का बड़ा सैद्धांतिक वर्णन है। मुखाकृतियों के विभिन्न प्रकारों का भी इसमें विस्तृत विवेचन है। इसमें पांच प्रकार की चक्षुराकृति कही गई है – (१) धनुष, (२) उत्पलपत्र, (३) मत्स्योदर, (४) पद्मपत्र और (५) कटिसदृश। इन सभी प्रकार के नेत्रों के चित्रण से भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त होते हैं। इसी ग्रंथ मे नग्नजित् रचित मृत-ब्राह्मण-पुत्र के चित्र में ब्रह्मा द्वारा प्राण-संचार करने की कथा का भी उल्लेख है।

नारदशिल्प[1] – इसमें चित्र के दो अध्याय हैं – (१) अध्याय ६६ में चित्रशाला आदि, (२) अध्याय ७१ में चित्रालंकृतिरचनाविधि। इसके अध्याय ६६ में प्राचीन भारतीय चित्रशाला के लक्षण का वर्णन है तथा अध्याय ७१ में भौमिक, कुड्यक और ऊर्ध्वक अर्थात् क्रमशः भूमिचित्र, भित्ति चित्र तथा छत पर बने चित्र का वर्णन है। यह ग्रन्थ प्रभावशाली स्थापत्य गद्य शैली में लिखा हुआ है। इसमें नारद मुनि उशीनर को चित्रशाला का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह नगर के मध्यभाग मे चतुष्पथ[2] (चौराहा) पर, मंदिर, राजभवन तथा राजवीथी इत्यादि स्थानों पर होती थी। राघवन् के अनुसार इस चित्रशाला-भवन का आकार मर्दलाकार (एक प्रकार के वाद्य के समान), माण्डलिक (गोल), दण्डाकृतिक (?) तथा प्रपाकृतिक (?) होता था। वस्तुतः इसका अर्थ यह होना चाहिये – "मर्दलाकार" अर्थात् मृदंग वाद्य के समान ढलुआं आकार का चित्रशाला भवन। संभवतः मंदिर, राजभवन, राजवीथी की सीढ़ियों के स्थान पर बने ढलुआ मार्ग के दोनों ओर की भित्तियों पर भी चित्र बनाये जाते रहे होंगे। "माण्डलिक" अर्थात् गोलाकार चित्रशाला; "दण्डकाकृतिक" अर्थात् अनेक कक्षों से युक्त लंबी वीथिका के आकार की चित्रशाला और "प्रपाकृतिक" अर्थात् कूप या हौज की आकृति की, संभवतः भूतल के नीचे (अंडर ग्राउंड) चित्रशाला होती थी। आज भी इस प्रकार की चित्रशालाओं का निर्माण किया जाता है।

भवन में छोटे-बड़े अनेक कक्ष, द्वार, स्तम्भ, बरामदा, ऊपर जाने की सीढ़ी इत्यादि तथा मध्य में एक बड़े कक्ष मे चित्रशाला होती थी। चित्रशालाओं मे छत अलंकृत होती थी और सबसे ऊँचे प्रधान कक्ष में मनोहर रंगों से अनेक देव, गंधर्व, किन्नर विहार करते मनुष्य तथा सम्मानित व्यक्तियों की कथायें चित्रित रहती थी। इनके अतिरिक्त शृंगारिक चित्र, जल-केलि, पान-गोष्ठी, रासलीला, शिकार के चित्र, ऋतुचित्र, पशु-पक्षियों से अलंकृत चित्रादि भी चित्रशाला मे बनाये जाते थे।

इसके अध्याय ७१ "चित्रालंकृतिरचनाविधिकथन" में चित्र की अलंकृति (सज्जा) के विषय में बतलाया गया है। उशीनर के मतानुसार चित्र केवल देवताओं (वास्तुनाथ) की तुष्टि के लिए ही नहीं, वरन् शोभा के लिए

१. जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी, खंड ३, सन् १९३५, पृ० २०-२१-२२ में नारदशिल्प के अध्याय ६६ और ७१ का टेक्स्ट और टीका अड्यारकोश से प्रकाशित हुई है।

२ जयपुर में ऐसे 'चतुष्पथ" चौपड़ कहलाते हैं।

भी अंकित किया जाता था। नारद स्थानानुसार तीन प्रकार के चित्रों का वर्गीकरण करते हैं – भौमिक (भूमि पर बने चित्र), कुड्यक (भित्ति चित्र) और ऊर्ध्वक (छत पर बने चित्र) – ये तीन प्रकार के काल्पनिक चित्र होते हैं। इन चित्रों के भी दो भेद हैं – (१) शाश्वतक (स्थाई), (२) तात्कालिक (क्षणिक)। भौमिक चित्र के लिए अल्पना, रांगोली, रंगावल्ली, कोलम् आदि प्रादेशिक नाम प्रचलित हैं, ये क्षणिक (शीघ्र नष्ट होने वाले) होते है। नारद कहते हैं कि ये भौम-चित्र गृह के सामने देहली पर या द्वार के बाहर, सीढ़ियो, भोजनशालाओं इत्यादि स्थानों पर घरों में भूमि पर बनाना चाहिए। इसमें पक्षी, सर्प, हाथी, घोडे इत्यादि भी अलकृत रूप से चित्रित किये जाते थे। कुड्यक और ऊर्ध्वक चित्रों में देव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, मानव, पशु-पक्षी आदि चित्रित किये जाते थे। स्तम्भ-कक्ष और स्तम्भ के चारो ओर वीरभटों की कथायें भी चित्रित की जाती थी। ये सब आज भी घरों में चित्रित किये जाते हैं।

नारद ने चित्र की दो और महत्वपूर्ण बातें लिखी है – (१) अविषम रेखा (एक समान खिंची रेखा), (२) अविभक्त-भूषणत्व (अनुकूल खिंची रेखा); जो रेखा नेत्र, मुख, संपूर्ण शरीर की मुद्राओं और सुप्रमाण युक्त अंग-रचना के अनुकूल खींची जाती थी। इसमें अलंकरण का भी विधान बहुत सुन्दर है जिसे पढ़कर चित्रसूत्र के "क्रियाभूषणमिच्छन्ति" का स्मरण हो आता है। नारद ने यह भी कहा है कि भित्ति, काष्ठफलक आदि को स्थायी बनाने के लिए जड़ी-बूटियों का सुधालेप में मिश्रण करके लेप लगाना चाहिये।

शिवतत्वरत्नाकर :– गोपालमूर्ति ने त्रिवेणी पत्रिका (१९३२ जुलाई-अगस्त) में १७वी शती के बसप्पनायक कृत शिवतत्वरत्नाकर के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया है। बसप्पनायक बेदनूर के राजा थे। शिवतत्वरत्नाकर में "आलेख्यकर्म" का वर्णन "अभिलाषितार्थचिन्तामणि" से अत्यधिक मिलता जुलता है।

शिल्प-शास्त्र :– यह ग्रंथ अपने वास्तविक रूप में अभी प्राप्त नही है, किन्तु इसके स्फुट उल्लेखो से इसके वास्तविक रूप का आभास मिलता है। चित्रकला के छः अंगों के आधार पर लिखा गया यह बृहत् शास्त्र कला के रसात्मक मानदण्डों और नियमों की जितनी विशद और वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है, वह किसी दूसरे ग्रन्थ में नहीं है।

अनेक ग्रन्थ जैसे नग्नजितशिल्प, सरस्वतीशिल्प आदि अप्राप्य हैं। चित्रकला के इन शिल्पशास्त्रों से भी अधिक बहुमूल्य उल्लेख सामान्य संस्कृत साहित्यों में हैं, जिनमें अगणित उल्लेख सीधे ही अथवा परोक्ष रूप से जाने-अनजाने आ गये हैं। प्रसंग कल्पना की उड़ान मे ही चित्रकला के उल्लेख बहुत से आ गये हैं। इन संस्कृत साहित्यों मे नायक-नायिकाओं को अधिकतर चित्र रचना करते हुए वर्णन किया गया है।

अश्वघोष :– अश्वघोष (१०० ई० पू०) विरचित "बुद्धचरित" (श्लोक २२।२३) में कहा है कि नारी, चाहे वह चित्रांकित हो या सजीव, प्रत्येक दशाओं में पुरुषो के हृदय का हरण कर ही लेती है। इसी प्रकार "सौदरानन्द" (७।४८) में "चित्र प्रदीप" (चित्रित दीप) और (१५।३९) में "स्वयमेव यथालिख्य रज्येच्चित्रकरः स्त्रियं। तथा कृत्वा स्वयं स्नेहं सङ्गमेति जने जनः" – कहा है जिसका अर्थ है कि जैसे स्वयं रचित चित्रित नारी से चित्रकार अनुराग करने लगता है वैसे ही मानव-मानव से स्वयं स्नेह एव संगति करता है।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में नाटक को दृश्य-काव्य और कविता को श्रव्य-काव्य कहा है। नाट्यशास्त्र के आदि प्रवर्तक भरत मुनि हैं। संस्कृत नाटकों में चित्रकला के उत्कृष्ट आदर्शों का उल्लेख है। भास, कालिदास, बाण, शूद्रक, दण्डी, भवभूति, श्रीहर्ष, हर्ष आदि अन्यान्य कवियो ने अपनी-अपनी अमर कृतियों में किसी-न-किसी

प्रसंग से इस चित्रकला के आदर्श प्रस्तुत किये हैं। ऐसे बहुत कम ही संस्कृत नाटक हैं जिनमें प्रेमी-प्रेमिका की विरह-जन्य उत्तप्तता को चित्रांकन द्वारा उपशमित करने का उल्लेख न किया गया हो। कहीं पर विरह से व्याकुल नायक या नायिका ने धैर्य प्राप्त करने की आशा से अपने प्रेमपात्र का चित्र अंकित किया है, कहीं पर किसी राजा या धनाधिप ने मनोविनोद के लिए किसी कुशल चित्रकार से किसी घटना विशेष के चित्र अंकित करवाये हैं और कहीं पर किसी नायक या नायिका के, विदूषक या सखी ने अपने सखा या सखी के मनोविनोद के लिए उसके प्रेम-पात्र का चित्र अंकित किया है। इन समस्त चित्रों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में हमारे देश में चित्रकला का बहुत अधिक आदर था और प्रतिष्ठित परिवारों के लोग इस कला के ज्ञाताओं को केवल प्रोत्साहन ही नहीं देते थे, वरन् वे स्वयं भी इसमें पारंगत होने की चेष्टा करते थे। कलाकारों को सम्मान के साथ प्रश्रय दिया जाता था और अच्छी कलाकृतियों का संग्रह करना गौरव की बात समझी जाती थी। ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृत नाटकों की परम्परा महाकवि भास से प्रारम्भ मानी जाती है। भास ने तेरह नाटक रचे हैं। इनमें से कुछ में चित्रकला के भी उल्लेख हैं।

भासकृतनाटक :– प्रतिज्ञायौगंधरायण तथा स्वप्नवासवदत्ता

भास (३री शती) कृत इन दोनों नाटकों की नायिकायें उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता और नायक वत्सराज के अधिपति उदयन हैं। इन दोनों का चित्र उज्जयिनी के राजा प्रद्योत तथा उनकी राजमहिषी अंगारवती ने अंकित कराया था। वासवदत्ता के साथ उदयन का विवाह, कराने के विचार से प्रद्योत ने छल से उन्हें बन्दी करवाया था और इसी बीच उदयन से वासवदत्ता वीणा बजाना सीख सके ऐसी व्यवस्था कर दी थी। अब दोनों में पारस्परिक प्रेम का विकास हुआ और वे गांधर्व-विवाह द्वारा प्रेमसूत्र में बंध गये. तब वे दोनों चुपके से एक दिन मन्त्री यौगंधरायण की सहायता से कौशाम्बी भाग गये। तब अंत में वासवदत्ता के माता-पिता ने दोनों का चित्र बनवाकर उत्साह के साथ उनके विवाह को विधिवत् संपन्न किया – 'किमिदानीं दूर्वकाले सन्तप्यसे लब्धप्रफल-कस्ययोर्वत्सराजवासवदत्तयोर्विवाहोऽनुष्ठीयताम्' – (अंक ४) प्रतिज्ञायौगंधरायण का कथानक यहीं समाप्त हो जाता है।

स्वप्नवासवदत्ता के कथानक के अनुसार उक्त चित्रफलक राजा उदयन के पास भेज दिया जाता है और यौगंधरायण तथा रानी के विनोदपूर्ण छल का, जिसमें वासवदत्ता अग्नि में जलकर दिवंगत हो गई है, जब उद्घाटन होता है तो रानी पद्मावती कहती हैं कि इस चित्र के अनुरूप ही एक स्त्री यहाँ रहा करती है – "आर्यपुत्र ! अस्याः प्रतिकृत्याः सदृशीहैव प्रतिवसति।" "प्रतिकृत्या सदृशीहैव" में वस्तुतः प्रतिकृति या शबीह (पोर्ट्रेट) का गुण सादृश्य है। वह वासवदत्ता ही थी। इस चित्रफलक के प्रसंग से स्वप्नवासवदत्ता का कथानक बहुत ही मनोरंजक हो गया है।

इन दोनों नाटको से उस समय की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है कि उस समय चित्रफलक में वर-वधू के प्रतिकृति-चित्रों (व्यक्ति-चित्र) को बनाकर भी विवाह संपन्न किये जाते थे। "अथ चाकाभ्यां तव च वासवदत्तायाश्च प्रतिकृतिं चित्रफलकायामालिख्य विवाहो निर्वृत्तः" – (स्वप्नवासवदत्ता)। चित्र में पूजनीय लोगों को देखकर लोग प्रणाम करते थे – "पद्मावती – आर्यपुत्र ! चित्रगतं गुरुजनं दृष्ट्वाभिवादयितुमिच्छामि।" आजकल भी देवताओं, श्रेष्ठ एवं पूजनीय व्यक्तियों के चित्रों की पूजा की जाती है। चित्र-दर्शन से लोग प्रहृष्ट एवं उद्विग्न भी होते थे।

स्वप्नवासवदत्ता (४।२) में पद्मावती को खोजते हुए विदूषक कहता है – अथवा आलिखितमृगपक्षिसंकुलं दारुपर्वतकं गता भवेत् – जहाँ पशु-पक्षी चित्रित हैं ऐसे दारुपर्वतक पर संभवतः गई हों। इससे ज्ञात होता है कि दारुपर्वतक पर भी चित्रांकन होता था। भवनोद्यान के एक भाग में जो क्रीड़ा-पर्वत बनाया जाता था उसे ही 'दारु पर्वतक' कहा जाता था।

स्वप्नवासवदत्ता (५।१२) में सदृशी, अतिसदृशी और न सदृशी शब्दों का प्रयोग किया गया है – "अतिसदृशी खल्वियमार्याया आवन्तिकायाः। आर्यपुत्र! सदृशी खल्वियमार्यायाः?" इसमें सदृशी का अर्थ सादृश्य, निकटतम समानता है। अति सदृशी में व्यतिरेक है अर्थात् अत्यधिक समानता और रूपातिशय्य है। और "न सदृशी" अर्थात् चित्रकार उस सुन्दर रूप को बनाने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकता, जैसा बिहारी ने भी कहा है – "लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर। भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥" इसी प्रकार 'मृच्छकटिक' (४।१) तथा 'प्रियदर्शिका' (अंक ४) में भी 'सदृशी' और 'सुसदृशी' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'सदृशी' अर्थात् सादृश्यपूर्ण चित्र या समान आकृति वाला व्यक्ति। 'सुसदृशी' अर्थात् सुन्दरतायुक्त सादृश्य, अनुरूप। इसे अत्यन्त सुन्दर अथवा आदर्श सौन्दर्य भी कहा जा सकता है। नागानन्द में 'सौसादृश्य' शब्द आया है, सुसदृश का भाव है सौसादृश्य। इन सभी में अनुरूप सादृश्य का महत्त्व दिया गया है। चित्रसूत्र में चित्र में 'सादृश्यकरण' को प्रधान कहा गया है। उपर्युक्त प्रशंसात्मक सदृश शब्द का जहाँ तक चित्रों से सम्बन्ध है, वह उसकी भाव ग्राहकता की प्रशंसा करता है।

स्वप्नवासवदत्ता के चतुर्थ अंक में चेटी कहती है – 'अर्धमनःशिलापट्टकैरिवशेफालिकाकुसुमं. – आधे भाग में मैनसिल के टुकड़ों की तरह हरसिंगार के फूल। मनःशिला—यह सिंदूरी रंग होता है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण (तृतीय अंक) में विदूषक कहता है—आलिखितं खलु मम मोदकमल्लं सन्तापतिमिरेण सुष्ठु न प्रेक्षे। भवतु, प्रमार्जयामि तावदहम्। ही ही साधु रे चित्रकर! भाव! साधु। युक्तलेखतया वर्णानां यथा यथा प्रमार्जिम, तथा तथोज्ज्वलतरं भवति। भवतु, उदकेन प्रमार्जिष्यामि। कुत्र न खलूदकम्? इदं शोभनं शुद्धतटाकम्। अहमिव शिवोऽपि तावद् एतस्मिन् मोदकमल्लके निराशो भवतु।' 'मोदकमल्लक' यह एक अभिप्राय है। शिव के समीप लड्डुओं से भरे पात्र का अंकन उनके पुत्र गणेश का बोधक है। यह अभिप्राय कुषाण कालीन मूर्तियों में बहुत मिलता है।

भास ने इसमें युक्तलेखता तथा वर्णों की प्रशंसा की है। इस नाटक में चित्रकार के चित्र की प्रशंसा करता हुआ विदूषक 'साधु-साधु' कहता है। विदूषक को यह ज्ञात था कि भित्तिचित्र में लगा जल-रंग पानी से छूट जाता है, किन्तु गचकारी में पक्का होने से वह जल से नहीं छूटता। यहाँ 'गचकारी' और 'जलरंग' दोनों की ओर संकेत किया गया है। गच तैयार करने का काम भित्ति के गीले रहने पर ही किया जाता है।

बुभुक्षा में प्राप्त मोदकों के न दिखलाई देने से विदूषक की बुद्धि विभ्रमित हो गई थी। वह एक मन्दिर में बने हुए भित्तिचित्र में आलिखित, शिव के चरणों में चढ़ाये गये मोदकों को सत्य मानकर, लेना चाहता है। परन्तु उसमें रंग इस प्रकार गचकारी प्रक्रिया से कुशलता से (युक्तलेखतया) भरे गये थे कि वह उस चित्र को जितना रगड़ता है उसमें से पृष्ठभूमि का रंग उतना ही अधिक निकल कर उज्ज्वल होता जाता है। तत्पश्चात् वह उसे जल से धोने का विचार करता है। जल से धोने से चित्र का जल-रंग घुलकर बिल्कुल समाप्त हो जाता है।

प्रमार्जित कहने से तात्पर्य है भित्ति पर रंग रूप की आग में [illegible] निकल आता है किन्तु कपड़े की गद्दी से भित्ति का हल्के से रगड़ने से सतह चिकनी होकर चमकने लगती है। यह प्रक्रिया पेंटिंग की घुटाई-तकनीक (बर्निशिंग) की ओर इंगित करती है।

चारुदत्त : — भास प्रणीत इस नाटक के चतुर्थ अंक में, चेटी चित्रफलक, वर्तिकाकरण्डक अर्थात् वर्तिका, रंग, तूलिका आदि रखने का डिब्बा या बांस की पिटारी हाथ में लिए हुए वसन्तसेना के साथ प्रवेश करती है। इस चित्रफलक पर चारुदत्त का चित्र अंकित है। 'वर्तिका' — सूखे रंग की बत्ती या शलाका होती थी।

इसमें विदूषक के भोजन की उपमा चित्रकार के बहुविध वर्णों (रंगों) से सुसज्जित पात्रों से की गई है — 'चित्रकर इव बहुमल्लकैः परिवृतः'। इससे ज्ञात होता है कि उस समय भी बहुत प्रकार के रंगों का प्रयोग किया जाता था। इसमें (अंक १) वसन्तोत्सव में कामदेव का चित्र लेकर बाजे-गाजे के साथ नागरिकों के विशाल जुलूस निकालने का वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि जैसे जगन्नाथपट, नाथद्वारा पटचित्र आदि देवताओं का बनाया जाता था वैसे ही कामदेव का पटचित्र भी बनाकर पूजा जाता था और वसन्त ऋतु में मदन-महोत्सव मनाया जाता था। यह उत्सव आजकल के होली के समान होता था।

दूतवाक्यम् : — भास के इस नाटक (अंक ७) में कृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन के पास आते हैं और वह उस समय कृष्ण के स्वागत के लिए उठने का निषेध सभा में कर देता है तथा कञ्चुकी से द्रौपदी-केशाम्बराकर्षण-अंकित चित्रपट लाने के लिए कहता है **'आनीयतां स चित्रपटो ननु, यत्र द्रौपदीकेशाम्बराकर्षणमालिखितम्'।** वह चित्रपट देखता रहता है। चित्रपट लंबा होता है और कुण्डलित कर रखा जाता है अतः उसे फैलाने को वह कहता है। संपूर्ण चित्रपट को देखकर वह कहता है — **'अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः'** अहा, यह चित्रपट कितना दर्शनीय है। तत्पश्चात् उसके एक-एक दृश्य का वर्णन करता है कि यह द्रौपदी के केश को हाथ में पकड़े हुए दुःशासन चित्रित है। यह दुष्टात्मा भीम है जो समस्त राजाओं के सम्मुख अपमानित होती हुई द्रौपदी को देखकर अत्यन्त क्रुद्ध होने के कारण सभा के स्तम्भ को उखाड़ रहा है। यह युधिष्ठिर तिर्यगक्ष से भीम को शान्त कर रहे हैं, अर्जुन क्रुद्ध नेत्रों से अपना धनुष खींच रहे हैं, क्रुद्ध नकुल और सहदेव भी अधरोष्ठ काट रहे हैं, युधिष्ठिर उन सबको रोक रहे हैं। चित्रपट के अन्त में आचार्य और भीष्मपितामह दुर्योधन की अभद्रता देखकर करुणा और लज्जा से मुख को वस्त्र से ढककर — **'पटान्तर[1] निहित मुखौ'** खड़े अंकित हैं। इस प्रकार वर्णन करके संपूर्ण चित्रपट के लिए कहता है — **"अहो अस्य वर्णाढ्यता। अहो भावोपपन्नता। अहो युक्तलेखता। सुव्यक्तमालिखितोऽयं चित्रपटः। — प्रीतोऽस्मि"** तब तक कृष्ण वहाँ आ जाते हैं और चित्रपट को दर्शनीय कहते हैं, किन्तु उसकी कुत्सित विषय-वस्तु (द्रौपदी केशाम्बरकर्षण) को देखकर इस चित्रपट को दूर हटाने को कहते हैं और सभा में अपने बान्धवों का अपमान करके, अपनी निर्दयता रूपी दोष को प्रकट करने के कारण दुर्योधन की मूर्खता का वे उपहास करते हैं। भास ने दर्शक या पाठक को तुरन्त प्रभावित करने के लिए यहाँ कई बार चित्रपट शब्द का प्रयोग किया है।

भास ने चित्रपट का अवलोकन करते हुए दुर्योधन के मुख से चित्रकला की जितनी सुन्दर प्रशंसा करायी है

---

१. इस प्रकार का 'पटान्तर' या 'शोकपट' मथुरा से प्राप्त बुद्ध के निर्वाण दृश्य में विलाप करते हुए एक राजा के मुँह पर दिखाया गया है (मथुरा संग्रहालय, एच ८ मूर्ति)। इसका चित्र 'हर्षचरित — एक सांस्कृतिक अध्ययन', फलक २२, चित्र ८६ में भी है।

वैसी प्रशंसा किसी भी अन्य भारतीय साहित्य मे अनुपलब्ध है । दुर्योधन चित्र की वर्णाढ्यता अर्थात् चित्र में रगों का यथोचित समावेश भावोपपन्नता (भाव), युक्तलेखता अर्थात् रेखा तथा वर्तना द्वारा अति कुशलता से किया गया चित्रांकन, के सुव्यक्त आलेखन की प्रशंसा करता है । इन संक्षिप्त शब्दों में समीक्षक, कला विचक्षण दुर्योधन ने उत्तम चित्र की प्राणवत्ता के सब लक्षण गिना दिये है । वस्तुत. वर्ण, रेखा. वर्तना इन सबका पर्यावसान सुन्दर भाव की अभिव्यक्ति के लिए है । अतएव सर्वोत्कृष्ट चित्र वही है जो भावोपपन्न हो । जिस चित्र में रेखा उचित प्रकार से खिंची हुई हो, वर्णों का संयोजन सम्यक् व्यवस्थित हुआ हो और चित्र के निम्नोन्नत विभाग स्फुट रूप से व्यक्त किये गये हों, तथा वह सजीव-सा प्रतीत हो, तभी वह श्रेष्ठ चित्र कहा जाता है तथा उसकी चारुता उत्कृष्ट मानी जाती है । चित्रसूत्र (४१।११) मे भी यही कहा गया है ।

प्रतिमानाटकम् – भास प्रणीत इस नाटक (तृतीय अंक) मे भरत अपने पितरो की मूर्तियों का दर्शन करते हुए उसके "क्रियामाधुर्य" और "भावगतिराकृति" की, जैसे दूतवाक्य मे भावोपपन्नता-युक्तलेखता की प्रशंसा करते है, वैसे ही दैवत तथा मानुष प्रतिमाओ मे सादृश्य के साथ ही तालमान आदि द्वारा दोनो मे भेद दिखलाते है । इस प्रकार की पितर-प्रतिमाओ को चित्र-वीथी कहलाती थी । जैसे आबू के विमलशाह मन्दिर के मुख्य द्वार के सामने एक अलग मण्डप में मन्त्री पृथ्वीपाल ने मन्दिर की ओर मुख किये विमलशाह की घोड़े पर बैठी तथा अपने पूर्वजों की हाथी पर बैठी मूर्ति (वि० संवत् १२०४ से १२०६ के बीच) एवं उसके पुत्र धनपाल ने संवत् १२३७ में अपने पूर्ववर्ती जीर्णोद्धारको की हाथी पर बैठी मूर्तियाँ सम्भवतः इसी परम्परा मे बनवाई थी । इस मण्डप को हस्तिशाला कहते हैं ।

इन पितर प्रतिमाओ में–'अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानां' – में पाषाण प्रतिमा के क्रिया की प्रशंसा की गई है और उसके कला-कौशल को देखकर मन मे माधुर्य और सुखद प्रतिक्रिया होती है । अहो भावगतिराकृतीनाम् – अर्थात् भाव और गति होने से चित्र या मूर्ति की आकृति में सजीवता प्रतीत होती है । भाव को चित्र के षडंग मे महत्वपूर्ण माना गया है । इसमें एक प्रतीकात्मक शब्द "प्रतिमानामल्पान्तराकृतिः" भी आया है अर्थात् जो आकृति वास्तविकता से मिलती-जुलती हो और वास्तविक रूप-स्वरूप का आभास देती हो । इसमें 'दत्तचन्दनपञ्चांगुलाभित्तयः' भी कहा गया है अर्थात् दीवारो पर हाथ की छाप (थापा) लगाना । यह लोक-कला में शुभसूचक होती है ।

कालिदासकृत नाटक एवं काव्य :– महाकवि कालिदास (४ थी–५ वी शती) के तीनों नाटकों – अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा मेघदूतम् रघुवंशम्, कुमारसंभवम् आदि काव्यों में चित्रकला के प्रचुर उल्लेख आये हैं । उनका अतीव रम्य नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् स्वयं ही एक चित्रपट के समान है जिसमे सभी दृश्य एक-से एक अनुपम चित्र और चित्र-विषय को प्रस्तुत करते हैं । इनके नायक दुष्यन्त स्वयं एक अत्यन्त कुशल चित्रकार थे और अपनी प्रियतमा शकुन्तला का चित्र उन्होंने उस समय अंकित किया था जिस समय उनकी विरह-कातरता पराकाष्ठा को पहुच गई थी । मालविकाग्निमित्र की नायिका मालविका का चित्र किसी चित्रकार ने अंकित किया था, जिसे देखकर ही नाटक के नायक अग्निमित्र का मालविका की ओर आकर्षण हुआ था और घटनाचक्र से वह आकर्षण क्रमशः आसक्ति के रूप में परिणत हो गया था । विक्रमोर्वशीय के नायक प्रतिष्ठानपुर के राजा विक्रम चित्र बनाने का प्रयास तो करते हैं किन्तु विरह-वेदना से व्याकुल होने के कारण अपनी प्रेयसी उर्वशी का चित्र अंकित करने में सफल नही हो सके ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् :– इसके द्वितीय अंक मे राजा दुष्यन्त विदूषक से शकुन्तला के अद्वितीय सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं –

चित्र निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।।२।१०।।
ब्रह्मा ने जब शकुन्तला को बनाया होगा तब पहले उसका चित्र बनाकर या मन में संसार की सभी सुन्दरियो के रूपो को इकट्ठा करके उसमें प्राण डाले होंगे । इसमें रूप का संधान है, वह यथार्थ से भिन्न होता है ।

इसके चतुर्थ अंक में सखियां शकुन्तला को पतिगृह में भेजने के लिए शृंगार कर रही थीं । वे आश्रम निवासिनियां थीं, अत. आभूषण पहनना नही जानती थीं । तब अनसूया और प्रियंवदा दोनों सखियां कहती हैं कि सखी ! हमने तो कभी आभूषण पहने नही हैं, परन्तु चित्रों से जैसा ज्ञान कर सीखा है उसी रूप से तुम्हारे शरीर पर आभूषण पहना देती हैं – चित्रकर्मपरिचयेनांगेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः । – इससे पता चलता है कि चित्र को देखकर वनवासियां शृंगार करती थीं ।

इसके छठें अंक मे तो चित्रकला ही प्रधान है । हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त की विरह-व्यथा जब पराकाष्ठा को पहुच गयी थी तब वे अपनी प्रणयिनी शकुन्तला का केवल चित्र अंकित करके ही प्रसन्न नहीं हुए वरन् उस वातावरण का भी उन्होंने सफलतापूर्वक चित्रण किया था, जिसमें पहले-पहल शकुन्तला और उनका मिलन हुआ था ।

शान्ति प्राप्त करने की आशा से राजा ने एक फलक पर शकुन्तला का चित्र अंकित किया था । एक दिन विरह से अत्यन्त व्याकुल होकर वे उद्यान के एक माधवी लता मण्डप में अपने मित्र विदूषक माढव्य के साथ बैठे हुए थे और चतुरिका नाम की दासी को उन्होंने आज्ञा दी थी कि वह उनके स्वहस्तलिखित शकुन्तला की प्रतिकृति अंकित चित्रफलक लेकर लता-मण्डप मे पहुंचे – "तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्र भवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति" । चतुरिका ने स्वामी की इस आज्ञा का पालन किया । लतामण्डप में पहुंच कर चित्रफलक को राजा की ओर बढाते हुए उसने कहा कि ये चित्र में अंकित स्वामिनी है – "इयं चित्रगता भट्टिनी" । उस चित्र का अवलोकन करने के उपरान्त राजा की चित्रकला कुशलता की प्रशंसा करते हुए विदूषक ने कहा – "साधु वयस्य । मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः । स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु" । – वाह मित्र, यह तो आपने बहुत ही सुन्दर चित्र अंकित किया है । शरीर के अंग-प्रत्यंग जहां पर जिस प्रकार ऊँचे या नीचे होने हैं वहां पर आपने वैसी ही ऊँचाई या निम्नता दर्शायी है । भावों का भी अपने इस प्रकार समावेश किया है मानों शकुन्तला के हृदय के भाव प्रस्फुटित हो रहे है । उनके कारण चित्र के निम्नोन्नत प्रदेशों पर मेरी दृष्टि जम ही नहीं पाती, बल्कि स्खलित हो जाती है ।

चित्र के दर्शनीय स्थलों में मानसिक भावो के प्रवेश को ही विदूषक ने "भावानुप्रवेश" कहा है । वह चित्र केवल ऊपरी स्तर के यथार्थ के अनुरूप ही नहीं था, वरन् उसमें अन्तस्तल के भाव भी उभर आये थे जिससे वह केवल चित्र मात्र नहीं रह गया था वरन् जीवन्त प्रतिमा बन गया था । प्रत्येक अंग में चित्तिलब्ध की भावधारा उच्छ्वसित हो रही थी । शकुन्तला की माता मेनका द्वारा भेजी गयी सानुमती नामक अप्सरा राजा की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके पास आई थी और तिरस्कारिणी विद्या के प्रभाव से अदृश्य सानुमती ने उस चित्र को देखकर कहा था – इस राजर्षि की निपुणता अद्भुत् है, ऐसा जान पड़ता है कि मेरी सखी शकुन्तला मेरे सामने खड़ी है, "अहो एषा राजर्षेर्निपुणता । जाने सख्यग्रता मे वर्तत इति ।" चित्तिलब्ध मे भावो की रेखा और रंगों में फिर से प्रवेश करा देना ही भावानुप्रवेश हैं । परन्तु इतने में ही राजा को उस चित्र से संतोष नहीं था उसमें चित्रकार के आत्मदान की आवश्यकता थी । वह चित्र अधिक-से-अधिक प्राणवंत ही चित्रित हो सका था – उसमें दुष्यन्त का अपना हृदय नही उतर पाया था, इसीलिए वह चित्र उसे अधूरा लग रहा था । वह कहता है –

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ।।६।१४।।

यद्यपि मैंने इस चित्र के सब दोष ठीक कर दिये है, फिर भी इन रेखाओं में देवी की सुन्दरता बहुत थोड़ी-सी ही अंकित हो सकी है।

जो-जो साधु अर्थात् उपयुक्त नहीं था उसे साधु (ठीक, संशोधित) किया। इससे ज्ञात होता है कि चित्रकार स्वयं चित्र को जांचते थे। चित्रकार अपने कौशल से चित्र पूर्ण कर लेता है, परन्तु फिर भी उसे कुछ कमी लगती है और वह उसे बार-बार ठीक करता है। इस श्लोक (६।१४) में चित्र के विषय में कालिदास ने थोड़े शब्दों मे बहुत-कुछ कह दिया है, "मितञ्च सारञ्च वचोहि वाग्मिता" – कहा ही गया है। उन्होंने यह भी इंगित किया है कि चित्रकार को ठीक-ठीक चित्र बनाने के लिए बाह्य जगत् से गृहीत सामग्री का अन्यथाकरण करना पड़ता हैं। कई जगह चित्रकार को तथा अन्य कलाकारो को भी ज्यों-का-त्यों चित्रण करने के लिए कुछ छोड़ना पड़ता है, कुछ जोड़ना पड़ता है और कुछ बदलना पड़ता हैं। उसे कई बार रूढ़ियों का आश्रय लेना पड़ता हैं। चित्रकार को तीन आयामों के जगत् को दो आयामी में बदलना पड़ता हैं। इस कौशल को "अन्यथाकरण" कह सकते हैं। अन्यथाकरण अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना। वह वस्तु को रेखा और रंग से यथार्थ रूप में चित्रित करके उसमें अपनी ओर से भाव के समावेश का प्रयास करता है। उत्तम चित्रकार उसमें कुछ और भी जोड देता हैं – "किञ्चित् अन्वितम्"। दुष्यंत ने कहा था कि उस चित्र में जो कुछ साधु (समुचित) नहीं होता अर्थात् जैसा है वैसा नहीं बन पाता तो उसे अन्यथा (संशोधित) कर दिया जाता है। फिर भी उस शकुन्तला का लावण्य रेखाओं से कुछ निखर ही गया है, उसमें लगातार प्रभावित करते रहने की क्षमता आ गई हैं। कालिदास इस प्रकार का वैषम्य कई स्थानो पर दिखलाते हैं – राजा चित्र का दोष दिखला रहे हैं तो विदूषक, सानुमती और चतुरिका उसके चित्र की प्रशंसा कर रहे हैं।

"रेखया किञ्चिदन्वितम्" – रेखा ही चित्रकार की रचनात्मक शक्ति का वैशिष्ट्य है। चित्रसूत्र और मानसोल्लास आदि प्राचीन ग्रन्थों मे कई प्रकार के चित्रो की चर्चा है, यथा – सत्यचित्र या विद्धचित्र अर्थात् तद्वत् चित्र, प्रायः व्यक्ति-चित्र अविद्ध काल्पनिक चित्र; भावचित्र तथा रसचित्र आदि। इनमे कलाकार तद्वत से परे कुछ विशिष्टता का समावेश करता है। भारतीय कला के आचार्यों ने रेखा को बहुत महत्व दिया है, चित्रसूत्र (४१।११) में कहा है – "रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः।" चित्रकार रेखा के माध्यम से ही चित्र को जीवन्त और रस-युक्त बनाता है। चित्र के मध्य "भूलम्भ" या "ब्रह्मरेखा" होती है, उसे ही इधर-उधर झुकाकर विभिन्न भाव या रस के योग्य चित्रण करते हैं। उनमें निम्नोन्नत भाव को दिखलाने के लिए आजकल छाया-प्रकाश का प्रयोग करते हैं, किन्तु प्राचीन चित्रकार रेखा के माध्यम से ही यह कार्य करते थे, जिसे "वर्तना" कहा जाता था। नतोन्नत या उच्चावच भाव दिखाने के लिए चित्रकार को बड़ी सावधानी से रेखा में लघुता या पृथुलता की योजना करनी पडती है। रेखा और वर्तना चित्रकारों के कौशल की कसौटी का द्योतक है।

चित्र मे नायक-नायिका अथवा प्रधान वस्तु को कुछ अधिक विशिष्टता के साथ दिखलाते हैं, तभी विदूषक दुष्यन्त के बनाये शकुन्तला के चित्र मे, तीनो देवियों मे से शकुन्तला को सहज ही पहचान लेता है। इससे प्रसन्न होकर राजा उसकी निपुणता की प्रशंसा करते है और चित्र मे अपने भाव-चिह्न (प्रेम-चिह्न) दिखलाते हैं कि चित्र के कोरों पर जो मलिन धब्बा दिखाई दे रहा है, यह स्वेद से पसीजी मेरी अँगुलियों के स्पर्श से हो गया है। फिर मेरी आँखों से जो आँसू टपका था, वह शकुन्तला के कपोलो पर गिर गया है जिससे तूलिका से भरे हुए रंग कुछ उभरे (फैले) हुए दिखाई दे रहे हैं –

अस्त्यत्र में भावचित्रण

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्णिकोच्छ्वासात् ॥६।१५॥

शकुन्तला का चित्र बनाते-बनाते रागात्मक सम्बन्ध के कारण उसके चित्त में जो प्रेम-भाव उमड़ा उसके कारण जो आँसू और पसीना गिरा, उनसे चित्र मलिन हो गया और चित्र के ऊपर अपना चिह्न छोड़ गया। उस चित्र में कुछ सुधार करने के विचार से राजा ने चतुरिका को रंग और तूलिका लाने का आदेश दिया — "चतुरिके अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्। गच्छ, वर्तिका तावदानय।"

कालिदास ने रघुवंश (१९।१९) में भी वर्णन किया है कि रागात्मकता के कारण राजा अग्निवर्ण में एकाग्रचित्त न होने एवं उसकी अंगुलियो मे पसीना आ जाने से उसके हाथ से चित्र बनाने की वर्तिका छूट जाती थी और वह बड़ी कठिनाई से उन (वेश्याओं) का चित्र बना पाता था — कथञ्चिदालिख्यत स्विन्नाङ्गुलीक्षरणस्खलवर्तिका ॥

कालिदास ने वातावरण और अलंकार को भी बहुत महत्व दिया है। वातावरण के बिना भावचित्र और रसचित्र अधूरे रह जाते हैं। राजा दुष्यन्त चित्रफलक लेकर ध्यान से देखते हैं और चित्रांकित शकुन्तला पर अनेक प्रकार से प्रेम दिखलाते हैं तथा पृष्ठभूमि में शकुन्तला को अत्यन्त प्रिय मृगी, हंस, नदी, आश्रम स्थानों को (अभि० शा० ६।१७) अंकित करके, शिरीष का कर्णावतंस एवं कण्ठ में मृणाल सूत्र (६।१८) इत्यादि आभूषण पहने उसको बनाकर, चित्र सरस, सुन्दर कर देते हैं। यह सब बनाते-बनाते तन्मयता में चित्र को वास्तविक शकुन्तला समझकर भाव-विह्वल हो जाते हैं। चित्र में एक भ्रमर और भ्रमरी का भी चित्र अंकित था। भ्रमर मानो शकुन्तला के अधर-पल्लव पर बैठने के विचार से तीव्र गति से उस ओर बढ़ता जा रहा है। उसे हटाने का प्रयत्न करने पर भी जब वह भ्रमर नहीं हटा तो राजा ने उस प्रतिद्वन्द्वी को कमलकोटर में बन्द कर देने में दण्ड की घोषणा की (६।२०)। विदूषक ने तो उसे उन्मत्त ही मान लिया और मन-ही-मन कहने लगा कि यह तो पागल हो ही गया है, इसके साथ रहकर मैं भी पागल हो जाऊँगा। अदृश्य सानुमती ने भी राजा को "यथालिखितानुभावी" अर्थात् जैसा लिखा है वैसा ही भाव-प्रधान चित्र का अनुभव करने वाला कहा। चित्रलिखित शकुन्तला तथा भ्रमर की सजीवता का अनुभव करके उत्तेजना में आये हुए राजा को देखकर उन्हें वस्तु-स्थिति का ज्ञान कराने के विचार से माढव्य ने कहा — भोः चित्रं खल्वेतत् — अजी, यह चित्र है। राजा ने कहा कि यह तुमने बड़ा दुष्कर्म कर डाला। मैं तो बडा तन्मय होकर सामने खड़ी हुई शकुन्तला के दर्शन का आनन्द ले रहा था, पर तुमने स्मरण दिलाकर मेरी प्रिया को चित्र ही बना डाला।

इस प्रकार प्रेमी चित्रकार की दो अवस्थाओं को कालिदास ने बताया है। प्रथम अवस्था में वह अपने को भूल जाता है और प्रेमिका के भावों में अनुप्रवेश करता है। दूसरी अवस्था में वह चित्र को वास्तविक समझता है और उसे देखकर उसके चित्त में वैसे ही अनुभाव उत्पन्न होते हैं जैसे वास्तविक प्रेमिका को देखने से होते। इन दोनो अवस्थाओ के लिए कालिदास ने दो पारिभाषिक जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। प्रथम अवस्था का नाम भावानुप्रवेश है और दूसरी का यथालिखितानुभाविता।

"मेघदूत" के यक्ष की भाँति यहाँ दुष्यन्त भी कहते हैं —

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥६।२२॥

दुष्यन्त कहते हैं कि नींद न लगने के कारण मैं उससे स्वप्न में भी नहीं मिल पाता और सदा बहते रहने वाले ये आँसू उसे चित्र में भी नहीं देखने देते।

मालविकाग्निमित्र :– कालिदास के इस नाटक की नायिका मालविका विदिशा नरेश अग्निमित्र की राजमहिषी धारिणी की सेविका के रूप में रहा करती थी और वह राजमहिषी को अति प्रिय थी। इसके प्रथम अंक में वर्णन है कि रानी ने किसी कुशल चित्रकार से अपना एक नवीन चित्र अंकित करवाया था। उनके चित्र के साथ उसी फलक पर उनकी कुछ चुनी हुई सखियों और सेविकाओं के भी चित्र अंकित थे। मालविका का चित्र रानी के चित्र के बिलकुल समीप था। एक दिन रानी चित्रशाला में बैठी हुई चित्रकार द्वारा बनाये गये अपने उसी (प्रत्यग्र-वर्णरागां) नवीन रंग लगे चित्र को ध्यान से देख रही थी, इतने में राजा वहाँ पहुंच गये। **"चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति। भर्ता चौपस्थितः।"** यह राजभवन की राजसी चित्र-शाला थी। स्वागत-सत्कार के अनन्तर देवी के साथ एक ही आसन पर बैठकर महाराज ने रानी के चित्र में दासियों के बीच में उन्हीं के पास खड़ी हुई एक बालिका को चित्रित देखकर रानी से उसका नाम पूछा – **"उपचारानन्तर-मेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्याः परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा।"** – सुन्दर आकृति अथवा आकृतिविशेष के प्रति आकर्षण तो होता ही है। महारानी ने उसका नाम बतलाने में टाल-मटोल करने की चेष्टा की, किन्तु वसुमती ने उसका नाम मालविका बतला दिया। इस प्रकार मालविका के चित्र का अवलोकन करने के उपरांत राजा के मन में उसे प्रत्यक्ष देखने की आकांक्षा हुई। इधर मालविका जैसी एक अनुपम सुन्दर नवयुवती को राजा के दृष्टिपथ तक पहुंचने देना रानी की दृष्टि में अवांछनीय था। मालविका संगीत और नृत्यकला में अति कुशल थी। अतः नृत्याचार्य गणदास के आचार्यत्व की परख के लिए राजा ने उनकी कुशल शिष्या मालविका का नृत्य कराया। इस प्रकार मालविका को देखने की राजा की मनोकामना पूर्ण हुई। मालविका की रूपमाधुरी का अपने नेत्रों से पान करने का अवसर उन्हें मिल गया। तब उसके सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए उन्होंने विदूषक से कहा :–

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥ –(माल० २।२)।

चित्र में अंकित इस मालविका की सुन्दरता देखकर मैं अपने मन में यह समझ रहा था कि यह सचमुच इतनी सुन्दर नहीं होगी। पर इसे प्रत्यक्ष देखकर तो मैं यही सोचने लगा हूँ कि चित्रकार ने ही शिथिलसमाधि होने के कारण ठीक ध्यान से इसका चित्र नहीं बनाया।

मनुष्य जिन ललित रूपों की रचना करने का प्रयास करता है, वे सब अच्छे ही नहीं होते क्योंकि सब समय वह पूर्णतः समाहित चित्त से उनका निर्माण नहीं करता। पूर्ण समाधि के बिना सुन्दर चित्र की रचना नहीं हो सकती, वह शिथिल हो जाती है। राजा अग्निमित्र ने भी यही अनुभव किया। पहले मालविका के चित्र-दर्शन से ही वह मोहित हो गया था। उस समय उसके मन में आशंका थी कि कहीं चित्रकार ने अधिक कान्ति चित्रित न कर दी हो। परन्तु जब उसने साक्षात् मालविका को देखा तो वह चित्र की तुलना में अधिक कान्तिमयी दिखलाई दी। तब राजा ने समझा कि जिस चित्रकार ने यह चित्र बनाया था उसकी समाधि शिथिल हो गई थी। किसी कारणवश वह समाधिस्थ नहीं रह सका। कदाचित् रजोगुण के धूम्र से उसकी दृष्टि धूमिल हो गई हो अथवा तमोगुण के झोंके से उसे स्पष्ट दिखाई ही न दिया हो, कहीं-न-कहीं उसकी समाधि अवश्य शिथिल हो गई थी।

यह प्रसग विद्धचित्र का है जिसमें वास्तविक का तद्वत् चित्रण होता है। उन दिनों राजपरिवारो में इस प्रकार के व्यक्ति चित्र बहुत बनाये जाते थे। मालविका का चित्र भी ऐसा ही था। परन्तु राजा ने जब अनुकार्य को देखा तो अनुकरण की त्रुटि उनकी समझ में आई। शिथिल-समाधि होने के कारण ही चित्रकार विद्धचित्र ठीक-ठीक नही बना सका।

इस नाटक के चतुर्थ अंक में राजा के प्रतिकृति-चित्र (व्यक्ति-चित्र) का वर्णन है। राजा – "अङ्के मे प्रतिकृति निर्दिशति।" – जान पड़ता है कि यह मेरा चित्र दिखला रही है। चित्र को देखकर मालविका राजा को प्रणाम करता है। बकुलावलिका मालविका को चित्र मे विद्यमान महाराज को दिखलाती है – "अन्वेष चित्रगतो भर्ता।" मालविका कहती है – "सखि ! तदा संभ्रमदृष्टे भर्तू रूपे यथा न वितृष्णास्मि तथाद्यापि मया भाविलोऽवितृष्णदर्शनो भर्ता।" हे सखी, उस दिन घबराहट में मैं महाराज के सुन्दर रूप को अच्छी तरह नही देख सकी थी, आज इस चित्र में उन्हें अच्छी तरह देखकर भी मेरा चित्त भरा नहीं है। फिर, चित्र में महाराज इरावती की ओर प्रेम-परिपूर्ण दृष्टि से देखते हुए अंकित हैं। उसे देखकर मालविका ईर्ष्या करती है – "चित्रगतं भर्तारं परमार्थतः संकल्प्यासूयति।" और रूठ जाती है। तभी राजा समीप आकर कहते हैं कि हे कमलनयनी, तुम इस चित्र में बने हुए मेरे भावों को देखकर क्यो कुपित हो रही हो "कुप्यसि कुवलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेतन्मे।" तुम्हारे सामने असाधारण दास के रूप में तो मै प्रत्यक्ष उपस्थित हूँ। इस प्रकार चित्र-दर्शन से अनेक प्रकार के शृंगारिक भाव, विभाव, संचारी भाव, क्रोध, ईर्ष्या आदि उत्पन्न होने के उल्लेख हैं।

विक्रमोर्वशीय :– कालिदास विरचित इस नाटक मे चित्रकला का अत्यल्प उल्लेख है। इसके नायक प्रतिष्ठानपुर के राजा महाराज विक्रमादित्य (पुरूरवा) ने इन्द्रसभा की प्रमुख अप्सरा उर्वशी की केशी नामक दानव से जिस दिन रक्षा की थी उसी दिन उनके मन में उसके प्रति आसक्ति का भाव उत्पन्न हुआ था और उसे प्राप्त करने के लिए वे अधीर हो उठे। एक दिन अपने प्रासाद के प्रमदवन में बैठे हुए उन्होंने विदूषक से, उर्वशी के विरह में मनबहलाव का उपाय सोचने के लिए कहा। इस पर विदूषक ने सोचकर कहा कि आप चित्रफलक पर उर्वशी का चित्र अंकित कर उसका अवलोकन करते रहिये, – "तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलकं आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।" – (अंक २)। इस पर राजा अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए कहते हैं कि उस सुन्दरी का चित्र अंकित करना मेरे लिए संभव नही है क्योंकि फलक पर तूलिका चलाना आरम्भ करते हुए नेत्र आंसुओं से अवरुद्ध हो उठते हैं, इससे तूलिका को रख देने के लिए बाध्य होना पड़ता है –

> न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य ताम्।
> मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति ॥२।१०॥

इसी अंक २ में चेटी एक स्थान पर माणवक (विदूषक) की आकृति की तुलना चित्र में बने हुए वानर से करती हैं – "अहो आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्य माणवकस्तिष्ठति।"

मेघदूत :– कवि शिरोमणि कालिदास के काव्यों में भी चित्रोल्लेख तथा चित्रांकन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। मेघदूत में विरही यक्ष अपनी प्रणय-कुपिता प्रिया का चित्र शिला पर बनाता है। यक्ष ने अपनी प्रिया के पास जो संदेश भेजा था उसमें एक स्थान पर उसने कहा है कि – "हे प्रिये ! जब मैं शिलापट्ट पर गेरू से तुम्हारी रूठी हुई आकृति का चित्र अंकित करके अपने आपको तुम्हारे चरणों पर गिरा चित्रित करना चाहता हूँ तब तक उमड़ते हुए आंसुओं की धारा मेरी दृष्टि को आच्छादित कर लेती है। क्रूर विधाता उस चित्र में भी हमारा काल्पनिक संयोग नही सहन कर सकता।" –

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां ।
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे ।
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगमं नौ कृतान्तः ।।उत्तरमेघ, ४२।।

मेघदूत के इस प्रसंग में चित्रकला के सात्विक और राजसिक भाव का अति कमनीय चित्र कालिदास ने प्रस्तुत किया है। चित्र बनाने की स्थिति में उसका चित्त पूर्ण सत्वस्थ रहता है परन्तु चित्र देखकर वह राजस भाव से अभिभूत हो जाता है और उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। उपर्युक्त श्लोक से सर्वथा मिलता-जुलता श्लोक योगवासिष्ठ "महारामायण" के मेघदूत-वर्णन में भी है, यथा –

चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती ।
न जाने क्वाधुनैवैतः पयोद दयिता गता ।।६३०।११९।६।।

मैंने अपनी प्रिया को हृदयाकाश में चित्तरूपी लेखनी से लिखकर जो आलिंगन किया तो हे मेघ! वह वह तत्क्षण न जाने कहाँ चली गई।

कालिदास के मेघदूत में यक्ष अपना संदेश मेघ से कहता है कि उसकी प्रियतमा विरह मे क्षीण मेरी आकृति का अपने अनुमानों के आधार पर भाव-चित्र बनाती होगी –

मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।।२।२२।।

इस दृष्टांत पर आधारित एक चित्र अजंता, गुफा २ (याजदानी, भाग २, फलक ४७ (ई)) मे भी है जो वहाँ छत के पैनेल में बना है। इसमें यक्ष द्वारा मेघ को संदेश कहते हुए भावपूर्ण मुद्रा मे अंकित किया गया है (चित्र–४)। यहाँ भावगम्य का तात्पर्य यह है कि यक्षिणी अपने बिछुड़े हुए पति का स्मृति-चित्र ही नही बना रही थी वरन् उसकी अन्तर्वृत्ति की पहुँच "दुःख," उसके अन्तर्नयन की दृष्टि, कल्पना की उड़ान यक्ष की वियोगजनित मानसिक और शारीरिक दशा तक थी और उसे भी वह अंकित कर रही थी। यहाँ पर स्मृति-चित्र और भाव-चित्र के भेद को भली-भाँति समझ लेना चाहिये। भाव-चित्र में चित्रकार अपनी कृति मे अपनी भावुकता का समावेश करने के लिए प्रयत्नशील होता है और स्मृति-चित्र में चित्रकार अपनी स्मृति को अपनी रचना द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। मानसोल्लास में भी भावचित्र के लिए कहा है –

शृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।।९४१।।
भावचित्रं तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम् ।

उत्तरमेघ में कालिदास अलकापुरी के महल में बने चित्रों की तुलना इन्द्रधनुष से करते हैं – विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः ।।२।१।। प्रासाद का अन्तःपुर चित्र से विभूषित था। इसमें इन्द्रधनुष की भांति विविध रंग स्पष्ट दिखलाई देते थे। चित्रों में विभक्त रंगों की परम्परा अकबरकालीन चित्रों तथा आरंभिक राजस्थानी चित्रों तक बहुत पाई जाती है। इन्ही की अनुकृति पर बनाये जाने वाले बनारस के भित्तिचित्रों मे भी यही परंपरा प्रचलित है।

उत्तरमेघ मे वर्णन है—

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी–
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।।२।६।।

अलकापुरी के सतखण्डे महलों की ऊँची अटारी में मेघ घुसकर जल-रंगों से बने भित्तिचित्रों को खराब कर देते हैं। जल-रंगों से बने चित्रों पर जल-कण पड़ जाने से वे मलिन हो जाते हैं। यह इसमें बड़ा दोष है।

इसी में आगे वर्णन है— द्वारोपान्तेलिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा – (२।१७)। अलका में यक्षिणी के गृह-द्वार के शाखा-स्तम्भों पर शंख और पद्म निधियों की आकृतियां अंकित थीं। शंख और पद्म प्रतीकों का गृह में अंकन शुभ माना जाता था। अजंता, गुफा १७, (ग्रिफिथ फलक १४३) में स्तम्भ पर श्वेत कमल के ऊपर शंख चित्रित हैं जो गुप्तकाल में बहुत प्रचलित था (चित्र–५)। सेनकालीन विष्णु मूर्तियों में इनके आयुध शंख-पद्म का मानवीकरण करके शंखपुरुष और पद्म पुरुष के रूप में विशेषतः उत्कीर्ण किया गया है।

अजंता, गुफा १ (याजदानी, भाग २, फलक ४७) में छत पर एक आलेखन चतुष्कोण में है। इसमें उड़ने को उद्यत दो हंस ऊपर गर्दन उठाये अलंकृत कमलनाल के अग्रभाग को पकड़े हुए हैं। यह चित्रण मेघदूत के निम्न वर्णन से सर्वथा मिल रहा है –

आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः।
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥१।११।

पूर्व मेघ में उल्लिखित – "रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां, भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥१।१९। – श्लोक में विन्ध्यपर्वत के ढलानों में ऊँचे-नीचे ढोंकों पर बिखरी हुई नर्मदा नदी की उपमा हाथी के शरीर पर किये गये भाँति-भाँति के भक्तिच्छेदों (पत्रालेखन) से दी गई है। यह पत्रालेखन हाथियों (पशुओं), मनुष्यों के शरीर पर लताओं आदि के अंकन से किया जाता था। इस प्रकार संपूर्ण मेघदूत का अध्ययन एवं अवलोकन करने से वह एक चित्रपट के समान प्रतीत होता है।

रघुवंश :– कालिदास ने वर्णन किया है कि सत्य तथा प्रियवक्ता अज ने अपनी प्रियतमा इन्दुमती के चित्रादि को देखकर और स्वप्न में उसके क्षणिक समागम का सुख उठाते हुए किसी प्रकार आठ वर्ष का समय व्यतीत किया –

सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च।८।९२।

इसमें "सादृश्यप्रतिकृति" कहा गया है, जिसका अर्थ मल्लिनाथ ने इस प्रकार किया है – "वस्त्वन्तरगतमाकार-साम्यं – अर्थात् वस्तु के अन्तर्गत आकार का साम्य, तथा प्रतिकृति अर्थात् व्यक्ति-चित्र अथवा अनुकृति। सादृश्यप्रतिकृति अर्थात् सादृश्ययुक्त व्यक्ति-चित्र (प्रोर्ट्रेट) स्कन्दगुप्त (४५४ ई०) के जूनागढ़ शिलालेख में भी प्रतिकृति शब्द आया है –

नरपति भुजगानाम मानदर्पोत्फणानाम्।
प्रतिकृति गरुडाज्ञा निर्विषी चावकर्ता ॥

"रघुवंश" (१४।१५) में वर्णन है कि वनवास से अयोध्या लौटने पर सौहार्द निधि राम ने अश्रुपूरित नेत्रों से, अपने चित्र-मात्र शेष पिता के पूजा-गृह में प्रवेश किया –

"बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश।"

"आलेख्यशेषः" – जिसमें उनके पिता महाराज दशरथ का आलेख्य ही अवशिष्ट था। इससे यह परम्परा प्रतीत होती है कि लोग ज्येष्ठ व्यक्तियों के निधन के उपरान्त उन्हें देवतुल्य मानकर उनके चित्र को अपने पूजागृह में

रखते थे। भास के प्रतिमानाटक (अंक ३) से विदित होता है कि देवकुल में पितरों की मूर्तियां भी रखी जाती थीं। रघुवंश (१६।१६) में उजड़ी अयोध्यापुरी के वर्णन में वहाँ के भित्तिचित्रों का एक दृश्य कालिदास ने प्रस्तुत किया है – 'चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णा करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः।' – जिसमें पद्मवन में हथिनियाँ हाथियों को मृणाल तोड़ कर दे रही हैं। यह दृश्य अजन्ता, गुफा १० (याजदानी, फलक ३०, लेडी हेरिंघम, फलक २१) के छद्दन्त जातक में जल केलि करते हुए हाथियों से अत्यधिक मिलता है। कालिदास इस वर्णन में भित्तिचित्रों की सजीवता और अत्यधिक सादृश्य को दिखलाने के लिए कहते हैं कि सिंह उन पर नखों से प्रहार कर रहे हैं। सिंहों को वह भित्तिचित्र सजीव होने का भ्रम हो गया है।

राजप्रासाद के स्तम्भ आदि पर जो पुतलियाँ बनी रहती थीं वे रंगी भी जाती थीं। रघुवंश में वर्णन है –

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥१६।१७॥

स्यक्त, उजड़ी हुई अयोध्यानगरी की स्तम्भपुत्तलिकाओं के स्थान स्थान से रंग छूट गये थे और वे मलिनवर्ण की हो गई थीं। उन स्तम्भों में लिपटे हुए सर्पों ने जो केंचुल छोड़ा था वही उन मूर्तियों के स्तनों के वस्त्र हो गये थे। अजंता में भी बहुत से स्तम्भों पर ऐसी पुत्तलिकाओं की चित्रकारी की हुई है (चित्र–६)।

रघुवंश (१८।५३) से ज्ञात होता है कि उस समय राजकुमारों का हृदय जीतने के लिए दूतियों द्वारा सुन्दरियों का व्यक्ति-चित्र भेजा जाता था – "**प्रतिकृति रचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः।**" उस समय वधू को "**हंसचिन्हित-दुकूल**" – हंसाकृति से चित्रित वस्त्र पहनाया जाता था (रघु० १७।२५; कुमार० ५।६७ – 'वधूदुकूल कलहंसलक्षणम्)।' अजन्ता, गुफा १ (ग्रिफिथ, फलक १३) में भी हंसचिन्हित दुकूल पहने हुए स्त्री का अंकन है।

कुमारसम्भव :– कालिदास की सौंदर्यप्रियता एवं आनन्दी प्रकृति का परिचय इसमें अनेक स्थानों पर मिलता है। उन्होंने ब्रह्मा को श्रेष्ठ कलाकार के रूप में देखा है और उसकी कला-रचना की प्रक्रिया के बहाने उन्होंने श्रेष्ठ मानव-कलाकार के गुणों का उल्लेख किया है। वे मानव कलाकार के उपकरणों को विधाता के उपकरणों के साथ निःसंकोच रखते हैं। वे कहते हैं –

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥१।३२॥

जिस प्रकार कुशल कलाकार की तूलिका द्वारा ठीक-ठीक रंग भरने से चित्र का सौन्दर्य प्रस्फुटित होकर निखर जाता है तथा सूर्य की किरणों से कमल रूप-वर्ण और गंध से विकसित हो जाता है, वैसे ही पार्वती का चतुरस्र शरीर भी नवयौवन के आगमन से निखर उठा। उनके अंग-प्रत्यंगों में ऊँचाई-नीचाई के लक्षण स्पष्ट प्रकट हो गए।

"उन्मीलन" अर्थात् खुलाई (आउट लाइन), चित्रकला का पारिभाषिक शब्द है। मूर्ति में जैसे नयनोन्मीलन (दे० मानसार) करते हैं वैसे ही चित्र में "चित्रोन्मीलन" – विभास करते हैं। यह तूलिका से बहुत ही सुकोमलता एवं सावधानी से किया जाता है।

"वपुर्विभक्तम्" में विभक्त अर्थात् बांटना, जैसे रंग इत्यादि; यह शब्द अभी भी प्रचलित है। नवयौवन ने

चतुरस्र, समविभक्तांग शरीर को निम्नोन्नत करके विभक्त बना दिया, उन्मीलन या उभार ला दिया; चतुर चित्रकार की कुशल तूलिका का यही कौशल है। चित्रकला के उपादान और तूलिका, रंग आदि उपकरण इन दोनों के लिए माध्यम (मीडियम) शब्द का प्रयोग करते हैं। कलाकृति के निर्माण में माध्यम की प्रकृति की जानकारी और तदनुकूल विधान बहुत आवश्यक है।

इसके श्लोक (५।५८) मे उल्लेख है कि अपने हाथ से बनाये हुए शिवजी के चित्र को ही पार्वती, नींद में वास्तविक शिवजी समझ कर उपालम्भ देने लगीं –

"इति स्वहस्तोल्लिखितश्चमुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥"

पर्वती भी चित्रकला जानती थी तभी उन्होने शिवजी का व्यक्तिचित्र अपने हाथ मे अंकित किया था। संभवतः यह स्मृति-चित्र रहा होगा।

इसके (८।४५) – रक्तपीतकपिशा...वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥ – में उपमित है कि संध्या ने बादल रूपी चित्रपट को वर्तिका से अच्छी तरह लाल, पीले और भूरे रंगों मे रंग दिया। जो वर्तिका, मूलरंग तथा मिश्रित रंगों के प्रचलन पर प्रकाश डालते हैं।

शिशुपालवध : – माघ (७वीं शती का उत्तरार्द्ध) ने इसके तृतीय सर्ग मे भित्तिचित्र के विधि-विधान के सम्बंध मे एक महत्वपूर्ण बात बतलाई है कि अत्यधिक चिकने तल या भित्ति पर चित्र नहीं बनाया जा सकता –

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः ॥३।४६।

द्वारकापुरी मे महलों की अत्यन्त चिकनी भित्ति होने के कारण युवा चित्रकार उस पर चित्र-रचना करने में असमर्थ हो गये, किन्तु दर्पण के समान रत्नभित्ति पर उन चित्रकारों का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह भित्ति सजीव चित्रों के समान हो गई।

आलेख्य कर्म मे भित्ति की तैयारी मे भित्ति को रुक्ष होना चाहिये, यह माघ को ज्ञात था। इनके परवर्ती काल के अधिकांश कवि चित्रकला से अनुभवहीन होते गये। इसके अपवाद बाण और भवभूति थे। बाण ने अनुभूति से चित्र, वर्तिका, रंगादि का वर्णन किया है तथा भवभूति के चित्रवीथी-वर्णन से ज्ञात होता है कि उन्होंने चित्र देखे होंगे। किन्तु माघ को तो यहाँ चित्र का वर्णन करना अपेक्षित नहीं था, उनका उद्देश्य तो चिकनाई का वर्णन करना था। "प्रतिबिम्बित चित्र" (आभास चित्र) – ये दो प्रकार के होते थे – (१) व्यक्ति-चित्र, जिसमे "दर्पणे प्रतिबिम्बवत् सादृश्यं" होता था तथा (२) किसी भी चित्र-विषय का संयोजन (सब्जेक्ट पेंटिंग) होता था। इसे "प्रकीर्णक चित्र" (अनेक स्फुट वस्तुओं के संग्रह से बना चित्र-संयोजन) भी कहा जा सकता है।

इसके (३।५०) – "विचित्रैरपि या सचित्रैर्गृहै" :– में विचित्र का अर्थ चित्र-विहीन है और 'सचित्र' का अर्थ चित्र-युक्त है। इसमें (३।५१) वर्णन है – "चिक्रंसया कृत्रिम पत्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम्"। – द्वारका के भवन में कपोतो के रहने के लिए कृत्रिम कपोतपाली (कबवाली) उत्कीर्ण थी। इस प्रकार के शान्तियुक्त मांगल्य विहग (पक्षियों के) चित्र गुप्तकाल के अन्त में विशेष रूप से बने, जिसका एक उदाहरण अजंता, गुफा १५ (याजदानी, फलक ४१ (बी)) में बाहरी द्वार पर बने शिल्प में देखा जा सकता है। इसी परम्परा में चित्रित पक्षी-समूह

का अंकन मध्यकाल मे अधिक हुआ है। १६वीं शती मे बने दक्षिण भारत के विजयनगर मे स्थित वरदराज मदिर (काचीपुरम्) मे सत्य की भ्रांति उत्पन्न करने वाले कबूतर को पकडते हुए बिल्ली का अकन छत पर बने शिल्प मे किया गया है।

इसके (४।३८) — **"तुरङ्गवक्त्रश्चुम्बन्तं मुखमिह किन्नर प्रियायाः"** — में अश्वमुखीकिन्नर - मिथुन द्वारा प्रिया किन्नरी के मुख - चुम्बन का वर्णन है। अश्वमुखी किन्नरी का चित्रण अजन्ता, गुफा १७ (ग्रिफिथ, फलक १४२) में है। किन्नर-मिथुन का एक दूसरा रूप भी अजन्ता, गुफा १ (ग्रिफिथ, टेक्स्ट पृ० ११, फिगर १९) तथा गुफा १७ (ग्रिफिथ, फलक ६०) मे चित्रित है, जिसमें उनका ऊर्ध्वभाग मनुष्य के समान और अधोभाग पक्षियों के समान है तथा वे मजीरा एवं सरोद बजाते अंकित हैं (चित्र ७)।

इसके श्लोक (४।५३) में — **"अभित्तिचित्रकर्म"** कहा गया है। वस्तुतः अभित्ति अर्थात् बिना आधार के कोई चित्र नही बनाया जा सकता। संभवत यहा हृदय-पटल पर मानस-कल्पना द्वारा स्मृति-चित्र अंकित करने के उद्देश्य से माघ ने ऐसा वर्णन किया है।

इन्द्रप्रस्थ मे श्रीकृष्ण का आगमन होने पर उनको देखने की इच्छा से स्वर्ण - निर्मित महलो के गवाक्षो मे चन्द्रमुखी रमणियो का मुख शोभने लगा —

अधिरुक्ममन्दिरगवाक्षमुल्लसत्सुदृशो रराज मुरजिद्दिदृक्षया।
वदनारविन्दमुदयाद्रिकन्दराविवरोदरस्थितमिवेन्दुमण्डलम् ॥ १३।३५ ॥

इस प्रकार गवाक्ष मे से झाकते हुए स्त्री-पुरुषो का अकन मथुरा की शुग-कुषाण कालीन मूर्तियो में तथा अजता चित्रों में बहुत सुंदर है (अजता, गुफा १७, ग्रिफिथ, फलक ५८)।

मुद्राराक्षस :— विशाखदत्तकृत (७वी शती) इस नाटक के प्रथम अंक मे नन्दराज के मंत्री राक्षस के रात-दिन जागते रहकर मन मे बिना भित्ति कै काल्पनिक चित्र बनाने का उल्लेख है —

चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा रात्रिंदिवं जाग्रतः।
सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं बिना वर्तते ॥

इसमें चन्द्रगुप्त के मत्री चाणक्य द्वारा यमराज का चित्र "यमपट्ट" (चित्र ८) लेकर घर-घर भेजे गये गुप्तचरो का उल्लेख है। उस समय जीवन की अस्थिरता और यमराज का त्रास दिखाने के लिए कृतान्त (कार्तान्तिक - अर्थशास्त्र मे) अर्थात् यमराज की आकृति वाले गुप्तचर यमपुरी के त्रास के अनेक चित्र अंकित यमपट्ट दिखाकर अपनी जीविका चलाते थे और गा-गाकर लोगों को यमराज की भक्ति करने का उपदेश देते थे — **"चरःयावदिदं गृहं प्रविश्य यमपटं दर्शयन् गीतानि गायामि। तस्माद्देहि मे प्रवेशं यावत्तवोपाध्यायस्य यमपटं प्रसार्य धर्ममुपदिशामि।** — संयोगवश अजन्ता की १७वी गुफा में इस प्रसग का एक चित्र भी है। इसमें मोटे नग्न क्षपणकों (बौद्ध या जैन सन्यासी) का एक दल चला जाता अंकित है। उनमे से हरे रंग का एक क्षपणक इतना मोटा है कि वह दूसरों के कधे का सहारा लेकर चल रहा है। इसी मंडली मे एक व्यक्ति के हाथ मे एक लंबी लग्घी मे चित्रपट लटक रहा है जिसपर मानवाकृति अंकित है (अजन्ता, गुफा १७, याजदानी, फलक ४३ बी)। इसे विद्वानों ने यमराज का यमपट्ट माना है। बाण ने हर्षचरित मे भी "यमपट्टिक" का वर्णन किया है। मुद्राराक्षस में ऐसे यमपटचर की नियुक्ति चाणक्य ने लोगो की गतिविधियो को जानने के लिए तथा राक्षस की मुद्रा (अंगूठी) प्राप्त करने के लिए की थी[१]।

---

१ — कुमारस्वामी ने भी यमपट्ट पर "पिक्चर शो-मैन" शीर्षक लेख इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग ५, पृ० १८२ से १८७ मे लिखा है।

मृच्छकटिक :— **शूद्रक** (६ठी, ७वीं शती) विरचित इस नाटक के प्रथम अंक में चित्रकार के रंग से भरे हुए पात्रों का वर्णन है कि विदूषक सैकड़ों मल्लकों (रंगपात्र, वर्णिका पात्र, रंगदानी) से घिरे हुए चित्रकार की भांति खाद्य पदार्थों से भरे पात्रों को अंगुलियों से छू-छूकर छोड़ देता था "**मैत्रेयः – मल्लकशतपरिवृतश्चित्रकर इवांगुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि ।**" भास ने भी चारुदत्त नाटक में बहुमल्लक से परिवृत चित्रकार का वर्णन इसी से मिलता-जुलता किया है। मल्लकशत कहने से ज्ञात होता है कि उस समय बहुत प्रकार के रंगों का प्रयोग होता था। बाणभट्ट ने भी बहुत से मिश्रित रंगों का वर्णन किया है और उसके लिए "वर्णसंकर" शब्द प्रयोग किया है। उस समय लोग वर्ण-मिश्रण में बहुत पटु होते थे। जो चित्रकला जितनी उन्नत होती है उसमें उतने अधिक प्रकार के मिश्रित रंगों का प्रयोग होता है।

मृच्छकटिक के पंचम अंक में चित्रकला के विधि-विधान (तकनीक) पर भी प्रकाश डाला गया है। चारुदत्त कहता है -- **एता च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात्संक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः** ॥ ५।५० ॥ चित्र बनाने के लिए पलस्तर और सफेदी करके जो भित्ति तैयार की गई है वह ताजी होने के कारण अभी नम है।

"**सुधाद्रव**" : चूने में वज्रलेप मिला होता था जिसे भित्ति पर लगाकर सूखा देते थे, तत्पश्चात् उसे रगड़कर घुटाई द्वारा चिकना करने के उपरांत उस पर चित्रकारी करते थे। आज भी कलाकार इस विधि का प्रयोग करते हैं।

इसके चतुर्थ अंक में, वसंतसेना, मदनिका को चित्रफलक पर बने चारुदत्त के व्यक्तिचित्र को दिखाती है। -- **चेटी :— एषार्या चित्रफलक निषण्णदृष्टिर्मदनिकया सह किमपि मन्त्रयन्ती तिष्ठति ।** चित्रपट पर निषण्णदृष्टि अर्थात् आंख गड़ाये हुए से देखते हुए यह वसन्तसेना मदनिका के साथ कुछ वार्तालाप कर रही है। वसन्तसेना कहती है -- **चेटि मदनिके ! अपि सुसदृशीयं चित्राकृतिरार्यचारुदत्तस्य ।** - मदनिका, चित्र में बनी हुई आर्य चारुदत्त की यह आकृति क्या मेरे शारीरिक सौंदर्य के सदृश उपयुक्त है ? वसन्तसेना चेटी से उस चित्रफलक को अपनी शय्या पर रखने को कहती है —— **इमं तावच्चित्रफलकं मम शयनीये स्थापयित्वा ...** । - इससे तथा वात्स्यायन के कामसूत्र से ज्ञात होता है कि शयनकक्ष में चित्र-रचना के लिए चित्रफलक या कामपट रखा जाता था।

वसंतसेना के सतखंडे महल का वर्णन करते हुए इसमें एक स्थान की भूमि का वर्णन विदूषक करता है - वहां की भूमि विविध प्रकार के सुगन्धित पुष्पों के चढ़ाने से चित्रलिखित-सी लग रही थी -- **विविधसुगन्धिकुसुमोपहारचित्रलिखितभूमिभागस्य ।** - महल के प्रथम प्रकोष्ठ (द्वार) पर चंद्रमा, शंख, कमल आदि का आलेखन किया जाता था —— **अत्रापि प्रथमे प्रकोष्ठे शशिशंखमृणालसच्छाया विनिहितचूर्णमुष्टिपाण्डुरा ।** महल में विदूषक देखता है कि चतुर वेश्यायें तथा वृद्ध विट अनेक रंगों से रंगे हुए चित्रफलक हाथों में लिए इधर-उधर मनोरंजनार्थ एवं मिलाप कराने के लिए घूम रहे हैं —— **विविधवर्णिकाविलिप्तचित्रफलकाग्रहस्ता इतस्ततः परिभ्रमन्ति गणिका वृद्धविटाश्च ।**

वासवदत्ता :—सुबन्धुकृत (६ठीं, ७वीं सती) इस नाटक में वर्णन है - "**अथ तामेव प्रियतमां हृदयफलके संकल्पतूलिकया लिखितामिव अवलोकयन्निस्पन्दकरणग्रामः कन्दर्पकेतुर्मकरन्द विरचिते पल्लवशयने सुष्वाप ।**" -- कन्दर्पकेतु हृदयरूपी पट्टिका पर संकल्प रूपी तूलिका से चित्रित उस प्रियतमा को देखते हुए मकरन्द निर्मित पत्तों की शय्या पर सो गया। इस प्रकार का वर्णन करने की परम्परा चल गई थी जो इसके बाद के कवियों में भी प्राप्त होती है।

वासवदत्ता ने स्वप्न में ही भावी पति कन्दर्पकेतु का नाम सुन लिया था। वह उसके ध्यान में निमग्न रहने लगी — **"हृदये विलिखितमिव उत्कीर्णमिव...वज्रलेपघटितमिव...कन्दर्पकेतु मन्यमाना।"** — हृदय में चित्र-सा अंकित, वज्रलेप लगा हुआ-सा वह उसे समझ रही थी। सर्वथा इसी से मिलता-जुलता श्लोक मालती-माधव (५।१०) में भी है — **"लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेव...लग्ना प्रिया।"** वासवदत्ता कामदेव रूपी चित्रकार द्वारा, चिन्ता रूपी तूलिका से अनुराग रूपी वर्ण से चित्रांकन कर रही थी, यह भाव है — **मन्मथचित्रकारेण चिन्तातूलिकया-ऽनुरागवर्णकेन लिपिविषयीकृता इति भावः।** वज्रलेप मिश्रण करके गचकारी प्रक्रिया की जाती है। तीन प्रकार से वज्रलेप बनाने की विधि "बृहत्संहिता" में दी गई है। वज्रलेप रूपी वस्तु शीघ्र नही नष्ट होती।

वासवदत्ता अपने विरह-सन्ताप के शमन-हेतु सखियों से कन्दर्पकेतु का चित्र लिखने को कहती है — **चपले चित्रलेखे ! चित्रपटे विलिख चित्तचोरंजनम्।** — विरह में दो प्रकार के चित्रोल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलते हैं — (१) प्रत्यक्षदर्शन के पूर्व चित्र, (२) प्रत्यक्षदर्शन के पश्चात् चित्र।

मूर्छा के उपरान्त चैतन्य होने पर कन्दर्पकेतु के सौंदर्य को बारंबार सोचती हुई — **"दिक्षु विलिखितमिव, ...चित्रपटे पुरो दर्शितमिव...व्यतिष्ठत्।"** — दिशाओं में चित्रित, आकाश में उत्कीर्ण, नेत्रों में प्रतिबिम्बित और सामने चित्रपट में प्रदर्शित के समान उस कन्दर्पकेतु को इधर-उधर देखती हुई बैठी रही। — साहित्यदर्पणकार ने कहा है कि काम, क्रोध, भय, उन्माद, सर्प आदि के उपद्रव से असत्य भी सत्य के समान दिखलाई देता है।

इसी में एक स्थान पर हाथी के मस्तक पर प्रहार करते हुए ओजस्वी सिंह के शरीर की गति-विधियों के वर्णन में कहा है — **चित्रे चापि न शक्यतेऽभि (वि) लिखितुं सर्वांगसंकोचभाक्।** — वस्तुतः कुशल कलाकार इसका चित्रण भी सफलता से कर सकता है।

बाणभट्टकृत गद्यकाव्य

कादम्बरी : — महाकवि बाणभट्ट (७वीं शती) की अमर गद्य कृति कादम्बरी सुललित वर्णों तथा चित्रित वर्णनों से चित्रकला की प्रदर्शनी ही बन गई है। उनकी सपूर्ण कृति के सौष्ठव को संक्षेप में कहा गया है — **"बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्"** — अर्थात् सपूर्ण जगत् बाण का उच्छिष्ट (जूठन) है, अथवा **वर्णोच्छिष्टं जगत्सर्वम्** अर्थात् बाण के रंगों के विस्तृत वर्णन के सामने अन्य कवियों का वर्णन जूठन मात्र है। बाण के कथन **"चित्रकर्मसु वर्णसंकराः"** (काद०, पृ० १०) का आशय यह है कि चित्र बनाने के लिए रक्त, पीत, हरित, श्वेत और नील - इन पांच मूल रंगो को मिलाकर सहस्रों नये-नये रंग जैसे बाला तपपिंजर, शुकहरित, मरकतहरित, धूमपटल के समान नील, गोरोचनाकपिल, हरितालकपिल, मञ्जिष्ठाराग इत्यादि तैयार किये जाते है (परिशिष्ट-घ)। अजंता तथा बाघ के चित्रों को देखने से, बाण के प्रति कहा गया उपर्युक्त कथन सत्य सिद्ध होता है। गुप्त युग में चित्रकला का विशेष विकास होने से नये-नये रंगों का भी प्रयोग किया गया था।

राजा शूद्रक के चारों ओर रहने वाले राजपुत्र काव्य, नाटक, आख्यान, चित्रकला, संगीत आदि कलाओं में निपुण थे। वे मनोविनोद के लिए कलाओं का अभ्यास करते थे। वहां राजा के जिन कला विनोदों का उल्लेख हुआ है वे भांति-भांति की गोष्ठियों में होते थे, जैसे — चित्र-गोष्ठी, काव्य-गोष्ठी, संगीत-गोष्ठी आदि नाना प्रकार की गोष्ठियां राजसभाओं की शोभा थी। इन गोष्ठियों का उल्लेख कामसूत्र में भी है। राजा इन कलावन्तों में सच्ची रुचि लेते थे जिसके फलस्वरूप ललितकलाओं का पोषण और प्रतिपादन होता था। राजा चन्द्रापीड जैसे सुपात्र ने चित्रकर्म आदि सर्वविध शिल्पकार्य में तथा समस्त कला-विद्याओं में अत्यन्त निपुणता प्राप्त की थी —

"चन्द्रापीडो...चित्रकर्माणि...सर्वशिल्पेषु..कलाविशेषेषु परं कौशलमवाप।" (पृ० २३१-२३२) । वैशम्पायन अन्य कलाओं के साथ चित्रकर्म में भी प्रवीण थे। चित्रकला की साधना उस युग में सर्वव्यापक थी। सुसंस्कृत स्त्री - पुरुष चित्रकर्म सीखते थे।

बाणभट्ट ने कादम्बरी (पृ० १९) में राजा की शुभ्र धोती पर गोरोचना से चित्रित हंस-मिथुनों का उल्लेख किया है — **"अमृतफेनधवले गोरोचनालिखित - हंसमिथुनसनाथ - पर्यन्ते"** तथा हर्षचरित (पृ० १९८) में युद्धक्षेत्र में जाते हुए हर्ष को हंस-मिथुनों से अलंकृत दुपट्टा पहने वर्णित किया है **"परिधाय राजहंस - मिथुन - लक्षणसदृशेदुकूले"**। इसी प्रकार पालि ग्रंथ "अतगडदसाओ" (पृ० ८९) में राजकुमार गौतम भी हंसचिन्हित दुकूल पहने उल्लिखित हैं। कालिदास ने रघुवंश (१७।२५) तथा कुमारसम्भव (५।६७) में राजहंसलक्षण दुकूल को वधू को पहनाने का उल्लेख किया है। अजंना, गुफा १, में एक चामरग्राहिणी स्त्री छपाई वाला हंस चिन्हित दुकूल पहने हुए अंकित है। इन उल्लेखों तथा चित्रों से परिलक्षित होता है कि गुप्तकाल से ही हंसाकृतियों से अलंकृत वस्त्रों को शुभावसरों पर पहनने की प्रथा थी। संभवतः यह अलंकरण अत्यन्त शुभ माना जाता रहा होगा, इसीलिए आजकल भी बिहार आदि प्रान्तों में हंस या चिड़िया छपी चादर वधू को ओढ़ाने का प्रचलन है।

हंसमिथुन अभिप्राय (मोटिफ) ठप्पे से छपाई द्वारा तथा गोरोचना आदि से हाथ से चित्रांकन द्वारा भी बनाया जाता था, ऐसा उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है। यह परंपरा अभी भी चल रही है। भारत कला भवन में १९वीं शती के उत्तरार्ध में केसर से चित्रित हाथ की बनी एक दुर्लभ सफेद साड़ी है जिसमें हाथी, घोड़े, ऊँट, गाय चिड़िया, तोता, मानवादि के अतिरिक्त छठी, नामकरण संस्कार, ग्रहशांति आदि के चित्र भी अंकित हैं। इस पर एक लेख देवकी अहिवासी का "छवि" भाग १ (पृ० ३९५) में प्रकाशित हुआ है। दक्षिण भारत के मसलीपट्टम् (आंध्र प्रदेश) में "कलमकारी" किये वस्त्रों पर छपाई तथा हाथ से चित्रांकन दोनों का एक साथ प्रयोग करके फूल-पत्ती, पशु-पक्षी आदि का अंकन करते हैं। वस्त्रों पर हाथ से (फ्री हैंड) प्रवाहयुक्त रेखाओं से बनाये गये चित्र छपे वस्त्रों की एक रूपता की अपेक्षा अधिक मनोहर लगते हैं।

कादम्बरी (पृ० ८७) में वर्णन है कि शिशु चन्द्रापीड़ का अधर-रुचक रक्त कमल कलिका की भांति रमणीय था। गुप्तकालीन सौंदर्यादर्श की यह एक विशेषता थी जिसमें स्त्री - पुरुषों के अधरोष्ठ को कुछ अधिक नीचे लटकता चित्रों में प्रदर्शित किया गया है, संभवतः अधिक अधर-पान के कारण से अधर लंबे हो जाते होंगे। अलंकरण में ऐसे निष्काकृति अधर (अशर्फी मारका होंठ) से सौभाग्यसूचक बेल निकलती चित्रों-मूर्तियों में प्रायः दिखाते हैं। गुप्तकालीन "पद्मप्राभृतक" (पृ० ९) भाण में भी ओष्ठ रुचक शब्द आया है और हरिवंशपुराण (१।४१।३४, ३।३४।४०) में वराह का अधर-रुचक कहा है। हर्षचरित में भैरवाचार्य के शिष्य के वर्णन में उसका निचला अधर घोड़े के निचले होंठ की भांति लटकता हुआ वर्णित है।

बाण ने उज्जयिनी-वर्णन में चित्रशालाओं से भरे हुए महाभवनों का अति सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। इन सात चौकवाले महाभवनों में धवलगृह (धौराहर या धरहरा) होता था, जिसके भीतरी आंगन में पटावदार बरामदे को "वीथी" कहा जाता था। धवलगृह कई तलों (तल्लों) का होता था, जिसके ऊपरी तल्ले में सामने की ओर बीच में "प्रग्रीवक" तथा एक ओर "सौध" (खुली छत) एवं दूसरी ओर विशाल कक्ष (मंडप) "वासभवन" (वासगृह) होता था, सौध केवल रानियों के बैठने-उठने का स्थान था और इसमें चित्रशाला - संगीतशाला आदि होती थी जिसका उल्लेख हर्षचरित में हर्ष के महल के वर्णन में है। वासभवन का ही एक भाग शयनकक्ष था। वासभवन एवं शयनकक्ष में भित्ति चित्र बनाये जाते थे, इसी से वासभवन का यह स्थान चित्रशालिका या चित्रशाली

(चित्रसारी, चित्तरसारी) भी कहलाता था। हिन्दी काव्य "पद्मावत" मे भी चित्रसारी का वर्णन है — **जहां सोने के चितरसारी। बैठिबरात जानु फुलवारी** ॥ २८९।२ ॥ और **"चित्रावलि की है चितसारी। बारी माँहि विचित्र सँवारी॥** ८१।३ ॥ — राजप्रासाद से लगी वाटिका में चित्रशाला होती थी जहां विशिष्ट अतिथि ठहराये जाते थे। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (४३।१२) मे घर की, राजवेश्म की तथा देवालय की चित्रशाला का वर्णन है। चित्रशाला के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द विभिन्न ग्रन्थों में है, जैसे — चित्रसारी, चित्रवीथी, चित्रवत्सद्म (रघु० १४।२५), चित्रशालिका (तिलक०), अभिलिखितवीथिका (उत्तरराम०) आदि। नारदशिल्प (अ० ७१) में चित्रशाला के लिए कहा है—**"वास्तुनायस्य वै तुष्टये"** — वास्तु-पुरुष के शमन के लिए चित्रशाला बनाई जाती थी। चित्रशाला-निर्माण का प्रयोजन सौंदर्य वृद्धि, मनोरंजन के अतिरिक्त वास्तु शांति भी है जो अति महत्वपूर्ण है।

गृह की चित्रशाला पति-पत्नी के एकांत मिलन का स्थल होता था। उसकी भित्तियो पर नाना भाति के चित्र बनाये जाते थे। देवता, असुर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महोरग इन देव योनियों की अनेक कथाये इन चित्रो में आलिखित की जाती थी — **'सुरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभिः'** (पृ० १५४)। इन सभी का चित्रण अजंता की गुफाओ मे मिलता है। सिद्ध आकाशचारी और वीणाधारी गायक होते है। गंधर्व दिव्यगायक, विद्याधर हाथ मे फूल-माला लिए, नागराजों के सिर पर तीन या पांच फण होते हैं और उनका ऊर्ध्वभाग मानव का तथा अधोभाग नाग का होता है। पृथ्वी और आकाश के मध्य जितना जगत् है वह सब इन चित्रशाला चित्रो का विषय था। इन्हे उज्जयिनी वर्णन में दर्शितविश्वरूपा कहा गया है — **'दर्शितविश्वरूपेव चित्रभित्तिभिः'**। चित्रों के विषय में इतने कम शब्दों में शायद ही कही इससे अधिक कहा गया हो।

कादम्बरी के श्रीमंडप की भित्तियों पर भी चित्र लिखे हुए थे। कौमारावस्था मे कादम्बरी के लिए कुमारी — अन्तःपुर नामक भवन अलग बना था। उसमें एक श्रीमण्डप और दूसरा शयनकक्ष था। श्रीमण्डप बाहर का भाग और शयनकक्ष भीतर का भाग था। उसके श्रीमण्डप में अधोमुख विद्याधरो का अंकन था — **'श्रीमण्डप-मध्योत्कीर्ण अधोमुखविद्याधरलोक'** — (कादं०, पृ० १८६)। श्रीमण्डप मे संपुंजित नाना आकृतियों और दृश्यो को देखकर विदित होता था मानो तीनो भुवन ही उसे देखने के कुतूहल से एकत्र हो गये थे —**'चित्रकर्मच्छलेनावलोकन-कुतूहलसम्पुञ्जितेन त्रिभुवनेन**। — यह वाक्य गुप्तकालीन भित्तिचित्रो का संक्षिप्त सूत्र है। उस युग मे चित्रो का कितना प्रचार था, अजन्ता के भित्तिचित्र उसके साक्षी है। वस्तुतः राजाओ या धनिकों के महाभवन और चित्र-शालिका शब्द पर्याय बन गये थे। इसलिए बाण ने पहले चित्रशाला शब्द से ही घरो का संकेत किया है— **'चित्र-शाला गृहाणि**।' यद्यपि बाद मे उन्हे महाभवन भी कहा है।

तारापीड के धवलगृह की चित्रशालिकाओ मे जो भित्तिचित्र थे उनमे मानो सारी त्रिलोकी ही अंकित कर दी गई थी—'चित्रलेखादर्शितविचित्रसकलत्रिभुवनाकाराम्।' जैसे उषा-अनिरुद्ध के समागम मे उसकी सखी चित्रलेखा ने समस्त त्रिभुवन के युवको की आकृति का चित्रांकन करके उषा को दिखाया था।

बाण ने अच्छोद सरोवर के तट का वर्णन किया है — **आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशतसंशो-भितै :** — उस सरोवर के चारो ओर मणिलताओ की बाडे रंग-बिरंगे पखो वाले चित्रित-पक्षियों से युक्त थी, वे ऐसी प्रतीत होती थीं मानों अनेक वर्णो के चित्र, पत्रलता और सहस्रो पक्षियो से सुशोभित चित्रशालायें हो। उस समय भी रंग-बिरंगे पक्षियों के चित्र बनाये जाते थे। किन्तु अजंता में पशु-पक्षियों का स्वतंत्र चित्रण न करके उनका विविध अलंकरणो एवं दृश्यो मे अंकन किया गया है।

वासभवन में राजा तारापीड ने रानी विलासवती का गोरोचना से चित्रित श्वेत दुकूल वस्त्र पहने हुए देखा । उस समय गोरोचना, केसर आदि से वस्त्रों को चित्रित किया जाता था । वासभवन की भित्तियाँ नवीन रंगों से मांगल्य चित्रों के आलेखन से उज्ज्वल और मनोहर दिखाई दे रही थीं — **प्रत्यग्रलिखितमंगल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहराणि ।**' -- पलंग के चारों ओर रक्षा के लिए भभूत से शृंगार रचना युक्त पत्रलताओं के अलंकरण लिखे गये थे — **'सूतिलिखितपत्रलताकुलरक्षापरिक्षेपम्'** । इन पत्रलता अलंकरणों में प्रायः कमल, कुमुदिनी पुष्प-पत्रों से पूरी बेल बनाई जाती थी — **'कुमुददलावलीभिः पर्यस्तलिखितपत्रलतावन्धुरंमुक्ताशिल्पपट्टम् ।**' —फूल-पत्तों के लतावल्लरीयुक्त अलंकरणों के लिए गुप्तकाल का पारिभाषिक शब्द पत्रलता, पत्रावली, पत्रांगुलि, पत्रभंगरचना, पत्रच्छेद्य आदि था । गुप्तकला में यह अलंकरण बहुतायत से मिलता है । भूमि पर पत्रलता की सजावट के लिए धातु-पत्र या हाथीदांत के पतले पत्र पर महीन छिद्रों से चित्रांकन किया जाता था । इस प्रक्रिया में कज्जल की पोटली उस पत्र पर थपकने से नीचे आकृति बन जाती थी जिसे बाद में स्थायी कर दिया जाता था । इन्हें **'पत्रच्छेद्य'** कहा जाता था । बाण ने विभिन्न प्रकार की पत्रलताओं के बहुत से अलंकरणों का उल्लेख भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया है । यह मंगल्यालेख्य लोककला थी ।

कादम्बरी में सूतिकागृह के द्वार के ऊपर बहुपुत्रों से घिरी हुई षष्ठीपूजिका नामक देवी की आकृति बनाने का उल्लेख है । इस देवी को हर्षचरित में जातमातृदेवता और तिलकमंजरी में *आलिखित जातमातृपटलम्* — कहा गया है । वहां पर नए चित्रित मातृपट (छठी) की पूजा में धात्रियाँ व्यस्त थीं — **अभिनवलिखित - मातृपट-पूजाव्यग्रधात्रीजनम्** । मातृपट से तात्पर्य कपड़े पर रंगों द्वारा मातृका देवी चित्रित पट से है ।

वासभवन के शिरोभाग में कामदेव की मूर्ति से अंकित कामदेवपट रखा जाता था — **वासभवने मे शिरोभागनिहितः कामदेवपटः पाटनीयः** । यह एक परम्परा थी । कामसूत्र तथा रत्नावली नाटिका में भी वासभवन में कामदेव पट रखने का उल्लेख है । इसी प्रकार **'उभयतश्च द्वारपक्षकयोः ... पुरंध्रिवर्गेण समधिष्ठितम्'** — में द्वार के दोनों ओर सूर्य, चन्द्र, स्वस्तिक, षष्ठीदेवी इत्यादि शुभ प्रतीकों तथा लोक कलाओं को बनाने का उल्लेख है ।

हिमगृह में कूप की जगतीपीठ पर सुनहली गचकारी से बने कामपीठ, जिन पर कामक्रीड़ाओं के दृश्य सुधापंक (स्टको, गचकारी) में बने होते थे । जटानन्दि (७वीं शती) कृत वरांगचरित (२२।६०) में 'कामलता अलंकरण' का उल्लेख है, जिसका अभिप्राय कामासक्त मिथुन मूर्तियों से युक्त लता के अलंकरण से था । गुप्तकालीन मंदिरों के द्वार के अलंकरणों में इस प्रकार की कामलताओं का अंकन प्रायः मिलता है ।

कादम्बरी में चक्रवाकमिथुन को भित्तिचित्र में बनाने का उल्लेख है —**चित्रभित्ति विलिखितानि चक्रवाकमिथुनानि ।**— किन्तु यह चक्रवाक-मिथुन न तो भित्ति चित्रों में मिला है और न मूर्तियों में ही । १८ वीं शती में पहाड़ी शैली के कुछ चित्रों में प्रेमीयुगल मानवों के निकट चक्रवाक-मिथुनों का अंकन मिलता है । कादंबरी में वर्णन है कि अच्छोद सरोवर में स्नान करने के लिए आई हुई पार्वती ने तटवर्ती शिलातल पर भृंगिरिटी (शिव के द्वारपाल) को अंकित किया था । —**'तटशिलातलेषु विलिखितानि सभृंगरिटीनि ।**' आज भी मंदिरों के बाह्य द्वार के दोनों ओर द्वारपालों का अंकन करने की प्रथा है ।

बाण ने आलेख्य के उपकरणों का भी उल्लेख किया है — **वर्णसुधाकूर्चकैरिव करैर्धवलितदशाशामुखे चन्द्रमसि; इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम्** — कूर्चक अर्थात् कूंची, जो कूंच कर बनायी जाए । मानसोल्लास तथा शिल्परत्न में कूर्चक से सुधालेप लगाने का वर्णन है । चूने से दीवार की पुताई के लिए आज भी ऐसी ही कूंची का प्रयोग होता है । चन्द्रापीड के यौवनारम्भ का वर्णन करते हुए राजा तारापीड कहते हैं — **''वत्सस्य यौवनारम्भ-**

सूत्रपातरेखा'' — पुत्र चन्द्रापीड की यौवन रोमराजि (नाभि प्रदेश से ऊपर तथा नीचे उठी रोमो की खड़ी रेखा) सूत्रपात रेखा के समान थी। सूत्रपात रेखा सूत फटकार कर भित्ति या भूमि पर डाली गई रेखा, जैसे ब्रह्मसूत्र, पक्षसूत्र और बहि सूत्र रेखा। महाश्वेता ने पुण्डरीक का प्रथम दर्शन जब किया था उस प्रसंग मे उसकी उदर की सूक्ष्म रोमावली का वर्णन किया है — **अंजनरजोलेखाश्यामलातंनीयसी रोमराजिम्** — अर्थात् रोमावली अंजनरज या काजल की पतली रेखा की तरह श्यामल थी। **'रूपालेख्योन्मीलनकालांजनवर्तिका'** रूप-चित्र का उन्मीलन करने वाली काले काजल की वर्तिका। यहां रूपालेख्य का तात्पर्य प्रतिकृतिचित्र या सादृश्यचित्र से है। प्रतिकृतिचित्र की आकारजनिका रेखा या आकार निर्धारिणी रेखा ही उस चित्र का उन्मीलन करती है। यह रेखा धातुराग अर्थात् गेरू अथवा काले रंग की बत्ती (चारकोल, क्रेआन) से बनाई जाती थी जिसे यहा कालाजनवर्तिका कहा है। यह वर्तिका इमली की लकड़ी को जलाकर बनाये गये कोयले की होती है। वर्तिका के लिए तूलिका शब्द भी रूढ़ हो गया था। उन्मीलन अर्थात् चित्र की खुलाई अथवा आकारजनिका रेखा (आउट लाइन) द्वारा खुलाई। **''प्रातश्च तदुन्मीलितं चित्रमिव चन्द्रापीडशरीरमवलोक्य''** — यह उक्ति कालिदास के समय मे प्रचलित हो गयी थी।

कादम्बरी की कामदशा मे अश्रु, स्वेद, रोमाचादि का वर्णन भी कालिदास की परपरा में ही बाण ने किया है। कादम्बरी ने चन्द्रापीड का अपने मन मे कल्पना से चित्र बनाया, तूलिका से नहीं, क्योकि अगुलियों के के स्वेदजल से उसके भीग जाने का भय था। बाण ने चित्रलिखित आदि उत्प्रेक्षाओ का भी प्रयोग किया है— **चित्रलिखितमिव, उत्कीर्णमिव।**

'आलिखित चित्रफलके भूमिपालप्रतिबिम्बम्' — सभामडप मे मनोविनोद के लिए कोई सामत चित्रफलक पर महाराज तारापीड का सादृश्य या प्रतिबिम्ब चित्र भी अकित कर रहे थे। तारापीड ने चन्द्रापीड के लिए वैभव-शाली कुमार-भवन बनवाया था जो राजकुल का प्रतिबिम्ब (प्रतिच्छंदक या प्रतिमूर्ति) कहा गया है — **प्रतिच्छंद-कमिव राजकुलस्य।** बाण ने तीनों प्रकार के चित्राधारो पर चित्र बनाये जाने का उल्लेख किया है — चित्रभित्ति, चित्रपट और चित्रफलक।

उत्कृष्ट चित्रकार की हस्तधृत चित्रतूलिका (वर्तिका) जिस प्रकार सभी का चित्र अंकित करती है, उसी प्रकार युवकों की चित्तवृत्ति भी उत्तेजना-निपुण कामदेव के द्वारा आक्रान्त होकर सब कुछ अंकित करती है — **निपुणमन्मथ-गृहीता चित्रवर्तिकेव तरुणचित्तवृत्तिर्न किञ्चिन्नालिखति।**

विद्याध्ययन करके लौटे हुए चन्द्रापीड के यथोचित सम्मान मे एक राजछत्र लगाया गया था। उस छत्र के ऊपर केसरी सिंह का चिन्ह बना था और किनारे पर बड़े मोतियों के जाल लटक रहे थे। हर्षचरित मे भी ऐसे ही राजछत्र का वर्णन है। अजता मे ऐसे अलंकृत राजछत्रो का अंकन अनेक स्थानों पर है।

चन्द्रापीड के दर्शन की लोलुप कोई स्त्री इन्द्रधनुष के समान रग - बिरगीधारियो का एक ही वस्त्र पहने थी। अजंता के चित्रो मे ऐसे धारीदार वस्त्रों के बहुत चित्रण है। इन्हें ''इन्द्रायुधाम्बर'' कहा जाता था। कोई स्त्री मरकत के गवाक्ष - जालो से बाहर की ओर देख रही थी। पुर-सुन्दरियों के इस प्रकार के वर्णन की साहित्य मे एक परिपाटी बन गई थी। ये सब अभिप्राय रूढ हो गये थे। चित्रो मे तथा विशेषत. कुषाण मूर्तिकला मे प्राय. स्त्रियों को गवाक्षो से बाहर देखते अंकित किया गया है।

हर्षचरित :—बाणभट्ट की मित्र-मडली मे वीरवर्मा चित्रकार था — ''चित्रकृद्वीरवर्मा। हर्षचरित मेराज्यश्री के विवाहोत्सव के अवसर पर दूसरे देशों मे चतुर शिल्पियो के समूह बुलाये जाने का उल्लेख है —

सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम्। यहां पर उनका फूल, चंदन, वस्त्रादि से आदर-सत्कार किया गया। यहां बहुत से चतुर चित्रकार मांगलिक चित्र अंकित कर रहे थे -- **चतुरचित्रकारचक्रवाललिख्यमान मंगल्यालेख्यम्** (पृ० २४४)। वैदिक काल से ही मांगलिक चिन्ह स्वस्तिक, चक्र, धारा (हस्तक) आदि बनाने की प्रथा चल रही है। बाण ने विभिन्न वस्तुओं पर चित्रकारी करने तथा रंगने, पत्रलता बनाने इत्यादि लोक-कलाओं का भी अतिरमणीय वर्णन किया है - जैसे कलशों पर और कच्ची सरइयों पर पत्रलता की चित्रकारी, वस्त्रों पर बाधनू की रंगाई तथा कुटिल क्रम से चित्रकारी इत्यादि - **'बहुविधवर्णकादि चित्रयन्तीभिः...व्याप्तम्'** (पृ० २४४), **'बहुविधभक्तिनिर्माणनिपुण . कुंकुम'** (पृ० १४३), कुंकुम (रोली) आदि से विविध प्रकार के हस्तक, पत्रालेखनादि किये जा रहे थे।

भास्करवर्मा द्वारा हर्ष के लिए भेजी गई उपहार-सामग्री में चित्रफलकों के जोड़े, जिनमें भीतर की ओर चित्र लिखे थे और उसके साथ तूलिका एवं रंग रखने के लिए छोटी अलाबू (लौकी की तूंबी) की कुप्पियां लटक रही थी -- **अवलम्बमानतूलिकालाबुकान् लिखितानालेख्यफलकसंपुटान्** (पृ० ३८८)।

यशोवती के वासगृह के दोनों पक्षों पर कामदेव की दोनों पत्नियों रति और प्रीति के चित्र बनाये गये थे - **प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिप्रीतिदैवतम्** (पृ० २५८)। जब वह वासभवन में सोती थी तब वहां के भित्तिचित्र में अंकित चामरग्राहिणियां भी चंवर डुलाती थीं -- **सुप्तया वासभवने चित्रभित्तिचामरग्राहिण्योऽपि चामराणि चालयांचक्रुः** (पृ० २१९)। ये चित्र सजीव एवं गतिशील होते थे। **आलेख्यक्षितिपतिभिरप्रणमद्भिः संतप्यमान-चरणौ** (पृ० २३२) चित्र में आलिखित राजा, चित्र की स्थिरता के कारण, सिर नहीं झुका रहे थे, यह अनादर देखकर राज्यवर्धन और हर्ष के पैर क्रोध से थरथराने लगे। ये चित्र इतने यथार्थ बने थे कि उन राजाओं ने उसे सत्य मान लिया। **लिखितैरिव निश्चलैर्नरपतिभिर्नीयमाननक्तंदिवं** (पृ० २६५) राजमहल के बाहर आंगन में अधीनस्थ राजा दिन-रात चित्रलिखित की भांति निश्चल होकर इकट्ठे रहते थे। जिस प्रकार चित्र स्थिर रहता है उसी प्रकार वे लोग भी स्थिर निश्चल थे। **चित्राविशेषाकृतौ काव्यशेषनाम्नि नरनाथे** (पृ० ३०८) -- प्रभाकर-वर्धन की आकृति मरणोपरांत प्रतिकृति-चित्र में ही शेष रह गई थी। इसी प्रकार हर्ष की मृत्यु के पश्चात् यशोमती पति के उस चित्रफलक पर बने हुए व्यक्तिचित्र को प्राण के समान दृढ़ता से लिए हुए थी -- **संनिहितप्राणसमं मरणाय चित्तमिव चित्रफलकमविचलं धारयन्तीम्** (पृ० २८६)।

पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर हर्ष स्कन्धावार पहुंचे। वहां पर बाजार में घुसते ही उन्होंने एक "यमपट्टिक" को देखा। सड़क पर लड़कों ने तमाशा देखने के लिए उसे घेर रखा था। यमपट्टिक ने बायें हाथ में ऊँची लाठी के ऊपर एक चित्रपट फैला रखा था जिसमें भयंकर भैंसे पर चढ़े यमराज का चित्र अंकित था। एलोरा की इन्द्रसभा गुफा में भी भैंसे पर चढ़े यमराज का चित्र अंकित है। दाहिने हाथ में सरकंडा लिए हुए वह यमपट्टिक लोगों को चित्र दिखाता और परलोक में यमराज द्वारा मिलने वाली नरक-यातनाओं का वर्णन कर रहा था -- **प्रविशन्नेव च विपणिवर्त्मनि कुतूहलाकुलबहलबालकपरिवृतमूर्ध्वयष्टिविष्कम्भवितते वामहस्तवर्तिनि भीषणमहिषाधिरूढ-प्रेतनाथसनाथे चित्रवति पटे परिलोकव्यतिकरमितरकरकलितेन शरकाण्डेन कथयन्तं यमपट्टिकं ददर्श** (पृ० २६४)। ये यमपट्टिक लोग चित्र दिखाते समय जोर-जोर से गीत गाते जाते थे — **यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिखन्त्यु-द्गीतकाः** (पृ० २३५)। संभवतः उनका विषय स्वर्ग-नरक के सुखदुःख के लिए धर्मोपदेश देना था। इनसे वे धर्मभीरुओं को डराते थे। इन यमपट्टिकों (कालान्तिकों) का वर्णन मुद्राराक्षस एवं अर्थशास्त्र में भी है। तिब्बत में महाकाल के बहुत से चित्रपट बने हैं जो विभिन्न मंदिरों एवं संग्रहालयों में हैं। वे भी संभवतः इसी उद्देश्य से बनाये गये हों। महाकाल के चित्रपट का सर्वोत्तम संग्रह पटना संग्रहालय के राहुल सांकृत्यायन-कक्ष में है। मद्रास

सग्रहालय मे भी एक चित्रपट मे स्वर्ग-नरक के दृश्यो का अकन है (चित्र ८)। दक्षिण भारत के कुछ मदिरो मे अभी भी ऐसे यमपट्ट दिखाई पडते है। शिवराममूर्ति ने अपने लेख, "सस्कृत लिटरेचर ऐन्ड आर्ट", (पृ० ९६) मे इसका उल्लेख भी किया है।

मध्य एशिया से बाण के समकालीन बुद्ध के अनेक चित्रपट मदिरो से प्राप्त हुए है, जिनमे से कुछ चित्रों को लेकॉक ने 'बरीड ट्रेजर्स आफ चाइनीज टर्किस्तान' मे प्रकाशित किया है। मध्य एशिया के पुरातत्व अन्वेषण के सिलसिले मे एक प्राचीन बौद्ध-विहार की भित्ति पर अकित बुद्ध-जीवनी के चारों दृश्यो के महत्वपूर्ण चित्रपट का अकन मिला है (चित्र ९)।

दशकुमारचरित —दण्डी (७वी शती) विरचित इस कथा मे चित्रकला की तकनीक तथा उसके उपकरणो का महत्वपूर्ण उल्लेख है—**नागदन्तलग्ननिर्यासकल्कवर्णितं फलकमादाय मणिसमुद्गकाद्वर्णवर्तिकामुद्धृत्य ता तथाशयानां तस्याश्च मामाबद्धाञ्जलिं चरणलग्नमालिखमार्यां चैताम् - द्वितीयोच्छ्वास)**। यथा—निर्यास (गोद), कल्क (किट्ट या कीट, लुगदी), फलक (चित्रफलक या काष्ठपट्टिका – इसे खूँटी पर टागते थे), मणिसमुद्गक (रग रखने का जडाऊ डिब्बा, वर्णिका—करण्ड—समुद्गक (अभि० शाकु०), वर्णवर्तिका (तूलिका) आदि उपकरण। वर्णित अर्थात् रगी हुई, रग में गोद को मिलाकर चिकनी लुगदी जैसा बनाकर, भित्ति आदि पर चित्राकन मे प्रयोग करते हैं।

अपहारवर्मा ने फलक पर नायिका का चित्र बनाकर उसके नीचे एक आर्या छन्द लिख दिया 'आलिख मार्या।' इससे ज्ञात होता है कि चित्र से सम्बन्धित श्लोक या छद भी चित्रफलक पर लिखा जाता था। प्राचीन काल से ही विशेषत. १७ वी १८ वी शती के चित्रो मे, चित्र के ऊपर नीचे या हाशिये पर तत्संबधी श्लोक, कवित्त अथवा दोहा लिखने की प्रथा थी। स्त्री—पुरुष दोनों ही प्रतिकृति चित्र (पोर्ट्रेट) बनाने मे प्रवीण होते थे और यह उनका आवश्यक गुण माना जाता था। उपहारवर्मा ने अपना चित्र स्वयं बनाया था — **अभिलिख्यात्मनः प्रतिकृतिम्**"—(तृतीयो०)। अपनी स्वय बनाई प्रतिकृति कल्पसुन्दरी को दिखाकर उसके प्रति अपना गभीर प्रेम प्रकट करने के लिए ही उसने यह चित्र बनाया था — **सादृश्यं च स्वमनेन स्वयमेवाभिलिख्य त्वत्समाधिगाढत्वदर्शनाय प्रेषितम्**।— समाधि शब्द का तात्पर्य एकाग्रचित होकर किसी कार्य के लिए बैठना है, किन्तु यहा यह प्रगाढ़ प्रेम और लगन के लिए है। कालिदास ने "मालविकाग्निमित्र" मे भी प्रेम के कारण कलाकार की शिथिल समाधि का वर्णन किया है।

दशकुमारचरित मे चित्रकला का उपयोग अभिचार या तत्रोक्त विशेष प्रयोग जैसे – मारण, मोहन, उच्चाटन, टोना-टोटका, धूर्तता, कपट—कर्म आदि अनुष्ठान के लिए करने का उल्लेख है, ऐसा तांत्रिक चित्रो द्वारा किया जाता है। ये प्राचीन काल से ही बनाये जाते रहे है। अजंता मे १७ वी गुफा के बाहर बरामदे मे बायी ओर भित्ति पर बडा एक चक्र बना है, इसे कुमारस्वामी ने "भव—चक्र" कहा है। इसमे कुछ आकृतिया भी बनी है ओर बाजार का दृश्य दिखाया है। सभवत यह तात्रिक चित्र ही हो। दिव्यावदान मे भी एक द्वारकोष्ठक की छत मे भव-चक्र का चित्र लिखे होने का उल्लेख है। तात्रिक चित्र बनाने की परंपरा आज भी बगाल, उडीसा, आसाम, तिब्बत नेपाल आदि स्थानो पर वर्तमान है।

'चरणाग्रेण तिरश्चीननखांचिश्चन्द्रिकेण धरणितलं साचीकृताननसरसिज लिखन्ती' — वह राजपुत्री साचीकृत मुख करके पैर के नाखून से चित्र बना रही थी। गोमूत्रिकारेखा (वक्ररेखा) और विद्युल्लता की गति एक समान होती **है—गोमूत्रिकाप्रचारेषु ..विद्युल्लतामिव**। शेष सभी चित्रोल्लेख परपरागत है। दण्डी ने वर्णन किया है

कि लोग स्वप्न में दृष्ट-वस्तु का यथार्थ चित्रण करते थे, जो वास्तविक होता था। इसी प्रकार जहांगीर कालीन अति कुशल मुगल चित्रकार बिशनदास, बिना देखे व्यक्ति की यथार्थ प्रतिकृति (सादृश्य चित्र) केवल उनके वर्णन को सुनकर अंकित कर देते थे। यह बात अशोक कुमार दास ने 'ललित' भाग १ (पृ० ४८) में 'बिशनदास' शीर्षक लेख में भी लिखी है।

दण्डी की दूसरी रचना "अवन्तिसुन्दरीकथा" मानी गई है। इसकी प्रामाणिक सम्पूर्ण प्रति अप्राप्य है। किन्तु जो अंश उपलब्ध है उनमें चित्रोल्लेख भित्तिचित्र, चित्रफलक आदि सभी "दशकुमारचरित" से सर्वथा मिलते-जुलते हैं।

श्री हर्षकृत नाटिका - इनके (हर्षवर्धन ७वीं सदी) द्वारा निर्मित तीन नाटिकायें हैं - नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका।

नागानन्द : नागानन्द के अंक ४ में "रूपाकृति" (**सोऽसावस्यासाधारणरूपाकृतिरेव साधुः**) शब्द रूपवान् अर्थात सुन्दर आकृति वाले व्यक्ति के लिए कहा गया है और "अभिज्ञानशाकुन्तल" में "रूपकर्ता" अर्थात् रूप (चित्र) बनाने वाला अथवा व्यक्ति-चित्र बनाने वाला चित्रकार कहा है। "मुद्राराक्षस" का रचयिता विशाखदत्त चन्द्रगुप्त का दरबारी था। उसके रचे नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में भी 'रूप' शब्द का प्रयोग हुआ है। उस समय चन्द्रगुप्त की सुवर्ण-मुद्रा पर आकृतियां बनी होती थीं। चन्द्रगुप्त के एक सिक्के पर 'रूपकृति' शब्द भी लिखा मिला है। सम्भवतः चन्द्रगुप्त स्वयं भी चित्रकार रहे हों।

नागानन्द के नायक यक्ष-राजकुमार जीमूतवाहन का अपनी प्रेयसी सिद्ध जाति के राजा विश्वावसु की राजकुमारी मलयवती से प्रथम साक्षात्कार मलयपर्वत पर गौरी-मन्दिर में हुआ था। तत्पश्चात् दोनों में परस्पर आसक्ति हो गई थी। उसके विरह से विह्वल होकर, नायक जीमूतवाहन ने एक चन्दन-मण्डप में शिला पर बैठकर मित्र विदूषक से कहा -- '**तामेवास्यां शिलायामालिख्य तथा चित्रगतयात्मानं विनोदयेयम्। तदित एव गिरितटान्मनःशिलाशकलान्यानय।**' - हे मित्र, मैं चाहता हूँ कि इस शिला पर उस सुन्दरी का चित्र अंकित करूं और इसी चित्र को देख-देखकर अपना मनोविनोद करता रहूँ। इसलिए, इसी पर्वत की तराई में मैनसिल के टुकड़े लाकर दे आओ। उसकी आज्ञा शिरोधार्य करके विदूषक ने पांच प्रकार के रंग रख (प्रस्तुत कर) गर्व से भरकर कहा कि आपने एक ही रंग लाने को कहा था, मैं पांच रंग ले आया हूं - '**मया पुनरिहैव सुलभाः पञ्चवर्णिका वर्णा आनीता।**' -- सन्तोष का भाव व्यक्त करते हुए जीमूतवाहन ने कहा - मित्र बहुत अच्छा किया। मलयवती का चित्र अंकित करते-करते जीमूत को रोमांच हो आया। उसने कहा, देखो - चन्द्र के पूर्ण बिम्ब की शोभा धारण करने वाली प्रिया के मुख की रेखा भी पहले-पहल देखकर मैं सुख का अनुभव कर रहा हूं - **दयितामुखस्य सुखयति रेखाऽपि प्रथमदृष्टेयम्** (२।८)। --- यहां रेखा के महत्व को बतलाया गया है कि मुख की एक रेखा अंकित करते ही नेत्र आनन्दित हो गये। वह चित्र देखकर जीमूत की कला-कुशलता की प्रशंसा करते हुए विदूषक ने कहा --- **अप्रत्यक्षेऽपि एवं नाम रूप लिख्यते, अहो आश्चर्यम्।** --- हे मित्र, नेत्रों से न देखते हुए भी आपने उसका इतना उत्तम चित्र (रूप = शबीह) कल्पना से अंकित कर लिया है यह आश्चर्य का विषय है। जीमूत ने कहा - -

> **प्रिया सन्निहितैवेयं संकल्पस्थापितः पुरः।**
> **दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखाम्येनां यदि तत् कोऽत्र विस्मयः ॥ १।२१९ ॥**

मैंने कल्पना द्वारा (चिन्ता के कारण) अपनी प्रिया का प्रतिबिम्ब अपने सम्मुख रख लिया है और उसे देख-देख कर यह चित्र अंकित कर रहा हूं। इसमें कौन-सा आश्चर्य है। मलयवती वहां विद्यमान नहीं थी, फिर भी जीमूत ने

उसका ध्यान करके चित्र बनाया। विरह–विधुरजन अपना मनोरंजन स्वप्न, सादृश्य, प्रतिकृति और दर्शन से करते हैं।

जीमूतवाहन मलयवती को स्वनिर्मित उसका सादृश्य चित्र दिखलाता है जिसे देखकर मलयवती कहती है कि यह तो मेरा ही चित्र है। चेटी चित्राकृति को तथा नायिका मलयवती को ध्यान पूर्वक देखकर कहती है — **"भर्तृदारिके ! किं भणसि ? अहमिवालिखितेति। ईदृश सौसादृश्यं, येन न ज्ञायते, किं तावदिहैव शिलातले भर्तृदारिकाया: प्रतिबिम्ब सङ्क्रान्तम्, उत त्वामालिखितेति।"** – इस चित्र में और तुम्हारे में इतना सादृश्य है कि यह नहीं मालूम होता कि इस शिला पर तुम्हारा प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है अथवा तुम ही इसमें चित्रित की गई हो। नायिका इसे देखकर लज्जित होती है।

रत्नावली — श्री हर्षकृत इस नाटिका की नायिका सागरिका (रत्नावली) चित्रकला में अति पटु थी। उसने अपने प्रिय वत्सराज उदयन का अत्युत्कृष्ट चित्र अंकित किया था। उसकी सखी तथा वत्सराज की राजमहिषी वासवदत्ता की परिचारिका सुसंगिता को भी चित्रकला का अच्छा ज्ञान था। सागरिका ने जिस फलक पर कामदेव के रूप में राजा को चित्रांकित किया था उसी पर सुसंगिता ने विनोद के लिए रति के रूप में सागरिका का भी चित्र अंकित कर दिया। अंत में घटनाचक्र से वह चित्रफलक राजा के हाथों तक पहुंचा और उस पर अंकित इन दोनों भावपूर्ण चित्रों को देखकर वे बहुत ही प्रभावित हुए।

सागरिका (अंक १) कहती है कि हमारे पिता के अंतःपुर में चित्रित कामदेव पूजा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि अंतःपुर में कामदेव का चित्र रखा एवं पूजा जाता था। इसके द्वितीय अंक में विदूषक एक महत्वपूर्ण बात कहता है – **आत्मा किल दुःखमालिख्य इति मम वचनं श्रुत्वा प्रियवयस्येनैतदालेख्यविज्ञानं दर्शितम्।** — अपना चित्र कठिनता से बनाया जा सकता है, क्योंकि दर्पण में देखकर यदि चित्र बनाते हैं तो उल्टा चित्र बनेगा। यह बात उस समय लोगों को ज्ञात थी। साथ ही, बारबार दर्पण में देखने और चित्रांकन करने से चित्र का त्रुटिपूर्ण होना स्वाभाविक है। **"आलेख्यविज्ञानं"** — अर्थात् चित्रकला में प्रवीणता और विधि–विधान आदि का विशिष्ट ज्ञान। इस नाटिका में चित्रकला की सामग्री चित्रफलक, वर्तिका आदि का भी उल्लेख है — **गृहीतसमुद्गकचित्रफलकवर्तिका।**

प्रियदर्शिका — श्री हर्षप्रणीत इस नाटिका के अंक २, ३ में चित्तसाला (चित्रशाला) का वर्णन है। चित्रशाला में भित्तिचित्र बने होते थे तथा उसमें नृत्य, नाट्यादि भी होते थे — **"निभृतेन चित्रशाला प्रविश्य मनोरमया सहास्मन्नृत्तं पश्यता त्वया स्थीयताम्।"**

भवभूतिकृत नाटक :—

उत्तररामचरित — भवभूति (८वीं शती) विरचित इस नाटक का प्रारंभ चित्रवीथी के दर्शन से होता है और उसके प्रथम अंक में उसी का विस्तृत विवरण है। इसमें चित्र (आलेख्य) दर्शन करती हुई सीता की भावना, आंतरिक प्रभाव, अनुभाव आदि का सुन्दर वर्णन है। राम ने सीता के मनोविनोद के लिए अपने जीवन की घटनाओं को चित्रवीथिका (चित्रशाला) की भित्ति पर लक्ष्मण के निरीक्षण में अर्जुन नामक कुशल चित्रकार से अंकित कराया था। चित्रकार का नाम सर्वप्रथम यहीं मिलता है। उस समय भारत में ऐसे चित्रकार थे जो बिना देखे, सुनने मात्र से ही ऐसी चित्रावली बनाने की क्षमता रखते थे। इस चित्रवीथी में मिथिला वृत्तान्त से लेकर सीता की अग्निपरीक्षा तक के दृश्य चित्रांकित थे। वनवास की इस चित्रावली को एक दिन जब लक्ष्मण सीता को दिखला

रहे थे तो सीता इतनी प्रभावित हुई कि उनकी इच्छा तमसा नदी में फिर से स्नान करने के लिए बलवती हो उठी थी। चित्रावली के अनेक प्रभावोत्पादक प्रसंगों को देखकर वे इतनी विह्वल हो गई थीं कि उन्हें बारम्बार मूर्छा आ जाती थी, कभी काँप उठती (कंपितास्मि), कभी भयभीत हो जाती थी (भीतास्मि), और कभी मनोहर दृश्यों को देखकर अत्यन्त मूर्छा होती थी। राम की भी अनेक बार ऐसी अवस्था हो रही थी। पंचवटी के पूर्वानुस्मृत विवाद के चित्रित दृश्य को देखकर सीता वियोग-भय से त्रस्त हो गईं तब राम उन्हें स्मरण दिलाते हैं "अयि, चित्रमेतत्" — यह चित्र है सत्य नहीं। सजीव सदृश इस चित्रावली को देखकर सीता को दोहद उत्पन्न हो गया और चित्रवीथी का बहुत देर तक अवलोकन करने से वह श्रांत हो गई थी। यहाँ "अयि चित्रमेतत्" साधारणीकरण के अर्थ में है। इसमें चित्रित नायकादि के दर्शन से उनके मानसिक व्यापार के साथ तादात्म्य हुआ है।

किसी चित्र को देखते समय चार बातें ध्यान में आती हैं — चित्र, चित्रकार, दर्शक और दर्शक पर उस चित्र का प्रभाव। इन्हीं को ध्यान में रखकर चित्ररचना की जाती है। चित्रकार की यह भाषा सर्वविदित होने के कारण चित्रकार के मनोभाव को दर्शक चित्र से सरलतापूर्वक ग्रहण करता है। उपर्युक्त वर्णन से यह तथ्य स्पष्ट प्रगट होता है।

दोहद — गर्भिणी की अभिलाषा को "दोहद" कहते हैं। यह गर्भ के द्वितीय मास से प्रारम्भ होता है। गर्भस्थ शिशु के सूक्ष्म हृदय और गर्भिणी के हृदय-तरंगों की युग्मावस्था के लिए "दोहद" शब्द का प्रयोग "सुश्रुत संहिता" (अध्याय ३) में किया गया है, वही दोहद शब्द से भी जाना जाता है। शब्दार्णव के अनुसार विभिन्न वृक्षों के अनायास, पुष्पित होने के लिए विभिन्न विधान हैं जो उन वृक्षों के दोहद कहलाते हैं। यथा सुंदरी के छूने से प्रियंगु, पान की पीक थूकने से मौलश्री, सुन्दरी के अलक्तक पाद-प्रहार से अशोक, देखने से तिलक, गाने से आम, नाचने से कचनारादि पुष्पित होते हैं। दोहद का अंकन भरहुत तथा मथुरा आदि की कुछ यक्षिणी मूर्तियों में भी मिलता है (चित्र १०)। दोहद का उल्लेख मालविकाग्निमित्र, रघुवंश, हर्षचरित, उत्तररामचरित, रत्नावली, विद्धशालभंजिका आदि संस्कृत ग्रंथों में मिलता है। वासुदेवशरण अग्रवाल, शिवराममूर्ति आदि विद्वानों ने अपने लेखों में दोहद का वर्णन किया है। प्राय यही अभिप्राय शालभंजिका, कदलीपरिरम्भ आदि के रूप में मध्यकालीन चित्रों में भी प्राप्त होता है।

मालती-माधव — भवभूति के इस नाटक के प्रथम अंक में नायक माधव और नायिका मालती द्वारा चित्रफलक पर एक दूसरे का चित्र अंकित करने का उल्लेख है। माधव ने चित्रफलक पर मालती का चित्र बनाकर, नीचे की ओर एक श्लोक लिख दिया था। मकरन्द कहता है — **कथमचिरेणैव निर्माय लिखितः श्लोकः** — आपने कितनी जल्दी चित्र निर्माण करके तत्संबंधी श्लोक लिख दिया। — दण्डी की भाँति भवभूति ने भी चित्र के नीचे श्लोक लिखने का वर्णन किया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय चित्र में तत्संबंधी श्लोक लिखने की परंपरा बहुत प्रचलित थी।

मालती से अवलोकिता कहती है — **ततस्तयोर्द्वेगविनोदनं माधवप्रतिच्छन्दकमभिलिखितं...।** विरहजन्य दुःख को हटाने के लिए और मनोविनोदार्थ दर्शन-हेतु चित्रित माधव की प्रतिकृति को लवंगिका ने मन्दारिका को दिया। यहाँ पर प्रतिच्छन्दक शब्द व्यक्ति-चित्र (पोर्ट्रेट) के लिए प्रयुक्त हुआ है। विरहविनोदन के लिए नायक, नायिका एक दूसरे का चित्र बनाते थे। ध्यान देने योग्य यह है कि वाल्मीकि, कालिदास, बाण आदि सातवीं शती तक के कवियों की रचनाओं में चित्रकला का वर्णन स्वानुभूति से किया गया है, विरह आदि का वर्णन नैसर्गिक, प्राकृतिक है। यही वर्णन आगे चलकर भवभूति, धनपाल आदि की रचनाओं में परम्परा बनकर रूढ़ हो गया है।

दुष्यन्त की भाँति माधव भी स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, अश्रु आदि सात्विक भाव के कारण चंचल अंगुलियों से बहुत देर में चित्र-लिखने में समर्थ होते है --- **बारबार तिरयति...किं करोमि ।** किन्तु मकरन्द उस चित्र को देखकर कहता है कि आपने अति शीघ्र चित्र बना लिया। अतः एक व्यक्ति हीनता बतलाता है दूसरा उत्कृष्टता, यह विरोधाभास है।

राघवन् ने **"सम संस्कृत टेक्स्ट आन पेंटिंग"** (पृ० ८९९) मे "प्रतिच्छंदक" का अर्थ वर्णक, हस्तलेख या रफ स्केच माना है, जो उचित नही प्रतीत होता। वस्तुत चित्र मे अंकित भाव बारंबार मन मे छंदित या झंकृत होने के कारण इसे प्रतिच्छदक कहते है, यह अर्थ समीचीन होगा।

कुट्टनीमतं काव्यम् ---कश्मीर के कवि दामोदरगुप्त (८वी शती) द्वारा लिखा गया यह वेश्याओ का शिक्षा-ग्रथ है। इसमें आलेख्य को बहुत प्रमुखता दी गई है और कहा गया है --- **आलेख्यादौ व्यसनं वैदग्ध्यख्यातये न तु विनोदाय** ।। ३०६ ।। --- विदुषी कहे जाने की अभिलाषा से वार-वनितायें भले ही चित्रकर्म में प्रवृत्त हो सकती है किन्तु यदि वे किसी के प्रेम में विरह-विनोदन या मनोरंजन के लिए चित्र बनाये तो उनके लिए यह वर्जित है। दामोदरगुप्त का यह भाव, चित्रकला के प्रति तत्कालीन लोकविश्वासों की पवित्रता का द्योतक है।

अच्छे व्यक्ति मे क्या-क्या गुण होना चाहिये यह सब लोगो को विदित था। इसमे चित्रण, सगीतादि कलायें प्रमुख थी, (श्लोक १२३), जिनके ज्ञाता गुणी समझे जाते थे। वृष जाति के लोग व्यावहारिक कार्य-कलापो मे कुशल होने के साथ ही चित्रकला आदि मे भी निपुण होते थे --- **चित्रादिकलाकुशलः स्मरशास्त्रविचक्षणो वृषप्रकृतिः** ।। ५३४ ।। इसमे वत्सराज का चित्र अंकित करती हुई मजरी नामक नायिका की काम दशा मे कम्प, रोमाञ्च, स्वेद आदि का वर्णन रूढिगत है ---

वत्सपतिमालिखन्ती कामावस्थां क्रमेण भजमाना ।
वेपथुपुलकस्वेदैरावहति विसंष्ठुलं हस्तम् ।। ८०७ ।।

इसमें कहा है --- **दर्शयितुं निजशिल्पं वर्णकमिव विश्वकर्मणा विहितम्** ।। १७६ ।। प्रतिनिधि वर्णक (चित्रकार) सदृश विश्वकर्मा ने अपना शिल्प कौशल नगरादि शिल्पकला का निर्माण करके ब्रह्मा को दिखलाया था, यह सर्वविदित है।

इसमे शिल्पजीवियो (कलाकार) के ढीठ होने का उल्लेख है --- **अभ्यधिकं धृष्टत्वं प्रायेण हि शिल्पजीविनो भवति** ।। ८७७ ।। – तथा समरभट के पास नाना प्रकार की चित्रित ढाल होने का वर्णन है --- **विविधविलेपनखरदित-चक्रकवरखंगधारिणाशून्यः** ।। ७५७ ।। अजता (याजदानी, फलक ३८) के चित्रों में चित्रित ढाल लिए हुए व्यक्तियो का अकन अनेक चित्रो में है। इन ढालो पर प्राय दानव चेहरे अंकित है।

यूनान में सचित्र मृण्मयी पात्रों पर बने योद्धाओ के हाथ मे भी चित्रित ढालो को लिए दिखाया है। भारत और यूनान का घनिष्ठ संबध प्राचीन काल से ही था। सभवतः यह प्रभाव वहाँ से भारत आया हो।

विद्धशालभंजिका --- राजशेखर (१०वीं शती) कृत इस नाटिका के प्रथम अंक मे राजा कहता है ---

आलिखितामिव चेतः फलकतलेऽस्मिन् विकल्पवर्तिकया ।
बालां स्मरचित्रगतां विलोक्य ...... ।। १।१६ ।।

कामदेव रूपी चित्रकार ने चित्रलिखित सी मनवाली उस बाला को देखकर उसके हृदयरूपी चित्रपट पर संकल्प विकल्प रूपी तूलिका से (राजा का) चित्र अंकित कर दिया। यह कथन भी रूढ़ हो गया है।

इस नाटिका से ज्ञात होता है कि अन्तर्गृह (रंगनगृह) में भित्तिचित्र पर राजा–रानी ताम्बूल–करङ्क धारिणी (ताम्बूल की पिटारी लिए हुए), चंवर डुलाने वाली प्रसाधिका, क्रीडा–मण्डप के वामन मर्कट (बंदर या रतिबद्ध युगल) आदि चित्रित किये जाते थे। स्नानागार में भी चित्र बने होते थे। इसके लिए 'अभिषेकचित्र-शालिका' कहा गया है।

स्नानागार एवं शयनकक्ष में भित्तिचित्र आजकल भी पुरानी रियासतों और प्रासादों में बने मिलते हैं। जैसे -- भूतपूर्व काशी नरेश प्रभुनारायण सिंह तथा ग्वालियर की महारानी के स्नानगृह में भी भित्तिचित्र बने देखे जा सकते हैं। स्नानगृह में जल–क्रीडा सम्बन्धी तथा नग्न आकृतियां भी प्रायः बनाई जाती थीं। उदयपुर की पूर्व महारानी के शयनकक्ष में भित्तिचित्र बने थे। शयनगृह में पति–पत्नी के युगल चित्र अधिक होते थे। शिल्पसूत्र में भी कहा है कि घर में शृंगार, हास्य और शान्त रस के चित्र लगाने चाहिये, जिसकी परम्परा अभी भी चली आ रही है।

विद्धशालभंजिका नाटिका में विदूषक कहता है **इतो देवी मज्जनमण्डपिकायै गृहे सपरिवारालिखिता।** -- यहां स्नानागार में देवी परिजन सहित चित्रित की गई है। यहां चित्रशाला के लिए चित्रशाली शब्द आया है -- **तदेहि चित्रशालिकामधितिष्ठावः।** राजा किसी स्त्री की चित्रशाला में ... जहां **वपुः श्रीलिखितुर्जनस्य...चित्र.. प्रौरंभ्रमवंमि कर्म रेखानिवेशोऽत्र चकार ॥ १।२५ ॥** ... को किसी मृगहिणी ने अधिक अभ्यास के कारण रेखाओं का ... ।

कर्पूरमंजरी (१।२६) नाटिका में राजशेखर ने 'चित्राभित्तिनिवेदः' अर्थात् चित्रित स्मर की दीवार कहा है जिसे देखकर वासुदेव चित्त–सभा के अर्थ में "चित्त–गृह" कहते हैं। काव्य–मीमांसा (अलंकार शास्त्र) में राजशेखर 'चित्र–लेप्यकृत' की तुलना अपभ्रंश भाषा के कवियों से की है और बालभारतम् (महाभारत कथा) में "नियंद्वासर ..." में रंगमिश्रण का वर्णन किया है।

तिलकमंजली धनपाल (११वीं शती) कृत इस ग्रन्थ में चित्रकला की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। इसमें चित्रकला सम्बन्धी कई पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जैसे -- (१) निपुण चित्रकार (चित्राचार्य–माल-विका०), (२) चित्रपट, (३) प्रतिबिम्ब चित्र (विद्धचित्र, प्रतिकृतिचित्र, सादृश्यचित्र, प्रतिच्छंदक), (४) चित्रशालिका, (चित्रशाली; चित्र भित्तियों से युक्त शयनगृह), (५) आलिखित (चित्रित), (६) शारीकृत (चित्रीकृत), (७) चित्रकर और (८) चित्रविद्योपाध्याय (चित्रकला के शिक्षक) आदि। तिलकमंजरी में गंधर्वक नामक एक युवक चित्रकार द्वारा निर्मित लम्बे चित्रपट का वर्णन है -- **प्रकृष्ट चीन कर्पटप्रसेविकाया सयत्न-माकृष्य चित्रपटम्** -- (पृ० १६५)। लम्बे चित्रपटों या कुण्डलित पटों की सुरक्षा के लिए चीन देश के बने रेशमी वस्त्र (चीनांशुक) के आवरण में लपेटकर रखा जाता था और उसमें से बहुत सम्भालकर निकाला जाता था। इस चित्रपट पर चित्रित किसी राजकुमारी की आकृति का सुन्दर ढंग, रंगों का यथोचित प्रयोग, शरीर के निम्नोन्नत भागों का आकर्षक अंकन और सजीव से दिखाई देने वाले पक्षी तथा मृग आदि, सभी कुछ सुन्दर संयोजन बन पड़े हैं। इस सरस, सुन्दर चित्र का रसास्वादन नागरिक करते थे -- **पीतमतिचिरं कर्णामृतम्, ईक्षणामृतं... आस्वाद्य-ताम्।** चित्रकलाभिज्ञ कुशल नागरिक चित्र को देखकर उसमें अंकित नारी–सौंदर्य पर विचार–विमर्श करते थे और उसमें चित्रकला के रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्यादि 'षडंग' में स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर चित्र के गुण–दोषों की आलोचना करते थे। धनपाल ने इसमें चित्र के छाया–प्रकाश (वर्तना) का सुन्दर वर्णन करके अपनी कला विचक्षणता दिखलाई है -- **राजन्योतिरिव** ... प्र

निम्नोन्नतविभागा । "रूपातिशय" के समान कई शब्दों का प्रयोग यहां किया है—रूपातिशयशालिनी, निर्यत्नचारुणि रूपलव, चारुत्वतत्व (सौंदर्य–तत्व) आदि। रूपलव में लव अर्थात् लपट या घनिष्ठता। रूपलव अर्थात् चित्रित रूप में लावण्य की घनिष्ठता। चित्र में लावण्य दिखाना अति कठिन है। धनपाल ने इसमें वर्णन किया है, कि वारा-गनाये (वेश्याये) चित्र–प्रतियोगिताओं में अपना कौशल दिखलाती थी – **उपदर्शितबहुविकल्पचित्रशिल्पेन** — (तृ० भा० पृ० १६), इसमें दुष्यत की भांति एकाग्र होकर बार–बार दोषपूर्ण रेखाकन को मिटा कर ठीक करने का भी उल्लेख है।

नैषधचरित :—इस महाकाव्य में श्रीहर्ष (१२वी शती) ने (७।७२, २१।६६ में) 'हस्तलेख' (सभवत भावचित्र) का वर्णन किया है। इसमे नल तथा दमयती के भवनो में भित्तिचित्र बने होने का उल्लेख है (१।३८, १८।१९, ७।९८) जिसमे अनेक स्थायी रगों के प्रयोगो का वर्णन है — **स्थितिशालिसमस्तवर्णता**। कल्पवल्ली या पत्रलता का भी चित्रण इनमें है। भित्ति पर अनेक ऐतिहासिक आख्यान चित्रित है जैसे मेनका आदि अनेक अप्सराओ पर कामासक्त ऋषि–मुनियों को दर्शाया गया है (१८।२५)। चित्रपट पर प्रतिकृति–चित्रो का भी वर्णन है।

प्रसन्नराघव —जयदेवकृत (१३ वी शती) इस नाटक में चित्रकला का उल्लेख भास तथा कालिदास की परपरा मे ही मिलता है। चित्र से चित्त (हृदय, मन) का विनोद, मन–रजन किया जाता था — **चित्तविनोदन चित्रम्**। --- इसके प्रथम अक में नूपुरक तथा मंजीरक नामक वदीजन वार्तालाप में कहते हैं कि अन्त पुर के लोग किसी स्त्री के हाथ से लेकर कुछ देख रहे हैं। अनुमान से नूपुरक कहता है कि वे लोग चित्रपट देख रहे हैं। उस चित्रपट मे सीता और शिवधनु पर प्रत्यचा चढाये हुए राम अकित है। नूपुरक कहता है कि यह चित्र ऋषि याज्ञ-वल्क्य की द्वितीय धर्मपत्नी द्वारा बनाया गया है। देवी मैत्रेयी त्रिकालदर्शिनी और सिद्धयोगिनी हैं। उन्होंने जो कुछ अकित किया है वह मिथ्या नहीं हो सकता। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय ऋषिपत्नियां भी चित्रकला म प्रवीण होती थी।

इसके सप्तम अक मे वर्णन है कि सीता के विरह से विह्वलहृदय रावण के मनोविनोद के लिए करालक किसी चित्रकार द्वारा बनाये गये चित्र को दिखलाता है। उस चित्रपट मे भविष्य की सभी घटनाये चित्रित है। लका सम्बन्धी घटनाओ को देखकर रावण कहता है कि चित्रकार ने चातुरी से मिथ्या को भी सत्य के समान प्रदर्शित किया है।

गीतगोविन्द :---जयदेवकृत गीतगोविन्द काव्य मे चित्रकला के उल्लेख स्पष्टत नही है, किन्तु इसमें वसन्त ऋतु मे राधा–कृष्ण प्रेम की निर्झरणी इस प्रकार प्रवाहित की गई है कि वह वर्णन सचित्र–सा प्रतीत होता है, जिस पर अट्ठारहवी शती के पहाड़ी चित्रकारो ने अनेक चित्रावली तैयार की है। वस्तुत शृगार रस की स्रोतस्विनी कालिदास के मेघदूत के पश्चात् – जयदेव के गीतगोविन्द मे ही देखने को मिलती है।

जयदेव ने इसमें शृंगार – वर्णन मे कस्तूरी से राधा के स्तनो पर पत्रचित्र रचना करने का वर्णन कई स्थानों पर किया है, यथा — "**कुचयो कस्तूरिकापत्रकम्**" (११।३), '**मृगमदपत्रकम्**' (१२।१)। राधा प्रगाढ प्रेम में वशीभूत होकर कृष्ण मे अपने स्तनों एवं कपोलों पर पत्रलता चित्राकन करने को कहती है — '**रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयो**' (१२।१)। शरीर पर पत्रचित्र बनाने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है।

सूर्यशतक मे मयूर ने अस्त होते सूर्य की किरणों की उपमा एक चित्रकार की तूलिका से दी है जो जगत-चित्र को उन्मीलित कर रहा है — '**जगच्चित्रम् उन्मीलयन्ती**।' इसमे चित्रकार द्वारा निर्मित रगो की अपेक्षा प्रकृति के

चार (४) रंगों का वर्णन है — पाण्डु, तिमिर (काला), पित (पीला) और शोण (लाल) । कृष्णमिश्र कृत प्रबोधचन्द्रोदय मे मोह कहता है कि तुम्हारा चित्र मेरे हृदय-भित्ति पर चित्रित हो गया है । बिल्हणकृत कर्णसुन्दरी नाटिका मे कर्णाट की राजकुमारी को त्रैलोक्यमल्ल के प्रति, उसका चित्र देखने से प्रेमानुराग होने का उल्लेख है। अमरचन्द्रसूरि कृत बालभारतम् मे मषीकूर्चक — अर्थात् काला रंग करने की कूची या ब्रश कहा है और इसके तृतीय सर्ग मे अश्व के वेग की उपमा चित्रकार से देते हैं — जिस प्रकार चित्रकार अपनी चित्रकृति को क्षण भर में ही तूलिका से चमत्कृत कर देता है उसी प्रकार यह अश्व अपने वेग से सबको चमत्कृत कर रहा है **'चित्रकारिणामपि क्षणं चित्रकृतौ चमत्कृतिः ।'**

यशस्तिलकचम्पू (पृ० २४७) में सोमेश्वर ने कुछ नवीन पारिभाषिक शब्दों का भी किया है, जैसे— रेखामयीमूर्ति (रेखांकित चित्र), सरेखमणु (सुन्दर रेखाकन, फाइन लाइन वर्क), परभाग (दूर का भाग या पृष्ठभूमि), शिति (काला, श्याम), निपथ्या (माला) । उन्होंने मानव तथा पशु के शरीर पर शंख, स्वस्तिक चक्र आदि से युक्त पत्रलता—लेखन भूति अर्थात् भस्म या चूर्ण रंग से करने का उल्लेख किया है ।

नलचम्पू मे महाकवि त्रिविक्रमभट्ट (१०वीं शती) ने प्रवर्षिधाराधारागृह कहा है अर्थात् धारागृह (फौव्वारा लगे स्नानागार) में चित्र का वर्णन मिलता है । भित्तिचित्र पर कज्जल से चित्रांकन (रेखांकन) करते थे—**"कज्जलालेख्यचित्र...भवनभित्तिषु ।"**

नलचम्पू में राजा नल के गुणों की प्रशंसा शलाका द्वारा चित्रित भित्ति से करते हुए वे कहते हैं - **'यैः सर्वत्र शलाकयेव लिखितैर्दिग्भित्तयश्चित्रिताः'** (१।३५) — नल के गुणों से दिशा रूपी भित्तियां इस तरह खिल उठीं जैसे शलाका (क्रेआन पेंसिल) से चित्रकार ने किसी भित्ति पर चित्र खींचा हो । ... उस समय ग्रामीण स्त्रियां भी चित्रकला में निपुण होती थीं । **"मण्डयन्तो मसृणमुक्ताफलक्षोदरंगावलीभिः प्रांगणानि"** (पृ० ११७) - अर्थात् — मोती के महीन चूर्ण से रंगावली द्वारा प्रांगण को सजा दो । यह रंगावली (भूमिचित्र) स्त्रियां बना रही थीं ।

गुणाढ्य की "बृहत्कथा" पर आधारित क्षेमेन्द्र की "बृहत्कथामञ्जरी" तथा सोमदेव के "कथासरित्सागर" की अनेक कथाओ मे चित्रकला की चर्चा आई है । उदयन — कुमार नरवाहनदत्त, चित्रकार कुमारदत्त, परिव्राजिका कात्यायनी चित्रकला मे निपुण थी । चित्रकारों का आदर होता था, सामंतों के समान जीविकोपार्जन के लिए उन्हें जागीर मिलती थी । प्रतिकृति चित्र बनाये जाते थे । जैन क्षेमकर मुनि (१८वीं शती) रचित 'विक्रमचरित' मे चण्डिका के मंदिर में सैकड़ों चित्रपट बने होने का उल्लेख है । 'पृथ्वीचन्द्रचरित' (१५वीं शती) में महल में चित्रशाला (चित्रसाली) का उल्लेख है ।

काव्य-प्रकाश — इसके प्रथम उल्लास मे मम्मट (११वीं शती) ने शब्द-चित्र, वाच्य-चित्र मे इंगित, व्यंग्य को महत्त्व दिया है । बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने (अध्याय ५६) चित्रकर्म पर भी प्रकाश डाला है । "शुक्रनीति" में शुक्राचार्य ने (४।८४, ४।७५) में चित्र का उल्लेख किया है और (४।१५३ में) कहा है कि क्षणिक चित्रों मे आकृति (यथारुचि) अर्थात् स्वेच्छा से बनाई जा सकती है । उसमे शास्त्रोक्त लक्षण का अभाव होने पर भी दोष नही होता ।

प्राचीन कोशो मे भी चित्रकला—सम्बन्धी सामग्री वर्णित है । नानार्थार्णवसंक्षेप कोश में चित्रकार की तूलिका को वर्तिका कहा है । मेदिनी कोश में चित्रकार को वर्णाट् कहा है । वर्णाट् अर्थात् जो अनेक रंगों के विश्लेषण मे निपुण हो ।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति — इसके (३।१।१३) में वामन (८वी शती) ने चित्र के रेखा की प्रशंसा मे कहा है कि वैदर्भी, गौडी, पाचाली काव्य–रीति उसी तरह प्रतिष्ठित है जिस प्रकार रेखाओं के बीच चित्र प्रतिष्ठित होता है। इसमे (३।१।२५) चित्रकला के मुख्य तत्व रेखा की प्रशसा मे कहा है — '**यथा हि (वि) च्छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः ।** — चतुर और निपुण चित्रकारो के द्वारा कुशलतापूर्वक रेखा खीची जाती है। कान्तिहीन रचना पुराने चित्र के समान होती है — **औज्ज्वलं कान्तिरित्याहुर्गुणं...पुराणचित्रस्थानीयं** . ।।३।१।२५।। ।

उज्ज्वलनीलमणि .— इसमे रूपगोस्वामी (१५वीं शती) ने श्यामाराग, रक्तिमा, कुसुम्भराग, मजिष्ठाराग इत्यादि रंगों का वर्णन किया है।

सरस्वतीकंठाभरण — इसमे भोज ने चित्र की रेखा को तुलना काव्य के रीति गुण से की है — **यथा चित्रस्य लेखा उत्तुंगप्रत्यंगलावण्यौन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तर.** । एक अन्य आलकारिक राजानक कुन्तक 'वक्रोक्तिजीवितम्' (अध्याय ३) मे कवि के वाक्–कौशल की उपमा मनोहर चित्र से देते है — **मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रिय पृथक् । चित्रस्येव मनोहारि कर्तुं किमपि कौशलम् ।।** कुन्तक ने चित्रशास्त्रों मे वर्णित सिद्धान्तों की एक साथ अवतारणा करते हुए चित्राधार, फलक, भित्ति, वर्तना–सिद्धात रेखादि तथा वर्ण विन्यास के छाया, कांति औज्ज्वल्य आदि गुणों का भी उल्लेख किया है, यथा —

''**फलकमालेख्याधारभूतां भित्तिः, उल्लेखः चित्रसूत्रप्रमाणोपपन्नं रेखाविन्यासमात्रं वर्णा रञ्जकद्रव्यविशेषाः, छाया कान्तिः । तदिदमत्र तात्पर्यः** – यथा **चित्रस्य किमपि फलकाद्युपकरणकलापव्यतिरेकि सकलप्रकृतपदार्थजीवितायमानं चित्रकारकौशलं पृथक्त्वेन मुख्यतयोद्भासते**'' (पृ० १५४) ।

सस्कृत - साहित्य मे इस प्रकार चित्रकला के अत्यधिक उल्लेख हैं। इनके अतिरिक्त पालि एव प्राकृत भाषा के बौद्ध तथा जैन साहित्य में भी चित्रकला की बहुश. चर्चा पाई जाती है जो स्वतंत्र ग्रथ मे वर्णित किये जायेंगे। यहाँ उसका स्वल्प वर्णन है। कुमार स्वामी ने ''वन हण्ड्रेड रेफरेंसेस टु पेंटिंग'' तथा ''फर्दर रेफरेंसेस टु पेंटिंग इन इंडिया'' में पालि-प्राकृत ग्रंथो मे वर्णित चित्रकला के उल्लेखों का वर्णन किया है।

पालि-प्राकृत ग्रन्थों में चित्रकला .— इन ग्रन्थो से भी विदित होता है कि चित्रकला समाज के प्राय सभी वर्गों के मनोरंजन का प्रबल माध्यम थी। जातक कथाओ मे चित्रकला के उल्लेखो के साथ ही, उन कथाओ पर अजंता के भित्तिचित्र भी बने है। पालि मे ५४७ जातक कथाये है जिनमे बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथाये हैं। ''थेर-थेरीगाथा'' में लिखा है कि राजा बिम्बिसार ने राजा तिस्स को बुद्ध की जीवनी का एक चित्रफलक भेंटस्वरूप दिया था। ''महावंश'' मे है कि राजा ज्येष्ठतिष्य स्वयं अच्छे चित्रकार थे, इसलिए उन्होंने अपने राज्य मे चित्रविद्या (सिप्प) की शिक्षा के लिए विशेष प्रबंध किया था। ''विनयपिटक'' (५।६।३६) के सदर्भ में कोसल-नरेश राजा प्रसेनजित की चित्रशाला (चित्तागार) का इतिहास सर्वविदित है। विनयपिटक (पृ०५५) तथा ''आचारांगसूत्र'' (२।२।३।१३) मे बौद्ध भिक्षुणियों, जैन साधुओं और ब्रह्मचारियो को चित्रशालाओं मे जाने तथा वहा ठहरने का निषेध था। ''संयुत्त-निकाय'' मे विद्ध-चित्रों का वर्णन है जिनसे अनेक प्रतिकृतिया सहज ही बनाई जाती थी। ''मिलिन्दप्रश्न'' मे कहा गया है कि दान के समय चित्र नही दिये जाने चाहिये। प्राकृत भाषा की कथाओं ''सुर सुन्दरी कथा'' (११वी शती) और जैन ग्रंथ ''तरंगवती'' में भी चित्रोल्लेख है। तरंगवती में नायिका तरगवती द्वारा घर मे एक बृहद् चित्र-प्रदर्शनी के आयोजन करने का प्रसग है। ''त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित'' से विदित होता है कि भित्तिचित्रों से सुसज्जित राज दरबारों मे चित्रकारों की सभा होती थी। ''नायाधम्मकहाओ'' (१।८।८७) मे भी इसका वर्णन है। प्रश्नव्याकरण

सूत्र (२।५।१६) मे सचित्त (मानव, पशु-पक्षी) अचित्त (नदी, पर्वत आकाश आदि) और मिश्र, (संयुक्त) – इन तीनो श्रेणियो के चित्रो की चर्चा है । जैन ग्रथो मे अल्पना (रगोली) का भी उल्लेख है । "दिव्यावदान" (पृ० ५४७) में कपडे पर बुद्ध का चित्र बनाने की, तथा (पृ० ३०१) मे सुदर्शन के नगर मे यक्ष और देवताओ के चित्र आरक्षण तथा शोभनार्थ बनाये जाने की चर्चा है । उसमे यह भी लिखा है कि एक द्वारकोष्ठक की छत मे भवचक्र का चित्र अंकित है । अजता, गुफा १७, के बाहरी बरामदे की बायी ओर की भित्ति पर सम्भवत भवचक्र का एक विशाल चित्र का अंकन है ।

"मञ्जुश्रीमूलकल्प" में "पट-चित्र" बनाने का विधान दिया है कि पटचित्र स्वच्छ श्वेत सूती कपड़ पर बनाते है, जिसके दोनो ओर किनारिया हो । शुभ दिन मे कुशासन पर बैठकर, पूर्वाभिमुख होकर एकाग्रचित्त से बुद्ध या बोधिसत्व का ध्यान करके, सुन्दर वर्तिका से चित्र-रचना प्रारभ करनी चाहिये । पटचित्र सूर्योदय से दोपहर तक केवल बनाना चाहिये । जिस पर रेशे न हो ऐसे पट या वृक्ष-काष्ठ पर चित्र बनाना चाहिये ।

अट्ठशालिनी (पृ० ६४) मे चित्रपट (समपट्ट) का वर्णन है । साथ ही उसके विधि-विधान के लिए लेखा, गहण (हाथ बैठना), रंजन (रगामेजी), उज्जोतन वत्तन (वर्तना), रग इत्यादि शब्द भी दिये है ।

इनके अतिरिक्त भी इस ग्रथ के अन्य अध्यायो मे विषयानुसार सस्कृत साहित्य मे चित्रकला के उल्लेख यत्र-तत्र किये गये हैं । इस प्रकार इन विशाल साहित्यो का जितना अधिक मन्थन करते है उससे मे उतने अधिक चित्रकला सबंधी उल्लेख प्राप्त होते है ।

२

चित्रकला की उत्पत्ति, उद्देश्य एवं व्याप्ति

मानव जब अपने हृदय की भावना से अथवा स्वाभाविक आनन्द से प्रेरित होकर अपने हृदयगत भावो को प्रगट करना चाहता है, तभी वह कला का आश्रय लेता है। कला की उत्पत्ति, आनन्द एव अंतःप्रेरणा से है, और उस आनन्दानुभूति का बाह्य रूप सौंदर्य है। इसीलिए कलाकार सौन्दर्योपासक होते है। प्राकृतिक सौन्दर्य मे आनन्द एव स्वच्छ भाव एक साथ अभिव्यक्त होते है। जहा पर मानव हृदय के भावो का अकुण्ठित रूप से साम्यमय प्रकाशन होता है, वहीं कला आ जाती है। जब आत्मा आनन्द-विभोर होकर अपने को छन्दोमय और लीन कर लेता है — 'छन्दोमयमात्मानं कुरुते' (ऐतरेय ब्राह्मण) तब अपने आनन्द को बाहर भी प्रकट करना चाहता है, तभी कला की उत्पत्ति होती है।

चित्रकला की उत्पत्ति संबंधी मूलतः तीन कथायें प्रचलित है – (१) नरनारायण की (विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अध्याय ३५ मे), (२) नग्नजित् की (चित्रलक्षण मे), और (३) उषा-अनिरूद्ध की (महाभारत तथा भागवत मे; परिशिष्ट — क)। वस्तुतः पौराणिक कथाये प्रायः लोकश्रुतिया हैं, जिनके वास्तविक आधार का पता नही है। किन्तु भारतीय संस्कृति मे उनका निजस्व तो है ही। अतएव उक्त कथाओ का यत्र-तत्र उल्लेख भी साहित्य मे प्राप्त होता है।

नृत्त और चित्र :—विष्णुधर्मोत्तर अध्याय ३५ मे चित्र-जन्म के सबध मे एक बडा ही विलक्षण प्रवचन हैं जिसमे चित्रकला और मूर्तिकला की उत्पत्ति का संबंध नृत्त[1] से माना गया है। मार्कण्डेय वज्र से कहते है कि बिना-नृत्त-शास्त्र के चित्रसूत्र समझना अत्यन्त कठिन है — **'विना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्। जगतोऽनुक्रिया कार्या द्वयोरपि यतो नृप ।। ४ ।।** नृत्तकला की तरह चित्रकला मे भी त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। चितवन, भाव और अग-प्रत्यगो का सब प्रकार मे दोनो मे साम्य है —

> "यथा नृते (नृत्ये) तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।
> दृष्टमस्तु तथा भावा अगोपाङ्गानि सर्वशः ।।" — वि० ध०, ३५।५–६ ।।

वी० राघवन् ने भी अपने लेख "सम संस्कृत टेक्स्ट आन पेंटिंग"[2] मे यही माना है। रायकृष्णदास नृत्त अर्थात् नाट्य के विषय में कहते है कि – बिना नृत्त के हाव-भाव एव अंग-भगी को समझे हुए चित्रो का समुचित अकन एवं प्रेक्षण असम्भव है। नट (अभिनेता, पात्र) अपने नृत्त में जो अभिव्यक्ति उक्त आगिक विकारो द्वारा करता है उसी को दृश्य-कलाओ का निर्माता अपनी कृति मे स्थायित्व प्रदान करता है। अतएव ऐसा निर्माता जब तक नृत्त के तत्वो के ज्ञान में निपुण न होगा तब तक अपनी सृष्टि मे कैसे सफल होगा। इसी प्रकार जब तक उसके दर्शक को वे तत्व

---

१ — "नृत्त" का अर्थ नाट्य या नृत्य की चर्चा के लिए देखिये कपिला वात्स्यायन का 'क्लासिकल इंडियन डान्स इन लिट्रेचर एण्ड दि आर्ट्स"। — संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली, १९६८, पृ० १९।

२ — इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टली, भाग ९, १९३३।

ज्ञात न होंगे, तब तक वह चित्रादि को कैसे समझ सकेगा। न तो वह उनके भाव तक पहुँचेगा, न आंगिक विकारों की स्वाभाविकता को ही निरख सकेगा।[1]

चित्र में ब्रह्मा के समान मानव वास्तविकता नहीं उत्पन्न कर सकता, प्राण-संचार नहीं कर सकता, किन्तु अनुकृति या प्रतिकृति अवश्य ला सकता है। वह अनुकृति यथार्थ के अत्यधिक निकट हो सकती है। विधाता ने संपूर्ण सृष्टि की एक प्रकार से चित्र-रूप में ही रचना की है, किन्तु मानव उक्त सृष्टि की अनुकृति मात्र में भी पूर्णता नहीं प्राप्त कर सका, क्योंकि 'चित्रसूत्र' (२।४-९) में कहा गया है कि सभी कलायें परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। मूर्तिकला चित्रकला पर, चित्रकला नृत्त पर, नृत्त वाद्य पर, वाद्य गीत पर आश्रित है। अतः जो व्यक्ति इन सभी कलाओं को जानता है वही चित्र, मूर्ति, कला में प्रवीण हो सकता है। यहां पर नृत्त के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। प्रियबाला शाह, स्टेला क्रैमरिश इत्यादि विद्वानों ने नृत्त का अर्थ नृत्य मानकर और संगीत, वाद्य एवं नृत्य का पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार किया है। चित्र में नृत्य की भांति ही मुद्राओं का अंकन होता है। किन्तु कुछ विद्वान् नृत्त का अर्थ नाट्य मानते हैं। यह चित्र नृत्य से भी श्रेष्ठ है क्योंकि चित्र सच्चिदानन्द की प्राप्ति कराके मोक्ष प्रदान करता है। अतः निःसन्देह चित्र नृत्त से श्रेष्ठतर है।

चित्र भी नृत्य अथवा नाट्य (नृत्त)[2] के समान दृश्य वस्तु है। चित्रकला और नृत्त के इस पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध में वास्तविक रहस्य यह है कि जिस प्रकार नृत्य या नाट्य में हस्त-मुद्राओं से हम अपने समस्त भावों को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार चित्रकार अपने हस्त-कौशल से चित्र में समस्त भावों की कथा को हस्तमुद्राओं एवं मुख-मुद्राओं के द्वारा प्रकट कर देता है। 'विष्णुधर्मोत्तर' (३५।७) में नृत्त को परम चित्र माना गया है,[3] अर्थात् नृत्त और चित्र दोनों के विषय समान हैं। कुशल चित्रकारों की चित्रकला को देखकर चित्र की चेतना प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेती है।

'प्रमाण' अर्थात् नाप और अनुपात, जिसका नृत्त-अध्यायों में वर्णन नहीं है, किन्तु चित्र में प्रमाण आवश्यक है उसका वर्णन 'चित्रसूत्र', अध्याय ३५ में है। स्टेला क्रैमरिश इसका (वि० ध०. ३५।७ द्वितीय पंक्ति का) अर्थ यह लिखती हैं—' Hence I am going to speak about that by which measurement in dancing was said (to be regulated)'' यह अर्थ सर्वथा[4] अशुद्ध है। नृत्य में शारीरिक प्रमाण - हंस, मालव्य आदि शरीर का नाप और अनुपात का प्रश्न ही नहीं उठता। नृत्य में हस्तमुद्रा, ताल और लय ही प्रधान है, शारीरिक माप नहीं।

१—रायकृष्णदास, ''भारत की चित्रकला'' लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पृ० २४-२५।

२—नृत्य और नृत्त में बहुत अंतर है। 'नृत्य' नाचने को कहते हैं और 'नृत्त' सुसंस्कृत अभिनय को।

परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञै कथितं नृप।
तस्या संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोभाविवर्धनम्॥ —वि० ध०, ३।२०।१।

३—'कराश्च ये मता (महा) नृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥ ६॥
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम्।
नृत्ते प्रमाणं यन्नोक्त तत्प्रवक्ष्याम्यतः शृणु' ॥ ७॥—वि० ध०, ३५।६-७॥

अर्थात् - ''नृत्त'' में प्रमाण को कह चुके है अतः अब उसे नहीं कहेंगे। नृत्त और चित्र की मुद्रायें एक समान हैं। उसे सब लोग जानते हैं, अतः बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

४—स्टेला क्रैमरिश, विष्णुधर्मोत्तर; कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२८, पृ० ३५।

चित्र और मूर्ति के आकार-निर्माण में नाप और अनुपात का विशेष महत्व है जैसे संगीत और नृत्य मे ताल और लय का। हस्त-मुद्रा और प्रमाण से युक्त चित्र, कलाकार की कल्पना, अनुभव एवं उसकी भाव-प्रकाशन क्षमता अर्थात् कौशल, ये सब मिलकर चित्र की उत्पत्ति मे सहायक होते है।

चित्रकला का विकास एवं धार्मिक, सामाजिक स्थिति

प्राचीन काल से ही भारतीय नागरिको के जीवन मे चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान था। नगरो के विकास के साथ-साथ कलाओं का भी विकास हुआ। चित्रकला नगर की शोभा तो थी ही, नागरिको की पोषिका और मनो-रंजन का साधन भी थी। जीवन मे प्रगति लाना कला का धर्म था। पूजा-पाठ विषयक धार्मिक कृत्यो से सम्बद्ध चित्र भी बनाये जाते थे।

'कुट्टनीमतं काव्यम्' में दामोदर गुप्त ने कहा है कि विदुषी कहे जाने की अभिलाषा से चित्र के गुण-दोष को अच्छी तरह जानने या होने के लिए वार-वनितायें (वेश्यायें) भले ही चित्रकर्म मे प्रवृत्त हो सकती है किन्तु यदि प्रेमी-प्रेमिका का चित्र मनोरंजन या मनोविनोद के लिए बनाये तो उनके लिए यह वर्जित है क्योंकि उनको अपने अतिथियो को आकर्षित करना था। दामोदर गुप्त का यह भाव, चित्रकला के प्रति तत्कालीन लोक-विश्वासों की पवित्रता का द्योतक है। इससे उस समय की सामाजिक स्थिति का बोध होता है। — **'आलेख्यादौ व्यसनं वैदग्ध्यख्यातये न तु विनोदाय'** ॥ ३६ ॥ – अर्थात् चित्र आदि कलाओं का शौक अपनी निपुणता (विदग्धता) प्रकट करने के निमित्त वे करती थी, मन बहलाने के लिए नही।

ललितकला (वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य कला) मे निपुणता की गणना सभ्य नागरिक के लक्षणो मे होती थी। वात्स्यायन ने कामसूत्र (३०२।१२) मे कला के क्षेत्र मे प्रत्येक नागरिक का दक्ष होना आवश्यक माना है — **'विविधशिल्पज्ञो**। उच्च कुल की महिलायें बहुधा कला-प्रवीणा होती थी। 'ललितविस्तर' (पृ. १४४) से विदित होता है कि राजकन्या गोपा, कला मे बहुत निपुण थी। इस प्रकार की कुमारियो का विवाह प्राय. समान योग्यता वाले वर के साथ किया जाता था। गोपा के विवाह के अवसर पर उसके पिता कहते हैं– "मेरे कुल की परम्परा यह है कि कला मे निपुण व्यक्ति के साथ ही पुत्री का विवाह किया जाय, न कि कला के ज्ञान से वंचित व्यक्ति के साथ। कुमार सिद्धार्थ कला ज्ञान से रहित है। ऐसी दशा मे मैं अपनी कला निपुणा पुत्री का उनके साथ कैसे विवाह कर दूं ?[1] गोपा के पिता दण्डपाणि का यह स्पष्ट उत्तर सुनकर महाराज शुद्धोदन अति दुखी हुए। कुमार के कानों तक पिता के दु:ख का कारण जब पहुंचा तो कुमार ने पिता से कहा कि इस नगर भर मे कोई ऐसा व्यक्ति है जो शिल्प प्रतियोगिता मे मेरी स्पर्धा रख सके ?' **देव, अस्ति पुनरिह नगरे कश्चिद्यो मया सार्धं समर्थः शिल्पेन शिल्पमुपदर्शयितुम् ?'** — तत्पश्चात् नगर मे प्रतियोगिता का एक विशाल आयोजन हुआ, जिसमे बड़े-बड़े कला-कुशल व्यक्तियो ने भाग लिया। इसमे कुमार सिद्धार्थ जिन शिल्पों में सर्वजित रहे और निपुणता प्राप्त की, उनकी ८९ कलाओ की नामावली 'ललितविस्तर' मे दी गई है। इस सूची में चित्र, रूप, रूपकर्म ये चित्रकला सम्बन्धी कलाये भी हैं। इनके अतिरिक्त धनुष्कला, असिकला, वीणा-वादन आदि में भी उन्होंने निपुणता प्राप्त की। अजंता, गुफा १६ मे कुमार सिद्धार्थ की कला-शिक्षाओं का एक रोचक दृश्य भी अंकित है जिसमे वह लेखन, धनुर्विद्या, वीणा-वादन का अभ्यास करते हुए दिखलाये गये है, और दीवार पर तलवार, परशु, आरी, वीणा टगी है तथा धनुष-बाण रखा है, पिंजड़े मे कबूतर, चिड़िया टगे हैं। — (दे० ग्रिफिथ, अजता गुफा १६, फलक ४५, चित्र–२०)।

---

१ — "अस्माकं चायं कुलधर्मः शिल्पज्ञस्य कन्या दातव्या नाशिल्पज्ञस्येति कुमारश्च न शिल्पज्ञ....तत्कथमशिल्पज्ञायाः दुहिता दास्यामि।"—ललितविस्तर १२, पृ० १४३।

उस समय चित्र-विद्या की इतनी व्यापक प्रथा थी कि ग्राम्य स्त्रियाँ भी इस कला में अति निपुण होती थीं और चित्रकला की बारीकियों से परिचित थीं। 'नलचम्पू' में उल्लेख है कि नल जब कुण्डिनपुर जा रहे थे तो पामरों (निम्न जनों) की पत्नियाँ बरामदे में खड़ी होकर बड़ी एकतानता या एकाग्रता से उन्हें देखती हुई उनका चित्र बना रही हैं।

"आरुह्यैता शिखरिसदृशान्ग्राममध्योच्चकूटानन्योन्यांसप्रणिहितभुजाः सगनाः कौतुकेन।
प्रेक्षावेशादविचलदृशो योषितः पामराणां पश्चन्त्यकत्वा निभृततनवो लेख्यलीलां वहन्ति॥" (६।६७)

आज भी ग्राम्य-जीवन मे चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि उसमें पूर्वकाल जैसा अंकन और उत्तमता नहीं है।

प्राचीन साहित्य मे पाये जाने वाले प्रचुर उल्लेख भी इस प्रकार के हैं, कि यदि सुसंस्कृत वर्गों के पुरुषों और स्त्रियों मे कला का अनुशीलन एव मूल्यांकन व्यापक रूप से प्रचलित न होता तो वे उल्लेख न किये जाते। और ये उल्लेख तथा प्रसंग इस बात के साक्षी हैं कि सुसंस्कृतजन निश्चित रूप से, रंग के सौंदर्य में तथा अलंकार संबंधी सहज बुद्धि एव सौंदर्यात्मक भावावेग दोनों के प्रति आकर्षण से मिलने वाले आनन्द से प्रेरित हो उठते थे। कालिदास, भवभूति तथा अन्य उच्च कोटि के नाटककारों के परवर्ती काव्य में ही नहीं वरन् भास के प्रारम्भिक नाटकों में और उससे भी पहले के महाकाव्यों तथा बौद्ध-साहित्य-जातक कथाओं आदि में भी ये पाये जाते हैं। इस कला का सूत्रपात राजाओं के दरबारों मे हुआ तथा सर्वथा लौकिक उद्देश्य और प्रेरणा को ही लेकर हुआ। बुद्ध-सम्बंधी चित्र-रचना करने वाले कलाकारों की, अजंता आदि स्थानों मे अवशिष्ट रचना अपने विषय की दृष्टि से मुख्यतया धार्मिक एव सामाजिक है। महाकाव्यों तथा नाट्य साहित्य मे पाये जाने वाले उल्लेख साधारणतः अधिक शुद्ध रूप में सौन्दर्यात्मक स्वभाव के, वैयक्तिक, पारिवारिक या नागरिक चित्रों से संबंध रखते हैं, जैसे—मानव-प्रतिकृति का चित्रण, राजाओं तथा अन्य महान् व्यक्तियों के जीवन के दृश्यों और प्रसंगों का प्रदर्शन अथवा राजमहलों और व्यक्तिगत या सार्वजनिक भवनों की दीवारों की सजावट इत्यादि।

भारतीय कला के चित्रपट पर लोक के सर्वांगीण जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा है। बाणभट्ट के शब्दों मे भारतीय कला की इस विशेषता को " त्रिलोकी संपुजन" कहा जा सकता है। "कादम्बरी" के उज्जयिनी वर्णन में उस समय की चित्र भित्तियों को "दर्शितविश्वरूपा" कहा गया है वह यथार्थ ही है। कला में यह समग्र जीवन का अंकन है। बौद्धों की चित्रकला में भी इस प्रकार के तत्व विद्यमान हैं, उदाहरणार्थ—सिगरिया (सिंहगिरि) में राजा कश्यप की रानियों के चित्र, पारस के राजदूत का ऐतिहासिक चित्रण, या राजकुमार विजय का जलयान से लंका के तट पर उतरना आदि। भारतीय चित्रकला में पुराकालीन महानता से युक्त भावना के साथ भारतीय धर्म, संस्कृति और सामाजिक जीवन की व्याख्या थी। अजन्ता के चित्रों मे जिस भावना और परम्परा का प्रभुत्व है वही बाघ और सिगरिया में, खोतान के भित्ति चित्रों में भी पायी जाती है, और रूप तथा रीति के परिवर्तन के होते हुए भी, पहाड़ी चित्रों में आध्यात्मिक दृष्टि से वही वस्तु है।

नगरों मे चित्रशालायें बनी होती थीं। उनकी दीवारों पर तरह-तरह के चित्र अंकित होते थे, जिनका विस्तृत वर्णन 'उत्तर रामचरित' (प्रथम अंक), 'मालविकाग्निमित्र' (प्रथम अंक), 'कादम्बरी' (पृ० २१०, चित्रशाला में देव, दानव, सिद्ध, गन्धर्वादि के चित्र बने हुए थे) आदि में है। 'नाट्यशास्त्र' में नाट्यशाला तथा चित्र-

शाला की दीवारों पर चित्र बनाने का वर्णन मिलता है।[1] सुसंस्कृत घरों के अन्तःपुर में शयनकक्ष स्वतः एक चित्र-शाला होती थी जिसमें पति-पत्नी, तरंग उठने पर, चित्र-रचना करते थे। इससे ज्ञात होता है कि उस समय नागरिक जीवन में चित्रकला कितनी लोकप्रिय थी। सभ्य नागरिक चित्रफलक पर चित्र-रचना का अभ्यास करते थे।[2] नागरिक एक पेटी में विभिन्न प्रकार के रंग, तूलिका तथा चित्र-निर्माण के अन्य उपकरण रखते थे। वात्स्यायन ने इसे 'प्रतोलिका' एवं 'वर्तिका-करण्डक', कालिदास ने 'वर्तिका करण्डक' दण्डी ने "वर्तिका समुद्गक" कहा है। वात्स्यायन ने कामसूत्र में इस प्रतोलिका को प्रिया को उपहार में देने का आदेश दिया है **'प्रतोलिकानां...दानम्'**।

चित्र-निर्माण स्वतन्त्र एवं सुविकसित नगर-व्यवसाय भी था। 'रामायण' (अयोध्या-८३।१२-१५) तथा 'मिलिन्दप्रश्न' (पृ० ३२४) में नगर व्यावसायिकों की एक तालिका मिलती है जिसमें चित्रकारों की भी गणना की गई है। व्यवसाय की देख-रेख के लिए नगरों में पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। इस प्रकार के पदाधि-कारियों का उल्लेख अर्थशास्त्र (प्रकरण ७६-७७) तथा शुक्रनीति में मिलता है। वे यह देखते थे कि विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धों के पालन करने वाले अपना कार्य सुचारु रूप से करते हैं अथवा नहीं। कारीगरों का संरक्षण इनका कार्य था। यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर के कार्य अथवा उसकी आमदनी में बाधा डालने की चेष्टा करता था तो ये अधिकारी उसे कठिन आर्थिक दण्ड देते थे — **'कारुशिल्पिनां कर्मगुणापकर्षमाजीवं विक्रयं क्रयोपधातं वा सम्भूय समुत्थापयतां सहस्रं दण्ड'** — (अर्थशास्त्र-७७) मेगस्थनीज ने यहां तक लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर के हाथ को काटता अथवा उसे शारीरिक हानि पहुंचाता था तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज ने भी पाटलिपुत्र की एक समिति का उल्लेख किया है जिसके सदस्यों का कर्त्तव्य, व्यवसाय का निरीक्षण तथा उनके विकास का प्रबन्ध था।[3]

चित्रकारों को उनके पारिश्रमिक के रूप में शुल्क दिया जाता था। व्यवसाय के अधिक प्रचार के कारण नगरों में कभी-कभी व्यावसायिक शिक्षा देने वाले आचार्य भी रहते थे — **'शिक्षकाभिज्ञकुशला आचार्यश्चेति शिल्पिनः'**।[4] इन आचार्यों की प्रयोगशालाओं में नवागन्तुक विद्यार्थी अपने मित्रों की आज्ञा पाने के उपरान्त मनोवांछित शिल्प में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए आता था। विद्यार्थी को आचार्य निःशुल्क शिक्षा देता था। वह अपने विद्यार्थी को पुत्र के समान मानता था तथा उसके भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था भी करता था —

'स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया।
आचार्यस्य वसेन्दते कृत्वा कालं सुनिश्चितम्।
आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्।
न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत् ॥ १७।१८ ॥ – नारदस्मृति।

१—भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः ॥७२॥
समासु जातशोभासु चित्तकर्म प्रयोजयेत्।
चित्रकर्मणि चालेख्या पुरुषा स्त्रीजनास्तथा ॥७३॥
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम्।
—नाट्यशास्त्र, आलेख्यकर्म, अध्याय २।

२—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ६, तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भी इसका वर्णन है।

३—मैक्रिण्डिल, "मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन", खण्ड २६।

४—बृहस्पतिस्मृति, गा. ओ. सी., पंक्ति ६९, पृ० १३५।

विद्यार्थी से गृहपरिचर्या कराने वाला आचार्य तथा शिक्षासमाप्ति के पूर्व ही आचार्य के गृह से लौट आने वाला विद्यार्थी दोनों ही समाज में घृणा से देखे जाते थे। —

शिक्षयन्तमदुष्टं च आचार्यं सम्परित्यजेत् ।
बलाद्वासयितव्यस्स्याद्वधबन्धौ च सोऽर्हति ॥१५।१९॥ – नारदस्मृति ।

शिल्प की पूर्ण शिक्षा तथा आचार्य की अनुमति लेने के उपरान्त घर लौटने वाला विद्यार्थी शिल्प का विशेषज्ञ माना जाता था। —

'गृहीतशिल्पः समये कृत्वाचार्यं प्रदक्षिणम् ।
शक्तितश्चानुमान्यैनमन्तेवासी निवर्तते' ॥१५।२१॥ – नारदस्मृति ।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यावसायिक कला-शिक्षा उच्चकोटि की थी। अजन्ता तथा बाघ आदि की अनुपम चित्रकारियां, उत्खनन में उपलब्ध प्रतिमायें, भवन, मंदिर, विहार, आभूषण तथा कला एवं शिल्प के अनेक उदाहरण उसके श्रेष्ठ प्रतीक हैं। ये व्यवसाय परम्परागत होते थे। पिता के व्यवसाय का अनुसरण पुत्र करता था। ऐसा होना अधिक व्यावहारिक भी था क्योंकि पिता के शिल्प को पुत्र, उसी वातावरण में होने के कारण सरलता से सीख लेता था। इसका उल्लेख जातकों में कई स्थलों पर मिलता है। चित्रकारों के कार्य का एक बहुत सुन्दर वर्णन 'मृच्छकटिक' (अंक १) में मिलता है — 'मल्लकशतपरिपूर्णचित्रफलक इवाङ्गुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि'।

उद्देश्य या चित्र के प्रयोजन :— चित्र और चित्राभास (रिफ्लेक्ट चित्र) के अन्तर्गत विश्व का सम्पूर्ण रहस्य निहित है। ब्रह्म चित्र-सदृश है तथा सम्पूर्ण संसार चित्राभास है। ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकार, सच्चिदानन्दमय है। परन्तु विश्व की सृष्टि में मानव ने रूप और वर्ण के द्वारा नाना कल्पनाओं को साकार रूप दिया। अतएव चित्र और चित्राभास का आध्यात्मिक दृष्टि से मूल्यांकन करना चाहिये। 'अपराजितपृच्छा' में इस सम्बंध में कुछ निर्देश हैं जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। प्रस्तुत प्रसंग में 'चित्र' शब्द को 'आलेख्य' अर्थ में लेकर तथा चित्र के उद्देश्य पर विचार होगा। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में कहा गया है —

'कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम् ।
माङ्गल्यं[1] परमं[2] ह्येतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्' ॥४३।३८॥

'चित्रकला सभी कलाओं में श्रेष्ठ है। यह धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष प्रदान करने वाली है। जिस घर में चित्र की प्रतिष्ठा की जाती है वहां पहले ही मंगल होता है। हिन्दुओं में मांगलिक कार्य के प्रारम्भ में घर के बाहर-भीतर किसी-न-किसी प्रकार के चित्रण की परम्परा आज भी विद्यमान है।

नानालाल चमनलाल मेहता 'चित्र-मीमांसा' (पृ० ९) में कहते हैं – लगभग इन्हीं शब्दों में १० शताब्दियों बाद अबुलफजल ने अकबर के विचार भी प्रकट किये हैं। अकबर के विचारानुसार चित्रकला मुक्ति और ईश्वर सान्निध्य प्राप्त करने का एक मुख्य साधन है। अतः चित्र न केवल कलाओं में श्रेष्ठ है वरन् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चारों पुरुषार्थों का भी दाता है तथा ईश्वर सान्निध्य कराता है। यही चित्र का उद्देश्य सबसे प्रधान है। मानव संस्कृति, सभ्यता और जीवन का एकमात्र प्राण धर्म रहा है। इसी ने मानव-संस्कृति के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। धर्म के संबंध में कहा गया है कि जिससे मानव का अभ्युदय और कल्याण हो सके, वही धर्म है।

१—प्रथमं।
२—चैतद्गृहे।

धर्म और दर्शन के उदार क्षेत्र मे संयम और तप के जिन आदर्शों की कल्पना समय-समय पर प्रकट होती रही उसी को मूर्तिमान् रूप मे जनता के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए कलाकारो ने प्रयत्न किया। धर्म ने अपना सौंदय जीवन को प्रदान किया और जीवन की रागात्मक वृत्तियाँ धर्म के द्वारा सूक्ष्म और सस्कृत बनी। चित्र, शिल्प, नृत्य और संगीत कला मे विरहित जीवन हेमंत के पतझड की भांति शुष्क दिखाई पड़ती है। धर्म के प्रागण मे वसत-लक्ष्मी की शोभा का अवतार कला के द्वारा हुआ। दूसरी ओर धर्म के निर्मल आदर्शों को प्राप्त करके कला का स्वरूप निखर गया। कला केवल पृथ्वी की वस्तु न रही, वरन् धर्म के द्वारा कला को स्वर्ग का पवित्र आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ। कला, विषयालिप्त सौन्दर्य को प्रकट करने का साधन न बनी, उसके द्वारा शील और संयम के उच्च आदर्श, लोक के सम्मुख प्रस्तुत किए गए। अपनी कठिन साधना के बल पर कलाकार ने निराकार को साकार, असीम को ससीम, अपार्थिव को पार्थिव और अज्ञेय को ज्ञेय रूप मे बांध देने की निपुणता प्राप्त की है। यही भारतीय कला का आध्यात्मिक भाव है।

भारतीय कलाकारो ने देवी-देवताओ की काल्पनिक कृतियों का निर्माण करने मे अधिक अभिरुचि प्रकट की है। यहा कोई भी कला बिना देवी-भावना के भोग्या नही बनी। नृत्य मे नटराज-शिव, संगीत मे नाद-ब्रह्म, आलेख्य (चित्र) मे जगन्नाथ आदि के पट-चित्र तथा अन्य देवी-देवताओ के चित्र, वास्तु मे वास्तु-ब्रह्म इन सभी में दैवी-भाव निहित है। भारतीय कला मे सत्यं, शिव, सुदरं की महान् भावना है। उसका आधार सत्यमय, परिणाम शिवमय और स्वरूप सौन्दर्यमय है। भारतीय लोक-जीवन मे चित्रकला के प्रति इस धार्मिक निष्ठा के कारण ही आज भी घरो मे सभी शुभकार्यों और उत्सवो-त्योहारो पर मंगलमयी कला का प्रवेश दिखायी देता है। एशिया के अनेक देशो मे मृतात्माओ के साथ चित्रो तथा हस्तलेखों को दफनाये जाने का एकमात्र उद्देश्य यही धार्मिक दृष्टिकोण रहा है।

अजन्ता इत्यादि के भित्तिचित्रों के अतिरिक्त राजस्थानी, मुगल और पहाडी शैली के चित्रों मे भी धर्म की सर्वोपरि मान्यता है। संभवत: यही कारण है कि प्राचीन कलाचार्यों ने देवस्थानो, सार्वजनिक स्थानो तथा गृहो को चित्रों से सुसज्जित करने का विधान किया है। धर्म की आध्यात्मिक, अदृष्ट एवं अलौकिक पृष्ठभूमि पर ही भारतीय चित्रकला की आधार-भित्ति खडी है। चित्रकला को धर्म के साथ संयुक्त करके कलाकारों ने उसकी लोकप्रियता तथा महत्व को बढाया है।

प्राचीन आचार्यों ने सिद्धान्त और व्यवहार रूप में यह सिद्ध करके बतलाया है कि "काम" को मर्यादित करके उसको अर्थ और मोक्ष के अनुकूल बनाना केवल धर्म के ही अधीन है। निरकुश काम को नियंत्रित और मर्यादित करके मोक्ष, अर्थ और काम के बीच धर्म ही सामञ्जस्य स्थापित कर सकता है। वैशेषिक दर्शन मे–'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः' – कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि धर्म वही है जिससे अर्थ-काम संबंधी सासारिक सुख एवं मोक्ष संबंधी पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है। यहा अर्थ और काम से उतना ही प्रयोजन है जितने से शरीर-यात्रा तथा मन की संतुष्टि हो सके और मोक्ष प्राप्ति को सहायता मिले। इसी धर्म के लिए महाभारतकार ने बडे मार्मिक शब्दो मे कहा है कि —

'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्यैष नहि कश्चित्शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते ॥' –(महाभारत)

मैं दोनो हाथ उठाकर चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा हूँ कि अर्थ और काम को धर्मपूर्वक ही ग्रहण करने मे कल्याण है परन्तु उसे कोई सुनता ही नहीं।

वस्तुतः धर्म वह नियम है जो लोक और परलोक के बीच सामंजस्य स्थापित करता है, जिसके द्वारा अर्थ, काम और मोक्ष सरलता से मिल जाते हैं। यही धर्म के तत्व का बोध है।

समस्त भारतीय कला के स्वरूप का उद्देश्य एक विशेष प्रकार की गंभीर आत्मदृष्टि को बाहर प्रकट करना है जो दृष्टि रूप तथा आकार के गुप्त अर्थ को ढूंढने के लिए भीतर जाने में, अपनी गंभीरतर आत्मा में कला के विषय की खोज करने से, निर्मित होती है। भारतीय चित्रकला की सभी श्रेष्ठ रचनाओं में स्थूल रूप के साथ ही उसके प्राकृतिक आकार का आन्तरिक सत्य एवं छन्दोमयता रहती है। अन्य कलाओं से इसकी पृथकता का कारण है इसकी अपनी विशेष दिशा, जो इसकी विशिष्ट सौन्दर्यवृत्ति के लिए स्वाभाविक और अनिवार्य है। यह अन्तरात्मा की स्थिर अवस्थाओं की अपेक्षा उसकी गतिशील अवस्थाओं पर कहीं अधिक उत्साह और आग्रह के साथ केन्द्रित होती है।

चित्रकार अपनी अन्तरात्मा को प्रकृति के रंगों में विलीन कर देता है। इस विलय के द्वारा प्रयुक्त रूप में एक प्रकार की तरलता, एवं रेखा में सूक्ष्मता की प्रवाहशील सुषमा होती है जो उस तरलता और सूक्ष्मता पर आत्म-अभिव्यंजना की एक गतिशील और भावमयी शैली को प्रकट कर देती है। जितना ही अधिक यह विलय हमें अन्तरात्मा के जीवन का रंग-रूप, उसका परिवर्तनशील आकार तथा भावावेग प्रदान करता है उतनी ही अधिक चित्रकार की रचना सौंदर्य से चमक उठती है। वह आन्तरिक सौंदर्य-बुद्धि को अपने अधिकार में करके सौन्दर्यबोध को कला का रूप देती है और वही सत्ता की सुन्दर आकृतियों एवं रंजित प्रभावों के अध्यात्मतः इन्द्रियग्राह्य हर्ष में आत्मा के बहिः विचरण का आनन्द प्रदान करती है।

"पंचदशी," ब्रह्मानन्दग – विषयानन्द, प्रकरण–१५ में भी कहा गया है :—

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनात् ।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥ १९ ॥

अर्थात् जहां कहीं जो सुख होता है वह सब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण ब्रह्म तत्व ही है अर्थात् ब्रह्मानन्द का एक अंश ही है। जब वृत्तियां अंतर्मुखी हो जाती हैं तब उनमें यह ब्रह्म निर्विघ्न प्रतिबिम्बित हो जाता है।

यही प्रतिबिम्ब चित्रकला के षडंगों में से एक प्रमुख अंग "सादृश्य" है। इसी की उच्च अभिव्यक्ति ही चित्रकला में सजीवता एवं असीम आनन्द ला देती है।

चित्रकारी कलाओं में सबसे अधिक इन्द्रियगम्य है। चित्रकार अपनी कृति में अन्तरात्मा और इन्द्रिय दोनों को अपनी गंभीरतम और सूक्ष्मतम समृद्धियों में एक स्वर करके, पदार्थों और जीवन के आन्तरिक अर्थों की संतोषपूर्ण अभिव्यक्ति में एकीभूत कर देता है। उसकी कृति में अन्तरात्मा का रसस्निग्ध वैभव और अपरिमित आनन्द रहता है। रूप-रंग की पूर्णता को देखने की चक्षुओं की कामना को प्रश्रय देकर उसे आध्यात्मिक सौंदर्यात्मक आनन्द से आलोकित करता है।

भारतीय कलाकार के लिए वास्तविक सुन्दरता 'लावण्य' है, यह आन्तरात्मिक है। इसे अपनी कृति में प्रकट करना ही चित्रकार का परम लक्ष्य है। भारतीय चित्र में स्वभाव और कर्म का केवल उतना ही अंश चित्रित किया जाता है जितना गूढ़ आध्यात्मिक या आंतरिक "भाव" को अभिव्यक्त करने में सहायक हो। कला का दूसरा उद्देश्य है जीवन और प्रकृति के रूपों के द्वारा सत्ता की व्याख्या या बोधिमूलक अभिव्यक्ति करना, और यही भारतीय चित्रांकन का आरम्भ-बिन्दु है।

रंग का प्रयोग भी आध्यात्मिक एवं आन्तरिक उद्देश्य के साधन के रूप मे किया जाता है और यह विशेषतः अजन्ता के चित्रों में स्पष्ट है। रेखा और रंग के अर्थ एवं उस विशिष्ट वस्तु का अनुभव करना होगा जिसका परिणाम धार्मिक भावावेग है, उदाहरणार्थ — अजन्ता की १७ वीं गुफा मे बुद्ध के सम्मुख खड़े माता-पुत्र का गंभीर सुकुमार और उत्कृष्ट चित्र सुप्रसिद्ध है। इसमें यशोधरा अंजलि फैलाये हुए पुत्र राहुल को भिक्षा-रूप मे भगवान् बुद्ध को दान दे रही है। आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा का यह चित्र बेजोड़ है। इसी आत्म-दान मे माता की अंतरात्मा अपने आध्यात्मिक हर्ष को पाना चाहती है। इस चित्र का रंग-रेखा तथा भाव दर्शनीय है। इस पूर्णता के द्वारा अजन्ता की कला केवल बौद्ध-धर्म का चित्रण, और उसके विचार, धार्मिक भाव, इतिहास तथा कथा की अभिव्यक्ति ही नहीं रही, वरन् भारत की अन्तरात्मा के लिए बौद्ध-धर्म के आध्यात्मिक आशय और इसके गूढ अर्थ की सत्य व्याख्या भी बन गई।

चित्रकला के प्रसंग में चारों पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का विवेचन :—

धर्म : — भारतीय चित्रकला में आध्यात्मिक पक्ष की प्रधानता है। भारतीय कलाकारों ने केवल बाह्य-सौंदर्य के वशीभूत होकर ही कला की उद्भावना नहीं की, वरन् उसकी आंतरिक प्रेरणाओं और दैवी विश्वासों ने ही उसके विचारों को चित्र, मूर्ति आदि में रंग-रूप दिये हैं। भारतीय कला का उद्देश्य मानव को ईश्वर की ओर ले जाता है। कला का आदर्श सम्बन्धी विचार भारतीय कलाकारों, कवियों और सहृदयों का यह रहा है कि जिसकी विश्रांति भोग मे है वह कला नहीं, बल्कि बंधन है, किन्तु जिसका लक्ष्य, उद्देश्य या संकेत परमतत्व की ओर है, वही श्रेष्ठ कला है —

'विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

कला शब्द की व्युत्पत्ति भी कला के इसी परमतत्व, परमानन्द-प्राप्ति का बोध कराती है। कला शब्द की व्युत्पत्ति है 'कं लाति'—अर्थात् आनन्द देने वाली। 'शैवागम' मे कला को '**किंचित्कर्तृत्वलक्षणा**'—अर्थात् संकुचित कर्तृत्व शक्ति माना गया है, जैसा — '**लावण्य किंचिदन्वितम्**' मे भी कहा गया है कि लावण्य को थोडा-सा ही चित्र में दिखलाया जा सकता है सम्पूर्ण नहीं। '**व्यञ्जयति कर्तृशक्तिं' कलेति तेनेह कथिता सा** — अर्थात् आत्मा की कर्तृत्व शक्ति को जो सीमित रूप मे प्रकट करती है, उसका नाम कला है। इसी लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुए क्षेमराज ने लिखा है —"**कलयति, स्वरूपम् आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला**" — अर्थात् वस्तुओं या प्रमाता के "स्व" को आत्मा को सीमित रूप में प्रकट करती है, इसीलिए इसका नाम कला है — (शिवसूत्र विमर्शिनी)। कलाकृतियां इन्द्रियों के सुख का साधन भी है। चित्र, संगीत, नृत्य, नाट्य, काव्य आदि कलाओं में ही ऐसी कृतियों को उत्पन्न करने की शक्ति है जो परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में प्रदर्शित कर सहृदय को परमतत्व के सत्य-स्वरूप का अनुभव करा सकती हैं। यही भारतीय कला का आदर्श है।

सृष्टि के सम्पूर्ण वैभव में कला का निवास है। भारतीय कलाकार ने इसी सृष्टि के प्राकृतिक सौंदर्य-वैभव को अपनी चित्रकला में स्थान दिया है। उसकी कलाकृति में तन्मयता के भाव, आत्मविस्मृति और आत्मसमर्पण की उच्च भावना समाविष्ट है। इसीलिए वह अपनी कृतियों मे उस शाश्वत सत्य को, निराकार को साकार, असीम को ससीम रूप में बांधने का प्रयास करता रहा है। भारतीय चित्रकला मे "सत्यं शिवं सुन्दरं" की महान् धर्म-भावना उसका प्राण है। धर्म की आध्यात्मिक एवं अलौकिक पृष्ठभूमि पर ही भारतीय चित्रकला की आधार-भित्ति खड़ी है। कला को एक महान् आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है और उसको मनुष्य के लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण का हेतु माना गया है।

देवी-देवताओं की काल्पनिक कृतियों के द्वारा अनन्त को सीमा रेखाओं में बांधने का प्रशंसनीय यत्न चित्र-कला में है। इसीलिए चित्रकला शास्त्रज्ञों ने देवस्थानों, सार्वजनिक चित्रशालाओं में तथा घरों को चित्रों से सुसज्जित करने का विधान किया है। धार्मिक अनुष्ठान, सामाजिक उत्सव आदि में चित्रों की पूजा अर्चना का निर्देश किया गया है।

"कामसूत्र" में कहा गया है कि इन प्रशंसनीय ६४ कलाओं को प्रत्येक गृहस्थ को करना चाहिये, क्योंकि ये कलायें सुभगा (सौभाग्य को देने वाली) हैं, सिद्धा हैं, सुभगंकरणी (भाग्य को सुन्दर करने वाली) हैं और स्त्रियों की प्यारी हैं। —

'नन्दिनी सुभगा सिद्धा सुभगंकरणीति च।
नारीप्रियेति चाचार्यैः शास्त्रेष्वेषा निरूच्यते' ॥ २।१०।३८ ॥

"कलानां ग्रहणादेव सौभाग्यमुपजायते'। १।२२। — कलाओं का ज्ञान प्राप्त करने मात्र से ही सौभाग्य जाग उठता है तथा सम्मान, यश एवं प्रीति की प्राप्ति होती है।

अर्थ :—चित्रकला से अर्थ-लाभ (धन की प्राप्ति) भी होता है। कलाओं का प्रयोग जब व्यवसाय के लिए किया जाता है, तब ये कलायें प्रचुर धन की भी प्राप्ति कराती हैं। मम्मट ने "काव्य प्रकाश" (१।२) में काव्य के प्रयोजन में कहा है—"काव्यं यशसे अर्थकृते ... ।' — अर्थ (धन) के लिए काव्य-रचना करनी चाहिये। जिस प्रकार आत्मा के लिए मोक्ष की आवश्यकता है, बुद्धि के लिए धर्म की, मन के लिए काम की, उसी प्रकार शरीर के लिए अर्थ की भी आवश्यकता होती है। मोक्ष की आवश्यकता केवल मनुष्य को होती है किन्तु अर्थ और काम के बिना चराचर जगत् के किसी भी जीव का निर्वाह संभव नहीं है। मुमुक्षु को संसार से उतने ही भोग्य पदार्थों को लेना चाहिये जितना ग्रहण करने से किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचे।

काम :— इस शब्द का अर्थ रतिसुख है। इस विद्या का अनुशीलन करने से लाभान्वित होना अवश्य संभव है। गीता का— 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि' — वाक्य ही इस पुरुषार्थ की महानता को बताता है।

कलाशास्त्र कामशास्त्र का ही अंग है। इससे भी किंचित् हार्दिक आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए प्राचीनकाल में विरहिणी रमणियां अपने मन-बहलाव के लिए अपने पति के चित्रलेखन में व्यस्त रहती थीं। 'मेघदूत' में यक्ष कहता है कि मेरी पत्नी भी विरह में क्षीण हुई मेरी आकृति लिखती होगी। यक्षिणी के मन में यह विश्वास दृढ़ है कि विरह में यक्ष की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई है। इसलिए आठ महीने तक पति के दर्शन न पाने पर भी वह केवल मनोभावों की कल्पना से यक्ष के सादृश्य-चित्र का अनुमान कर लेती है — "मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।" — विरह में कामासक्त मन को शान्ति देने के लिए तथा मन बहलाव के लिए विरही स्त्री-पुरुष एक-दूसरे का चित्र खींचते थे। "तिलकमंजरी" में राजा के बहुमुखी विनोदों में आलेख्य-विनोद की भी गणना है। चित्र-दर्शन मनोविनोद का अति उत्कृष्ट साधन माना जाता था। सुसंस्कृत रुचि के व्यक्ति चित्र देखकर और चित्रांकन करके स्वयं को आनन्दित करते थे। इनके अतिरिक्त काम-संबंधी चित्र भी शयनकक्ष तथा स्नानगृह में टांगे जाते थे।

मोक्ष : — यदि मानव-प्रवृत्तियों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो सर्वत्र यह बात स्पष्ट होती है कि मानव-जीवन में सम्पूर्ण तृप्ति के बाद ही मोक्ष की कामना उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण संतुष्टि और उसके बाद मोक्ष, यही दो जीवन के लक्ष्य के सोपान हैं। अजन्ता के गुफा-चित्रों में एक ओर सामाजिक भोग-विलासिता के चित्र हैं तो दूसरी

और देवताओं, यक्ष, किन्नर आदि के चित्र। अजन्ता की दूसरी गुफा के बाहरी चौखट पर दम्पत्ति-अंकन मिलता है जो गुप्तकालीन वास्तु में बहुत लोकप्रिय है एवं तत्कालीन मंदिरों की अपनी विशेषता है। इनके चित्रगत उदाहरण भी मिले हैं। इन सबमें उस वासना का अभाव है जो परवर्ती मध्यकालीन वास्तु में भयंकर रूप से बढ रही थी। १७वीं गुफा के बाहरी बरामदे में अजन्ता के उत्कृष्ट चित्रों में से यहाँ द्वार के चौखट पर दम्पत्तियों के कुछ सुन्दर चित्र है जिनमें युगल-प्रेम की कई अत्यन्त मार्मिक मुद्रायें हैं। दम्पत्ति-चित्र मांगलिक समझे जाते हैं। उनमे प्रेम के विविध प्रसंगों का चित्रण हुआ है – कहीं मान, कही निर्दयाश्लेष, कही मधुपान और कहीं मनावन आदि।

ये मिथुन--मूर्तियां मानव जीवन के लक्ष्य का प्रथम सोपान है। इसीलिए ये प्रायः मन्दिरों के बहिर्द्वार पर ही प्रतिष्ठित की जाती हैं। कोणार्क, पुरी, खजुराहो आदि देवालयो में भी मिथुन-मूर्तियो का अंकन बहिः भाग पर है तथा देव-प्रतिमाओं का अंकन अन्तरभाग मे। मोक्ष द्वितीय सोपान है इसीलिए इसकी प्रतिष्ठा देव–प्रतिमा के रूप मे अन्तरभाग मे की जाती है। प्रवेश द्वार और देवप्रतिमा के बीच मंदिरों में जगमोहन बना रहता है। यह मोक्ष की छाया का प्रतीक है। मंदिरों के बाह्य द्वार या भित्तियों पर उत्कीर्ण इन्द्रिय–रसयुक्त मिथुन-मूर्तियाँ देव-दर्शनार्थी को आनन्द की अनुभूतियों को आत्मसात् कर जीवन की प्रथम सीढ़ी-काम-तृप्ति को पार करने का संकेत कराती है। जो व्यक्ति जीवन के इस प्रथम सोपान को पार नही कर चुका है वह देवदर्शन–मोक्ष के द्वितीय सोपान पर पैर रखने का अधिकारी नहीं है। वस्तुतः शिवम् और सत्यं की साधना के ये सर्वोत्तम माध्यम हैं। इसीलिए कहा गया है कि मैथुन ही सृष्टि की स्थिति का कारण है, –– "मैथुनं परमं तत्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।" इससे दुर्लभ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है – "मैथुनात् जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्।" इससे पुरुष और प्रकृति के मिलन की आध्यात्मिक व्यंजना भी होती है। इन कलाकृतियों मे हमारे जीवन की व्याख्या "शिव" है, कला की कमनीय अभिव्यक्ति 'सुन्दर" है और रहस्यमय काम भाव "सत्यं" है।

कलाओ के प्रयोजन के विषय में वात्स्यायन का दृष्टिकोण निश्चय ही शृंगारिक एवं उपयोगितावादी है। इनका संबंध जीवन के उपभोग अर्थात् चारों पुरुषार्थों मे से तृतीय पुरुषार्थ "काम" के साथ है। कामसूत्र (१।३।१७–२२) मे वर्णित हैं कि कलाओं के अभ्यास से नगर–गोष्ठी, राजसभा आदि में सम्मान मिलता है, प्रियजन की प्रीति प्राप्त होती है, प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी सुखपूर्वक जीवन-यापन किया जा सकता है; सौभाग्य अर्थात् अर्थ-लाभ, अनर्थ का नाश, काम तथा यश की सिद्धि होती है। व्यापक रूप में यह कहा जा सकता है कि कला नगर-जीवन की समृद्धि का प्रथम उपकरण है जिससे सुख-सौभाग्य की सिद्धि के साथ-साथ व्यक्ति का परिष्कार भी होता है।

साहित्यिक अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चित्रों के प्रयोजन धार्मिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त निम्नलिखित भी थे — (१) ऐतिहासिक दृश्यों का संरक्षण (दूतवाक्यम्), (२) जीवन की घटनाओ का संरक्षण (उत्तरराम०, अंक १), (३) मृत-व्यक्तियो की आकृति का संरक्षण (प्रतिमानाटकं, अंक ३), (४) रसों का उद्दीपन (अभि० शाकु०, रघु०, आदि), (५) प्रेम की अभिव्यक्ति (अभि०शाकु०, आदि), (६) पति-पत्नी का चुनाव तथा विवाह-संस्कार की संपन्नता (प्रतिज्ञा०, रत्नावली, आदि) एवं (७) घरो का अलंकरण (काद०, हर्ष०)। इनके अतिरिक्त संकेत चित्र भी बनाये जाते थे जिनका उपयोग पूजा इत्यादि धार्मिक चित्रों के लिए किया जाता था। उन चित्रों में मूर्तियां न बनाकर उपास्य देवता के प्रतीको से उनकी अभिव्यक्ति की जाती थी।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि गृहस्थो के घरो मे उत्कट रसो के चित्रो का बनाना व रखना अमांगलिक होता है। ऐसे चित्र केवल राजसभाओं अथवा मन्दिरों में बनाये जाते थे अर्थात् ये स्थान उस समय के सार्वजनिक चित्रालय थे।

"वर्जयित्वा सभां राज्ञो देववेश्म तथैव च ॥ १३ ॥
युद्धश्मशानकरुणामृतदुःखार्तकुत्सितान् ।
अमङ्गल्यांश्च न लिखेत् कदाचिदपि वेश्मसु ॥ १४ ॥" –वि०ध०, ४३।१३–१४ ।

"विष्णुधर्मोत्तर" मे कहा गया है कि राजा के सभाभवन तथा देवालय को छोड़कर सामान्य गृहों मे युद्ध, श्मशान, दयनीय, मृत, दु:ख-पीड़ित, कुत्सित तथा अमांगलिक वस्तुओं का आलेखन कभी नहीं करना चाहिये। "नाट्यशास्त्र" मे भी कहा गया है कि रंगमंच पर मृतक, युद्ध, श्मशान कुत्सित आदि दृश्यों को नहीं प्रस्तुत करना चाहिये। इसी प्रकार न्यून अंग वाला, मलिन, व्याधि, भयाकुल, बिखरे बालों वाला आदि अमंगलकारक चित्र कदापि नहीं बनाना चाहिये। ऐसे अमांगलिक तथा सभी रसों के चित्रों को राजसभा तथा देव-मंदिर के चित्रालय मे बनाना चाहिये।

"हीनाङ्गं मलिनं शून्यं बद्धव्याधिभयाकुलैः ॥ २२ ॥
वृत्तं प्रकीर्णकेशैश्च सुमङ्गल्ये[1] विवर्जयेत् ॥" –वि०ध०, ४३।२२–२३ ॥

घरों में शृंगार, हास्य तथा शान्त रसो से युक्त चित्र अंकित करना चाहिये। किन्तु कभी किसी चित्र को अधूरा नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि अधूरे चित्र देखने में सुन्दर और रुचिकर नहीं लगते, साथ ही अमंगलकारी भी होते हैं।

शुभलक्षण युक्त चित्र के संबध मे "विष्णुधर्मोत्तर" में कहा गया है —

'लसतीव च भूलम्बो विलप्यतीव[2] तथा नृप।
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते ॥ २१ ॥
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्' ॥ वि०ध०, ४३।२१–२२ ॥

इन तीनों पंक्तियों मे संपूर्ण चित्रकला का रहस्य निहित है। सुन्दर चित्र की व्याख्या यही है कि उसमें माधुर्य, ओज और सजीवता हो। जीवित प्राणी की भांति उसमे चेतना-सी हो, वही शुभलक्षण युक्त चित्र होता है।

'शास्त्रज्ञैः सुकृतैर्दक्षैश्चित्रं हि मनुजाधिप।
श्रियमावहति क्षिप्रमलक्ष्मीं चापकर्षति ॥ २४ ॥

निर्णजयति चोत्कण्ठां[3] नि (? न) रुणद्धयागता शुभम्।
शुद्धां प्रथयति प्रीतिं जनयत्यतुलामपि ॥ २५ ॥

दुःस्वप्नदर्शनं हन्ति प्रीणाति[4] गृहदेवताम्।
न[5] च शून्यमिवाभाति यत्र चित्रं प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥ –वि०ध०, अध्याय ४३।

शास्त्र के ज्ञाता, पुण्यात्मा तथा चतुर पुरुषों द्वारा बनाया हुआ चित्र लक्ष्मी प्रदान करता है, क्योंकि वह चित्र उचित मान-परिमाण से बना शुभ लक्षण युक्त होता है। वह दरिद्रता को दूर करता है, मनोरथ पूर्ण करता है, मिले

१ — विवर्णयेत।
२ — बिभ्यतीव।
३ — निरुण आगतं।
४ — गृहदैवतम्, गृहदैवताम्।
५ — तु।

हुए कल्याण को स्थिर रखता है, पवित्र तथा अनुपम प्रीति उत्पन्न कर विख्यात करता है, दुःस्वप्न का नाश करता है, गृह-देवता को प्रसन्न करता है, और जिस घर में चित्र बना होता है, वह शून्य की तरह नहीं मालूम पड़ता है अर्थात् वह सदा भरा-पूरा प्रतीत होता है।

पूर्वाचार्यों ने कला का प्रयोजन जो "यश और अर्थ" कहा है, वह आज भी ज्यों-का-त्यों है, वरन् एक दृष्टि से पहले से भी अधिक है। प्रसिद्ध कलाकार थोड़े ही समय में धन और मान्य उपाधियां प्राप्त कर लेता है। उसे शासन और विद्वानों के द्वारा भी विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। प्राचीन आचार्यों ने चित्रकलाभ्यास, व्याकरणज्ञान ("पस्पशाह्निक महाभाष्य" में व्याकरण-ज्ञान का प्रयोजन मोक्ष – प्राप्ति कहा गया है) और संगीताभ्यास से भी मोक्ष की प्राप्ति माना है। कला, संगीत एवं साहित्य में जीवन के सभी प्रश्नों के रहस्य की मर्मदर्शिनी शक्ति एवं सभी को विकसित करने की सामर्थ्य अन्तर्निहित है। वस्तुतः कला वह जीवन-दर्शन है जो स्वयंभू, स्वतंत्र तथा अन्य-निरपेक्ष है। प्राचीन लोग इसे मोक्ष का उचित साधन कहा करते थे और आधुनिक युग के लोग इसे स्वानुभूति का साधन मानते हैं।

आजकल कला के इन प्रयोजनों का वर्णन किया जाता है — (१) कला के लिए कला, (१) जीवन के लिए कला, (३) जीवन की ठोस सत्यता अथवा यथार्थता से पलायन के लिए कला, (४) नीरसता से विरक्ति और सरस आनन्दानुभूति के लिए कला, (५) सेवा के लिए कला, (६) आत्मोपलब्धि के लिए कला, (७) आनन्द के लिए कला, (८) मनोविनोद के लिए कला और (९) अदम्य सर्जनवृत्ति की तृप्ति के लिए कला।

कलाकार की कल्पमयी दृष्टि, अलौकिक प्रतिभा, वस्तु और प्रसंग के मर्म को स्पर्श करने वाली काव्य-शक्ति तथा कला-वृत्ति से विज्ञान और जीवन का वास्तविक रहस्य जाना जा सकता है। सच्ची कला से आत्मविकास होता है। केवल कला की साधना से किसी को आत्मसाक्षात्कार हुआ हो, यह कहना कठिन है, परन्तु साधना के आधारपीठ के रूप में शुद्ध कला का उपयोग है, इस सिद्धान्त में कुछ संदेह नहीं है। कला में मनोविनोद भी है किन्तु यह एक बहिरंग लाभ है। कुछ कलाकार अपनी कला का ही वरण करते हैं और सम्पूर्ण जीवन और शक्ति उसी की सेवा में अर्पित कर देते हैं। कला की सेवा के अतिरिक्त वे जीवन का कोई दूसरा लक्ष्य नहीं चाहते। निष्ठावान कलाकार कला का निर्माण नहीं करते, वरन् कला ही उनके द्वारा अभिव्यक्त होती है। इसे यदि "अपौरुषेय कला" कहें तो अत्युक्ति न होगी। वैयक्तिक, कौटुम्बिक या सामाजिक जीवन में संस्कार या संयम लाने के लिए भी कला का अभ्यास करना चाहिये, यह जीवन-बुद्धि पलायनवाद नहीं है। कला एक सार्वभौम अभ्युदय की प्रगतिशील योजना है। अतः "कला के लिए कला" कहने में कोई अत्युक्ति नहीं।

केवल कला से ही जीवन के सम्पूर्ण रस प्राप्त हो जाते हैं। आदर्श कला चरम एवं परम आनन्द का हेतु है। जिसने उस परमानन्द का आस्वादन कर लिया, उसके जीवन में सहज सदाचार प्रकाशित हो जाता है। सदाचार और सामाजिक सामर्थ्य अवश्य ही उसके गौणफल हैं। कला का मुख्य प्रयोजन ब्रह्मानन्द सहोदर परमानन्द "सत्यं, शिवं, सुन्दरं" ही है।

कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में आनन्द कुमार स्वामी "मेडीवल सिंहलीज आर्ट" की भूमिका में अपना मत व्यक्त करते हैं — "The distinction between naturalism and idealism in art is one that is fundamentally religious. It is the lack of a metaphysic in modern materialistic culture that makes it possible for the artist to find sufficient satisfaction in the imitation of beautiful appearances, and a sufficient aim for art in the giving of pleasure. This reduction of the highest aim of

art from prophecy to amusement strikes at the root of any possible revival of true art, - which has to do, not with imitation, but imagination."

व्याप्ति या कला में लोक-संपुञ्जन : — भारतीय कला अथवा चित्रकला के उदार चित्रपट पर लोक के सर्वांगीण जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा है। इसमें त्रिलोक के समस्त चराचर जगत् का चित्रण है। इसीलिए "कादम्बरी" में बाणभट्ट ने उस समय की चित्रभित्तियों को "दर्शितविश्वरूपा" कहा है। उन चित्रभित्तियों के रूपवैभव का उससे अच्छा वर्णन नहीं किया जा सकता। कला की सहायता से हम लोक के विश्वरूपी जीवन को समझने का साधन प्राप्त करते हैं "शिल्परत्न" में चित्र में व्याप्त विषय के सम्बन्ध में लिखा है —

"जङ्गमा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते॥"

"विष्णुधर्मोत्तर" में कहा गया है कि ब्रह्म अरूप है अतः उसे रूप देना चित्र के द्वारा ही सम्भव है। अरूप से रूपोद्भावना अर्थात् प्रकृति से विकृति की कल्पना चित्र का मर्म है। ब्रह्म की माया शक्ति प्रकृति है और यह सम्पूर्ण विश्व उसकी विकृति। "अपराजितपृच्छा" में भी इसी का विवेचन किया गया है कि यह सम्पूर्ण चराचर त्रैलोक्य चित्रमूलोद्भव है। चित्र और विश्व वास्तव में एक दूसरे के बिम्ब-प्रतिबिम्ब हैं। जिस प्रकार कूप में जल और जल में कूप विद्यमान है उसी प्रकार यह विश्व चित्रमय है और विश्व में यह सब चित्र है। —

चित्रमूलोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगाः॥
स्थावरं जंगमं चैव सूर्यचन्द्रौ च मेदिनी।
चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्॥
कूपो जले जलं कूपे विविपर्यायतस्तथा।
तद्वच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च॥

मानव कलाकार सदैव इसी अभिव्यक्ति के प्रयास में सचेष्ट है। दिव्य-मानुष, ऋषि-मुनि, गण की आकृतियाँ एवं रूपसंस्थान-वृक्ष, गुल्म, लता-वल्लरी; शूर, वीर, राजा, धनी, ब्राह्मण, शूद्र; पिशाच, दानवादि क्रूरकर्मी, माली, सेनापति, रंगोपजीवी, कंचुकी, द्वारपालक; रानियाँ, सखियाँ, वेश्याओं, परिचारिकाओं आदि; गायक, नर्तक, वादक, चित्रकार आदि, पशु-पक्षियों, नदी, पर्वत, समुद्र, निधि, दिवा-रात्रि, ऋतु, देव, पंचभूत, जलचर, नभचर, भूचर आदि सभी चित्रण के विषय हैं। किन्तु संग्राम, मरण, करुण रस आदि के चित्र घर में नहीं बनाना चाहिये। आगम, वेद, पुराण आदि के द्वारा सम्मत, रम्य एवं शुभफलप्रद विषयों का चित्रण करना चाहिये।

भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में "हिरण्यगर्भ" (ब्रह्माण्ड) का एक स्वर्णिम चित्र है जिसमें यद्यपि किसी चराचर की अनुकृति नहीं है, फिर भी चित्रकार की विलक्षण कल्पना और उसके सफल आलेखन का सुन्दर एवं अद्वितीय उदाहरण है।

लोक के महान् साधक कला के प्रधान पुरुष होते हैं। तप और समाधि के द्वारा मनुष्य देवों की बराबरी करता है। भौतिक जगत् में कलाकार अपनी सफल कलाकृति के लिए सतत् तप करता है और एकाग्र-मन, समाधि-लीन होकर कला-रचना करता है। प्राचीन यज्ञ-विधि का आरम्भ करते हुए यह प्रतिज्ञा की जाती थी

'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि । सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः ।'

अर्थात् — "अब मैं अनृत (मिथ्या) से सत्य-भाव को प्राप्त होता हूँ, क्योंकि सत्य देवों का रूप है अनृत मनुष्यों का।" ब्रह्मा के समान मनुष्य कला-साधना द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति के शिखर पर चढ़ता हुआ देव-पद प्राप्त करने का प्रयास करता है।

देवों के जीवन में देवियों को बराबरी का भाग मिला है। उसी प्रकार नारी की कमनीय मूर्ति के बिना कला ही नहीं, विश्व का समस्त विधान अविकसित रहता है। नारी का लावण्य कला का ललाम भाव है। वह रस बनकर कला में ओत-प्रोत हुआ है और अपने अस्तित्व से कला को दर्शनीय बनाता है। स्त्री-चित्रण के बिना कला केवल दर्शन की अनुगामिनी बनकर रह जाती। भारतीय कला में जितने देव है उतनी ही बहुसंख्य देवियां है। देवताओं के साथ उनके अनेक वाहन, पार्श्वचर, आयुध, पुरुष आदि परिग्रह को भी कला मे स्थान प्राप्त हुआ, जैसा उज्जयिनी के वर्णन में बाणभट्ट (पृ. १२४) ने लिखा है —

"सुरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिः चित्रशालाभिः।"

यक्ष, किन्नर, नाग, सुपर्ण, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरा आदि अनेक देवयोनियों की कल्पना कला की रूप-समृद्धि के लिए आवश्यक थी। ज्ञान अथवा कर्म के क्षेत्र में जो चक्रवर्ती पद के धरातल तक ऊंचे उठ चुके हैं उन महात्मा या राजाओं का अंकन कला का अत्यन्त प्रिय विषय है। महापुरुषों के जीवन का चित्रण भारतीय कला की विशेषता ही है। भगवान् बुद्ध जैसे लोकोत्तर महापुरुषों को भारतीय कला विशेष रूप से अजन्ता ने अपने मध्यबिन्दु पर स्थापित करके स्वयं अपने लिए भी सर्वमान्य और स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। महापुरुष केन्द्र में स्थित होकर कला को जीवन के महान् उद्देश्य के साथ मिलाए रखता है।

भारतीय समाज में राजा का व्यक्तित्व भी देवत्व के अंश से युक्त माना गया है। राजकीय वैभव को पाने से कला में चमत्कार उत्पन्न होता है। राज्य सिंहासन राजलक्ष्मी के चिन्ह-छत्र और चामर, चतुरंग सेना के साथ राजा की उत्सव यात्रा, संगीत और नृत्य से अलंकृत राजकीय प्रासादों के आस्थान-मंडप ये सब भारतीय कला में चित्रण के प्रिय विषय हैं। राजाओं के अन्तःपुर और राजकुलों में परिचर्या करने वाले अनेक पार्श्व-चर, अनुचर और प्रतिहारी भी अंकित मिलते हैं। काव्यों में वामन, कुब्ज, किरात, षण्ढ (नपुंसक), वर्षवर (अन्त.पुर का रक्षक) आदि नामों से अंतःपुर के विविध कर्मकर जनों का वर्णन मिलता है और कला में भी ऐसा चित्रण दिखलाई पड़ता है। "पाणिनि", "जातक" और "अर्थशास्त्र" में स्नापक (स्नान कराने वाला सेवक), उत्सादनक (मालिश करने वाला सेवक), संवाहक, छत्रधार, शृंगारधार मणिपाली, ताम्बूलकरंकवाहिनी (पानदान ले जाने वाली सेविका) आदि अनेक भृत्यों परिचारक-परिचारिकाओं के नाम पाये जाते हैं। इनका चित्रण अजंता मे उपलब्ध होता है। इन भृत्यों का उल्लेख उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य, विशेषतः नाटक और कादम्बरी-सदृश कथा-ग्रंथों मे मिलता है।

राजकीय वर्ग के अतिरिक्त साधारण जन भी थे। उनका भी विविध कथा-प्रसंगों में और भारतीय कला में पर्याप्त चित्रण पाया जाता है। बैल और छकड़ों पर बहुमूल्य भांड लादकर सुदीर्घ व्यापार-मार्गों की यात्रा करने वाले, सार्थवाह (सौदागर), व्यापारी, सामुद्रिक पोतों पर द्वीपान्तर की यात्रा करने वाले साहसी नाविक और यात्री, पुत्र-पौत्र और समृद्ध परिवार के साथ देवार्चन में रत गृहस्थ जन और उनकी पुरंध्री (अंतःपुर में रहने वाली) स्त्रियां, नृत्य और संगीत में मग्न पौर जनपद जन आदि का बहुत प्रकार से चित्रकला में अंकन हुआ है। उससे भारतीय सामाजिक इतिहास की मूल्यवान् सामग्री मिलती है।

मनुष्य के साथ ही प्राकृतिक जगत् के वृक्ष-वनस्पति, पुष्प तथा एवं अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों को भी कला में स्वच्छन्द स्थान मिला है। कलाकार की दृष्टि मनुष्य को अन्य प्राणि-जगत् के साथ अन्तरंग संबंध में ही बंधा हुआ देखती है। पत्र और पुष्पों से तो भारतीय चित्रकला के अनेक अलंकरण और अभिप्रायों की सृष्टि हुई है। केवल कमल के ही अनन्त प्रकार के आलेखन अजन्ता एवं सित्तनवासल में देखे जा सकते हैं। पत्र और पुष्प के बहुविध चित्रण मे जो सफलता भारतीय कलाकार को मिली वह विश्व की किसी भी कला-शैली मे नही पाई जाती "कल्पसूत्र" के एक वाक्य मे पशु और वनस्पति-जगत के इस चित्रण का सुन्दर वर्णन किया गया है जहाँ राजप्रासाद के एक बहुमूल्य परदे पर तरह-तरह की "भक्ति" (कटावदार अभिप्राय या डिजाइन), जैसे—ईहामृग (भेड़िया), वृषभ, तुरग-नर, जल-तुरग, मकर, विहग, व्याल, किन्नर, रुरुमृग (काला हिरन), शरभ (हाथी का बच्चा, एक कल्पित पशु आठ पैरों वाला) चमर, कुंजर, वनलता, पद्मलताओं के चित्रण का उल्लेख है। अजन्ता में इन सभी के आलेखन मिलते है।

भारतीय कला में विभिन्न प्रकार के आभूषण, बन्दनवार की तरह संतानमालाओं से सज्जित मुकुट, मकरिका-आभूषण, कंठ मे मुक्ता से निर्मित एकावली माला के मध्य बड़ा नीलमणि 'स्थूलमध्येन्द्रनीलमणि' (अजंता-पद्मपाणि बोधिसत्व में) होता था। कानों मे तार्टक चक्र अथवा नागेन्द्र भांति के मुक्ताफल जटित कुण्डल, कंधे पर उपवीति (जनेऊ) के समान उत्तरीय, मेखला में बंधा हुआ तेव-सूत्र-यह सब गुप्तकालीन लोक-संस्कृति मे प्रचलित था और चित्रकला मे भी इसका सुव्यक्त चित्रण मिलता है। साँची की कला में भी तत्कालीन स्त्री-पुरुषों के कानों में कुण्डल दिखाई देते हैं। कुषाण-कला मे पान के पत्ते की आकृति वाले मुकुट और भुजाओं मे पहने जाते हुए मोर की आकृति से अलंकृत मायूर-केयूर उस युग की विशेषतायें हैं। इस प्रकार कला के सर्वांगीण निरूपण मे प्रतीत होता है कि उस समय की लोक-संस्कृति वास्तविक रूप से कला में प्रतिबिम्बित हुई है।

3

चित्रकला का विधि - विधान

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत में चित्रकला प्रचलित रही है जिसके प्रमाण हमें विभिन्न ऐतिहासिक साक्ष्यों से उपलब्ध होते हैं। इन सभी चित्रों का अवलोकन करने से विदित होता है कि चित्रकला की शैली तथा उसके विधि-विधान समय के साथ-साथ परिवर्तित होते रहे हैं। यद्यपि इन चित्रों के अकन मे प्रयुक्त विधि - विधान के बारे में किसी भी शिल्पशास्त्र में सपूर्ण विवरण नही प्राप्त होता, परन्तु चित्रकला के विधि-विधान सबधी कुछ साक्ष्य हमें विष्णुधर्मोत्तरपुराण, समरांगणसूत्रधार, मानसोल्लास, शिल्परत्न इत्यादि ग्रथो मे उपलब्ध होते है। इनके अतिरिक्त, संस्कृत साहित्यकारों में विशेषतः भरतमुनि, कालिदास, बाणभट्ट, भास, भवभूति आदि के ग्रथो मे भी यत्र-तत्र चित्रकला के विधि विधान संबंधी विवरण उल्लेख मिलते है।

चित्रकला के विधि-विधान को जाने बिना कोई भी कुशल कलाकार अपने भावो को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नही कर सकता। चित्रकार के लिए चित्र रचना कर देना ही पर्याप्त नही है, वरन् वह किस प्रकार अपने मनोभावो को अभिव्यक्त करे, यह भी जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चित्रकार कहा, कैसा चित्र बनाना चाह रहा है, उसके अनुरूप किस प्रकार की आधार भूमि, तूलिका, रग आदि का चयन करे, जिससे उसके चित्रण मे स्थायित्व नवीनता, सजीवता और जीवन्तता आये, यह भी विचारणीय है, क्योकि तकनीक चित्रकार का अपना कौशल होता है। विभिन्न आधार भूमि पर चित्र-निर्माण का विधि-विधान भिन्न-भिन्न होता है जिसका प्रमाण ऐतिहासिक तथा आधुनिक युग के चित्रो एवं उनकी आधार भूमि के अवलोकन से भी परिलक्षित होता है। प्रस्तुत अध्याय में देश, काल और स्थान के सापेक्ष में परिवर्तित तथा परिवर्धित चित्रकला के विधि-विधानो का साहित्यिक स्रोतो के आधार पर मूल्याकन किया गया है। इस अध्ययन के द्वारा ऐतिहासिक चित्रो के अनभिज्ञ अथवा अल्पभिज्ञ विधि-विधानों का मूल्याकन किया जा सकता है तथा आधुनिक कलाकारो के लिए उनकी चित्रकला की प्रक्रिया में और भी परिमार्जन करके नया आयाम प्रदान किया जा सकता है।

समरांगणसूत्रधार, मानसोल्लास, शिल्परत्न आदि शिल्पशास्त्रो तथा संस्कृत साहित्यो मे यद्यपि चित्रकला के विधि-विधान सम्बन्धी विवरण यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं, किंतु विष्णुधर्मोत्तरपुराण इस विषय पर बृहत् वर्णन प्रस्तुत करता है। इस अध्याय में इन समस्त स्रोतों से प्राप्त विधि-विधान का मूल्यांकन किया गया है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में चित्रकला के विधि-विधान को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है—

१ --- भूमि की सतह को चित्र के लिए तैयार करने एवं चिकनी मिट्टी को प्लास्टर या गच के समान मजबूत बनाने की विधि।

२ -- भूमि को स्फटिक मणि के समान चिकना और चमकीला बनाना।

३ - चित्र-रचना प्रारभ करने के पूर्व शुभमुहूर्त में चित्रकार द्वारा मांगलिक आयोजन।

४ --- चित्र का रेखाकर्म (Drawing) तथा वर्ण-कर्म (Colouring)।

५ मौलिक रंगों पर आधारित उनके विभिन्न मिश्रण

६ रंग को प्रयोग के लिए तैयार करना।

यहाँ सर्वप्रथम चित्र-रचना की प्रारंभिक अत्यावश्यक वस्तु आधारभूमि के लिए भूमिबन्ध पर विचार प्रस्तुत है।

भूमिबन्धन या चित्रभित्ति .— चित्र-रचना में चित्राधार या चित्रभित्ति अथवा भूमिबन्धन चित्रकार का प्रथम हस्त-विन्यास है। चित्र का आधार चित्र के प्रकार पर आश्रित है। 'भूमिबन्धन' के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग करते है, जैसे पृष्ठभूमि बंधन, चित्राधार बंधन, सुधाकर्म (सुधाकम्म-पालि में), जमीन बाँधना आदि।

चित्र कई प्रकार के माध्यम पर बनाये जाते थे जैसे – (१) भित्तिचित्र, (२) फलकचित्र और (३) पटचित्र। प्राचीन काल के कुछ भित्तिचित्र ही अब शेष हैं, पटचित्र और फलकचित्र नष्ट हो गये हैं। दीवारों पर बनाये जाने वाले चित्रों को 'भित्तिचित्र' कहते हैं, इसके लिए 'समरांगणसूत्रधार' में 'कुड्य चित्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। जो चित्र फलक अर्थात् पट्टिका (बोर्ड) जैसे 'काष्ठ-पट्टिका', 'कुड्य-पट्टिका', 'हाथी-दांत फलक' एवं 'मृणपट्टिका' पर बनाये जाते थे उन्हें 'पट्टचित्र', या 'फलकचित्र' और वस्त्र पर बनाये जाने वाले चित्रों को 'पटचित्र' कहते हैं। अतएव समरांगणसूत्रधार में (तथा सुप्रभेदागम में) (१) कुड्यभूमिबन्धन (२) पट्टभूमिबन्धन एवं (३) पटभूमिबन्धन – इन तीन प्रकार के भूमि-बन्धनों का वर्णन है — 'पट्टे, पटे, **कुड्ये वा चित्रसम्भव।**' — (समरांग० ७१।२)। 'विष्णुधर्मोत्तर' में केवल भित्तिचित्र बनाने की प्रक्रिया का वर्णन है, अन्य का केवल संकेत है।

भारत में चित्रकला के लिए कई प्रकार के फलक प्रयोग में लाये गये, जैसे दीवारें, वस्त्र, लकड़ी, ताल-पत्र, पत्थर, हाथीदांत, चमड़ा, कागज आदि। विधान-भेद के अनुसार प्राचीन काल में भारत में मुख्यतः तीन प्रकार के माध्यम पर चित्र बनाये जाते थे — (१) भित्तिचित्र, (२) चित्रफलक या फलकचित्र और (३) पटचित्र।

१ — भित्तिचित्र . — दीवारों पर बनाये जाते थे। भित्ति पर चित्रण करने की परंपरा प्रागैतिहासिक काल से ही मिलती है। भित्तिचित्रों के सर्वोत्तम उदाहरण अजंता की गुफाओं में बने चित्र हैं। भित्तिचित्रों की प्रचलित परम्परा आज भी लोककला के रूप में अधिक विद्यमान है। 'भित्ति' शब्द चित्रों के आधार के लिए यहाँ इतना रूढ़ हो गया है जितना योरोप में 'कैनवास'। प्राचीन भारत में भित्तिचित्रों की समृद्ध परम्परा के अवशेष आज भी अनेक स्थानों पर मिलते हैं। प्रागैतिहासिक मानवों ने गुफा-कंदराओं की भित्तियों को अपने चित्रों का आधार बनाया था। बाद में पहाड़ों को काटकर चैत्य, विहार और मन्दिरों का निर्माण भी हुआ और इनकी दीवारों पर चित्र बनाये गये।

२ — चित्रफलक (पट्टचित्र) . — जो लकड़ी, कीमती पत्थरों और हाथीदांत पर बनाये जाते थे।

३ — पट चित्र — जो कपड़े पर और सम्भवतः चमड़े पर भी बनाये जाते थे। ये लपेटकर रखे जाते थे, एवं कभी-कभी दीवार पर टांगे भी जाते थे।

अजंता, एलोरा और बाघ आदि के भित्तिचित्रों के अतिरिक्त अन्य सबके उदाहरण अब अप्राप्य हैं अथवा नष्टप्राय हैं, किन्तु पटचित्र और फलकचित्र के उदाहरण भारत, तिब्बत तथा नेपाल में आज भी मिलते हैं। ११वीं १२वीं शती के पूर्व के केवल भित्तिचित्र के नमूने अब प्राप्त हैं। लगभग इसी शती की चित्रित ताड़पत्र पोथियाँ और उनके पटरे (ग्रंथ पट्टिका) भी मिलने लगते हैं। चित्रफलक की परम्परा भी ग्रंथ के चित्रित पटरों के रूप में यदा-

कला दिखलाई द जाती है। भारत में वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में मूर्ति के पीछे चित्रपट टागने की प्रथा है जिसे 'पिछवाई' कहा जाता है।

चित्रों के उक्त प्रकारों के अतिरिक्त 'धूलिचित्र' भी उस समय बनाये जाते थे जिस परंपरा मे आजकल साझी (रागोली, अल्पना, माडना, कोलम्, मुग्गु, आदि) बनाई जाती है। इसमे भांति-भाति के रंगीन चूर्णं को जमीन पर भुरक कर अथवा घोल बनाकर मुख्यत आलंकारिक आकृतिया अकित की जाती है।

भित्तिचित्र अथवा कुड्यभूमिबन्धन

भारत की जलवायु उष्ण और आर्द्र है। जलवायु अनुकूल न होने के कारण बहुत सी प्राचीन कला-कृतियाँ नष्ट हो गई। फिर भी साहित्यिक उल्लेखों से पुष्टि होती है कि अति प्राचीन काल में भारत मे चित्रकला की समृद्ध परपरा थी जो आज भी भित्तिचित्र के रूप में विद्यमान है।

'कादम्बरी' मे भित्तिचित्र बनाने का उल्लेख बाणभट्ट ने किया है—**'दर्शितविश्वरूपेव चित्रभित्तिभि:'** (पृ० १६०) — इन भित्तिचित्रों मे देवता, असुर, सिद्ध, गधर्व, विद्याधर, महोरग आदि देव-योनियो की अनेक कथाये अकित की गई है। अजन्ता के भित्तिचित्रों मे भी इन सभी का चित्रण है। इसी प्रकार का एक और उल्लेख 'उत्तर-रामचरित' (अक १) मे मिलता है। इसमे अर्जुन नामक चित्रकार ने पूरी रामायणी कथा को भित्ति पर चित्रित किया था। भित्ति चित्र के लिए 'अभिलिखितवीथिका' शब्द का प्रयोग किया गया है। सद्धर्मपुण्डरीक (द्वि० ९४) में 'आलेख्यभित्तिसुगतबिम्ब' — में भित्ति पर आलिखित बुद्ध का चित्र वर्णित है। उस समय भित्तिचित्र के लिए 'आलेख्यचित्र' शब्द भी प्रयुक्त होता था। संस्कृत साहित्य मे इसी प्रकार भित्तिचित्रो के अनेक उल्लेख मिलते है।

आधुनिक कला मर्मज्ञों ने भित्तिचित्रों के विभिन्न तकनीकी माध्यमों के कारण उसके विभिन्न नाम दिये है। किसी भी माध्यम से बने भित्तिचित्र के लिए अंग्रेजी मे सामान्यत. 'म्यूरल' शब्द है, जिसके अंतर्गत — (१) टेम्परा (किसी भी बंधन द्वारा निबद्ध (Binder) रजन-लेप) (२) फ्रेस्को या फ्रेस्को-बोनो (चूने के गीले गच या पलस्तर पर की जाने वाली विधि जिसे गचकारी कहते है), (३) फ्रेस्को-सेको (चूने के पलस्तर के सूख जाने पर की जाने वाली अस्थायी प्रक्रिया), (४) मोजैक (दीवार पर रंगीन पत्थर, काच या सिरेमिक टाइल्स के टुकड़ों को, जिसे टेसराई कहते हैं, लगा कर बनाई गई पेंटिंग), और (५) एन्कास्टिक (मोम में रंग मिलाकर सतह पर चित्राकन करने की विधि) आदि आते हैं। इस व्याख्या के अनुसार अजंता, बाघ आदि के भित्तिचित्र टेम्परा माध्यम के कहे जायेंगे। आज भी पुराने म्यूरल भारत, मिस्र, यूनान, रोम, चीन, जापान आदि देशो मे देखने को मिलते है। एन्कास्टिक विधि मिस्र, रोम आदि में तथा मोजैक विधि रोमन तथा बाइजेंटाइन काल से सम्पूर्ण योरोप में प्रचलित थी। भारत में मोजैक चित्रों का उदाहरण आठवीं शती के लगभग से प्राय. मिलता है। इन सभी देशों में बाध्य सामग्री (Binding material) भिन्न-भिन्न प्रयुक्त हुई है। बाध्य-सामग्रियों में अडा, चावल का निशास्ता (माड़), वनस्पति गोंद, सरेस (पशुओं की खाल, सींग, खुर से प्राप्त वज्रलेप), मोम आदि पदार्थ सम्मिलित है। इनमें भी सबसे सशक्त और टिकाऊ अंडा और मोम है। योरोप, अमेरिका मे केवल अंडे से निबद्ध रंजन-लेप (पेंट) को टेम्परा कहने की प्रथा है।

टेम्पर से 'टेम्परा' शब्द बना है। टेम्पर अर्थात् कड़ा करना। रजक-लेप टेम्परा कहलाते है। टेम्परा रंग तीन प्रकार के होते है — (१) रंजक अर्थात् पिगमेंट (अंग्रेजी); इसे धातुराग (सस्कृत) और मिनरल कलर (अंग्रेजी) कहते है; (२) रंजन अर्थात् रंग या कलर और (३) रंजन-लेप या पेंट। इनके अतिरिक्त

जैविक (Organic) एवं अजैविक रंग भी होते हैं। जैविक में वनस्पति और जीव-जन्तुओं (जैसे - गाय से गौगोली आदि) से निर्मित रंग, तथा अजैविक में मिट्टी, पत्थर आदि से प्राप्त रंग भी रंजक हैं। अजैविक रंग को खनिज रंग भी कहते हैं। रंजक को किसी भी चिपचिपे या माध्यम वाले पदार्थ में मिश्रित कर देते हैं, जब इसके बिखरे हुए कण आपस में कड़े चिपक कर (Tempered) हो जाते हैं, तब रंजक टेम्परा कहलाते हैं। यह रंजक गोंद, सरेस, अण्डा, तेल, दुग्ध तत्व (Casein) में मिश्रित किये जाते हैं।

टेम्परा के लिए तैयार की गई दीवार के अच्छी तरह सूख जाने पर ही उस पर चित्रांकन का कार्य आरम्भ किया जाता था। रेखाचित्र कई बार सीधे ही दीवार पर बनाये जाते थे या कागज, कपड़ा अथवा हिरन की झिल्ली को खाके के रूप में बनाकर, उस पर स्टैनसिल (छिद्रों), गेरू या कोयले के चूर्ण को कपड़े की पोटली में रखकर उसे उक्त आकृति पर थपकते थे जिससे खाका (स्टैनसिल) में [illegible] बने हुए छिद्रों से रंग, दीवार में लग जाता था और दीवार पर पूरे चित्र का खाका तैयार हो जाता था किन्तु अजन्ता आदि के भित्तिचित्रों में इन खाकों का प्रयोग नहीं किया गया है।

भित्तिचित्रों के निर्माण का एक अन्य तरीका फ्रेस्को या फ्रेस्को बानो है। फ्रेस्को का इटालियन भाषा में अर्थ है — "पेंटिंग आन फ्रेश" अर्थात् गीली भूमि पर चित्रांकन। यह रीति यूरोप, विशेषकर इटली में पुनर्जागरण काल में प्रचलित थी। इस विधि में दीवार पर चूने का पलस्तर कर दिया जाता था और जब तक भूमि गीली रहती थी तभी उस पर गेरू आदि खनिज रंगों से चित्रांकन करके उसे ओपदार तैयार कर लिया जाता था। यह अर्थात् चित्रण भी भूमि के गीली रहने तक ही सम्पन्न करना होता था, इसलिए कलाकार पूरे चित्र को अलग भागों (पैनलों) में पूरा करता था। हर भाग को वह एक ही बैठक में पूरा कर लेता था लेकिन उसमें एक भाग का चित्रण दूसरे भाग के चित्रण से भिन्न न हो यही इस चित्रण पद्धति की विशेषता थी और जहां इसके जोड़ में भिन्नता आ जाती थी, वही इस चित्रण प्रक्रिया का बड़ा दोष था। इस पद्धति की विशेषता इसका दीर्घजीवी होना है।

भित्तिचित्रों की एक विधा "फ्रेस्को–सेको" भी है। यह उपर्युक्त दोनों विधियों का मिश्रण है। इसके लिए पलस्तर की हुई सूखी दीवार पर, चूने के पानी में खनिज रंगों को घोलकर उससे चित्रांकन किया जाता था। यह विधि फ्रेस्को की एक कमी को पूरा करती थी जिससे इसमें फ्रेस्को की तरह के अलग–अलग भाग नहीं करने पड़ते थे। इस विधा में बने चित्र बहुत अस्थायी होते थे।

अजन्ता की चित्ररचना में, योरोप की चित्रकला में अवस्थित एवं प्रचलित 'फ्रेस्को–बानो' पद्धति का अनुसरण किया गया है अथवा 'फ्रेस्कोसेको' का – इस वाद–विवाद के लिए पर्सी ब्राउन की "इण्डियन पेंटिंग" द्रष्टव्य है। पर्सी ब्राउन आदि विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन चित्र–निर्मितियों में फ्रेस्कोसेको का ही प्राधान्य है। उनका यह मत सर्वथा अशुद्ध है। विद्वानों का यह वाक् वितण्डावाद वास्तव में इसलिए खड़ा हुआ था क्योंकि ये पाश्चात्य विद्वान् प्राचीन चित्र शैली से अनभिज्ञ थे। वस्तुतः भारतीय चित्र–ग्रंथों में जिस प्रकार के लेप–निर्माण और उसकी प्रक्रिया आदि का वर्णन है उसी के अनुरूप यहां अजंता, बाघ के गुफाचित्रों में चित्रकारों ने काम किया है।

कुड्य–भूमिबन्धन :—इससे तात्पर्य है भित्तिचित्र–रचना के लिए आवश्यक आधार का निर्माण करना। भूमिबन्धन चित्रकार का प्रथम हस्त–विन्यास है। भित्ति पर किस प्रकार 'लेप' (पलस्तर) लगाया जाये कि वह चित्र के लिए उपयुक्त बन सकें, इसके सम्बन्ध में शिल्पशास्त्रों में विशद विवेचन है। लेप के लिए मिट्टी और चूना दोनों का प्रयोग किया गया है। कृष्णा–कावेरी नदियों के निकटवर्ती स्थानों में बने भित्तिचित्रों में शंख आदि से

निर्मित सुधा (चूना) लेप का प्रयोग अधिक किया गया है, किन्तु उत्तरी भारत तथा मध्य एशिया के तकला मकान तक मिट्टी के बने हुए अवशेष प्राप्त होते हैं। इनके लिए सर्वप्रथम सतह को समतल बनाना चाहिये। पुनः ऐसा लेप बनाकर लगाना चाहिये कि [illegible] (चिकना) हो जाये। इस लेप के निर्माण के लिए समरागणसूत्रधार ([illegible]) में लिखा है कि — मधूली (महुआ) वास्तुक (पुनर्नवा), कुष्मांड (कोहड़ा), कुछाल (लाल कचनार), अपामार्ग (चिचड़ा) [illegible] ([illegible]) का रस लगाकर सात दिन तक रखना चाहिये। पुनः शिंशपा (शीशम) अर्जुन ([illegible]), निम्ब (नीम) त्रिफला (हर्र, बहेड़ा, आंवला), व्याधिघात (आरग्वध, अमलतास) अथवा कुटज आदि किसी वृक्ष से रस निकालकर लाना चाहिये तथा पूर्वोक्त रस में मिलाकर इस मिश्रण से दीवार पर लेप करना चाहिये। [illegible] प्रकार का [illegible] है। आधुनिक दृष्टिकोण से इस प्रक्रिया को साइजिंग (Sizing) कह सकते हैं। कपड़ा अथवा कैनवास आदि किसी भी सतह (सपोर्ट, आधार) पर भूमिबंधन के पूर्व एक अवशोषी ([illegible]) [illegible] लगाया जाता है, जिससे सतह रंगों के बंधन-माध्यम को सोख न ले। साइजिंग के लिए आजकल सरेस के घोल का प्रयोग किया जाता है। वास्तविक लेप तो चिकनी मिट्टी, बालू तथा ककुभ (अर्जुन वृक्ष), [illegible] ([illegible]), [illegible] ([illegible]) तथा श्रीफल (बेल) के रस से निर्मित होता है। इन तीनों के विभिन्न [illegible] भित्ति पर करना चाहिये। इन दो प्रक्रियाओं के पश्चात् तीसरी प्रक्रिया में शर्करा (लाइम स्टोन) से इस पर तीसरा पतला लेप करना चाहिये जिससे चित्र के नाना अंग [illegible]। आजकल इस तीसरे लेप लगाने की प्रक्रिया को (Priming) कहते हैं और मुगलकाल में इसे अस्तर बांधना कहते थे। शर्करा का सामान्य अर्थ चीनी है, किन्तु इसका अर्थ लाइम स्टोन (Lime Stone) भी है। 'कल्क' का अर्थ पेस्ट, लुगदी या पतला मसाला है। सतह पर शर्करा अर्थात् - लाइम स्टोन का लेप करना चाहिये। 'शर्कराकल्क' लाइम स्टोन का बना पिष्ट (paste) या लुगदी है।

[illegible] ([illegible]) में वर्णन है कि शर्करा (लाइम स्टोन) नदियों, तालाबों, कूपों, धान के खेत आदि [illegible] लाना चाहिये। लाइम स्टोन बहुत मजबूती से सतह को पकड़ लेता है। इसे साफ से धोकर, [illegible] चूर्ण बनाकर [illegible] या इष्ट (ईंटें) के काढ़े में भिगो देते हैं। इस कल्क को इतना सुखा देते हैं कि [illegible] बन जावे। इसे और मजबूत (वज्रवत) बनाने के लिए इस कल्क को कपित्थ (कैथ, Feronia Elephantum) के गोंद के पानी मिलाकर खूब अच्छी तरह पीसने से मक्खन जैसा कल्क बन जाता है। तत्पश्चात् इसमें थोड़ा-थोड़ा [illegible] डालकर [illegible] बहुत सुन्दर वज्रलेप बन जाता है। प्राचीन मिस्र एवं क्रीट में [illegible] के लिए [illegible] इसी प्रकार के लाइमस्टोन के शर्कराकल्क (वज्रलेप) का प्रयोग किया गया है।

अजन्ता में भूमिबन्धन - विधान : -

अजन्ता तथा बाघ गुफा के भित्तिचित्र के लिए भूमिबंधन — विधान के सम्बन्ध में रायकृष्णदास का कथन है कि — दीवार या पाटन में जहां चित्रण करना होता था वहां का पत्थर टपर कर खुरदुरा बना दिया जाता था, जिस पर गोबर, पत्थर के चूरे — और कभी-कभी धान की भूसी मिले हुए गारे का लेवा (पर्त) चढ़ाया जाता था। यह लेवा चूने के पतले [illegible] से ढंका जाता था और इस पर अस्तर बांधकर लाल रंग की रेखाओं से चित्र टीपे जाते थे जो रंग भरकर तैयार किये जाते थे। मोतीचन्द्र ने "दि टेक्नीक आफ मुगल पेंटिंग" (पृ० १९) में तथा पर्सी ब्राउन ने 'इंडियन पेंटिंग' में भी भित्तिचित्र की भूमि तैयार करने की यही विधि बतलाई है। मोतीचन्द्र लिखते हैं —
'At Ajanta, our earliest source of information about Indian fresco paintings, the ground was

prepared by a mixture of clay, Cowdung and pulverised traprock applied to the walls and thoroughly pressed in. Rice-husk was also added to the above mixture. The thickness of this first layer varied from one eighth of an inch to three quarters of an inch Over this a coating of cūnam was applied. This method was also followed at Bagh "

मोतीचन्द्र ने अजन्ता पेंटिंग को फ्रेस्को कहा है जो उचित नहीं। फ्रेस्को चूने के गीले गच (पलस्तर) पर किया जाता है, किंतु अजन्ता में चूने के पलस्तर का प्रयोग नहीं है और रंगों की पर्तें स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

भित्तिचित्र की अजन्ता की इस प्रक्रिया में समयानुसार धीरे-धीरे परिवर्तन होता गया। बाद में पहाड़ी शैली के भी भित्तिचित्र बहुत बनाये गये। ऐसे चित्रों के लिए सतह, पैंड (पैनेल) पर तैयार की जाती थी। पहाड़ी घरों में ये पैनेल लकड़ी के पटरों में बने ढाँचों में छोटे-बड़े अनगढ़ पत्थरों को मिट्टी व भूसे के गारे के साथ भरकर बनाया जाता था। फिर उस पर अंतिम रूप में एक पलस्तर लगाया जाता था जो अधिकांशतः सफेद मिट्टी और पिच्छ (चावल का माड़) के मिश्रण से तैयार किया जाता था। उस पर घोटनी से घुटाई की जाती थी। पुनः इसी मिश्रण की पुताई करके फिर घुटाई की जाती थी। यह क्रम तब तक दोहराया जाता था जब तक इस पलस्तर की मोटाई कम-से-कम आधा इंच और अधिक से अधिक एक इंच तक न हो जाती थी। इस प्रकार एक-पर-एक अस्तर जमने से उस भित्ति पर दरारों की संभावना बहुत कम हो जाती थी। फिर इस भित्ति पर जस्त की भस्म (जिंक आक्साइड, जिसे मुगल चित्रकार "कासगर" कहते थे। इसे ही चाइनीज व्हाइट भी कहा जाता है।) या खड़िया मिट्टी को (संभवतः चूने के बदले खड़िये की लिखाई, जो कुछ वर्षों पहले तक लगभग पूरे भारत में प्रचलित थी) गोंद या सरेस में मिलाकर लेप किया जाता था और, इस पर घुटाई दोहराई जाती थी। घुटाई के लिए गोल या अण्डाकार चिकनी सतह वाले पत्थर प्रयोग किये जाते थे, जो व्यास और सतलुज नदी के किनारे पाये जाते थे। सुलेमानी पत्थर भी इस कार्य के लिए प्रयुक्त होते थे। इसे "घोटनी" (मुगल चित्रकार 'ओपनी") कहा जाता था।

अजन्ता, बाघ तथा आगे चलकर लंका के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों के भित्तिचित्र चूने की गच (पलस्तर) पर बने है। शिल्प शास्त्रों में प्लास्टर के ऊपर बनाये चित्र को "लेप्यचित्र" कहा गया है। मुगल दरबार तथा जयपुर आदि कला-केन्द्रो में जिस चित्रकला का विकास हुआ उसमें भी इसी भूमिबन्धन की परम्परा अपनायी गयी प्रतीत होती है। काल की प्रगति के अनुसार भित्तिचित्रों की प्रक्रिया में भी धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन किये गये। चूने के पलस्तर पर की गई (गचकारी) भारतीय प्रक्रिया का प्राचीनतम उदाहरण सित्तनवासल की गुफा में मिलता है, जिसकी परपरा उस काल से आज तक विद्यमान है। यह गचकारी प्रक्रिया दक्षिण भारत तक ही सीमित न रह कर, स्थानीय और कालगत भेदों के साथ सपूर्ण भारत में प्रचलित थी। भारतीय और इटालियन गचकारी-प्रक्रिया मे पर्याप्त अतर है।

लेप (प्लास्टर) तथा लेपद्रव्य :—

चित्रकर्म के लिए लेप तथा लेपद्रव्य का अत्यधिक महत्त्व है। जैन ग्रंथों में प्लास्टर के लिए "पुल" और स्टको (प्लास्टर का मसाला) के लिए "पुस्तलिका" शब्द आया है। जिस प्रकार वर्तिका भूमिबन्धन की सहायिका है उसी प्रकार लेप भी भूमिबन्धन के सहायक हैं।

विनय पिटक (२।३६) में "लेप्य चित्र" (म्यूरल पेंटिंग, भित्ति चित्र) शब्द आया है। यह उन चित्रों के लिए है जो चूने से लिपी-पुती भीत पर बनाये जाते थे और बाद में कपड़ों की गद्दी से रगड़ कर चिकने तथा चमकदार कर दिये जाते थे।

''महाउम्मग्ग जातक'' में एक ऐसे विशाल भूमिगृह का उल्लेख है जिसकी इष्टिका निर्मित भित्तियो पर पहले सुन्दर सफेद प्लास्टर (सुधाकम्म) किया गया, तत्पश्चात् उस पर निपुण चित्रकारो ने अनेक प्रकार के चित्र लिखे । उनकी छत लकड़ी की थी । उस पर भी एक विशेष प्रकार की मिट्टी से लेप चढ़ाया गया था, जिसे ''उल्लोक (य) मृत्तिका'' कहा गया है । इस लेप को किसी विशेष मसाले से धवलित बनाकर (स्वेतकम्म) चित्रो के योग्य बनाया गया । इस प्रकार सफेद लगाकर और घुटाई करके छत में अनेक प्रकार के खिले हुए कमल-पुष्पो के फुल्ले लिखे गये ।

इन साहित्यिक सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल मे आजकल के समान चित्रोपकरण सुलभ नही थे, अतः चित्रकार को पग-पग पर बड़े अध्यवसाय एव विस्तृत प्रयोग की आवश्यकता होती थी । उसे मृत्तिका तथा लेपद्रव्यादि की प्राप्ति के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता था ।

प्राचीन साहित्य, शिल्पशास्त्र तथा स्थापत्यशास्त्र मे लेपों के नाना प्रकारो का वर्णन है, जैसे – मृत्तिका-बन्धन, सुधाबन्धन, इष्टकाबन्धन अथवा इष्टकाचूर्ण, वज्रलेप आदि । विष्णुधर्मोत्तर (३।४०।१) मे इष्टकाचूर्ण का, समरांगणसूत्रधार (अध्याय-७२) एव अपराजितपृच्छा मे मृत्तिकालेप का वर्णन है । अपराजितपृच्छा मे मृत्तिकालेप अथवा मृत्तिकाबन्धन के अतिरिक्त सुधाबन्धन (चूने का लेपद्रव्य) या सुधालेप पर भी प्रवचन है । मानसोल्लास मे वज्रलेप का तथा शिल्परत्न मे सुधालेप का वर्णन आया है । यहाँ सर्वप्रथम इष्टकाचूर्ण (ऐष्टिकलेप) का वर्णन प्रस्तुत है ।

ऐष्टिक लेप अथवा इष्टकाचूर्ण :—

विष्णुधर्मोत्तर (३।४०।१-१०) मे वर्णित भूमिबन्धन की प्रक्रिया में तीन प्रकार के ऐष्टिक चूर्ण (ईंट का चूर्ण) को सम्मिलित करके उसमे इष्टकाचूर्ण के अनुपात मे एक तिहाई मिट्टी डालकर, गुग्गुल, मोम (मधुच्छिष्ट), मधुकुन्दरुक (महुआ, मूसी, मेथी, गोंद, कुन्दरु), गुड़, तैल संयुक्त कुसुम्भपुष्प बराबर मात्रा मे मिलावे । फिर उसमे आग पर पकाया हुआ एक तिहाई चूना (सुधाचूर्ण), दो अंश बेल का गूदा, भषक (मसी ? मस्का ?), कप (खैर ?) और तदनुरूप जितनी आवश्यकता हो उतना बालू का अंश मिलावे । तदनन्तर लसोडे के लसदार पानी मे (प्लावये-त्पिच्छिलेन) अथवा बहेडे के पानी (अक्ष) मे ऐसे पानी में उस मिश्रित पदार्थ को एक मास तक भिगोवे । एक महीने मे वह मिश्रित पदार्थ सूखकर चिकना, स्निग्ध हो जाता है । तब उसको सावधानी से निकालकर सूखी दीवार पर लेप करे । लेप चिकना, कोमल, दृढ़ एवं पुष्ट हो । वह बहुत मोटा (गाढ़ा) या बहुत पतला (विरल) भी नही होना चाहिये । पुनः इसको चिकना करने के लिए मृत्तिकालेप भी वांछित है । लेप से बारबार लिपी हुई दीवार जब सूख जाय तब उस पर तेल, मिट्टी और संगरम (सर्जरसा) के मिश्रण से तैयार किये हुए लेप्य पदार्थ एव चिकने सजनों की सावधानी से घुटाई करे । अनन्तर उसे बार-बार दूध या जल से सीचकर, तुरत यत्नपूर्वक भाजकर या गद्दी मारकर दीवार को सूखा डाले । प्राचीन ग्रंथकारों के मतानुसार इस प्रकार की हुई लिपाई सौ वर्ष मे भी कभी नष्ट नहीं होती–**'अपि वर्षशतस्यान्ते न प्रणश्येत् कर्हिचित् ।'**

विष्णुधर्मोत्तर (३।४०।१) में ''त्रिप्रकारेष्टकाचूर्ण'' में स्पष्ट नही किया गया है कि कौन-कौन सी तीन प्रकार की ईंटों का चूर्ण बनाना चाहिये । यहाँ शिल्पकार चतुराई कर गया है । वस्तुत तीन प्रकार की ईटो से प्रतीत होता है–(१) इसरियाई हुई सबसे निचली दीवार की सतह को समतल करने के लिए ईट के मोटे टुकडो का प्रयोग हुआ है, (२) इसके बाद की दूसरी पर्त पर ईंट के कुछ बारीक कणो का प्रयोग हुआ है और (३) अन्तिम

(फिनिश्ड) सतह पर बिलकुल बारीक पाउडर जैसे चूर्ण का प्रयोग किया जाता है। अजन्ता में भी मिट्टी के साथ पत्थर का चूर्ण और बालू का मिश्रण किया गया है, वह इसी क्रम में है।

इसके दूसरे पाठ के अनुसार "चित्रकारिष्टका' अर्थात् चित्रकार की ईंट अर्थ भी कुछ विद्वानों ने किया है। प्रियबाला शाह ने (वि० ध०, द्वितीय भाग, गा० ओ० सी०, पृ० ११९) संभावना की है कि गुजराती में जिसे "गोटी" कहते है, सम्भवतः यह वही होगा। – किन्तु यह अर्थ अयुक्त है।

"मधुकुन्दरुक" इसे स्टेला क्रैमरिश ने मेथी माना है (वि० ध० भाग ३, पृ० ८०)। मेथी का पानी या मेथी को पीसने से बने अत्यंत लसदार पदार्थ को इन लेपों में मिलाते हैं। चूने में मेथी मिलाने की प्रथा कुछ वर्ष पूर्व तक थी। कुछ विद्वानो ने मधुकुन्दरुक का पाठभेद 'मधूक मुरुक' माना है। मधूक – महुआ तथा मुरुक = मूर्वा। वस्तुतः इसे "मधुकुन्दुरु" पढ़ना चाहिये। मधु = शहद, कुन्दुरु – शल्लकी वृक्ष का सुगंधित रस या गोंद। शहद और गोंद दोनों पदार्थ चिपचिपे तथा प्रमुख बांधक-पदार्थ (बाइंडिंग मेटीरियल्स) है।

"मषक कपम् – (पाठभेद-मषण कथम्) में मषक का अर्थ कुछ लोगों ने मसी या मस्का माना है। मसी = भस्सी; मस्का – यह अभी भी यही कहलाता है। कंकड़ को फूंककर सफेदी के लिए चूना और मस्का बनाते है। प्रियबाला शाह ने इसे ईरानी शब्द माना है। वे भी इसे एक प्रकार का चूने से बना प्लास्टर मानती है। मषक अर्थात् मसी या स्याही के समान काला चूर्ण। यह संभवतः कसौटी के काले पत्थर को पीस कर चूर्ण बनाया जाता था – यह वे मानती है। उनका यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता।

वासुदेवशरण अग्रवाल "मषक कर्म" के संबंध में भारतीय कला (पृ० ३९) में लिखते है कि भीतों पर सुधाकर्म या चूनेबरी का पलस्तर किया जाता था। और ककड़ी के बड़े पट्टरों की छत के नीचे की ओर विशेष प्रकार की मिट्टी के मोटे-महीन कई लेप किये जाते थे जिनमें से अंतिम लेप सफेद रंग का होता था जिसे आजकल "दोगा मस्का" कहते है, क्योंकि वह मस्का मक्खन के समान चिकना या घुटा हुआ होता है। इसके लिए विशेष प्रकार का मसाला बनाया जाता था। महावंश में इसे "नवनीतमत्तिका" कहा गया है। उसी नाम का अनुवाद मस्का है। विष्णुधर्मोत्तर के चित्रसूत्र में उसके लिए 'मषक कर्मम्" अर्थात् मस्के का कर्म प्रयुक्त हुआ है। यह कर्म छोटा तहला या नख जैसी करनी से घोंटा जाता था। चित्र लिखने के लिए भीतों पर इसी मस्का नामक मसाले से अंतिम भूमिबंधन किया जाता था।

"मषक कर्म" पाठ कुछ विद्वानों ने माना है और संभावना की है कि मषक – ईंट के भट्ठे के चारों ओर की जली हुई मिट्टी, तथा कर्म – चूनाबरी।

इसी संदर्भ मे बरी का पलस्तर जो अभी तक प्रचलित है, उसका वर्णन कर देना उचित होगा। प्रायोगिक कलाविद् बैजनाथ प्रसाद के मतानुसार – कंकड़ को फूंककर बनाया हुआ चूना, जिसे अभी का चूना कहते है, वह ताजा गर्म लाकर उस पर पानी का छिड़काव कर देते है। वह फूटकर लावे के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी को आजकल भी "मस्का" कहा जाता है। इसे जब पीस देते है तब उसे "पक्का" कहते हैं और जब मस्के से अधिक पानी देकर घोल निकाल लेते है तब उसे "दोगा" कहते है। मस्के के साथ सुर्खी (इष्टकाचूर्ण) या भट्ठे की भस्सी या जली हुई मिट्टी मिलाकर पलस्तर करते हैं। इसके ऊपर पक्के का पतला लेप लगाते हैं और इसे समतल करके, सबसे ऊपरी पर्त दोगे के घोल से लेपित करते हैं। अंत में सहुले से घुटाई करते हैं। इस प्रकार बहुत ही चिकनी और सुदृढ़ सतह तैयार हो जाती है, यह प्रयोगात्मक सिद्ध करके देखी गई है।

सर्जरस (बदरस) को प्रियबाला शाह ने शाल वृक्ष से निकला तरल पदार्थ रजन (Resin) माना है। Resin = राल, धूना, धूप, लाख। सर्जरस अर्थात् सर्ज वृक्ष का रस। स्टेला क्रैमरिश तथा मोतीचंद्र ने भी इसे शाल वृक्ष का रजन (राल), धूना माना है।

मणिभूमि : विष्णुधर्मोत्तर की ऊपर बतलाई गई विधि से दो तरह के रगो वाले लेपो से युक्त अनेक मणिमय (स्वच्छ स्फटिक के समान चमकदार) भित्तिया चित्र की आकृति के अनुसार बनाना चाहिये।—

अनेनैव प्रकारेण द्विविधैर्वर्णकैर्युताः ।
कर्तव्याः चित्रवपुषा विविधा मणिभूमयः ।। वि० ध०, ४०।१० ।।

उपर्युक्त वर्णनो मे भूमिबंधन के लिए पलस्तर तैयार करने की मुख्यत चार विधिया का वर्णन किया गया है — (१) बालू + चूना या मस्का, (२) चूना + इष्टिकाचूर्ण, (३) मस्का + इष्टकाचूर्ण, (४) इष्टकाचूर्ण + मिट्टी। भूमिबंधन की इन चारो विधियो को उपर्युक्त श्लोक, ४०।१० में "अनेनैव" (अनेक प्रकार की) शब्द से इगित कर दिया है। संभवत शिल्पकार अपनी कला का भेद (गुर) शास्त्रकार को स्पष्ट नही बतलाना चाहता हो, इसीलिए उसने सक्षेप में "अनेनैव" कह कर, आगे बात बढ़ा दी। भित्ति पर दो प्रकार के वर्णको (रगो, पिगमेंट्स) को लगाने का यहा उल्लेख है और चित्र-रचना के लिए तैयार भित्ति को यहा "चित्रवपुषामणिभूमि" कहा है। इसका दो अर्थ है–(१) अत्यधिक सुदर; (२) चित्र के लिए उपयुक्त मणि के समान चमकती सुदर भित्ति, जो न तो अत्यधिक चिकनी हो और न तो खुरदरी या असमतल। मोतीचद्र ने मणिभूमि का अर्थ विभिन्न रगो के सगमरमर के मुजैक की तरह सुदर दीखती भित्ति माना है। यह अर्थ ठीक नही प्रतीत होता।

शिशुपालवध (३।४६) मे वर्णित है कि द्वारकापुरी मे महलो की दीवारो पर अत्यत चिकना होने से, चित्रकार चित्र बनाने मे असमर्थ हो गये -

'यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।'

दक्षिण भारत के मदिरो मे प्राय सुधालेप लगी गच अत्यत चिकनी होने के कारण उस पर रग लगाने में बहुत कठिनाई होती है। इसीलिए कलाकार वहा मोटे ब्रश से पत्रज परदाज जैसे रग लगाते हैं।

चित्रकार का कार्य प्रारंभ करने का उत्तम समय तथा धार्मिक रीति — चित्र-रचना भी प्रतिमा-निर्माण की भाति ही नैष्ठिक क्रिया थी। केवल निष्ठावान् चित्रकारो को चित्रकर्म मे प्रवृत्त होना चाहिये। चित्रकार का काम सरल नहीं है। इसके लिए प्रतिभा, साधना और निष्ठा की नितान्त आवश्यकता है। यह कार्य बहुत ही गंभीर और अतिशय पवित्र है। अत विष्णुधर्मोत्तर (४०।११–१२½ मे कहा गया है कि—

'कुड्ये शुष्के तिथौ शस्ते ऋक्षे च गुणसंयुते ।
चित्रायोगे विशेषेणश्वेतवासा यतात्मवान् ।। ११ ।।

ब्राह्मणान् पूजयित्वा तु स्वस्ति वाच्य प्रणम्य च ।
तद्विदश्च यथान्यायं गुरूंश्च गुरुवत्सलः ।। १२ ।।
प्राङ्मुखो देवताध्यायी चित्रकर्म समाचरेत् ।। १२½ ।।

भित्ति (मणिभूमि) के सूख जाने पर प्रशस्त तिथि एवं शुभ नक्षत्र मे या विशेषकर चित्रा नक्षत्र में श्वेत वस्त्र धारण कर सयमी होकर ब्राह्मणों का पूजन करे। फिर स्वस्ति वाचन करके चित्रकलाविदो तथा गुरुजनों को

गुरुभक्त चित्रकार प्रणाम करे । तत्पश्चात् पुरब मुख होकर इष्टदेव का ध्यान करके चित्र बनाना प्रारम्भ करे । श्वेत, गहरे पीले (रामरज) या लल्लोह, भूरे (काद्रव) रंग की क्रमशः काली मृत्तिकाओं से क्रमशः पूर्वोक्त प्रमाण एवं स्थान के अनुसार चित्र लिखे । तदनन्तर स्थानों के अनुरूप रंग लगाना चाहिए ।

"समरांगणसूत्रधार" में भी निर्देश है कि शुभ मुहूर्त में कर्ता (चित्रकार), भर्ता (संरक्षक, राजा, स्वामी या यजमान) तथा शिक्षक (आचार्य, गुरु) इन तीनों को पहले उपवास करना चाहिए और वर्तिका की (जो भूमिबन्धन की लेखनी है) पूजा करनी चाहिए । पुनः व्रीहि (चावल) आदि के सदृश बीजों का चूर्ण (कल्क) बनाकर, इसका पिण्ड (पुरोडाश) बनाकर धूप में सुखाना चाहिये । फिर उसे आग पर रखकर उबालना चाहिये और इसकी भूमी आदि के प्रक्षालन के उपरान्त उसे पूरे सात दिन तक सड़ाना चाहिये । इसी को 'खरवलन' की संज्ञा दी गई है । वर्तिका पर इसके चूर्ण को रोमकूर्चक (बालों के ब्रश) से लगाना चाहिये, तभी यह वर्तिका भूमिबन्धन का उपकरण बन पाती है ।

मृत्तिका लेप :- समरांगणसूत्रधार में भूमिबन्धनोचित लेप में मृत्तिका ही प्रधान है । इस मृत्तिका का चयन शुभ एवं समुचित स्थान जैसे – वापी, (बावली तालाब), कूप, तड़ाग, पुष्करिणी-सरोवर, नदियों के मुहाने, वृक्षमूल, गुल्ममध्य, आदि में करना चाहिये । प्रशस्त स्थानों से मृत्तिका-संग्रह के उपरान्त यह निर्देश है कि मृत्तिका अनेक रंगों की होती है, अतः वर्णोचित मृत्तिका में उसके वर्ण का ध्यान रखना चाहिये । ब्राह्मण के लिए शुक्ल, क्षत्रियों के लिए रक्त, वैश्यों के लिए पीत तथा शूद्रों के लिए कृष्ण वर्ण की मृत्तिका की इस देश में सनातन परम्परा है । दूसरा निर्देश यह है कि मृत्तिका को पूर्ण परीक्षा करके लेना चाहिये । कंकड़ आदि निकाल कर, शाल्मली (सेमल), माष (उड़द), ककुभ (अर्जुनवृक्ष), मधूक (महुआ), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) आदि वृक्षों का रस लाकर बालू के साथ मिट्टी में मिलाना चाहिये । इस मिश्रण में क्रमुक (सुपारी के पेड़ की छाल), चनका (चनाखार या चनेठ = एक प्रकार की घास), बिल्व (बेल), महालोमानि वाजिनः (घोड़े के सिर से नाभि तक उगे हुए बाल), गवां रोमाणि (गाय के शरीर के रोयें) अथवा नारियल की जटा धान की भूसी, कपास की रुई, आदि भी मिलाना चाहिये । बालू और मिट्टी का मिश्रण सम भाग में करना चाहिये । पुनः सबका कल्क (लुगदी) बनाकर उबाल लेना चाहिये, जिससे यह वज्र-लेप के समान कठोर लेपद्रव्य तैयार हो जाये । यह मृत्तिका-लेप प्राचीनकाल का सामान्य लेप था जो प्रायः बहुत स्थायी होता था । इस मृत्तिका लेप को भित्ति पर लगाने के उपरान्त सूख जाने पर, कटशर्करा अर्थात् उस सतह पर चूने का लेप कूर्चक (कूँची) से लगाना चाहिये । मानसोल्लास में इस प्रकार के लेप की संज्ञा "वज्रलेप" दी गई है, किन्तु अपराजितपृच्छा में 'मृत्तिकाबन्धन' तथा 'सुधाबन्धन' नाम है ।

कल्क . — कूट-पीस कर बनाई गई लुगदी, पल्प (PULP) । वि० ध०, मानसो०, स० सू०, दशकुमारचरित (**मणिसमुद्गक...निर्यासकल्क**) आदि ग्रंथों में कल्क का वर्णन आया है । कल्क = लुगदी । निर्यास = रस, जैसे गोंद ।

उत्तम प्रकार के कार्य में बालू के स्थान पर संगमरमर के चूर्ण या 'कल्कस्वार' का प्रयोग होता था । विस्तृत विवरण के लिए जार्ज सी० एम० बर्डउड का "दि इण्डस्ट्रियल आर्ट्स आफ इण्डिया", पृ० २१५ द्रष्टव्य है ।

संस्कृत का 'कल्क' शब्द ज्यों-का-त्यों ग्रीक भाषा में KALK है और लैटिन में CALC तथा अंग्रेजी में भी यही लैटिन शब्द प्रचलित है, (आक्सफोर्ड डिक्शनरी, पृ० १६६) ।

इसके अतिरिक्त महाभाष्य में रंगने के कार्यों में भी कल्क शब्द का महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलता है महा [illegible] ([illegible]) सूत्र में [illegible] यह उल्लेख किया है, जिसका स्पष्ट

र्थ है, जूते के लिए पालिश । पालिश के लिए भाष्यकार के समय 'तिलकल्क' शब्द प्रयुक्त हुआ है । सामान्यत. कल्क शब्द तेल आदि रखने वाले पात्र की तलहटी मे जमी हुई गाढ़ी मैल (जिसे काई, तैल-किट्ट या काठ—जमना भी कहते है) के अर्थ मे प्रयुक्त होता है । सभव है कि उस समय बूट—पालिश तिल मे किसी प्रक्रिया विशेष द्वारा बनाया जाता रहा हो अथवा तिल के मैल का उसमे प्रयोग होता हो । यदि बूट पालिश काला ही बनता रहा हो तो सभव है वर्ण के सादृश्य मे ही तिलकल्क कहा गया हो ।

किट्ट कहने मे एक और बात की ओर ध्यान जाता है । कुमारस्वामी ने 'सर आशुतोष मुकर्जी कॉमिमोरेशन वाल्यूम' मे शिल्परत्न के चित्रलक्षण लेख (पृ० ८९) मे कहा है कि "किट्टलेखनी" ब्रश नही है वरन् सूखी और कडी पेंसिल है ।

मृत्तिकाबन्धन . — श्वेत, रक्त तथा पीत मृत्तिका के अतिरिक्त अन्य उपकरणो मे अतसी (अलसी, तीसी) पुष्प, यव, गोधूम (गेहूँ) के चूर्ण, क्षीरद्रुमो के वल्कल (दुधारू वृक्ष की छाल), गुडसयुत वल्कल (सभवत: गन्ने की छाल या दारुचीनी) तथा इन्द्रवृक्ष (अर्जुन का पेड़) आदि वानस्पत्य द्रव को अच्छी तरह मिला लेना चाहिये । इन सबका चूर्ण बनाकर, पाषाण चूर्ण के साथ मिश्रित करके, कूट—छान कर कल्क बना लेना चाहिये । पुन अलसी का तेल तथा कुछ पानी के साथ इसको खूब घोटना चाहिये । इससे यह लेप कज्जल के समान चिकना बन जाता है । फिर मुष्टि (मुट्ठी) के बराबर पिण्डो को लेकर धूप मे सुखाना चाहिये । सूखने पर यह लेप वज्र के समान कड़ा हो जाता है । इसी को भित्ति पर लेप करने से वह कड़ा जम जाता है । इस लेपद्रव्य को 'अपराजितपृच्छा मे मृत्तिकाबन्धन कहा गया है ।

सुधाबन्धन — "अपराजितपृच्छा" मे भूमिबन्धन के लिए एक प्रकार के और भी लेपद्रव्य का 'सुधा-बन्धन' नाम से उल्लेख है । इसे बनाने के लिए सफेद पत्थर के छोटे टुकडो को दस दिन आग मे जलाना चाहिये । पुन उस चूर्ण को बिल्वादि वृक्षों के रस मे मिश्रित करके एक मास अथवा कम-से-कम पन्द्रह दिन तक रख देना चाहिए । अन्त मे यह अत्यन्त सुन्दर लेप बन जाता है । इन सभी लेपद्रव्यो को प्राचीन काल मे 'चूनम्' कहते थे । विनय—पिटक (३।३६) मे भित्ति पर इसे लगाने को 'सुधाकम्मं' (सुधाकम्म) कहा गया है ।

सुधाबन्धन मे मिलती—जुलती प्लास्टर पेंटिंग की तकनीक आधुनिक युग मे दो प्रकार से प्रचलित है — (१) स्टको, जिसमे बालू और चूने का पलस्तर किया जाता है, (२) इटोनेको, जिसमे चूना और संगमरमर की भस्सी (मार्बल डस्ट) मिलाकर पलस्तर करते है । भित्ति पर बालू और चूने का पलस्तर करके उसके ऊपर इटोनेको लगाते है । यह पलस्तर लगाकर एक वर्ष या छ: महीने तक भित्ति सूखने को छोड देते है, जिससे जितनी दरार पड़नी हो पड़ जाये । तत्पश्चात् उन फिर से लेप लगाकर चिकना करके गीली भित्ति पर ही रेखाकन करके रग भर देते है । फ्रेस्को पद्धति मे यही प्लास्टर प्रयोग मे लाया जाता है । रग मे गोद न मिलाकर केवल पानी मे घोलकर लगाते है । फिर इसे नहले (करनी से छोटा औजार) से चिकना करके, अकीक से घुटाई करते है । यह भित्ति अब ओपदार संगमरमर की तरह चमकने लगती है । योरोप मे भी यह तकनीक प्रचलित थी । माइकेल ऐंजिलो ने सिस्टीन चैपेल के भित्ति चित्र इसी तकनीक से निर्मित किये थे । सित्तनवासल के चित्र इसी विधि से बने सबसे प्राचीन उदा-हरण हैं । १६ वी शती से यह प्रथा विशेष प्रारंभ हुई और १८ वी शती मे सर्वप्रचलित हुई । १६ वी शती की इस विधि से बनी फ्रेस्को पेंटिंग का सबसे प्राचीन नमूना आमेर (राजस्थान) के मीराबाई महल के सामने की छतरी पर अभी भी विद्यमान है । ग्वालियर के महलों मे इसी विधि से बने भित्तिचित्र आज भी बहुत अच्छी स्थिति मे है । यदि निबद्ध (टेम्परा) पद्धति मे उभ्य चित्रकारी करनी हो तो प्लास्टर को सूख जाने दिया जाता है और सूखने

के पूर्व उसे अच्छी तरह तहलें या अकीक की घोटी से घोटकर [illegible] कर दिया जाता है। इस पद्धति की परम्परा दक्षिण भारत के मन्दिरों में आज भी विद्यमान है।

सुधालेप . — शिल्परत्न ([illegible]) का कथन है कि [illegible] किया जाता था और इस चूर्ण को चौथाई भाग मुद्गक्वाथ [illegible] है, गुड़ — अर्थात् गुड़ का [illegible] बनाया गया अत्यन्त अल्प रस तथा सुक्तीर (आम का पानी) में भिगोकर, चौथाई भाग [illegible] का मिश्रण करना चाहिये। पुनः अग्नि पर उबाले हुए कदली का चूर्ण मिलाकर अग्नि में पकाकर [illegible] करना चाहिये। [illegible] इसको एक द्रोणीपात्र में रखकर सूखने के लिए तीन महीने तक रखे रहना चाहिये। [illegible] शिला पर पीसना चाहिये और ऊपर से आम का पानी (सुक्तनीर) डालते रहना चाहिये, जब तक यह नवनीत के समान चिकना न हो जाय। तत्पश्चात् भित्ति पर नारिकेल निर्मित ब्रश से इसका लेप करना चाहिये। स्पष्टतः यह पद्धति दक्षिण भारत की ही प्रतीत होती है, क्योंकि शंख, आम, नारियल बहुत मात्रा में [illegible] हैं। शिल्परत्न का एक महत्वपूर्ण निर्देश है कि इस सुधालेप का फलक-चित्रों में प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये

'सुधालेपो न कर्तव्यश्चित्रार्थं फलकादिषु।

सम्भवतः फलक-चित्रों को निरंतर उठाने-रखने से सुधालेप के [illegible] अथवा रंग के झड़ जाने की आशंका थी, क्योंकि लकड़ी पर चूने का लेप नहीं पकड़ता है। कुमारस्वामी सुधालेप के सम्बन्ध में शिल्परत्न के चित्रलक्षण में कहते हैं — The white stucco used in Ceylon and Southern India is made of fine sand, shell lime, green coconut water, and coarse sugar, and adds that when laid on experienced plasterers it displays the polish and appearance of marble."

इन्साइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड आर्ट भाग १२ (पृ० ६२३) में 'स्टक्को' के सम्बन्ध में लिखा है .— 'Stucco is usually composed of hydrated lime or cement mixed with water and laid on wet surface. It is a slowly setting plaster and a mixture of lime wash, sand and gympsum in various proportions "

वज्रलेप : 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' अथवा मानसोल्लास में चित्र भित्ति के निर्माण के लिए जो लेप वर्णित है उसे 'वज्रलेप' कहा गया है। इसके सम्बन्ध में वर्णन है कि पहले दीवार को समतल करके, उस पर सफेदी कर देनी चाहिये। पुनः उस पर चित्र बनाने योग्य भाग को दृढ़ सबल बनाने के लिए एक लेप-द्रव्य लगाना चाहिये। उक्त लेप-द्रव्य तैयार करने की विधि निम्नलिखित है

भैंस के चर्म को पानी में भिगोकर, मक्खन के समान चिकना और मुलायम होने पर उस चर्म को शलाकाओं के समान टुकड़े कर लेना चाहिये। पुनः उसको सुखाकर वज्रलेप के साथ दीवार के लेप में उपयोग करना चाहिये। इससे एक प्रकार का ऐसा वज्रलेप बनाया जाता था जो गर्म करने पर पिघल जाता था। यह आजकल के सरेस के समान होता था। इस वज्रलेप के निर्माण में श्वेत मृत्तिका, मिसा (मिश्री), शंखचूर्ण, नीलपर्वतोद्भव धातु विशेष (नग नामक सफेद पदार्थ को पीसकर) आदि के आनुपातिक योग एवं मिश्रण विहित है। वज्रलेप के सम्बन्ध में दूसरा निर्देश इस ग्रंथ में यह है कि इसको मिट्टी के पात्र में रखकर आग पर इतना गरम करना चाहिये कि यह एक प्रकार से द्रव बन जाये। पुनः इसमें शुक्लमृत्तिका पुट देकर दीवार पर तीन बार लेप करना चाहिये। स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान चिकनी इन भित्तियों पर कलाकार नाना रंग के चित्र अंकित किया करते थे।

'शिशुपालवध' (३।४६) में ऐसी ही वज्रलेप से बनाई गई स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान चिकनी भित्ति को 'रत्नभित्ती.' कहा गया है जिस पर अंग प्रतिबिम्बित हो — **'प्रतिबिंबितांगाः'** ।

त्रिविक्रम विरचित 'नलचम्पू ' (पृ० १३१) में उल्लेख है .—

'कज्जलालेख्यचित्रचर्च्यमानास्विव भवनभित्तिषु ।'

भवनों की दीवारों को कज्जल से चित्र अंकित करने योग्य बनाया जाता था। इससे स्पष्टत: प्रतीत होता है कि भित्ति को वज्रलेपादि लगाकर, चिकना करके रेखा खींचने योग्य बना लिया जाता था। यह रेखा काजल, गेरू आदि से खींची जाती थी। तत्पश्चात् उसमें नाना रंग भरे जाते थे।

'पंचतन्त्र' में कहा गया है - **'वज्रलेपेन घटितं वस्तु न शीघ्रं विश्लिष्यते ।'** — अर्थात् वज्रलेप से बनाई गई वस्तु कठोरता के कारण शीघ्र नष्ट नहीं होती।

वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' (५७।१–८) में भी वज्रलेप बनाने की विधियां दी गई हैं —

(क) तेंदू के कच्चे फल, कैंथ के कच्चे फल, सेम्हल के फूल, मल्लकी वृक्ष के बीज, धधनवृक्ष की छाल और बच, इन सबका एक द्रोण (पात्र विशेष) जल में काढ़ा बनावे। आठवां भाग बचने पर उसे उतार कर उसमें सरल वृक्ष का गोंद (गंधाबिरोजा), बोल (एक गंध द्रव्य) और गुग्गुल मिलावे। कुंदरू, राल, अलसी और बेल की गिरी घोंटकर डाले। हजार वर्ष पर्यन्त ठहरने वाले इस वज्रलेप को गर्म करके प्रासाद, हवेली, वलभी, शिवलिंग, देवप्रतिमा, भित्ति और कूपों में लगाना चाहिये।

(ख) लाख, कुन्दरू, गुग्गुल, घर के धुयें का जाला, कैथे के फल, बेल की गिरी, नागबेल के फल, महुए के फल, तेंदू के फल, मजीठ, राल, आंवला – इन सब वस्तुओं को एक द्रोण जल में क्वाथ बनाने से दूसरा वज्रलेप तैयार हो जाता है। यह भी पहले वज्रलेप की भांति ही काम में लाया जाता है।

(ग) गौ, भैंस, बकरा इन तीनों के सींग, गर्दभ, महिष और गौ इन तीनों के चर्म; कैथे के फल, नींबू के रस से युक्त वज्रतर नामक कल्क (लुगदी) बनाया जाता है। आठ भाग सीसा, दो भाग कांसा तथा एक भाग पीतल गलाकर वज्रसंघात नामक लेप सिद्ध किया जाता है। इस वज्रलेप को भित्ति पर लगाने से वह कठोर और चिकनी हो जाती है।

भित्तिचित्र :— अजन्ता, बाघ आदि के भित्तिचित्रों के अतिरिक्त पहाड़ी चित्रकारों ने भी चम्बा के रंग-महल (१८०० ई०), अखंड चंडी (१८७५ ई०) और ओबरी धर्मशाला के शिवालय (१९०० ई०) में सुन्दर भित्तिचित्रों का निर्माण किया है। अन्य स्थानों पर वे काफी नष्ट हो गये हैं। इनमें कृष्णलीला के कुछ चित्र भाव एवं लावण्य–निदर्शन के उत्कृष्ट नमूने हैं।

इन भित्तिचित्रों को 'वाल टेम्परा' कह सकते हैं क्योंकि ये चित्र या तो चूने की दीवार पर बने हैं या मिट्टी की दीवार पर। रंगमहल के कुछ चित्र चूने की दीवार पर और कुछ मिट्टी की दीवार पर भी बने हैं। अखंड चंडी के सभी चित्र चूने की दीवार पर अंकित हैं। दीवार पर पहले सकोल नामक मिट्टी, जिसे रावी और ब्यास नदियों से इकट्ठा करते हैं, प्रयोग की गयी है। इस मिट्टी में अभ्रक का कुछ अंश रहता है। इसके साथ कंद का सत्त (स्टार्च) इतना मिलाते हैं कि उंगली से घिसने से मिट्टी न उठे। पहले दीवार पर प्राय: चौथाई इंच की एक गच लगाते हैं और ओपनी से उसे

लाकर रखे। इन दोनों मे से एक को पीसकर वर्तन में पकाये और इस पके हुए लेप से पट्ट अर्थात् काष्ठ–फलक (पट्टिका) पर लेप करे तो पट्टभूमिबन्धन पट्टचित्रो के योग्य बन जाता है। इस लेप के बाद कटशर्करा आदि की सामान्य व्यवस्था यहा पर भी प्रयोज्य है। इसमे यह भी निर्देश है कि इस विधि के अतिरिक्त भी अनेक विधिया पट्टभूमिबंधन की है।

पहाड़ी चित्रों, विशेपत बसोहली एव चम्बा मे भी काष्ठ पर चित्र बनाये गये। इन चित्रों की 'लिखाई' वास्तव में दरवाजो, खिडकियो एव द्वारो पर या छोटे बक्सो पर की गई है। इस काम के लिए उन्होंने देवदार या सागौन की लकड़ी प्रयोग की है। देवदार का प्रयोग अधिक हुआ है परन्तु इसमे बिरोजा निकलकर चित्र को कुछ दिनो मे काला कर देता है। यही कारण है कि चम्बा के रगमहल के द्वारो के चित्र काले पड गये है। इन चित्रो के काला पड़ जाने का कारण रोगन भी है। पहाडी चित्रकार काष्ठ पर लिखाई करने के पूर्व सतह को पुरानी ईट से रगड कर रेशे निकाल देते थे। रेशे न रहने से रग अच्छा पकडता है। इसके बाद सरेस या सरेस के साथ सफेदा मिलाकर एक–दो अस्तर दिये जाते है एव साधारण चित्रो की भाति उनकी भी लिखाई करते है। चम्बा के भूरीसिंह सग्रहालय में १७२८ ई० के लगभग का द्वार पर बना हुआ बसोहली शैली का एक उत्कृष्ट चित्र है। चित्र पूरा होने पर उन पर रोगन कर दिया जाता था।

चित्रपट (क्लॉथ पेंटिंग), पटभूमिबन्धन :— जो चित्र कपडे पर (सभवत चमडे पर भी) बनाये जाते थे और लपेटकर रखे जाते थे एव कभी–कभी दीवार पर टागे भी जाते थे, उसे चित्रपट या पटचित्र कहा जाता था। मेदिनी कोश मे पट और चित्रपट को पर्याय माना है। चित्रपट तथा भित्तिचित्र की प्रथा अभी तक तिब्बत, नेपाल, जयपुर आदि स्थानों में जीवित है। ये चित्रपट मदिरों एव घरो मे पूजा तथा शोभा के लिए टागे जाते थे। पूजा के उद्देश्य से बनाया गया नेपाली पटचित्र पर अमिताभ का एक चित्र यहा प्रस्तुत है (चित्र १४)। समरागणसूत्रधार मे कहा है — **'यथा पट्टे तथैव स्याद् भूमिबन्धः पटेऽपिमः।'** – अर्थात् जिस प्रकार पट्ट (चित्रफलक) पर भूमि-बन्धन किया जाता है उसी प्रकार पट (कपड़े) पर भी भूमिबन्धन करना चाहिये।

भारत में भी पटचित्रो की परंपरा दीर्घकाल से वैष्णव सप्रदाय में तथा जैन तीर्थंकरो में भी चली आ रही है। इसमे इस देश की जन-आस्था एवं धार्मिक तृप्ति के भी दर्शन होते हैं। यह परपरा मध्यकालीन कही जा सकती है, किन्तु वैष्णव परम्परा से भी प्राचीन भास, कालिदास, बाणभट्ट तथा बौद्ध ग्रंथो में (सयुक्त निकाय, द्वि० १०१-१०२, तृ० १५२, विशुद्धिमग्ग, ५३५; महावश, २७वां, १८वां, मञ्जुश्रीमूलकल्प, एकपञ्चाश पटलविसर मे "पटविधान" आदि में)-चित्रपट का उल्लेख अत्यधिक आया है। इन ग्रंथों मे चित्रो के नाना प्रकारो का निर्देश है, साथ ही पट-चित्रो या चित्रपटो के व्यापक प्रचार एव प्रसार का भी आभास मिलता है। वात्स्यायन के कामसूत्र (अध्याय–४) में भी पटचित्रो का निर्देश है। वहा उसे "आख्यान-पट" कहा गया है। **"सैनां शीतलोऽनुप्रविश्याख्यानक-पटैः सुभगंकरणयोगैर्लोकवृत्तान्तैः कविकथाभिः तां रञ्जयेत्।"**– यशोधर आख्यानकपट का अर्थ करते है–**"यमुपदिश्या-ख्यानकानि चित्रलिखितानि।"**

आख्यान-पट या आख्यानक-पट से पटचित्रो के द्वारा सपूर्ण कथानक को चित्र-रूप मे प्रस्तुत करने का अभिनव एवं सुबोध प्रयास था। ऐसे आख्यान-पट आज भी उडीसा में विशेष रूप मे बनाये जा रहे है। ऐसे पटो मे समुद्र-मथन का दृश्य अंकित एक आख्यान-पट का चित्र यहा प्रस्तुत है (चित्र १५)।

चित्रपट (क्लाथ पेंटिग या कैनवास पेंटिंग) का एक सुदृढ प्रमाण भास के "दूतवाक्य" नाटक मे मिलता है जिसमे दुर्योधन बादरायण से कहता है–**"आनीयतां स चित्रपटो ननु, यत्र द्रौपदीकेशाम्बरावकर्षणमालिखितम्।**

ममाग्रतः प्रसारय ।"– द्रौपदी के केशाम्बराकर्षण (केश खींचना और चीरहरण) चित्रण का वर्णन करते हुए इसे फैलाने को कहता है, और – **अहो ! अस्य वर्णाढ्यता**" – प्रकट कर इस चित्रपट के रंगों की आढ्यता (richness of the colour effect) की प्रशंसा करता है। वर्णाढ्यता के लिए पुराने चित्रकार "वर्णाढ्य" शब्द का प्रयोग करते हैं। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि लंबे कपड़े पर बने हुए ये चित्र कुण्डलित करके (लपेट कर), सम्भाल कर रखे जाते थे। "उदयसुन्दरी कथा" (पृ० ८१) में "कुण्डलितपट" (पेंटेड स्क्रोल) का वर्णन आया है। इससे स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उस समय कपड़े पर बने हुए चित्रों को लपेटकर रखा जाता था जिन्हें इच्छानुसार प्रसारित अथवा उद्वेलित किया जा सकता था – "**सर्वं कुण्डलितपटं उद्वेल्य**"। ऐसे कुण्डलित पटों की सुरक्षा के लिए रेशमी वस्त्र के बने खोल में रखा जाता था–"**प्रकृष्ट चीन कर्पटप्रसेविकाया सयत्नमाकृष्य चित्रपटम्**"–(तिलक० पृ० १६५)। ये चित्रपट अधिकतर सूती वस्त्रों पर ही बनाये जाते थे और ये बहुत लम्बे भी होते थे।

"स्कन्दपुराण" के काशी खण्ड में एक ऐसे चित्रपट का वर्णन आया है जिसमें समस्त काशीपुरी के विन्यास और मंदिर चित्रलिखित दिखाये गये हैं और काशी के विद्वान पंडित शिवशर्मा की कन्या जब कर्णाट देश की राजकुमारी कलावती के रूप में जन्म लेती है, तब काशी का वह चित्रपट देखकर उसे पूर्व जन्म के संस्कारों की स्मृति आ जाती है।

धनपालकृत "तिलकमंजरी" (११वीं शती) में भी इसी प्रकार के एक चित्रपट का अच्छा वर्णन आया है। गन्धर्वक नामक एक युवक चित्रकार अति सुन्दर दिव्य चित्रपट तैयार करता है, जिसके विशिष्ट सौंदर्य "सर्वातिशायिचारुत्व" की प्रशंसा जब राजकुमार से की जाती है तो वह अपनी प्रतिहारी से पूछता है–"**भद्रे, किमत्रलिखितम् ।**" वह उस पट को खोलकर फैला देती है–"**विस्तारितो पुरस्तात् तत् ।**" तब राजकुमार एक सुन्दरी कन्या का चित्र उसमें देखता है "**कन्यका रूपधारिणी चित्रपुत्रिका**" – और उसके सौंदर्य पर आकृष्ट होकर उसके समग्र-जिल्ल रूप को कई बार देखता है – "**मुहुः मुहुः कृतारोहावरोहया दृष्ट्या तां व्यभावयत**"। - चित्रकार ने प्रगल्भतापूर्वक उस दिव्य कुमारी तिलकमंजरी की वह छवि अंकित की थी, फिर भी उस चित्रकार ने शालीनतावश राजकुमार से उसके गुण दोषों के विषय में पूछा—**कुमार अस्ति किञ्चिद्दर्शन रूपमत्र चित्रपटे रूपम् । उद्भूर्नंकवः कोऽपि दोषो वा नातिमात्रं प्रतिभाति आद्याप्यनुपजातपरिणतिश्चित्र विद्यायां शिक्षणीयोऽस्मदखिलकलाशास्त्र पारगेण महाभागेन ।**" – राजकुमार चित्र से अति प्रभावित था। उसने कहा – "सम्यगभिलिखिता"। आपने चित्र में आकृति का अभिलेखन सुन्दर ढंग से किया है। इसमें रंगों का संयोग भी उचित रूप से हुआ है – '**यथोचितं स्थापित वर्णसमुदाया**'" – एवं चित्र में ऊँचे-नीचे विभागों का प्रकाशन तथा अभिव्यक्ति अत्यन्त स्पष्ट हुई है – "**प्रकाशितव्यक्तनिम्नोन्नत विभागाः**"। इसमें लिखे हुए पक्षी और मृग साक्षात् सचेतन से जान पड़ते हैं। आकाश में पूर्ण चन्द्रमा की शोभा भी अतिनीय है। बहुत क्या ? इस चित्रपट में सभी कुछ सुन्दर बन पड़ा है – "**किं बहुना यद्यदवलोक्यते तत्तत्सर्वमपि रूपमस्य चित्रपटस्य चारुता प्रकर्षहेतु**" (तिलकमंजरी, पृ० १६६)।

भारत कला भवन में जगदीश मित्तल द्वारा प्रदत्त एक कुण्डलित चित्रपट है, जिसमें मार्कण्डेय पुराण की कथा का चित्रण कपड़े पर किया गया है। यह सफेद बल में बना है तथा इसकी शैली दक्कन है। यह लगभग १७६० ई० में निर्मित किया गया है। इसकी लंबाई ९६९ सें०मी० तथा चौड़ाई ९५ सें०मी० है। इसके रंग चटकीले हैं। इसमें देवी-देवताओं के अनेक चित्र एवं दृश्य अंकित हैं, जिसको सुगमतापूर्वक देखने के लिए एक ओर से खोलते जाना तथा दूसरी ओर से लपेटते जाना आवश्यक है।

प्राचीनकाल में कामदेवपट, लक्ष्मीपट आदि के रूप में देवताओं के ध्यान पट्ट बनाये जाते थे, जिनकी

परपरा आज भी विद्यमान है। "चतुर्भाणी" (५वी शती) मे "पादताडितकम्" भाग मे "लक्ष्मी-चित्रपट" का महत्वपूर्ण उल्लेख हुआ है :–

'वर्णानुरूपोज्ज्वलचारुवेषां, लक्ष्मीमिवालेख्यपटे निविष्टाम् ।
सापह्नवां कामिषु कामवन्तोऽरूपां विरूपामपि कामयन्ते ।।'

लक्ष्मी आलेख्यपट :— मोतीचन्द्र के अनुसार पाचवी शती मे लक्ष्मी के चित्रपट का यह उल्लेख महत्वपूर्ण है। लक्ष्मी सुन्दरता एव चंचलता की प्रतीक है। संभवत इस उक्ति का अभिप्राय नायिका के चित्र से है। वस्तुत अभी तक लक्ष्मी का प्राचीन चित्रपट नही मिला है।

कादम्बरी (पृ० ५३६) मे "कामदेव-पट" का उल्लेख है। यह उस समय एक अभिप्राय (मोटिफ) बन गया था।

'वासभवने मे शिरोभागनिहितः कामदेवपटः पाटनीयः।'

अत पुर के वासभवन मे कामदेव-पट लगाने का निर्देश है। रत्नावली (प्रथम अक) मे सागरिका कहती है – **"अस्माकं तातस्यान्तःपुरे पुनश्चित्रगतोऽर्च्यते।"** – हमारे पिता के अन्त पुर मे चित्र मे अकित कामदेव पूजा जाता है। इससे विदित होता है कि कामदेव-पट, लक्ष्मी-पट आदि पटो की पूजा घरो मे की जाती थी। आज भी बहुत से घरो में देवी-देवताओ के चित्रपटो की पूजा की जाती है।

हर्षचरित तथा मुद्राराक्षस मे "यमपट्ट" का वर्णन है। यमपट्ट पर भयानक भैंस पर आसीन यमराज का चित्र अकित है – **"भीषणमहिषाधिरूढ़ प्रेतनाथसनाथे चित्रवति पटे यमपट्टिकां ददर्श"** (हर्ष०, पृ० २६४)। इसमें परलोक के फल को दिखलाया गया है। मनुष्य यदि सत्कर्म करता है तो उसे स्वर्ग लोक का सुख प्राप्त होता है और यदि दुष्कर्म करता है तो उसे यमलोक (नरक) की यातना को झेलना पडता है (चित्र-८)। यमराज ही उसके कर्मो का लेखा जोखा रखते है। नरक-यातना के भय से भयभीत होकर लोग सत्कर्म करे इसी विचार से ये यमपट्ट बनाये जाते थे।

८वी, १०वी शती के लगभग कपडे पर बने हुए कई चित्रपट चीनी तुर्किस्तान की मरुभूमि से सुप्रसिद्ध जर्मन पुरातत्ववेत्ता स्व० प्रो० लेकाक ने प्राप्त किये थे। इनमे भारत के ब्राह्मणो, देव-देवियो, जैन अर्हतो और बुद्ध के जीवन-चरित्र का आलेखन है (चित्र–९)।

रघुवश (१७।२५), कुमारसभव (५।६७) तथा हर्षचरित में "हंसचिन्हित दुकूल" का वर्णन आया है। कालिदास तथा बाणभट्ट के समय मे प्रचलित कपडे पर चित्रकारी का यह सुंदर उदाहरण है।

सस्कृत साहित्य मे इस प्रकार बहुत से चित्रपटो का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रश्न है कि इन चित्रपटो या पट-पेंटिंग का भूमिबन्धन कैसे किया जाता था ?

"पचदशी" चित्रदीप, प्रकरण – ६ में विद्यारण्य मुनि ने चित्रपट बनाने की बहुत महत्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक विधि बतलाई है। इसके पूर्व किसी भी ग्रथ में चित्रपट तैयार करने की विधि का ठीक-ठीक उल्लेख नही है। इसमे बतलाया गया है कि चित्रपट की चार अवस्थाये होती है – (१) धौत, (२) घट्टित, (३) लांछित और (४) रञ्जित, – **"यथा धौतो घट्टितश्च लांछितो रञ्जितः पटः।**

धौत--पुता हुआ, अर्थात् सफेद लेप लगा हुआ, यह चित्रपट की प्रारंभिक दशा होती थी।

घट्टित--अभ्र से लिप्त, साफ किया हुआ घट्टित कहलाता है। इसके पर मांड डालकर उस पर किसी चीज से घोंटाई करके उस पट पर चमक लाते थे। मांडी और पत्थर को घोंटने से वह एकीभूत (गफ) हो जाता है। – (पंचदशी ६।१९३)। चित्रपट के विकास का यह दूसरा स्तर था। घट्टित अर्थात् Burnished[1] मोतीचन्द्र के अनुसार, तथा "Primed"[2] कुमारस्वामी के अनुसार।

आजकल नाथद्वारा में जो पटचित्र (पिछवई) बनते हैं उनमें भी धुले हुए कपड़े पर मैदे और सफेदा (खड़िया) मिलाकर, आगे-पीछे दोनों ओर से घोटते हैं। मुगल चित्रकार इसे "जमीन बांधना" कहते हैं।

लाञ्छित -- देव, मनुष्यादि आकृतियों से युक्त, लाञ्छित अर्थात् रेखांकित कहलाता था। दूसरी दशा के बाद चित्रपट पर रेखांकन किया जाता था। इसे मुगल चित्रकार 'टिपाई' कहते थे।

रंजित - यथोचित रंगों से पूरित, रंजित (रंगा हुआ) कहलाता था। तीसरी दशा के बाद रेखांकन में यथोचित रंग लगाया जाता था। मुगल चित्रकार इसे 'रंगामेजी' कहते थे। ये दशाएं यहाँ पटों या मुगल शैली के चित्रों के लिए भी प्रयुक्त होती थी।

ये पट प्रसारित और संकोचित (फैलाये और समेटे) किये जाते थे - (पंचदशी; ६।१६१, १८३, १८४)। लाञ्छित पट के लिए श्लोक २०२, तथा रंजित पट के लिए श्लोक २०४ द्रष्टव्य है। इस प्रकार धौत, घट्टित, लाञ्छित और रंजित – इन चार पदों में पटचित्र की और उसके भूमिबन्धन की पराकाष्ठा देखने को मिलती है।

जोधपुर, किशनगढ और नाथद्वारा में भी पटचित्र बने। नाथद्वारा वैष्णव चित्रकला का प्रमुख केन्द्र रहा है। कृष्ण के पटचित्रों का वहां प्राचीन काल से प्रचार था। ये पटचित्र बहुत छोटे-छोटे कपड़ों पर भी बनते थे और आज भी बन रहे हैं। इन पटचित्रों का भूमिबन्धन बंगाल और उड़ीसा (पुरी) की परिपाटी से कुछ भिन्न और विलक्षण है। नाथद्वारा में पटचित्रों के लिए कपड़े पर सफेदा (जिंक-ऑक्साइड) की पुताई करते हैं, जबकि बंगाल और पुरी में गोमय मिश्रित मृत्तिका का लेप लगाते हैं। वैष्णवों की पिछवई अर्थात् कृष्णलीला के पटचित्र का अनुकरण गुजरात में भी देखा जाता है जहां जैन तीर्थंकरों के जीवन चरित्र के लिए पट-चित्र बड़े व्यापक एवं उद्भावक बने। भारत कला भवन में राधा-कृष्ण संबंधी कई चित्रित "पिछवई" दर्शनीय हैं। यह बहुत लम्बी-चौड़ी होती है तथा मंदिरों में देव-मूर्तियों के पीछे पर्दे के समान टांगी जाती है। शरद पूर्णिमा में रासलीला का दृश्य अंकित एक पिछवई यहाँ प्रस्तुत है (चित्र–१६)।

बंगाल और उड़ीसा के पटचित्रों में प्राचीन परंपरा अभी भी निहित है। इन पटचित्रों के पटाधारों को गोमय (गोबर) मिश्रित मृत्तिका से लेप किया जाता था। मृत्तिका सूखने पर उस पर घुटाई की जाती थी जिससे वह चिकना हो जाय। पटचित्र-विधान में यह एक प्रकार की सामान्य प्रक्रिया है। बंगाल में पटचित्र को "पटुवा-पेंटिंग" कहते हैं।

पटुवा-पेंटिंग या पटचित्र बनाने वाले चित्रकारों के संबंध में बंगाल में एक रोचक लोक-कथा प्रचलित है। पहले इन पटुवा कलाकारों का स्थान बहुत उच्च था। एक बार एक पटुवा कलाकार अत्यन्त ध्यान-मग्न हो शिवजी

1. Burnished = To polish (V. T.); to grow bright or glossy, lustre (N.)

2. Primed = To lay the first colour in painting.

का चित्र बना रहा था। इससे प्रसन्न होकर शिवजी प्रत्यक्ष रूप से प्रगट हो गये। यह देखकर उस कलाकार ने भयभीत और लज्जित होकर, उसे छिपाने के लिए ब्रश को मुख मे डाल लिया। इससे शिवजी ने नाराज होकर शाप दे दिया कि तुम सब नीची जाति मे जाओ। समाज मे तुम्हारा निम्न स्थान रहेगा। तब से ये निम्न जाति के कहलाने लगे। – ("सेंसस् रिपोर्ट आफ वेस्ट बंगाल", १९५०, प्रकाशक – अशोक मित्रा, क्राफ्ट चैप्टर।)

बंगाल के पट-चित्रो के सबंध मे नानालाल चमनलाल मेहता "भारतीय चित्रकला" मे लिखते हैं–"पुराने बसोहली और गुजराती चित्रों की भाति गौड़ (बंगाल) में भी पटचित्रो का प्रचलन था। १९वीं शती के अनेक पट चित्र अजित घोष ने सगृहीत किये है। (दे० अजित घोष का लेख "रूपम्" नं० २७–२८, पृ० ९८–१०४)। इन सब चित्रों में पहाडी चित्रो की सुकुमारता का जरा भी अश नही है। वेग, ओज, क्रिया और प्रसाद – ये साधारण जनता की कला के विशेष गुण है। जैन पुस्तकों तथा उनके काष्ठ-आवरणों के लिए भी इसी तरह के चित्र १९वी शती के मध्य तक बनते रहे है। नीलमणिदास, बलरामदास और गोपालदास १९वी शती के बंगाल के प्रसिद्ध पटुवा कलाकार थे। रामायण, महाभारत और भागवत के विषयों के इनके आलेखन बहुत सुन्दर है। इन चित्रो का प्राण इनकी बहुत ही सजीव रेखाओ में है। इसी प्रकार के चित्रपट गुजरात, जयपुर में भी मिलते है। नेपाल और तिब्बत में तो इनकी प्रथा अभी तक जीवित है। तिब्बत के चित्रपट विश्व मे प्रसिद्ध है। कभी-कभी ये चित्रपट तीन-तीन गज लंबे और डेढ गज एव कभी उससे भी अधिक चौडे होते है। जयपुर के पोथीखाने में १७वीं शती के "ऋतु-चित्र" कपडे पर बने हुए है। ऐसे चित्र बहुत ही पुरानी परपरा के अनुसार बने हुए मालूम होते है। दक्षिण भारत में बडे-बडे लंबे पर्दों पर कृष्णचरित तथा विभिन्न देवी-देवताओं का आलेखन कलमकारी किया हुआ मिलता है। यहा यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल में कपडे पर बने हुए चित्र कभी-कभी दीवारों पर भी लगाये जाते थे। "कथा-सरित्सागर" में इसका उल्लेख मिलता है।

कालिदास तथा बाणभट्ट के ग्रथो में चित्रकला की प्रक्रिया एवं उपकरण के प्रचुर उल्लेख मिलते है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के छठें अंक में तो चित्रकला ही प्रधान है। वर्तिका के सबध में सानुमती कहती है – **"अहो राजर्षेर्वर्तिका निपुणता ! जाने में सखी अग्रतो वर्तत इति।"** इसमें कलाकार राजा की वर्तिका-निपुणता पर संकेत है। **"त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैश्शिलायाम्"**– (मेघ०, २।४२) तथा **"चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णा."**– (रघु०, १४।१६) मे चित्रभित्ति के प्रामाण्य का पोषण होता है। धातुरागों से शिला पर चित्रकारी आजकल की "पेस्टल ड्राइंग" के समान रही होगी। "चित्रद्विपाः" से भित्तिचित्रो की प्राचीन परपरा ज्ञात होती है। इन्दुमती, दशरथ, शकुन्तला, मालविका, अग्निमित्र, इरावती, उर्वशी आदि के चित्र-वर्णनों से चित्रफलक तथा चित्रपट दोनो चित्राधारो पर चित्राकन करने की परंपरा का भी पूर्ण प्रमाण प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त उस समय "पत्रालेखन"[1] (मानव एव पशु, विशेष रूप से हाथी के अगों पर लताबेलियों का चित्रण) बड़ा लोकप्रिय आलेख्य था। प्रेमी अपनी प्रेमिका

१—महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूप य. सयति प्राप्तपिनाकिलील. ।
चकार बाणैरसुराङ्गनाना गण्डस्थली. प्रोषितपत्रलेखा. ॥–रघु०, ६।७२। इत्यादि।

(ii) रेवा द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥–मेघदूत, १।२०।

भक्तिच्छेदै.–भक्ति – भात; (गुजराती में) भात, आकृति, रचना या अभिप्राय (अंग्रेजी-डिजाइन)। छेद – पत्ते या कागज में बनाई हुई कटावदार आकृति (अंग्रेजी-स्टेन्सिल) जिस पर रंग फेरने से चित्र बन जाता है। भक्ति और छेद ये दोनो चित्रकला के पारिभाषिक शब्द है।

के अगों पर पत्रालेखन करते थे। उस समय यह गात्र के अलंकरण का एक विशेष और महत्वपूर्ण प्रकार था, जिसका उल्लेख "कामसूत्र" की ६४ कलाओं मे भी है। यह प्रथा आज भी विवाह आदि अवसरों पर प्रचलित है। अपभ्रंश काल से तालपत्र पर भी चित्र बनने लगे थे किन्तु उस समय कागज का आविष्कार न होने से कागज पर बने चित्र नही प्राप्त होते। इनके अतिरिक्त "धूलिचित्र" बनते थे तथा मिट्टी के बर्तनों-कलश आदि पर भी चित्रकारी की जाती थी। इसके लिए हर्षचरित मे राज्यश्री का विवाह-वर्णन द्रष्टव्य है।

चित्रलेखन प्रक्रिया : — भित्ति चित्रफलक या चित्रपट की सतह जब चित्र बनाने योग्य हो जाती है तब उस पर रेखाकन करते है। भित्ति पर रेखाकन के पूर्व कलाकार मन मे एक दृश्य या भाव की कल्पना करता है, जिसे कालिदास ने 'भावगम्य चित्र' (मेघ०, २।३२) और बाणभट्ट ने 'संकल्परेखा (कादंबरी, पृ० ५२१) कहा है, क्योंकि यह कहा ही गया है कि कवि या कलाकार के मन की अभिव्यक्ति उसकी रचनाओं मे रहती है।

चित्र लिखने के लिए पहली प्रक्रिया आजकल 'टिपाई' कही जाती है अर्थात् किसी एक रंग से रेखा द्वारा चित्रकार चित्र का आकार बनाता है। टिपाई की रेखा 'आकारमनिकारेखा' (कादम्बरी में) भी कही जाती थी। यह टिपाई लाल और काले रंग से की जाती थी। संस्कृत साहित्य में दोनो का उल्लेख आया है। जैसा कालिदास ने मेघदूत मे लिखा है यक्ष गेरू से (लाल रंग से) पत्थर पर यक्षिणी का चित्र खींच रहा था

'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्।' (मेघ०, २।४२)।

'धातुराग' का अर्थ मल्लिनाथ ने 'गैरिकादिभि.' किया है। किन्तु यहा केवल लाल रंग के पत्थर से ही कवि का अभिप्राय है। मध्य प्रदेश मे आज भी लाल रंग के चट्टे-बट्टों को 'धाऊ' पत्थर कहते है जो 'धातु' का ही अपभ्रंश रूप है। अजन्ता के भित्तिचित्रों का वर्णन करते हुए श्रीमती हैरिंघम ने लिखा है कि धवलन भूमि तैयार हो जाने पर चित्रकार लाल रेखा से चित्र की पहली टिपाई करते थे। काले रंग की टिपाई का उल्लेख 'कादम्बरी (पृ० ४६६) में आया है जहा नवयौवन मे चन्द्रापीड़ की भीगती हुई श्मश्रुराजि रेखा या रोमावली को **'वत्सस्य यौवना-रम्भसूत्रपात रेखा'** तथा **'रूपालेख्योन्मीलन कालांजनवर्तिका'** (पृ० ४५५) कहा गया है। यहां 'आलेख्य' चित्र के लिए है और 'रूपालेख्य' प्रकृत-चित्र या आकार-चित्र के लिए है। 'कालाजनवर्तिका' या काले काजल की 'बत्ती' (वर्तिका) से इस प्रकार के रूप की टिपाई और खुलाई की जाती थी। 'आरम्भ-सूत्रपातरेखा' में बाण ने एक और महत्वपूर्ण विषय 'प्रमाण' की ओर संकेत किया है। यह सूत्र या रेखा उसी प्रकार है जिस प्रकार चित्र में नाप-कर ब्रह्मसूत्र, पक्षसूत्र और बहि सूत्र रेखा खींच कर ऋज्वागत, साचीकृत, अर्धविलोचन आदि स्थानो को बनाया जाता है। बाण ने चित्रकारी की भाषा का पारिभाषिक शब्द रखा है। इसी प्रकार चित्रोन्मीलन या उन्मीलन मे चित्रकार की कुशलता ज्ञात होती है। इससे चित्र सजीव हो जाता है और वह रचना प्रशंसित होती है।

सूत्रपात — यह विशेष रूप से भित्तिचित्र में किया जाता है। सूत्र या डोरी पर कोयले, गेरू या खड़िया को लगाकर दो व्यक्ति पकड़ कर हाथ से उसे पटकते हैं, इससे रेखा बन जाती है। इसका प्रयोग चित्रकार और बढई दोनो करते हैं। सूत्रपात से सूत्रधार का सम्बन्ध है। जिस प्रकार नाटक में सूत्रधार के हाथ मे सम्पूर्ण नाटक का सूत्र रहता है उसी प्रकार चित्रकार के चित्र का प्रारंभ खड़ी-बेड़ी सूत्रपात रेखा मे होता है। इसी दायरे के अदर वह चित्राकन करता है।

चित्रांकन में आकार-रेखा बनाने के लिए एक युक्ति की जाती थी जिसे 'खाका झाड़ना' कहते थे। चित्र का खाका किसी चीज पर एक बार बना लिया जाता था। उसे काटे या सुई से बारीक छेदों में बीध दिया जाता

था। फिर बारीक छने हुए काजल या गेरू को उन छेदों पर थपक कर खाके का चित्र नीचे सतह पर उतार लेते थे। मुगल, राजस्थानी और पहाडी चित्रकारों के इस प्रकार के खाके आज भी सहस्रो की संख्या में उपलब्ध है। जिस समय कागज का प्रचार नही हुआ था, उस समय इस प्रकार के खाके भूर्जपत्र (भोजपत्र, भूर्ज वृक्ष को 'चित्रत्वक् (च्)' भी कहते है), ताड़पत्र या अन्य पत्रो, मृगत्वच् पर बनाये जाते थे। बाण ने **'अंजनरजोलेखा श्यामलां रोमराजि उदरेण तनीयसीं बिभ्राणम्'** —— (कादंबरी, पृ० १४२) मे स्पष्टत: अजन-रज या काजल की गर्द झाडकर उत्पन्न की हुई तनीयसी अर्थात् बारीक श्यामल रेखा का वर्णन किया है। रेखाकन होने के पश्चात् उसमे रग भरा जाता है, तत्पश्चात् उन्मीलन (खुलाई) किया जाता है।

चित्रकला के उपकरण : —— इसमे चित्रफलक, रग (वर्ण या राग) और ब्रश (तूलिका) सर्वप्रमुख होता है। शलाका, वर्तिका[1], कालांजनवर्तिका[2] (काला रग लगाने के लिए), कूर्चक[3] (कूर्च या लम्बकूर्च), वर्णशुद्ध कूर्चक (विशुद्ध अर्थात् बिना कोई दूसरा रग लगी कूची, जिससे लगाया जाने वाला सफेदा स्वच्छ रहे), तूलिका[4] (ब्रश, लेखनी या विलेखा —— फाइनल टच के लिए) आदि का उल्लेख सस्कृत के महाकवियो ने बहुत किया है। इन उपकरणो के अतिरिक्त कालिदास का 'वर्तिकाकरण्डक'[5] बाण की 'अलाबु'[6] श्रीहर्ष का 'समुद्गक'[7] और दण्डी का 'मणिसमुद्गक'[8] यह सभी नाम चित्रकार-मजूषा (रंग का डिब्बा पिटारी) के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसमे रग, ब्रश आदि चित्रण-सामग्री रखी जाती थी।

वर्तिका : —— सस्कृत मे इस शब्द का अर्थ कोशों मे चित्रोपकरण के लिए नही है, किन्तु हिन्दी कोशो मे इसका अर्थ 'बत्ती' है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने वर्तिका को रग की बत्ती[9] (कलर पेंसिल) माना है। इसे आधुनिक विद्वानो ने 'चारकोल' एव 'क्रेआन' नाम से अभिहित किया है। वर्तिका के आकार-प्रकार तथा प्रयोग — विधि मे विद्वानो मे मतभेद है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा है कि श्वेत, गहरे पीले (काद्रव), काले रगो की वर्तिका से, पूर्वाभिमुख होकर देवता का ध्यान करके चित्रकर्म प्रारभ करना चाहिये : ——

प्राङ्मुखो देवताध्यायी चित्रकर्म समाचरेत् ।
श्वेतकाद्रवकृष्णाभिर्वर्तिकाभिर्यथाक्रमम् ।। ४०।१३ ।।

इससे स्पष्ट है कि भित्ति, चित्रफलक आदि पर प्रथम आलेखन (first sketch) करने के लिए वर्तिका का प्रयोग किया जाता था। इसीलिए मालतीमाधव नाटक (अक १) मे माधव सर्वप्रथम चित्रफलक और वर्तिका लाने को

१—अहो, राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता। — अभि० शां०, अ० ६।
२—रूपालेख्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका। कादं०, पृ० ४५५।
३—(i) इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम्। काद०, पृ० २४६। (ii) वर्णसुधाकूर्चकैरिव करैर्धवलित... । काद०, पृ० ५२७।
४—उन्मीलित तूलिकयेव चित्र।—कुमार०, १।३२।
५— चतुरिका — वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुख प्रस्थिताऽस्मि। — अभि० शा०, षष्ठोऽङ्क।
६—अवलम्बमानतूलिकालाबुकाश्च .. । हर्ष०, २१७।
७—गृहीतसमुद्गकचित्रफलकवर्तिका। — रत्नावली।
८—मणिसमुद्गकात् वर्णवर्तिकामुद्धृत्य। — दशकुमारचरित, द्वि० उ०।
९—वासुदेव शरण अग्रवाल, 'सस्कृत-साहित्य में चित्रकला सम्बन्धी शब्दावली, सम्मेलन-पत्रिका (कला अक), पृ० ९५।

कहता है, रंग आदि को नहीं — 'तदुपनय चित्रफलकं चित्रवर्तिकाश्च ।' कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल (अंक छः) में वर्तिका के प्रयोग की कुशलता के लिए 'वर्तिका-निपुणता' शब्द का प्रयोग किया है — **'अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता ।'**

महाकवि दण्डी विरचित दशकुमारचरित में 'वर्ण-वर्तिका' का उल्लेख आया है — **'नागदन्तलग्न वर्णवर्तिकामुद्धृत्य'** — जिसके द्वारा नायक, तैयार किये हुए फलक पर नायिका का चित्र खींचता है। जयदेव विरचित 'प्रसन्न-राघव' नाटक में वर्तिका को 'शलाका' कहा गया है। संयुक्तनिकाय (२।५) में —**'वट्टिकं वा तूलिकांवा आधाय'** — तथा कामसूत्र (अध्याय ४) में — 'वर्तिकासमुद्गक' एवं मंजुश्रीमूलकल्प में वर्तिका का वर्णन आया है। समरांगणसूत्रधार एवं अभिलषितार्थचिन्तामणि या मानसोल्लास में इसका विस्तृत वर्णन है।

कालिदास के 'कुमारसम्भव' में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वे वर्तिका को तूलिका के समान ही रंग भरने का ब्रश अथवा पेन्सिल मानते हैं —

रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥ ८।४५ ॥

अर्थात् – हे घुंघराले बालों वाली ! यह देखो, सामने लाल, पीले और भूरे बादलों के टुकड़े आकाश में फैले हुए ऐसे लग रहे हैं कि मानो संध्या ने इन्हें यह समझ कर वर्तिका से भली-भांति रंग दिया है कि तुम इन्हें देखोगी।

कुमारस्वामी ने 'रिफ्लेक्शन टु आर्ट इन इण्डिया'[1] में तथा वि० ध०, अध्याय ४१ की टीका में वर्तिका को पेंट-ब्रश माना है, किन्तु 'दि टेक्नीक एण्ड थ्योरी ऑफ इंडियन पेंटिंग'[2] में वर्तिका को 'क्रेआन' कहा है। शिवराममूर्ति ने भी 'साउथ इण्डियन पेंटिंग' (पृ० ९३) में वर्तिका को क्रेआन माना है। कुछ विद्वानों ने वर्तिका को शलाका के समान भोथरी नोक वाली कलम माना है। रायकृष्णदास ने वर्तिका का रंग भरने का मोटा ब्रश माना है। वस्तुतः वर्तिका को मोटा ब्रश नहीं माना जा सकता। मोतीचन्द्र ने वर्तिका को क्रेआन या चारकोल माना है तथा 'दि टेक्नीक ऑफ मुगल पेंटिंग' (पृ० ८५) में कहा है कि मुगल चित्रकार अपने चित्रों के निर्माण में चित्राधार के ऊपर प्रारम्भ में इमली के कोयले से चित्र अंकित करते थे। यह मध्यकालीन परम्परा इसी वर्तिका पर आधारित है, जो आज भी चली आ रही है। क्रेआन (वर्तिका) लगभग ५–६ इंच लम्बी तथा चौथाई इंच मोटी जली हुई कोयला जैसी लकड़ी की डण्डी होती है जिससे भित्ति, बोर्ड, कपड़े आदि धरातल पर प्रारम्भ में रेखांकन करते हैं, फिर ब्रश और रंग से रेखांकन किया और रंग भरा जाता है।

समरांगणसूत्रधार (७१।१८) में तथा मानसोल्लास (आलेख्य कर्म) में भी वर्तिका का वर्णन है। —

कज्जलं भक्तसिक्थेन मृदित्वा कणिकाकृतिम् ।
वर्ति कृत्वा तया लेख्यं वर्तिका नाम सा भवेत् ॥[3] **मानसो०, १५३ ॥**

कुमारस्वामी ने "दि टेक्नीक एण्ड थ्योरी ऑफ इंडियन पेंटिंग" में मानसोल्लास, श्लोक १५३ में वर्णित वर्तिका बनाने की विधि पर प्रकाश डाला है —

१—जे० ए० ओ० एस०, वाल्यूम ५२, १९३२, पृ० २१३–१४।

२—जे० यू० पी० हिस्ट्र० सो०, वाल्यूम २३, १९५०।

३—मानसोल्लास, मैसूर एडीशन, १९२६. अनुवादक आर० शामा शास्त्री भाग १ प्रकरण ३

अंग्रेजी अनुवाद–क्रेआन, वर्तिका, किट्ट-वर्ति या किट्ट-लेखनी। "Grind lamp black with a little boiled rice, and make a roll (Varti) of it in the shape of the middle finger (karnikā), when the roll has been made, it is to draw with and is to be called creyon (Vartikā)"[1]

अभिलषितार्थचिन्तामणि या मानसोल्लास, श्लोक १५३ के समान ही शिल्परत्न मे भी वर्तिका के लिए "किट्टलेखनी" शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके विषय में कुमारस्वामी "दि टेक्नीक एण्ड थ्योरी ऑफ इंडियन पेंटिंग" (पृ० १३) में कहते है — "Sl 153 corresponds to śilparatna, Sl. 35–37, where the Crayon is called Kittalekhanī, and is similarly prepared, but from old slag (Losta) and cowdung; kitta is 'iron-rust' or some such material The 'śivatatvaratnākar', Sl 22, refers to the material, as Khacore (?) and reads Kantākritim 'in the shape of a thorn' for karnikākritim in our text; and Sl. 29 refers to the Crayon, with which the Ākāra-nirmitām rekhām 'outline defining the figure' is to be drawn as kitta-varti'.

शिवराममूर्ति भी कुमारस्वामी के मत का समर्थन करते हुए वर्तिका बनाने की विधि का वर्णन "साउथ इण्डियन पेंटिंग" में करते हैं — 'The Vartikā, also called Kittalekhanī is made of the sweet-smelling root, Khachore mixed with boiled rice rolled into a painted "stump", or of brick powder mixed with dry cowdung finely grind, and with water added, made into a paste for preparing similar stump like rolls for sketching." शिवराममूर्ति ने वर्तिका–निर्माण–विधि जो लिखी है वह उचित नहीं प्रतीत होती।

लोष्ट (Slag) — यह लोहे का मैल या कीट है जिसे गोबर में मिलाकर छोटी शलाका बना ली जाती थी और उससे प्रारंभिक रेखांकन किया जाता था।

खचोर – यह संभवत 'खरोच' शब्द है जो वर्ण विपर्यय से 'खचोर' बन गया। उड़ीसा में ताड़पत्र पर खरोंच कर रेखांकन किया जाता है, जिसे आजकल 'एचिंग' कहा जाता है। यह लोहे की कांटे या मोटी सुई लगी हैंडिल युक्त लेखनी होती है। इस कलम से खरोच कर रेखांकन करके उसमें प्राय. काला रंग भरा जाता है। अत एचिंग करने वाली कलम का आकार 'कंटाकृतिम्' तथा 'कर्णिकाकृतिम्' कहा गया है। कर्णिका अर्थात् लेखनी; कर्णिकाकृतिम् अर्थात् लेखनी के आकार की। सारांश यह है कि वर्तिका आरंभिक रेखांकन करने का उपकरण है। यह कई प्रकार की होती थी, जैसे – किट्टवर्ती या किट्टलेखनी, कंटाकृति या कर्णिकाकृतिम्।

तूलिका (ब्रश) :— अत्यधिक आश्चर्य की बात है कि विष्णुधर्मोत्तर मे अन्य सभी वस्तुओं पर विस्तृत विचार किया गया है किन्तु तूलिका के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अन्य ग्रथों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। वि० ध० (३।४०।१३) मे **'श्वेतकाद्रवकृष्णाभिवर्तिका'** — कहा है। संभवत. यहां वर्तिका को तूलिका का पर्याय मान लिया हो। इसी प्रकार वि० ध० (३।४०।३०) में — **'संस्तम्भितं चित्रमुदारपुच्छैः'** में नेवला, गिलहरी, सूअर जैसे चुने हुए कुछ पशुओं की पूछ के बालों से ब्रश बनाने का संकेत है। विष्णुधर्मोत्तरकार ने लिखा है कि चित्रसूत्र का सम्पूर्ण वर्णन करना अत्यंत कठिन है। उसका सामान्य परिचय ही यहा दिया गया है। इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहना तो सैकडो वर्षो मे भी संभव नहीं है — **'अशक्यो विस्तराद्वक्तुं बहुवर्षशतैरपि'** (३।४३।३६)।

१—जे० यू० पी० हिज० सो०, वाल्यूम २३, १९५० 'दि टेक्नीक ऐण्ड थ्योरी आफ इण्डियन पेंटिंग।'

'अभिलषितार्थचिन्तामणि' (श्लोक १०२) में कहा गया है -- 'तूलिका कूर्चिकायां च शय्योपकरणेपि
पसे प्रतीत होता है कि अत.पुर से चित्र के उपकरणों में तूलिका और कूर्चिका को भी शय्या के पास रखते थे।
मे ब्रश के लिए सामान्य प्रचलित शब्द तूलिका था । कुमार० ११३२ — 'उन्मीलित तूलिकयेव चित्रं',
काव्य, II, ५, 'वर्तिरम् वा तूलिकम् वा आदाय')। 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', श्लोक १५६–१५७ मे
शब्द ब्रश के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुत ब्रश या तूलिका लेखनी ही है जिसे मुगल और पहाडी चित्रकार
कहते हैं। मुगल चित्रकारों की भाषा में कलम शब्द दो अर्थों में आया है - (१) ब्रश - - यह मुलायम
ा होता था, (२) शैली – परंपरागत विधि – विधान के अकन का निजस्व, जैसे दक्षिणी कलम (दक्षिण
कारों की शैली), चम्बा कलम आदि।

समरागणसूत्रधार (अध्याय ७३) मे तूलिका (वर्ण-लेखनी या विलेखा) के लिए "कूर्चक" शब्द का
कया गया है। यह पाच प्रकार का होता था —

प्रकार	आकार
(१) कूर्चक	–वटाकुराकार, अर्थात् वट वृक्ष के अकुर के आकार की। इसकी स्थूल लेखा नही बनानी चाहिये।
(२) (ह)हस्तकूर्चक	–अश्वत्थाकुराकार, अर्थात पीपल के वृक्ष के अकुर के आकार की। इसकी तूलिका विद्वानो ने बहुत अच्छी कही है।
(३) भासकूर्चक	–प्लक्ष (पाकड) – सूचीनिभ, इसकी न्यून (छोटी) लेखा नही करनी चाहिये।
(४) वल्लकूर्चक	–उदुम्बराकार (गूलर के समान), इस कूर्चक मे लेप्यकर्म करना चाहिये।
(५) वर्तनी	–सभवत यह नुकीला न होकर कुठित सिरे का होता था।

ये सभी अकुर ब्रश के समान नुकीले किंतु नीचे की ओर कम अथवा अधिक मोटे होते थे

र १—ब्रशो के प्रकार

"समरांगणसूत्राधार" में – "**कूर्चकं धारयेद् धीमान् वृषश्रवणरोमभिः**" – से ज्ञात होता है कि उस समय बुद्धिमान् चित्रकार वृषभ (बैल) के कानों के रोमों (बालों) को तूलिका (ब्रश) या कूर्चक बनाने के काम में लाते थे।

तूलिका और कूर्चक :– "तूलिका" शब्द से संभवतः चित्रांकन सम्बन्धी उन सभी उपकरणों का अभिप्राय था, जिनका सिरा तूला (कपास) के समान कोमल होते हुए भी किसी प्रकार का तरल अथवा स्निग्ध पदार्थ मिश्रित रंग लगने पर भी सीधा और अपने वास्तविक रूप-स्वरूप में स्थिर रहता था। आधुनिक अच्छे ब्रशों की यही विशेषता होती है। चित्रांकन अथवा रेखांकन में इनका प्रयोग आधुनिक ब्रश की भांति किया जाता था।

आधुनिक विद्वान् "तूला" से "तूलिका" शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं। तूला अर्थात् कपास की रुई की बत्ती या सींक के सिरे पर थोड़ी-सी रुई लपाकर बनाई गई फुरहरी। सींक में रुई लपेटकर बनाई गई फुरहरी से आजकल भी शुभकार्य में गेरू आदि से भित्ति पर लोककला करने की प्रथा वर्तमान है।

मानसोल्लास में "किन्दु" (वर्तिका) तथा "तूलिका" – ये चित्रलेखनी के दो प्रकार बताये गये हैं। वर्तिका को ही यहाँ पर "किन्दु" नाम से अभिहित किया गया है। लोहे बांस की नलिका के आगे वाले का एक सूक्ष्म शंकु (स्टेंसिल) लगाया जाता था। यह जो भर भीतर और उतना ही बाहर की ओर रखा जाता था। इसे बुद्धिमान् लोग "किन्दु" कहते थे – (मानसो०, श्लोक ५५१–५५५)। इससे (ताम्रशंकु से) महीन रेखा खींचने का कार्य किया जाता था। यह संभवतः आधुनिक 'बॉ-पेन' (यदबन्द) के समान था, जिसमें छिद्र से तरल रंग डालने पर, ऊपर लगी पेंच को ढीला या कसा करने पर मोटी तथा पतली रेखा खिंचती है।

तूलिका के संबंध में मानसोल्लास (१५४–५७) में कहा गया है कि तूलिका की नोक पर लाक्षा (लाख) के सहारे गाय के बछड़े के कानों के रोमों को बांधना चाहिये, इससे वर्णोचित लेखनी बन जाती है। यह लेखनी तीन प्रकार की होती है – स्थूला, मध्या तथा सूक्ष्मा। (१) स्थूला से चित्रभित्ति पर वर्णलेप, (२) मध्या से रेखांकन तथा (३) सूक्ष्मा से सूक्ष्म रेखाओं का विन्यास किया जाता है। "शिल्परत्न" में मानसोल्लास का ही अनुसरण हुआ है।

काशी प्रसाद जायसवाल ने मॉडर्न रिव्यू, अंक ३३ में "ए हिन्दू टेक्स्ट ऑन पेंटिंग" (पृ० ७३४) लेख में रंग करने के ब्रशों के ९ प्रकारों का संकेत किया है और ये भी प्रत्येक रंग के ९–९ ब्रश होने ये ऐसा निर्देश किया है। "शिल्परत्न" में प्रत्येक तीन मूल रंगों के लिए तीन-तीन लेखनी-विधा विहित है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण की ९–९ लेखनी निर्मित की जाती थी। इस ग्रंथ में आकृति के अनुरूप लेखनी के तीन भेद हैं – स्थूला, मध्या तथा सूक्ष्मा। परन्तु प्रयोग की दृष्टि से इन तीनों के विविध से प्रत्येक वर्ण के ९–९ ब्रश तैयार हो जाते हैं। लेखनी या तूलिका सामान्यतया वत्सरोम की बनाने का विधान है। परन्तु "शिल्परत्न" के अनुसार वत्सरोम (गाय के बछड़े के कान का बाल) का विधान केवल स्थूला में विहित है, किन्तु मध्या में उनके स्थान पर अजोदरभव रोम (बकरी के पेट पर उत्पन्न होने वाले बाल) तथा सूक्ष्मा में क्रोडपुच्छज (सुअर की पूछ के) रोम उचित कहे गये हैं।

पहाड़ी चित्रकार भी तूलिका को कलम कहते थे। तूलिका अनेक जन्तुओं – जैसे बकरी, गिलहरी, ऊँट, नेवला, गाय, चूहा, कस्तूरी मृग और गदहे के बालों से बनायी जाती थी। भिन्न-भिन्न जन्तुओं के बाल भिन्न-भिन्न प्रकार की तूलिका बनाने के काम आते थे। बकरी की पीठ के, गिलहरी की पूछ के, नेवले की पूंछ के एवं बाल के (जैसी आवश्यकता हो), गाय के कान के, बड़े चूहे की पीठ के, कस्तूरी मृग के पुट्ठे के, गदहे के मस्तक पर के बाल तूलिका बनाने के काम आते थे। गिलहरी के बाल पेंटिंग के लिए सर्वोत्तम होते थे। उससे मोटे ब्रश, जो रंग

भरने के काम आते थे तथा पतले ब्रश जो रेखाओं एवं परदाज के काम आते थे, दोनो ही बनाये जाते थे। परदाज और रंग भरने के ब्रशो के बीच कुछ सख्त किस्म के बाल जैसे गाय, नेवले या चूहे के दे देते थे, जिससे ब्रश ज्यादा लचके नही और काम करने मे सुविधा हो। ब्रश निम्नलिखित विधि से बनाते थे —

जिस जन्तु के बालो का ब्रश बनाना हो उसके बालो को लेकर एक छेददार डले में डाल दीजिये (मुगल चित्रकार बालो को पानी मे डुबो देते है)। पीछे से बाहर निकले हुए बालो को चिमटी से पकड़ कर डोरे से बांध दीजिये। फिर नोक की ओर से एक पतले बास या पख के किवल मे डालकर ऊपर खीचकर जमा दीजिये। अब इस बास या किवल मे कोई लंबी डडी लगाकर काम में लाइये।

मुगल चित्रकारों की भी ब्रश बनाने की विधि लगभग इसी प्रकार है। चित्रकार पशियन बिल्ली और भैंस के बालों का भी ब्रश बनाते थे।

पाल अभिलेख (Inscription) में एक-बाल तूलिका बनाने का उल्लेख है। यह अत्यधिक महीन काम के लिए होती थी। इससे अति बारीक रेखा खींची जाती थी। वस्तुत केवल एक बाल की तूलिका से चित्रांकन सभव नहीं। एक बाल की तूलिका से तात्पर्य है कि इतना सूक्ष्म ब्रश का प्वाइंट बने कि एक ही बाल कागज पर स्पर्श करे और उससे अति सूक्ष्म रेखांकन किया जा सके।

तूलिका की विशेषता यह है कि वह न तो अधिक मुलायम और न अधिक कठोर हो किन्तु लोचदार अवश्य हो कि अंकन के बाद भी मुड़ी न रहकर तत्काल अपना सीधापन ग्रहण कर ले, अर्थात् बाल तत्काल खडे होकर अपने रूप स्वरूप मे पुन. हो जाये। तूलिका की नोक को मुगल चित्रकार "अनी" कहते है। उनमें गिलहरी की पूंछ के बाल का ब्रश सबसे अधिक प्रचलित है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि नवयौवन सम्पन्न गिलहरी के बालो के काले सिरे का ब्रश सर्वोत्तम होता है। इस ब्रश की विशेषता यह है कि इसे गोलाई में या अन्य प्रकार से घुमाने पर भी इसकी नोंक सीधी रहती है। पतला (Fine) और मोटा ब्रश रेखांकन, रगो की भराई तथा चित्र को विकसित करने आदि में प्रयुक्त होता था। मुगल चित्रकारो का "यद्वल" (Bo-pen), जो मानसोल्लास की 'तिन्दुक' के समान है, वह बिल्कुल सीधी रेखा खीचने का उपकरण है।

चित्रकार जब तूलिका का प्रयोग करता है तब कुछ विशेष नियमो को ध्यान मे रखकर काम करता है, इससे रेखा तथा रग मे अति सौंदर्य आ जाता है। कुशल कलाकार कलम (ब्रश) को बहुत हल्के और मुलायम किन्तु पुष्ट हाथों से चलाता है। यदि ब्रश को बहुत दृढ़ता या कठोरता से पकड कर खीचते है तो उसमे रेखा निर्जीव होती है और लयात्मकता का अभाव रहता है, जो भारतीय कला मे रेखा का प्राण है। अजन्ता, मुगल, कागड़ा के चित्रो की रेखाओ में लयात्मकता लावण्य, भावप्रवणता है, इसी से यह चित्रकला आज भी लोगों के गले का हार बनी हुई है। तूलिका के कार्य में यह सवेदनशीलता तभी आती है जब तूलिका चित्रकार के वश मे हो जाती है। जिस प्रकार प्रवीण कवि अत्यल्प शब्दो में ही प्रकृति-चित्रण करते है, उसी प्रकार चित्रकार जो कुछ देखता और अनुभव करता है उसे अति स्वल्प रेखाओ में ही अंकित कर देता है। इसे मुगल चित्रकार 'ठेके की कलम' (Basic Line) कहते है। इन गुणो से युक्त अच्छा चित्रकार चपल गति से तूलिका चलाकर, रेखा को शीघ्रता से खीच देता है, उसमें कही भी रुकावट या टूट नही आने पाती।

वर्ण अथवा रग : – चित्र मे रग लगाने को रजन या रंगामेजी कहते है। अजता के चित्रो में विविध रगो का प्रयोग किया गया है। रगो की योजना प्रसगानुकूल बडी आढ्य और चित्ताकर्षक है – कही भी फीके या बेदम रग

इसमें श्वेत, पीत और कृष्ण तो दोनों अध्यायों में समान हैं, किन्तु 'विलोम' के सम्बन्ध में प्रियबाला शाह 'विष्णुधर्मोत्तर' (पृ० ३९७) में अपनी धारणा व्यक्त करती हैं — "So it appears that Viloma must be Something like Rakta ।" किन्तु विलोम कोई अन्य वस्तु नहीं, वरन् रक्त-वर्ण के लिए ही इस शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे काले का उल्टा सफेद, पीले का उल्टा लाल होता है। इसीलिए इस श्लोक में विलोम के ठीक पहले 'पीत' शब्द रखा गया है। देवी-देवता का वर्ण भी इन्हीं पांच रंगों में वर्णित है।

इस श्लोक (४०।१६) में 'हरित' के स्थान पर 'नील' कहा गया है। 'नील को मूल रंग मानना अधिक समीचीन है, क्योंकि नील और पीत के मिश्रण से हरित वर्ण बनता है। 'नाट्यशास्त्र', अध्याय २१ में चार मूल रंग कहे गये हैं —

'सितो नीलश्च पीतश्च चतुर्थो रक्त एव च।'

इसी अध्याय २१।७६ के फुटनोट में लिखा है कि हरित मूल रंग नहीं है यह पीत और नील के मिश्रण से बना है। 'शिल्परत्न' (भाग १), चित्र लक्षण में पांच मूलरंग कहे गये हैं — श्वेत, रक्त, पीत, कज्जल और श्याम। 'मानसोल्लास' में चार मूल रंग कहे गये हैं — (१) श्वेत, (२) रक्त, (३) पीत और (४) कृष्ण। इसमें शंख निर्मित श्वेत, लाक्षा (लाख) से बना हुआ लाल (lacquer red) निर्मित रक्त अथवा गैरिक, हरिताल या पीला (ग्रीन ब्राउन, जो सल्फुरेटेड आर्सनिक है) और कज्जल (काला लैम्प ब्लैक) का निर्देश है। प्राचीन शिल्पशास्त्रों में नीले रंग के साथ-साथ काले रंग का भी निर्देश है। काला कज्जल के समान होता है और नीला इन्दीवर (नील कमल) की प्रभा के समान है — **केवलैन रा या नीली मवेदिन्दीवरप्रभा।'** — (अभिलषि०)। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य में 'मेचक' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है, जैसे — **इन्द्रमणिमेचकच्छविः' 'कठोरपारावतकण्ठमेचकम्'** (उत्तररामचरित में), — 'मेचक' यह गाढे नीले वर्ण के लिए आता है। अनेकार्थ कोश में है — **'मेचकः श्यामले कृष्णे तिमिरे बर्हिचन्द्रके।'** शब्दार्णव में है — **'मेचकः कृष्णनीलः स्यादतसीपुष्पसन्निभ.।'** — इससे प्रतीत होता है कि उस समय सामान्य रूप से — श्याम, कृष्ण, नील, मेचक — ये सभी एक ही वर्ग के रंग माने जाते थे। नीला रंग मिश्र रंगों के निर्माण में बहुत सहायक होता है। ग्रंथों का आदेश है कि इन पांचों (या चारों) मूल रंगों को अलग-अलग पात्रों में रखना चाहिए जिससे उनकी शुद्धता नष्ट न हो। उनकी अपनी पृथक्-पृथक् लेखनियां भी होनी चाहिए।

एक, दो, तीन या इससे भी अधिक रंगों के मिश्रण से जो रंग तैयार किये जाते हैं, वे (वि० ध०, ४१।१६) शत, सहस्र मिश्र-वर्ण तैयार हो जाते हैं। अंग्रेजी में मिश्र रंग के दो प्रकार कहे गये हैं — (१) ह्यू और (२) शेड।

(१) ह्यू (Hue) — झलक (टोन), रंग विशेष की आभा, छवि। ह्यू में हल्के या गहरे रंग रहते हैं जिनकी आभा मात्र रहती है। उज्जवलता में मूल रंग के निजस्व की हल्की या गाढी झलक होती है। इसे 'सौम्य' शब्द से व्यक्त कर सकते हैं।

(२) शेड (Shade) — साया, छाया। इसमें गाढे रंग ही आते हैं। रंग विशेष में उसी रंग की गाढी झलक अथवा कालिमा की बहुलता होती है। इसे 'धूमिल' शब्द से व्यक्त कर सकते हैं।

'मेघदूत' में रत्नच्छाया व्यतिकर में 'छाया' का अर्थ कान्ति से है और 'छायातप' (कठो० २।३।५) में छाया का अर्थ साया से है। छाया शब्द का 'कान्ति' के अर्थ में प्रयोग संभवतः इसलिए हुआ है कि छाया दिखलाने मात्र से किसी चित्र में उभार या गहराई आ जाती है, जिससे वह चित्रित विषय कान्तिमय हो जाता है और सपाटपन भी दूर हो जाता है।

लाल, नीले, पीले के हल्के रंग 'Hue' कहलाते हैं और इनके गाढ़े अथवा मिश्रित एवं धूमिल रंग 'Shade कहलाते हैं। इसी प्रकार "Transparent Colour" के लिए पारदर्शी रंग या झांकी रंग कहते हैं।

पांच मौलिक रंग या शुद्धवर्ण — नील, पीत, लोहित, शुक्ल, श्याम को मिलाकर अनेक प्रकार की रंगतें तैयार की जाती हैं, जिन्हें मिश्रवर्ण, मिश्रित रंग, संकर वर्ण कहते हैं। रंगों की भांति-भांति की इस मिलावट को बाणभट्ट ने अपनी श्लेषात्मक शैली में 'वर्ण-संकर' कहा है – '**चित्रकर्मसु वर्णसंकरा :—**' (कादम्बरी, अनुच्छेद ७)। बाणभट्ट के समान वर्ण मिश्रण में निपुण कवि केवल संस्कृत साहित्य में ही नहीं वरन् किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं मिलते।

मिश्र वर्ण : – प्राचीन चित्रकारों के कौशल की सफलता का मूल्यांकन उनकी वर्णमिश्रणयोग्यता पर आश्रित रहती थी। आजकल मूल रंग और उसके मिश्रण रसायनशालाओं में निर्मित होते हैं, परन्तु प्राचीन चित्रकारों के निवास स्थान ही रसायनशालायें थीं।

मूल रंग के प्रस्तार अब सैकड़ों हैं। **विष्णुधर्मोत्तर** (३।४१।१-५८) का निर्देश है कि अपनी बुद्धि के अनुसार भाव की कल्पना तथा स्तर का विभाजन कर सैकड़ों, हजारों प्रकार के रंग बनावे। जैसे – नील रंग में पीत वर्ण मिलाकर तैयार किया हुआ हरा रंग (पलाश या पालाश अर्थात् पत्ता) उत्तम होता है। यह चाहे शुद्ध हो या श्वेत-मिश्रित हो या उसमें अधिक नीला रंग डाला गया हो, अच्छा होता है। रुचि या रूप के अनुसार इच्छानुसार उसमें किसी एक रंग की अधिकता की जा सकती है। उसमें श्वेत रंग की अधिकता, न्यूनता या समता रहने से वह तीन प्रकार का होता है – (१) एक में श्वेत वर्ण की प्रधानता रहती है, (२) दूसरे में श्वेत कम रहता है और (३) तीसरे में वह समान परिमाण में रहता है। इस प्रकार उसमें एक-एक स्थायी 'स्तम्भनयुक्त'[1] रंग मिलाने से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। उसमें उसकी निम्नलिखित छवियां तैयार हो जाती हैं – (१) दूर्वांकुरपीत (दूर्वा के अंकुर के समान किञ्चित् पीत), (२) कपित्थहरित (कैथ या कठबेल की तरह हरित) या (३) मुद्गश्याम (मूंग की तरह श्याम वर्ण की)। इसी प्रकार नीले रंग में सफेद, पीला रंग मिलाने से वह विरंग (बदरंग) हो जाता है, तब उसके भी अनेक भेद होते हैं। मिलाया जाने वाला रंग चाहे अधिक हो या न्यून हो या बराबर मात्रा में हो, उससे नीलकमल की आभा के समान तथा उत्पल (भाव) के रंग जैसी रमणीय छवियां औचित्य के अनुसार अंकित करनी चाहिये। लाक्षा तथा श्वेत रंग अथवा लाक्षा एवं लोध्र मिलाये हुए लाल रंग से जो छवि अंकित की जाती है, वह 'रक्तोत्पलश्यामछवि' रक्तकमल की तरह ललाई लिए श्याम तथा सुन्दर होती है। यह रंग भी मिश्रण करने से अनेक प्रकार की आभा प्रगट करता है।

"शिल्परत्न" में रक्त रंग की तीन कोटि प्रतिपादित हैं :—

(१) सिन्दूर (हल्का लाल), (२) गैरिक अर्थात् गेरुआ लाल जो मध्यम लाल के रूप में विभाव्य है, और (३) लाक्षा जो गहरा लाल के रूप में परिकल्प्य है। "अभिलषितार्थचिन्तामणि" (श्लोक १६७–१७३) में वर्णन है कि दरद (सिंदूर) को शंख में मिलाने से कोकनद (लाल-कमल) की छवि देता है। अलक्तक (लाख, महावर) को शंख में मिलाने से वह सौगन्धिक सदृश हो जाता है इसी प्रकार गेरू को शंख में मिलाने से धूमच्छाय बताया गया है।

१ —"स्तम्भना" के संबंध में प्रियबाला शाह (वि० ध०, ४०।२०, पृ० ३९७ में) कहती हैं – "स्तम्भना — is given in the sense of astringent Possibly it refers to हरड़ Myrobelan-which is astringent in taste and which leads to make the colour fast." Astringent = binding substance

काजल को भी शंख में मिलाने से धूमच्छाय होता है। नीले रंग को शंख में मिलाने पर कपोत का रंग बनता है। नीले रंग को हरिताल में मिलाने से हरा रंग बन जाता है ; गेरू (गैरिक) को हरिताल मे मिलाने पर सफेद (गौर) हो जाता है। काजल को गेरू (गैरिक) मे मिलाने से श्यामवर्ण बन जाता है। अलक्तक को काजल मे मिलाने से पाटल रंग (ललाई मिला हुआ उजलारंग) बनता है। इसी प्रकार अलक्तक को नीले रंग मे मिलाने पर कई वर्ण हो जाते हैं।

रंगद्रव्य — चित्रो के लिए प्राचीन काल मे भारत में प्राय: रंगीन मिट्टी और रंगीन पत्थर क्रमश 'धातुराग' (मेघदूत मे), और 'शिलाराग' जैसे मैनसिल आदि को महीन चूर्ण के रूप मे बनाकर काम मे लाया जाता था। नागानन्द में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये पचराग (रंग) गिरितट पर होते थे — **'नायकः तदित एव गिरितटान् मनः शिलाशकलान्यादायागच्छ। विदूषकः — त्वमेको वर्णक आज्ञप्त, मया पुनरिहैव सुलभाः पञ्चरागिणो वर्णा आनीता इति आलिखतु भवान्।'**—वर्णो के निर्माण मे जिन द्रव्यो अथवा वस्तुओं या धातुओं का प्रयोग होता था, उन द्रव्यो की नामावली "विष्णुधर्मोत्तर" मे दी गई है— कनक (स्वर्ण), रजत (चादी), ताम्र (तांबा), अभ्रक, राजवर्त (राजवन्त, उर्दू मे लाजवर्दी अर्थात् नीली, आल्ट्रामैरिन लैपिस्), सिन्दूर (लाल, इसके अंतर्गत मन शिला, हिरौंजी, गेरू आते हैं।), त्रपु (सीसा या रांगा), हरिताल (और रामरज) सुधा (श्वेत, चूना) लाक्षा (लाख), हिंगुलक (हिंगुल या ईंगुर, अंग्रेजी मे व्हर्मीलियन – चित्रकार प्राय: इसी से रेखाकन करते हैं।), नील (इंडिगो) आदि। इनके अतिरिक्त अनेको द्रव्य है। अत चित्रो मे प्रयुक्त होने वाले रगो को चार वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है, इनके अन्तर्गत सभी प्रकार के रंग आ जाते है :—

(१) खनिज, (२) रासायनिक, (३) जान्तविक, और (४) वानस्पतिक।

राजवर्त या लाजवर्दी नील — यह रगों मे सर्वप्रमुख द्रव्य है। नीला रंग अतिशीघ्र मन को आकृष्ट कर लेता है। प्राचीन भारत मे नील के पौधे से इस रग के बनाने का बहुत प्रचार था, जिसने व्यवसाय का रूप ले लिया था और ग्रीस तथा रोम तक इसकी खपत थी। वि० ध० मे इसके निर्माण पर पुष्ट प्रवचन प्राप्त होता है। लोग नील को कपडे रगने के काम मे लाते थे। इसका चित्रकला मे भी बहुत प्रयोग होता था। नीले रग का दूसरा द्रव्य–प्रकार राजवर्त या राजवन्त है। यह वस्तुत प्राचीन भारत के स्थापत्य चित्रण का मूलाधार था, अजता की चित्रकला मे यही रग मूर्धस्थानता वहन करता है। मोतीचन्द्र का अनुमान है कि यह लाजवर्दी सभवत परशिया से आया था, क्योकि यह पत्थर परशिया मे होता है। मिस्र तथा सुमेरिया की प्राचीन मूर्तियो मे लाजवर्द का बहुत प्रयोग किया गया है। भारत मे प्रज्ञापारमिता, कल्पसूत्र, कालकाचार्यकथा आदि प्राचीन पाण्डुलिपियो के चित्रणो मे भी इस रग का विपुल प्रयोग पाया जाता है।

हरिताल और रामरज (अंग्रेजी – यलो ओकर) पीले रंग के जनप्रिय द्रव्य है। पाल कालीन बौद्धों की तालपत्र – पाण्डुलिपियो के चित्रणो में तथा राजस्थानी मुख्यत: जयपुर चित्रो मे हरिताल का प्रयोग बहुत मिलता है।

रंग–निर्माण–प्रक्रिया :— 'विष्णुधर्मोत्तर' (४०।२७-३०) में रग बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि प्रत्येक देश में स्तम्भनयुक्त रगो का निर्माण करना चाहिये। विभिन्न देशों मे भिन्न–भिन्न प्रकार के स्तम्भनयुक्त रंग बनाये जाते हैं। 'स्तम्भनयुक्त' अर्थात् ऐसे पदार्थ मिश्रित रंग जिनसे वे टिकाऊ हो सके। लोहे (या धातु) का रंग रासायनिक किया द्वारा तैयार किया जा सकता है। लोहे का रग मोटा होता है और अभ्रक (अबरक) का द्रावण (तरल) लोहे या धातु को अत्यत पतली पत्ती (पत्र विन्यास) के रूप मे बनाकर या

रासायनिक क्रिया द्वारा तरल (रसक्रिया) करके लगाना चाहिये । इस प्रकार चित्रकारी के लिए लोहे का रंग उपयुक्त है ।

अभ्रक को घोटकर तरल रूप में चांदी के बदले प्रयोग करते थे । राजस्थानी और जैन चित्रकारी मे इसके उदाहरण मिलते है । यह अभ्रक किसी भी पदार्थ मे नही घुलता है और न तो आग मे जलता है । यह पानी मे घोटने पर पत्ती-पत्ती सा रह जाता है और भारी होने के कारण घुलता भी नहीं । इसीलिए अन्य रगों की भांति अभ्रक का रंग चित्रकारी में उपयुक्त नही है । खनिज आदि रंगो में तुलसी, भूनिब, चपा, कुश (या कुध) और मौलश्री (वकुल) का काढा डालने से टिकाऊपन आ जाता है । सभी रगो मे स्थायित्व लाने के लिए सिन्दूर नामक वृक्ष के दूध का प्रयोग होता था और कुछ समय के लिए उत्तम दूब के रस में भिगोये हुए वस्त्र तथा मयूर-पुच्छो (उदारपुच्छै) से चित्र को ढका भी जाता था । ऐसा चित्र पानी पड़ने पर भी खराब नही होता और अनेक वर्षो तक ठहरता है ।

विष्णुधर्मोत्तर (४०।३०) मे 'मातग' तथा 'उदारपुच्छै' शब्द भ्रामक है । 'मातगदूर्वा' सभवत. किसी विशेष प्रकार की दूर्वा का नाम होगा । 'उदारपुच्छै' का कुछ विद्वानो ने 'मयूर-पंख' होने की सभावना की है । मोनियर विलियम डिक्शनरी के अनुसार 'उदार' एक प्रकार का लबी डडी का अनाज भी हो सकता है । भित्तिचित्त पर रंग लगाकर, दुर्वा-रस के प्रयोग के पश्चात् उन चित्रो पर धूल न पड़े, और सूख भी जाये, इसलिए मयूरपुच्छों को संभवत. डोरी से बाधकर उससे चित्र ढका जाता था ।

'शिल्परत्न' मे भी रगनिर्माण – प्रक्रिया का सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है । गैरिक (लाल रग) को पहले शिला पर पीसना चाहिये । पुन एक दिन तक पानी में भिगोकर रखना चाहिये । सिन्दूर को पीसकर आधे दिन तक ही रखना चाहिये । इसके विपरीत मनःशिला को केवल पीसना ही उचित है, पानी में इसे नही रखना चाहिये । इन सबको निम्बनिर्यासितोय अर्थात् नीम के रस से बनी तरल गोंद में मिलाना चाहिये । तभी वे चित्र मे प्रयोग करने योग्य होते हैं ।

स्वर्णादि धातुओं का वर्णो मे प्रयोग :—चित्र निर्माण तथा प्रतिमा निर्माण इन दोनों मे धातुओ का विपुल प्रयोग प्राचीन काल से प्रचलित है । स्वर्ण के प्रयोग को विशेषकर मध्यकालीन चित्रविद्याविरचियो ने बहुत महत्व दिया है । इससे चित्र मे सौदर्य की वृद्धि हो जाती है । स्वर्ण-रंग-प्रयोग की दो प्रक्रियाओं का निर्देश विष्णु-धर्मोत्तर (४०।२७) मे किया गया है – (१) पत्रविन्यास और (२) रस-क्रिया । पत्रविन्यास जैसा नाम से ही विदित है, सोने या चादी के पत्र या वर्क बनाकर उनको चित्रो मे लगाया जाता था । यहां पर वि० ध० में – **"लौहानां पत्रविन्यासं भवेद्वापि रसक्रिया"** – में स्वर्ण का साक्षात् संकीर्तन नही हुआ है तथापि 'लौहाना' यह पद उपलक्षणमात्र है । इसमें सभी धातुयें गतार्थ है ।

मानसोल्लास तथा शिल्परत्न मे स्वर्ण रग प्रक्रिया का विशेष उद्‌घाटन हुआ है । 'पत्रविन्यास' की सरल प्रक्रिया चित्रकारो में सर्वाधिक प्रचलित थी, किंतु रस-क्रिया रासायनिक द्रव्यों के प्रयोग पर आधारित थी और कुछ कठिन भी थी ।

पत्रविन्यास —इसके लिए मानसोल्लास (श्लोक १८१ से १८७) में वर्णन है कि शुद्ध सुवर्ण को लेकर उसके छोटे-छोटे पत्र काट लेना चाहिये, पुन उन्हे एक चिकनी शिला पर परिपोषित करना चाहिये । फिर उसमें पानी और थोडी-सी बालू का मिश्रण करना चाहिये । इस मिश्रण का पुन. घर्षण आवश्यक है और फिर जल से धोकर इसे साफ कर लेना चाहिये । इस स्वर्णलेप को थोड़ा-सा वज्रलेप मिलाकर फिर घिसना चाहिये, तत्पश्चात्

लेखनी से लिखना चाहिये। यह स्वर्णलेप जब सूख जाय तो वाराहदण्ट्रा (शूकरदन्ती) लेखनी या ओपनी से धीरे – धीरे रगड़ना चाहिये जिससे यह लेप चमक उठे। पुन: चित्रकार को इस लेप पर सोने के बारीक पत्रों को रखकर कपास की रूई की गद्दी से रगड़कर इसको उजला कर लेना चाहिये। इस प्रकार का स्वर्णलेप जिसमे पत्रविन्यास वाछित है, विद्युच्चकित काति को प्राप्त करता है। निपुण चित्रकार चित्र मे स्वर्ण रग लगाने के पश्चात् उसके दोनो किनारो पर काली रेखा भी खीचते है। 'शिल्परत्न' मे भी यही विधि दी गई है।

रस–क्रिया : – स्वर्ण रग की यह दूसरी प्रक्रिया है जिसमे रासायनिक द्रव्यो का प्रयोग वाछनीय होता था। 'समरागणसूत्रधार' में 'रस–क्रिया' के सबध मे वर्णन है। रस अर्थात् पारद (पारा) तरल होता है। पारे से जो क्रिया की जाय, वह रस–क्रिया है अथवा कोई भी पिघली हुई धातु के काम को भी रस–क्रिया कहते है। जैसे – गधक और पारा मिलाकर ईगुर (लाल रग) बनाते है। रागा और आक (धतूरा) के दूध का बार–बार छौकन देकर रागे का रग बनाते है। उसमें थोडी चमक होती है। रागे के रग का प्रयोग मध्यकालीन जैन पेंटिंग मे किया गया है। सोने का रग बनाने के लिए उसे अग्निताप मे द्रव (तरल) बनाया जाता था और उसमे पारे या अभ्रक आदि का मिश्रण इच्छानुसार किया जाता था। चम्पाक्वाथ तथा बकुलनिर्याम (मौलश्री की गोद) का मिश्रण भी उससे किया जाता था। स्वर्ण रग बनाने की इस रस–प्रक्रिया को 'हलकारी' भी कहा जाता था।

सामान्यत चित्र के बडे स्थानो में पत्र–विन्यास (वर्क) किया गया है, किन्तु जहा बारीक काम की आवश्यकता हुई है वहां पर चित्रकारो ने उसे रस–क्रिया द्वारा हल करके तूलिका से लगाया है। ऐसा प्रयोग मध्य-काल से लेकर मुगल और पहाडी शैली तक अत्यधिक दिखलाई देता है। पहाडी चित्रकार सोने का पत्र लगाने के लिए अभीष्ट स्थान पर पहले गर्म सरेस लगा देते थे। जितनी जगह में सोना लगाना होता था उससे कुछ बडा पत्र लेकर सरेस के कुछ सूखने पर उस कटे हुए सोने के पत्र को लगाकर, उसे रूई की पोटली या गद्दी से दबा देते थे। उसके पूरी तरह सूख जाने पर अतिरिक्त सोने को पंख से झाड देते थे। दूसरे दिन उस पर बाघ के नाखून, अकीक की गुल्ली या सूअर के दात से घोटाई करते थे। तत्पश्चात् उसकी सौंदर्य–वृद्धि के लिए काली रेखाओ से उसकी सरहद (आउटलाइन) बांध दी जाती थी अर्थात् उसके प्रत्येक किनारे पर काली रेखाये खीच दी जाती थीं।

जगदीश मित्तल ने 'कलानिधि', अक ३ मे पहाडी चित्रकारो की रसक्रिया या हलकारी बनाने की विधि लिखी है। 'हलकारी' बनाने के लिए रकाबी मे बबूल के गोद की बुकनी छिड़क कर उसे थोड़े पानी से मथते थे। जब उगली जरा रुकने लगे तो समझा जाता था कि ताव आ गया है। तब स्वर्ण या रजत वर्क को फैलाकर उनमे डाल देते थे। एक वर्क (पत्र , डालकर पाच–सात मिनट तक मथते थे। इसी तरह जितने वर्को की हलकारी बनानी होती, पत्र डालते जाते थे। उसमे पानी बहुत ही कम रहना चाहिये, इतना कि गोद अच्छे गाढे शहद की भाति रहे। ज्यादा पानी होने से हलकारी मोटी बनेगी। जितना मथा जाता था रग उतना ही महीन एव चमकदार होता था और काम करने मे सुविधा होती थी। फिर कुछ पानी डालकर कुछ देर रख देते थे। रखने के पहले उगली से हिला-कर पानी के ऊपर जो सोना उठ जाता, उसे नीचे बैठा देते। कुछ देर के बाद इस पानी को निथार कर नया पानी डाल देते। इस प्रकार कई बार पानी निथार कर गोंद को निकाल देते, क्योकि गोद रग को काला कर देता है। रग को चमकदार बनाने के लिए नीबू की कुछ बूद या सुहागा देकर पानी बदलते थे। बाद में उसे सुखाकर उसमे मछली का पतला सरेस देकर काम में लाते थे। इसे कलम से लगाते थे और सूअर के दात, बाघ के नाखून या अकीक की गुल्ली से घोंटते थे। इससे वह चमकदार हो जाता था। कुछ चित्रकार इसे गोंद के बदले शहद के साथ हल करते थे। स्वर्ण रग प्राय. आकाश बनाने वस्त्र तथा आभूषण में प्रयोग करते थे। कुछ चित्रकारो ने वातावरण का प्रभाव दिखाने

के लिए पूरे कागज पर इसकी एक परत देकर या रगों के साथ हल्कारी मिलाकर काम किया है। इसमे रगो मे अपूर्व चमक एव उज्जवलता आ गई है।

वर्तना :—चित्र मे वर्तना–निर्वाह चित्रकार का परम कौशल है। "समरागणसूत्रधार" (७१।१४) मे चित्र के आठ अगो मे से "वर्तना" को भी एक अग माना है। रूपभेदप्रमाणादि चित्र के षडग तभी सभव है जब वर्तना का सिद्धान्त पूर्णता मे व्यवहृत किया गया है। वर्तना चित्र–शास्त्र के चार मौलिक सिद्धातो–रेखा, वर्तना, भूषण तथा वर्ण मे से एक है। वर्तना वातावरण की विधायिका है तथा रेखा रूप की निर्मात्री।

चित्र मे कहा पर प्रकाश तथा कहा पर छाया दिखाना चाहिये, किस स्थान पर रग को तीक्ष्ण करना चाहिये और कहा पर धूमिल, इन सबका ध्यान वर्तना का विषय है। विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है कि -

"शुष्कं वर्तनया यस्तु (वस्तु) चित्रं तन्मध्यमं स्मृतम् (स्मृता)" ॥ ४२।८२ ॥ जो चित्र वर्तना, छाया – प्रकाश मे शुष्क (सूखा, नीरस), प्रतीत हो, वह मध्यम कोटि का चित्र कहा गया है।

यहा पर "शुष्क" से तात्पर्य है "वर्तना" अर्थात् रेखा–विन्यास द्वारा छाया–प्रकाशादि से चित्र मे जो तरलता, सरसता और सौदर्य आता है उससे विहीन जो चित्र होगा वह "शुष्क" कहलायेगा। अजता मे यह वर्तना हल्के – गहरे रगो की पतली अथवा सपाट रेखाओ मे दिखाया गया है जिससे मानव शरीर मे गोलाई, उभार छाया – प्रकाश आदि आया है।

चित्रण, चित्रणीय वस्तु के अवयव–प्रकाशन में सहायक गहराई तथा ऊंचाई भी छाया–प्रकाश पर पूर्ण–रूप से आश्रित है। "तिलकमजरी" मे राजकुमार चित्र की प्रशसा करते हुए कहता है कि चित्र में ऊचे–नीचे भागो का अकन अत्यन्त स्पष्ट किया गया है **"प्रकाशितव्यक्त निम्नोन्नत विभागाः।"** इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुतल (अक ६) में विदूषक कहता है— **"स्खलतीव मे दृष्टिनिम्नोन्नत प्रदेशेषु"** — अर्थात् ऊचे–नीचे स्थानो मे मेरी दृष्टि स्खलित (लडखडा) हो जाती है।

इन वर्णनो मे जिसे निम्नोन्नत विभाग या प्रदेश सम्बोधित किया गया है उसे ही "विष्णुधर्मोत्तर" की शब्दावली मे "वर्तना" तथा (अग्रेजी मे – Shading) कहा गया है। पालि मे इसके लिए "उज्जोतन" शब्द का प्रयोग हुआ है। मुगल शैली के चित्रकार इसके लिए "परदाज" शब्द का प्रयोग करते है।

परदाज या शेडिंग -- अकबर काल के चित्रों मे सपाट रग (फ्लैट कलर) लगाकर, कही--कहीं जरा–सा परदाज (Stippling या shade) बनाते थे। जैसे – भारत कला भवन में "पृथु का गोदोहन" चित्र मे सभी मूल रग लाल, नीले, पीले आदि लगे है और उनमे जरा–सा परदाज लगाया गया है। जहांगीर काल के चित्रो मे प्रधान रंगो मे कई रगो का मिश्रण करते थे और उन चित्रो मे परदाज बहुत अधिक करते थे। जैसे – पहने हुए वस्त्र मे बाहुकक्ष के पास भी थोडा–सा साया देते थे, यह पसीने का द्योतक होता था। इसके बाद के काल मे जब मुगल चित्रकला का ह्रास हो रहा था उस समय उसमे परदाज को बिल्कुल काले रंग से दिखाने लगे थे।

चित्र मे रेखाकन के पश्चात् जब रग भरा जाता है तो चित्र सपाट और निर्जीव–सा दिखाई देता है, किन्तु जब उसमें वर्तना द्वारा ऊचे–नीचे स्थानों को, हल्के – गहरे रंगो से छाया–उजाला दिखलाते है तब उसमे निखार और सजीवता आ जाती है।

वर्तना मे छाया और उजाला का जो निर्वाह किया जाता है उसके लिए कठोपनिषद् मे "छायातपौ" कहा गया है— "ऋत पिबन्तौ.. छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति ।" छाया और आतप (प्रकाश) अर्थात् साया–उजाला ये दो विभिन्न तत्व है। इनके प्रयोग से चित्र में वर्णनात्मकता के साथ ही सजीवता भी आ जाती है।

छाया और आतप को चित्र मे दिखलाने का सामान्य सिद्धात यह है कि जो वस्तु बिल्कुल सामने होती है उसे उज्जवल या प्रकाश से हल्के रगो से दिखलाते है और भीतर आड मे पड़ने वाले अथवा अगल–बगल एव दूर के भाग को छाया से गहरे रगो से दिखलाते है। अजता के चित्रो मे भी यही प्रक्रिया भली–भाँति परिलक्षित होती है। कालिदास ने भी "पूर्वमेघ", श्लोक ७ मे – "बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या" अर्थात् बाहरी उद्यान को चन्द्रिका से प्रकाशित, धौत कहा है। सामने के स्थल को प्रकाश से दिखलाते है, उसमे भी ऊचे स्थान को प्रोन्नत (हाई लाइट से) दिखाते है। मानसोल्लास मे वर्णन है —

"पूरयेद्वर्णकैः पश्चात् तत्तद्रूपोचितैस्स्फुटम् ।
उज्ज्वलं प्रोन्नते स्थाने श्यामलं निम्नदेशगः ।। १६० ।।

भित्ति पर रेखाकन किये हुए आकार या रूप मे वर्ण–पूरण (रग भरना) करना चाहिये। तत्पश्चात् भिन्न–भिन्न रूपो मे प्रोन्नत स्थान पर उज्जवलता तथा निम्न स्थान मे श्यामलता या छाया दिखलाना चाहिये।

"विष्णुधर्मोत्तर" (४१।१०–११) मे चित्रगुण के सबध मे कहा गया है कि रेखा, वर्तना, भूषण और रग – चित्रकारी के ये चार भूषण स्वरूप है। विचक्षण (आलोचक, कला मर्मज्ञ, निपुण) व्यक्ति चित्र मे वर्तना की प्रशंसा करते है — "रेखां प्रशसन्त्याचार्यावर्तना च विचक्षणाः"। वर्तना का सबध वर्ण विन्यास से है। वर्तना, तूलिका चलाने की निपुणता से प्रकट की जा सकती है। साराश है कि तूलिका-कर्म द्वारा भावाभिव्यक्ति करना ही वर्तना का मुख्य कार्य है। महर्षि व्यास ने भी "महाभारत" में कहा है कि छाया-प्रकाश द्वारा निम्नोन्नत प्रदेश को दिखलाने मे चित्रकर्मविद् विचक्षण व्यक्ति ही समर्थ होते है –

"अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः ।
समनिम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः ।।"

कुमारस्वामी ने वर्तना का अर्थ "शेडिंग" माना है और स्टेला क्रैमरिश ने "लाइट ऐन्ड शेड"। किन्तु वर्तना का यह अर्थ कैसे आया, इसे इन विद्वानो ने स्पष्ट नही किया है।

वर्तना का ठीक अर्थ किसी भी शब्दकोश मे नही मिलता, केवल मोनियर विलियम शब्दकोश मे यह मिलता है – वर्तन (संज्ञा) का स्त्रीलिंग "वर्तना" है। वर्तन = the act of turning or rolling on or moving forward about ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुधर्मोत्तर मे ब्रश को घुमाने या लुढका कर चलाने और आगे की ओर गतिशील होने वाली तूलिका के लिए वर्तना शब्द का प्रयोग किया गया है अथवा ब्रश को लुढका कर चलाकर रग द्वारा वस्तु में घुमाव या गोलाई दिखाना, जिसे "शेडिंग" कहा जाता है। इसीलिए विष्णुधर्मोत्तर के इस अध्याय ४१ का नाम "रगवर्तना" रखा गया है।

विष्णुधर्मोत्तर (३।४१।५, ६, ७) में वर्तना की विधि तीन प्रकार की कही गई है – (१) पत्रवर्तना, (२) आहैरिक वर्तना और (३) बिन्दुवर्तना।—

"तिस्रश्च वर्तना: प्रोक्ता पत्रा (? त्र) हैरिकबिन्दुजा: ।। ५ ।।
पत्राकृतिभी रेखाभि: कथिता पत्रवर्तना ।
अतीव कथिता सूक्ष्मा तथा हैरिकवर्तना ।। ६ ।।
तथा च स्तम्भनायुक्ता कथिता बिन्दुवर्तना ।।

पत्ती या जालीनुमा रेखाओ को "पत्रवर्तना", खडी या तिरछी अत्यंत सूक्ष्म रेखाओ को "आहैरिकवर्तना" (एक बाल परदाज रेखा) तथा स्तभनयुक्त बिंदुओ को विंदुवर्तना कहते है। बिंदुवर्तना के लिए ब्रश को सीधा खडा करके चलाना पडता है।
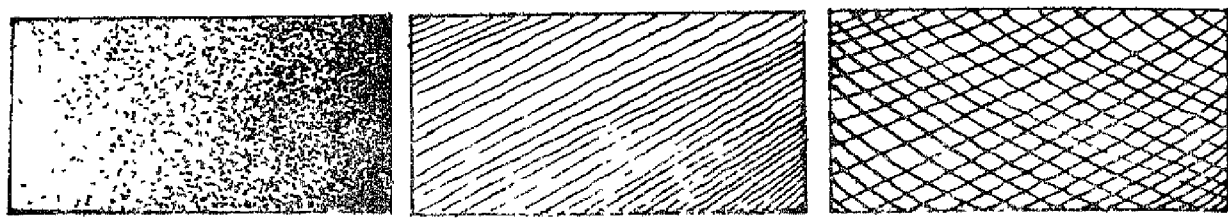
आकृति २—तीन प्रकार की वर्तना-पत्रवर्तना (Cross hetching), हैरिक (Fine line), बिन्दुज (Steppling)

शिवराममूर्ति ने "दि पेटर्स इन एन्शियट इंडिया" (पृ० ३०) मे लिखा है -"Vartanā or delineation of depth on a flat surface by the suggestion of light and shade is classified as threefold, patraja, binduja and raikhika, cross-hatching, stippling and line shading Stippling" को आजकल rendering भी कहते है। स्टेला क्रैमरिश वर्तना के सबध मे विष्णुधर्मोत्तर, (पृ० ५१) मे लिखती है. -"Methods of producing light and shade are said to be three :—(1) Crossing lines (lit lines in the form of leaves-Patraja, (2) by stumping (airika) and (3) by dots (binduja). The first method (of shading) is called (patraja) on account of lines in the shape of leaves The airika method is called so because it is said to be very fine. The binduja method is called so from the restrained (i. e. not flowing) handling of the brush."

आनन्द कुमारस्वामी "वर्तना" के तीनो प्रकारो के सम्बन्ध मे जर्नल आफ अमेरिकन ओरियटल सोसायटी, वाल्यूम ५२ में लिखते हैं — "The leaf shading (Patra-Vartanā) is done with lines (rekhā) like those on a leaf ; that which is very faint (sūkṣma) is āhairikā-Vartanā; while that done with an upright (stambhanā yukta) brush is dot-shading (Bindu-Vartanā)"

इन वर्णनो से स्पष्ट होता है कि "पत्र", हैरिक और बिन्दु वर्तना, रंग लगाने की तीन भिन्न-भिन्न विधियां थी। सामान्यतया "पत्र" का अर्थ "पत्ती" है। परन्तु किस वृक्ष की पत्ती, यह स्पष्ट नही होता। प्रियबाला शाह ने तमाल वृक्ष की पत्ती इसे माना है। यहा पर कठिनाई उत्पन्न होती है कि पत्राकृति रेखाओ मे रंग लगाना माना जाय अथवा जैसा कुमारस्वामी ने माना है कि पत्ती की नसो के समान बारीक रेखाओ से वर्तना करना। जो भी अर्थ लिया जाय उसका तात्पर्य है कि जब तरंगित या घुमावदार रेखाओं से रग लगाते है तब उसे 'पत्रवर्तना' कहते हैं।

चित्र में बारीक सघन रेखाओं या बिंदुओं द्वारा परदाज लगाते हैं, किन्तु अजंता के भित्तिचित्रों में इस प्रकार साया नहीं दिखाया गया है। वहां पर गहरे–हल्के रंगों की सपाट रेखा द्वारा साया – उजाला दिखलाया गया है। यह प्रक्रिया मुगल और पहाड़ी चित्रकारों के परदाज लगाने की शैली से सर्वथा भिन्न है। रेखा द्वारा साया लगाना मुगल एवं पहाड़ी पेंटिंग में अत्यधिक प्रचलित है। जहां पर पृष्ठभूमि में घास दिखलाई गई है वहां विशेष रूप से रेखा द्वारा पत्रवर्तना का प्रयोग हुआ है। मुगल कलाकार इसे सीक (डंडा) परदाज कहते हैं। इसी प्रकार इन चित्रकारों ने मानवाकृतियों के चेहरे आदि में तथा वस्त्रों में बिंदुवर्तना एवं रैखिक वर्तना का प्रयोग किया है। प्रारंभिक राजस्थानी चित्रकारों ने बाहुकक्ष एवं स्वेद को दिखाने के लिए बिंदुवर्तना का प्रयोग सबसे अधिक किया है। अत्यधिक सघन बिन्दुओं से परदाज को मुगल चित्रकार धुआंधार परदाज कहते हैं।

शब्दकोषों के अनुसार हैरिक वर्तना का अर्थ – हैरिक>हृ हरणे धातु से – बिल्कुल ठीक लगता है। वि० ध० (४१।६) में कहा गया है "अतीव .सूक्ष्मा ..हैरिकवर्तना।" अर्थात् अत्यंत सूक्ष्म वर्तना को "हैरिक" कहते हैं। इसमें "अतीव . सूक्ष्मा" शब्द पर बहुत बल दिया गया है। प्रक्रिया की दृष्टि से चित्र में जब अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओं से साया लगाते हैं तब उसकी अति बारीक रेखायें नहीं दिखलाई पड़ती। वे नेत्रों के द्वारा हरण कर ली जाती हैं और उसके स्थान पर केवल गहरा रंग ही दिखलाई देता है। यदि कोई देखना चाहे तो इस हैरिक वर्तना की अतीव सूक्ष्म रेखाओं को सूक्ष्मदर्शकयन्त्र से ही देख सकते हैं। इसीलिए इसका नाम हैरिक वर्तना रखा गया है। सूक्ष्म रेखाओं के घनत्व से साया दिखलाने की परंपरा मुगल चित्रकला में थी और उसे "परदाजना" कहते थे।

प्रियबाला शाह के अनुसार मैन्युस्क्रिप्ट B C V में हैरिक का पाठ "आहैविक" है। स्टेला क्रामरिश ने इसे "ऐरिक" लिखा है जो सर्वथा अशुद्ध एवं निरर्थक है। इन्होंने "ऐरिक" मानकर छन्द में केवल एक "सिलेबल" को कम कर दिया है। शिवरामसूर्ति ने इसका "रैखिक" अर्थात् रेखा सम्बन्धी वर्तना – पाठ माना है, जो व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है। कुछ लोगों ने हैरिक के स्थान पर "गैरिक" पाठ माना है जो सर्वथा अशुद्ध है।

मोतीचन्द्र तथा वासुदेवशरण अग्रवाल ने "हैरिक" से "हीरक" और "हीराकट" या क्रास–क्रास लौजिंग अर्थ माना है। प्रियबाला शाह ने हैरिक का अर्थ "हीरा" या हीर (स्) माना है। वे (वि० ध०, पृ० १२७–२८) में कहती हैं :—"I derive the word hairika from Hira (m.) or Hirā meaning a band, a strip or a fillet or a vein or artery So Hairika-Vartanā would mean applying paint with thin bands"

वर्तना का संबंध वर्ण से भी है। "अट्ठशालिनी" में रंग उठाकर हाई लाइट दिखलाने को "उज्जोतन" कहा गया है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण" (अंक ३) में भी रंग उठाकर उज्जोतन दिखलाने का वर्णन है। विदूषक खिलवाड़ में भित्ति पर बने हुए चित्र में ऊंचे स्थानों पर हाथ से रगड़ कर रंग उठा देता है, इससे वहां पर हाई लाइट बन जाती है। हाथ से रगड़कर वज्रलेप मिले हुए रंग के स्थायित्व की भी जांच की जाती है। आधुनिक "वाश पेंटिंग" की प्रक्रिया में रंग को उठाकर "हाई लाइट" दिखलाना ही प्रधान है, किन्तु "टेम्परा पेंटिंग" में भी इस प्रक्रिया को अपनाते हैं। अजन्ता के भित्तिचित्रों में इसी विधि से ऊंचे स्थानों पर "हाई लाइट" दी गई है। छाया–प्रकाश की इस विधि से चित्र में गोलाई और उभार आ गया है। इसका एक सुंदर उदाहरण याजदानी, अजन्ता, फलक ४७ (ई) में मेघ से अपना संदेश कहते हुए यक्ष के चित्र में मिलता है (चित्र–४)। रंग को उठाकर साया लगाने की प्रक्रिया होने के कारण इसका सम्बन्ध "हृ" हरणे धातु से "हैरिक" अत्यन्त संबद्ध प्रतीत होता है।

"अट्ठशालिनी" (पृ० ६४) में "वर्तना" और "उज्जोतना" या "उज्ज्वलनर" (पालि में – वत्तन और

उज्जोतन) एक साथ आया है। उज्जोतना का स्पष्ट अर्थ है किसी स्थल विशेष पर अधिक प्रकाश अथवा उज्ज्वलता के द्वारा उसे ऊंचा उठा हुआ दिखलाना।

क्षय–वृद्धि (शरीर–मुद्रायें) :— "विष्णुधर्मोत्तर, अध्याय ३९ मे क्षय–वृद्धि के सिद्धान्त का वर्णन है। इसमे क्षय–वृद्धि अर्थात् स्थान या मुद्रा के तेरह प्रकार वर्णित है किन्तु "अभिलषितार्थचिंतामणि" मे पाच प्रकार के स्थान या शरीर मुद्राओ का ही वर्णन है। शिल्परत्न तथा समरागणसूत्रधार मे भी इसका वर्णन है। क्षय–वृद्धि को अंग्रेजी मे (Fore-Sh tening) कहते है। क्षय-वृद्धि के सम्बन्ध में प्रियबाला शाह ने "विष्णुधर्मोत्तर", खंड २, (गा० ओ० सी०) के पृष्ठ ११० से ११५ मे अत्यन्त विस्तार से विचार किया है।

"विष्णुधर्मोत्तर", अध्याय ३९ मे नौ प्रकार के स्थान अत्यन्त प्रमुख कहे गये है ---

ऋज्वागतं भवेत्पूर्वमनृजु तदनन्तरम् । साचीकृतशरीरं च भवत्यर्धविलोचनम् ।। २ ।।
ततः पार्श्वगतं नाम पुरावृत्तमनन्तरम् । पृष्ठागतमधः कार्यं परावृत्तं (त्त)
समानतम् ।। ३ ।। एतान्यनेकभेदानि नव स्थानानि भूषिते ।

इनके नाम क्रमश. है — (१) ऋज्वागत, (२) अनृजु, (३) साचीकृत, (४) अर्धविलोचन, (५) पार्श्वगित, (६) परावृत्त, (७) पृष्ठागत, (८) पुरावृत्त और (९) समानत। ये नौ स्थान भी अनेक भेदो मे युक्त है। इन स्थानों के अनेकनिष्ठ होने से उनके अगो से उत्पन्न होने वाली क्षय-वृद्धि तेरह प्रकार की बतायी गई है, उनके नाम ये है — (१) पृष्ठगत, (२) अवऋजुगत, (३) अध्यार्धार्ध, (४) अर्धाधे, (५) साचीकृतमुख, (६) नत, (७) गण्डपरावृत्त, (८) पृष्ठागत, (९) पार्श्वागत, (१०) उल्लेप, (११) चलित, (१२) उत्तान और (१३) वलित। ये नौ स्थान भूलम्ब रेखा अर्थात् ब्रह्मरेखा मे पक्षसूत्र की दूरी या निकटता के आधार पर मुद्रा के अनुसार होते हैं।

"मानसोल्लास" मे क्षय-वृद्धि के अनुसार पाँच प्रकार के स्थान या शरीर मुद्राये कही गई है (१) ऋजु, (२) अर्धजु, (३) साची, (४) अर्धाक्षिक तथा (५) भित्तिक। ये स्थान–भेद एक निश्चित मान पद्धति के अनुसार किये गये है। इस पद्धति के अनुसार विद्धचित्रों की रचना के लिए तीन रेखासूत्र मौलिक मानाधारों के रूप मे प्रकल्पित किये गये हैं --- एक ब्रह्मसूत्र तथा दो पक्षसूत्र। ब्रह्मसूत्र वह रेखा है जो केशान्त से प्रारम्भ होकर भ्रूमध्य नासापुट, हनु, वक्ष तथा नाभि से होती हुई दोनो पैरों के मध्य नीचे तक पहुँचती है। इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा सिर से पैर तक शरीर के दाहिने – बाये का मध्य निर्धारित होता है। साथ ही दो पक्षसूत्र भी, प्राय. ब्रह्मसूत्र से दोनो तरफ छ – छः अगुल की दूरी पर रहते है और ये दोनों कर्णान्त से आरम्भ होकर हनु, जानुमध्य तथा पादागुष्ठ से होते हुए भूमि तक पहुचते है। इस प्रकार केन्द्रसूत्र तथा पार्श्वसूत्रों के नियमन एवं अवकाशो के परिवर्तन या घटाव – बढाव से निम्नलिखित पाच प्रकार की शरीर–मुद्रायें निष्पन्न होती है –ऋजु, अर्धजु, साची, अर्धाक्षिक तथा भित्तिक। ऋजुस्थान वह सम्मुखीन स्थानक मुद्रा है जिसमें ब्रह्मसूत्र और दोनो पक्षसूत्र अर्थात् पार्श्व – सूत्रो का मध्यावकाश दोनो ओर छ छ अगुल होता है। अर्धजु स्थान में यह अवकाश एक ओर ८ अगुल तथा दूसरी ओर ४ अंगुल होता है। साची स्थान मे ब्रह्मसूत्र से एक पक्ष–सूत्र तक का मध्यावकाश एक तरफ १० अगुल तथा दूसरी तरफ दो अगुल का माना गया है। अर्धाक्षिक स्थान मे ब्रह्मसूत्र से एक पक्षसूत्र तक का मध्यावकाश एक ओर ११ अगुल तथा दूसरी ओर केवल एकागुल। भित्तिक स्थान मे केवल पक्षसूत्र ही दिखायी देते हैं और ब्रह्मसूत्र बिल्कुल विलीन हो जाता है। इस प्रकार घटाव–बढाव, क्षय–वृद्धि से सभी स्थान या शरीर–मुद्रायें बनती है।

पत्र-रचना : फूल की पखुड़ियों तथा पत्तियों को डिजाइन में काटकर, उससे शरीर के अंगो पर प्रेमाभिव्यक्ति आदि उद्देश्य के अनुरूप विविध प्रकार की आकृतियां अथवा अलकरण बनाये जाते थे। महाकवि बाण ने "कादम्बरी" में इसके प्रयोग का विशद् वर्णन किया है। उन्होंने राजा तारापीड के अंत.पुर वर्णन के प्रसग में उसकी जीवनचर्या में "पत्र-रचना" का उल्लेख इस प्रकार किया है —**"उल्लसितकुचकृष्णागुरुपङ्कमत्रलताङ्कितप्रच्छदपटम्"** (पृ० ११६), **"कामिनीकुचकुंकुमपत्रलतालाञ्छितांसदेशः"**—(पृ० ३१३) आदि। भारत कला भवन में "गीत-गोविन्द" के एक चित्र में राधा के वक्ष पर पत्रलता का आलेखन करते हुए कृष्ण का एक सुदर चित्र पहाड़ी शैली का है (चित्र–१७)। इसी तरह एक और चित्र पहाड़ी शैली का प्रेम-परिरंभ का वहा है जिसमें राधा की चंदन से रचित कंचुकी खोलते कृष्ण का सरस अकन है (चित्र – १८)। कालिदास तथा अन्य सस्कृत के कवियों की रचनाओं मे भी पत्ररचना का बहुत वर्णन है, यथा —**"भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य।"** (मेघ०, १।१९), **"चकार बाणैरसुरांगनानां गण्डस्थली प्रोषितपत्रलेखाः।"**—(रघु०, ६।७२) इत्यादि।

इस कला का सीधा सबध चित्रकला से नहीं है और न तो उसमें व्यवहृत होने वाले पदार्थो-कुकुम, केसर, कृष्णागुरु, सिंदूर, हरिचदन आदि का ही चित्र मे उपयोग होता है, यह केवल विशेष प्रकार के अलंकरण की एक प्रणाली है। अत यहा पत्ररचना का उल्लेख मात्र ही उचित एव आवश्यक है। भारत मे बहुत जगह अभी भी विवाह आदि विशेष अवसरों पर छोटी-छोटी पत्तियों अथवा उनके टुकडों से चेहरे को अलंकृत करने की प्रथा विद्यमान है। कलकत्ता के इंडियन म्यूजियम मे भरहुत की चंद्रा यक्षिणी मूर्ति मे भी कपोलो पर पत्र-रचना अलंकरण किये हुए दिखाया गया है। पत्र-रचना की इस परपरा से कुछ भिन्न परंपरा बसोहली-चित्रों में दिखती है। बसोहली शैली के चित्रो में आभूषण मे पन्ना (हरा नगीना) का भाव दिखाने के लिए सोनकिरवा (स्वर्ण-कीट, पंजाब मे उसे "सोना-माखी" कहते है) के पंख काटकर लगाये जाते थे और यही उस शैली की चित्र-रचना की प्रमुख विशेषता थी।

धूलि-चित्र या रंगावली :—इस प्रकार के चित्रों को बनाने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से भारत मे चली आ रही है। इसमे भांति-भांति के रंगों के चूर्ण को जमीन पर भुरक कर मुख्यतः आलंकारिक आकृतियां अंकित की जाती हैं। ब्रज तथा नाथद्वारा मे अलंकरण की एकरूपता, सुगमता के लिए रंगीन पाउडर को सांचे मे झाडकर बनाने की प्रथा है।

"विष्णुधर्मोत्तर" मे इस पर कोई चर्चा नहीं मिलती, किन्तु "अभिलषितार्थचिन्तामणि" मे पाच प्रकार के चित्र कहे गये है – (१) विद्ध, (२) अविद्ध, (३) भाव-चित्र, (४) रसचित्र और (५) धूलिचित्र। श्रीकुमार ने "शिल्परत्न" मे चित्रो के तीन भेद बताये है – (१) धूलिचित्र, (२) सादृश्य-चित्र तथा (३) रस-चित्र। इसमे "धूलिचित्र" अभी तक हिन्दुस्तान मे प्राय सर्वत्र बनते हैं। इसे बंगाल मे "अल्पना", गुजरात तथा महाराष्ट्र मे "रागोली", तमिलनाडु में "कोलम, आंध्र मे मुग्गु", उत्तर प्रदेश में "चौक पूरना" कहते हैं। ब्रज और बुन्देलखण्ड मे उत्सवों के दिन जो रंगीन धूलि-चित्र बनाये जाते हैं उन्हे "साझी" कहते है। यह साझी ब्रज मे, पटना तथा बनारस के गोपाल मदिर में आश्विन के पितृ पक्ष मे १५ दिनों तक रंगीन चूर्णो (आटा, अबीर, रोली आदि) के अतिरिक्त रंगीन फूल-पत्तियों से भी तरह-तरह के पशु-पक्षी, दृश्य आदि अंकित किये जाते हैं।

"नारदशिल्प" मे **"चित्रालंकृतिरचनाविधि"** मे तीन प्रकार के चित्र – (१) भौमिक, (२) कुड्यक और (३) ऊर्ध्वक–क्रमशः भूमि पर बनाये जाने वाले चित्र, भित्तिचित्र तथा छत पर बनाये जाने वाले चित्र कहे गये है। इसमें भौमिक चित्र "धूलि-चित्र" के लिए कहा गया है। धूलिचित्र को सस्कृत साहित्य मे "रंगावली"

अथवा "रंगावल्लो" कहते हैं। इसी का रूपान्तर "रांगोली" महाराष्ट्र में प्रचलित है। नलचम्पू (पृ० ११७) मे उल्लेख है :—

"मण्डयन्तां मसृणमुक्ताफलक्षोदरङ्गावलीभिः प्राङ्गणानि।"

मोती के महीन चूर्ण से रंगावली द्वारा प्रांगण को मंडित कर दो, अर्थात् पूरे आंगन को रांगोली से सजा दो। इसी प्रथा की परंपरा "चौकपूरना" के रूप में बहुत क्षेत्रों में अभी भी विद्यमान है। आजकल मोती के महीन चूर्ण के स्थान पर संगमरमर के चूर्ण से भी रांगोली बनाते हैं।

धूलिचित्र के समान ही "रसचित्र" भी एक दूसरे प्रकार की रांगोली है। 'रस' का दो अर्थ है – (१) द्रव (तरल) और (२) भाव के अर्थ में रस। किन्तु यहां पर रस–चित्र का अर्थ तरल पदार्थ से बना चित्र है। रस–चित्र चावल को पानी में पीसकर या रंग को पानी में घोलकर बनाते हैं। इसे "अभिलषितार्थचिन्तामणि" मे स्पष्ट किया गया है —

"सद्रवैं वर्णकैः लेख्यं रसचित्रं विचक्षणैः।"

धूलि–चित्र रंगीन सूखे चूर्णों को भुरक कर बनाया जाता है। ये चित्र बहुत कम समय तक रहते हैं अतः श्रीकुमार ने इन्हें "क्षणिक" कहा है। नारद ने इसे "भौम" कहा है क्योंकि यह विशेष रूप से भूमि पर बनाये जाते हैं। 'शिल्प-रत्न' (३६।१४४–१४५) में श्रीकुमार लिखते हैं :-

"एतान्यनलवर्णानि चूर्णयित्वा पृथक् पृथक्।
(ए) तैश्चूर्णैः स्थण्डिले रम्ये क्षणिकानि विलेपयेत् ॥ १४४॥
धूलीचित्रमिदं ख्यातं चित्रकारैः पुरातनैः।"

रस–चित्र के प्रकार का "कोलम्" तमिल लोगों के घरों में भी अंकित किया जाता है। आटे या चावल के चूर्ण का द्रव एवं लाल कवि या कावी द्रव अर्थात् पानी में घोली हुई अबीर का प्रयोग इसमें करते हैं, जिसे तमिल में क्रमशः "मवुक्कोलम्" तथा "कविक्कोलम्" कहते हैं। "मवुक्कोलम्" से लहरदार या गोमूत्रिका, (Waving line अथवा zigzags) रेखायें अधिक खींची जाती है। इस प्रकार का रस–चित्र (कोलम्) सुधा–धवलित भित्ति पर नहीं करना चाहिये, शिल्परत्न का यह निर्देश है :-

सुधा धवलिते भित्तौ नैव कुर्यादिदं सुधीः।
रसचित्रं तथा धूलीचित्रं चित्रभिति त्रिधा ॥ ३६।१४३ ॥

राघवन् ने "सम संस्कृत टेक्स्ट्स ऑन पेंटिंग" (पृ० ८९९) लेख मे लिखा है कि धूलिचित्र को तमिलनाडु मे भूमि पर आटे से घरों के सामने द्वार के चौखट पर तथा उसके समीप के स्थानों मे बनाते है। मार्ग–शीर्ष के महीने में गांव मे तमिल लडकियां प्रतिस्पर्धा मे अपने–अपने घरो के आगे बड़ी–से–बड़ी और अति कठिन कोलम् बनाती हैं, तत्पश्चात् इन कोलमों को अनेक प्रकार के लौकी–कोंहड़े आदि के पुष्पों से सजाती हैं। अन्य उत्सवों पर भी घरों, मंदिरों में देवताओं की आरती करने की रकाबी को अनेक प्रकार के रंगीन चूर्णों से सजाते है।

बंगाल तथा उत्तर प्रदेश में चावल को पानी में कुछ देर भिगोकर, पीसकर कभी–कभी श्वेत ही अथवा कभी हल्दी मिलाकर पीला रंग तैयार करके, जिसे उत्तर प्रदेश में "ऐपन" कहते हैं, उससे अल्पना देते हैं। आजकल जस्ताभस्म (White zink या सफेदा) से अल्पना देने की प्रथा चल पड़ी है। सफेदा या खड़िया के अतिरिक्त रंगीन

चूर्णों मे गेरू, रामरज, हिरौंजी, पिसा हुआ कोयला, बेल की हरी पत्ती को सुखाकर महीन पीसे हुए चूर्ण से तैयार किया हुआ हरा रंग, इस प्रकार पाचों प्रमुख रंगों – लाल, पीला, हरा, काला और सफेद – से अल्पना देते है।

धूलिचित्र अथवा अल्पना यह लोक–कला के रूप मे प्राचीन काल मे ही परम्परागत चली आ रही है। यही लोककला और परिष्कृत होकर चित्रकला एवं शिल्पकला मे बनाई जाने लगी। विशेष रूप से कुछ त्योहारो, जैसे करवा चौथ, शीतलाष्टमी, अहोई आदि अवसरो पर विन्दु–बिन्दु के समान निशान, पिष्टपचांगुल – अंगुली तथा हथेली को रंगीन गाढे घोल "ऐपन" मे डुबोकर बनाये गये चिन्ह (थापा) – प्राचीन काल से आज तक प्रचलित है, जिनकी चर्चा न केवल वाणभट्ट ने "हर्षचरित" तथा 'कादम्बरी" मे की है वरन् भरहुत मे पाये गये प्राचीन शिल्पो मे भी इन्हे वास्तविक रूप में दिखाया गया है। यशोधर्मन के मदसोर शिलालेख (Corpus Inscriptionum Indicarum III. P 146) मे उल्लेख है कि शिव के बैल पर पार्वती ने पचांगुल (थापा) का अकन किया था, इससे पिष्टपचांगुल बनाने की प्राचीनता ज्ञात होती है—

"उक्षाणं तं दधानः क्षितिधरतनयादत्तपञ्चाङ्गुलाङ्कम् ।
द्राघिष्ठः शूलपाणेःक्षपयतु भवतां शत्रुतेजांसि केतुः ।।

उसी प्रकार महाकवि भास के "प्रतिमानाटकम्" (तृ० अ०) मे भरत कहते है—'**दत्तचन्दनपञ्चांगुला भित्तयः**" दीवार पर चंदन से पाचों अंगुलियो की छापे (थापा) लगाई गई है। इन पिष्टपचांगुलो मे हमे एक अन्य सांकेतिक चिह्न बनाने की प्रथा का भी पता चलता है जिसमे भूमि पर चित्रगुप्त, बालकृष्ण, वरलक्ष्मी के चरण-चिह्न दिखलाये जाते है जिनसे देवताओ के आगमन, सत्कार और घटना का सकेत मिलता है। हथेली के चिह्न की तरह पैरो का चिह्न बनाना भी बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था। इस बहुप्रचलित प्रथा का पता बुद्ध, विष्णु, राम, कृष्ण के चरणो की पूजा मे लगता है। श्रीराम के चरणों की पूजा का वर्णन कालिदास द्वारा "मेघदूत" (१।१२) मे किया गया है - **"आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं, वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।।"** भूमि पर पदचिह्नो के बनाने की प्रथा के प्रारंभ का ज्ञान कृष्णा नदी की घाटी मे पाये जाने वाले स्तूपो मे एवं अमरावती और नागार्जुनकोण्ड मे प्रचलित कथा से लगता है, जिसके अनुसार लुम्बिनी वन में पदचिह्नो से चिह्नित रेशमी वस्त्र पर नवजात शिशु बुद्ध को प्राप्त करने का वर्णन है।

अल्पना देना सुगृहणियो का गर्व है, हाथों की दक्षता है और चित्रकारी (free-hand drawing) मे स्वच्छंद गति से हाथ चलाने की शक्ति है। बाणभट्ट ने स्त्रियो के इस रोचक कार्य रंगावली का उल्लेख किया है, जो विशेष अवसर पर घरो को, मुख्यतः ड्योढी तथा द्वार के दोनो बगल को सजा रही है। कौलिक आचार जानने वाली स्त्रिया विलासवती के सूतिकागृह को शुभ लोक-कला से अलंकृत कर रही थी। वे कौलिक आचार-विज्ञ पति-पुत्रवती सुन्दरियो के मध्य मे कोई उस द्वार के दोनो बगल मे गोबर के बहुत से चौक बनाकर उनके ऊपर चित्त-कौडिया चिपका रही थी, उससे वे चौक ऊँचे-नीचे हो गये थे। नाना-विध गेरू आदि के सुन्दर रंग द्वारा रेखाओ मे रंजित कर मनोहर कार्पास-कुसुम के कणो द्वारा उन चौको को चित्रित करती थी, कुसुमरेणु के सयोग से उनको लाल-लाल करती थी। कोई स्त्री चंदन के जल से धोई गई दीवारो के ऊपरी भाग मे, पचविध रंग से चित्र अंकित करती थी। – (कादम्बरी, पृ० १४२–१४३)।

"रंगवल्ली का यह आलेखन भूमि पर बिना किसी प्रकार की रेखा का नेतृत्व किये, बिना पेंसिल या ब्रश की सहायता लिये, केवल हाथ की अंगुलियों से रंग द्वारा, दक्ष कलाकार बनाते है, यद्यपि कुछ अकुशल व्यक्ति बिन्दु

बिन्दु से आकार बनाकर भी इसे प्रारभ करते है। जब रागोली तरल रंगो से देनी रहती है तब रंग के पतले घोल को लेकर, रूई अथवा महीन छोटे-कपड़े को उस रंग में डुबोकर, हाथ के अगूठे मे धीरे-धीरे रूई को दबाते हुए अनामिका अगुली से रागोली देनी चाहिये। रग कहीं अनावश्यक स्थान पर न टपक पड़े इसका ध्यान रखना चाहिये। रागोली देते समय बैठने का ढंग भी बहुत महत्वपूर्ण है। सही तरीके से बैठकर रांगोली देने मे उसमे सुचारुता आती है। इसी प्रकार जब सूखे रंगो से रांगोली देते हैं तब कुशल चित्रकार संगमरमर के चूर्ण और रामरज, गेरू आदि धातुराग को थोडा-सा, तर्जनी एव अगुष्ठ के मध्य मे एक विशेष प्रकार से लेकर, भुरकते हुए सुन्दर रेखांकन करते है। दोहरी रेखाओ मे विभिन्न रग भी भरे जाते हैं। कभी-कभी कलाकार अपनी रुचि से कई रंगो के चूर्णो को मिलाकर भी फल, पुष्प, पशु-पक्षी, मानव आदि के अंकन मे ऊंचा-नीचा, छाया-प्रकाश आदि दिखलाकर सजीवता-सी लाते हैं। ये सब आलेखन कलाकार के मस्तिष्क की उपज है। सूखे रग के चूर्ण से रागोली देने के लिए भूमि पर सामान्यतया सूखी महीन मिट्टी अथवा बालू की पतली तह बिछाकर उस पर रग भुरकते है। तरल रगो से रागोली देने के लिए प्राय. भूमि पर गोबर का पतला लेप करके तब अंगुली से अल्पना देते है। डब्लू० ई० ग्लैडस्टोन सालोमन ने अपनी पुस्तक "दि चार्म ऑफ इडियन आर्ट" (पृ० ५९, १४२) मे भी रांगोली के सबध में कुछ विवरण दिया है।

रागोली मे नारी-अगुलियों के कलात्मक चमत्कार दर्शनीय होते हैं। इन विवेचनाओं का सारांश यह है कि शिल्पशास्त्रों तथा संस्कृत साहित्यों मे वर्णित चित्र-निर्माण-प्रक्रिया को ठीक-ठीक मानकर उसके अनुसार चित्रांकन करना चाहिए। इन ग्रंथो मे वर्णित भित्तिचित्र, फलकचित्र तथा पटचित्र निर्माण करने की विधि का यहां विशद् विवेचन है। चित्रकला के उपकरणों मे वर्तिका, तूलिका, रग आदि प्रमुख है, जिनकी निर्माण-विधि यहाँ वर्णित है। उसका उचित प्रकार से प्रयोग करने से चित्र खिल उठता है। समय के प्रवाह में तथा वैज्ञानिक उत्थान के कारण, इन श्रमसाध्य प्रक्रियाओं में भी परिवर्तन और संशोधन होते रहे। कलाकार सरल और शीघ्र होने वाली विधियो का आविष्कार करते रहे। चित्रो में वर्तना (शेडिंग) विधि की प्राचीन परपरायें आज भी विद्यमान है, जिन्हे अत्याधुनिक चित्रकार भी प्रयोग कर रहे है। इसी प्रकार लोककला मे रांगोली (धूलिचित्र) बनाने की प्रथा प्राचीनकाल से लेकर आज तक सपूर्ण भारत मे जीवंत है। उसकी प्रक्रिया से भी यहाँ अवगत कराया गया है।

चित्र-निर्माण की तकनीक को जानकर उसे प्रयोग में लाना कठिन साधना है। इसके उचित प्रयोग के अभाव मे संपूर्ण चित्र-निर्माण करने का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। जो चित्रकार इस साधना में दक्ष होता है उसके चित्र शत-सहस्र वर्षों तक जीवित (स्थायी) रहते हैं और उसके यश की वृद्धि करके, अमर बनाते हैं।

४

चित्र के षडंग एवं कृति का मापदण्ड

आत्मा को संसार मे आने के लिए स्थूल शरीर का आवरण धारण करना पडता है, उसी प्रकार रस को भी अपनी बाह्य अभिव्यक्ति के लिए चित्र, मूर्ति, वास्तु, सगीत और काव्य आदि के स्थूल कलेवर मे अवतरित होना पडता है, अत कला इसका वाहक है। उसके लिए रूप-रग के बाह्य उपादानों की भी आवश्यकता होती है, जिसमे किसी कला के वाह्य-पक्ष का निर्माण होता है। कला के इन दोनों पक्षों अर्थात् (१) आभ्यन्तर पक्ष (रस-पक्ष) और (२) बाह्य-पक्ष (चित्र का कला-पक्ष) का अटूट संबध है। कला मे सौंदर्य की परिभाषा का प्राचीनतम उद्देश्य था—**"सत्य, शिवं, सुन्दरम्"**। चित्र में सत्य अर्थात् रूप, प्रमाण, सादृश्य होना चाहिये। विष्णुधर्मोत्तर मे कहा गया है —**"यत्किञ्चिल्लोकसादृश्यं चित्र तत्सत्यमुच्यते"**। शिव अर्थात् चित्र मे कल्याणकारी भाव होना चाहिये। सुन्दर अर्थात् सुन्दर, लावण्ययुक्त होना चाहिये। चित्र मे लावण्यता वर्णिकाभग के समावेश से बढ जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है कि शिल्पी को ७० वर्ष तक कला का अभ्यास करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करना चाहिये। विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे भी कहा गया है—**"कलानां प्रवरं चित्रं, धर्मकामार्थमोक्षदम्।"** कला मे बाह्य रूप का सृजन कुछ निश्चित नियमो पर आधारित होता है, जिससे सौन्दर्य के मानदण्ड का निर्माण होता है।

भारतीय चित्रकला मे सौन्दर्योत्पादक जिन छ. अगो की प्रधानता है और जिनके अनुशीलन तथा अनुकरण से चित्र के सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है, उसका उल्लेख वात्स्यायन के कामसूत्र के प्रथम अधिकरण, तृतीय अध्याय मे यशोधर ने अपनी "जयमगला" टीका में सूत्र रूप मे किया है, यद्यपि ये चित्र के षडग बहुत प्राचीन काल से लोगो को ज्ञात थे। भास के नाटक "दूतवाक्यम्" में दुर्योधन चित्रपट को देखकर कहता है —

अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपट ।. .अहो अस्य वर्णाढ्यता।
अहो भावोपपन्नता। अहो युक्तलेखता। सुव्यक्तमालिखितोऽयं चित्रपट.।

इसमे वर्णाढ्यता में वर्णिका-भग को, भावोपपन्नता मे भाव को, युक्तलेखता मे प्रमाण को, सुव्यक्तमालिखित में सादृश्य एव रूपभेद को और दर्शनीय से लावण्य की प्रशसा की है। लावण्य तो सदैव दर्शनीय होता है। इस प्रकार दुर्योधन के इन वचनो से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि भास के समय में भी चित्रकला के ये षडग लोगो को सुविदित थे।

वाल्मीकि रामायण मे भी वालकाण्ड के प्रारभ मे नारद श्रीराम के सौंदर्य का वर्णन करते हुए उनको 'समसमाग'' कहते है। "समसमांग" के द्वारा उनके शरीर के उचित प्रमाण को प्रतिविम्भित किया गया है जिसमे कम्बुग्रीव, करपल्लव, चरणकमल, मुखचन्द्र सिंहकटि आदि सादृश्य के अगणित उदाहरण विद्यमान है। कवि ने सीता मे असीम लावण्य और श्रीराम एव लव-कुश मे अद्वितीय रूप-माधुरी को दिखलाया है। रूपभेद भी उसमे यत्र-तत्र सर्वत्र दृश्यमान है — इसमें राजा, प्रजा, दास-दासिया, मुनि, राक्षस-राक्षसिनिया, देव, गन्धर्वादि के रूपपरक वर्णन रूपभेद को उद्घोषित करते हैं। भाव-धारा तो उसमे आद्यन्त प्रवाहित होती रहती है।

कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" मे वर्णित **"लक्षणम् अंग-विद्याम्"** – संकेत करता है कि अंग संबंधी सामुद्रिक लक्षणों की शिक्षा भी बालकों को दी जाती थी। विष्णुधर्मोत्तर में भी रूपभेद, प्रमाण, सादृश्य आदि चित्र के षडंगों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। कामसूत्र मे ६४ कलाओं के ज्ञान मे "आलेख्य" (चित्रकला) के ज्ञान को आवश्यक कहा है। प्राचीन काल मे प्रचलित चित्रकला के (१) रूपभेद, (२) प्रमाण, (३) भाव, (४) लावण्य, (५) सादृश्य और (६) वर्णिका-भंग इन छः अंगो को 'चित्रकला के षडंग" नाम से जाना जाता है, जिनको यशोधर ने वात्स्यायन विरचित कामसूत्र पर लिखी अपनी "जयमंगला" टीका मे सूत्र-रूप मे आबद्ध किया है–

रूपभेदाः प्रमाणानि भाव लावण्ययोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्र षडंगकम् ॥१।३॥

भारतीय ग्रंथों के सर्वेक्षण से विदित होता है कि प्राचीन युग से आज तक की समस्त भारतीय चित्रकला उन षडंगों को ही अपना आधार बनाकर चली है। "पंचदशी" के चित्रदीप प्रकरण मे शास्त्रकार ने चित्रपट की चारों अवस्थाओ – धौत, घट्टित, लांछित और रंजित से ब्रह्म का स्वरूप और ब्रह्माण्ड का रहस्य निर्णय किया है। चित्रकला भारत मे केवल मनोरंजन का ही साधन नही थी, वरन् हमारे ज्ञान और कर्म के साथ उसका गहरा संबंध था।

प्राचीनकाल से प्रचलित चित्र के इस षडंग[१] को सुप्रसिद्ध महान् कलाकार अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने नवीन दृष्टिकोण से परखा है, जो नीचे प्रस्तुत है

(१) रूपभेदा —Knowledge of appearances.
(२) प्रमाणानि —Correct perception measure and structure of forms.
(३) भाव —The action of feelings on forms.
(४) लावण्ययोजनम् —Infusion of grace, artistic representation.
(५) सादृश्यम् —Similitudes
(६) वर्णिकाभंग —Artistic manner of using the brush and colours.

प्रश्न यह है कि यशोधर के इस श्लोक मे "रूपभेद" सबसे पहले आया है और "वर्णिकाभंग" सबसे अंत मे, अतः दोनों मे कौन प्रधान है? रूपभेद से क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अंत मे वर्णिकाभंग होने पर चित्र पराकाष्ठा प्राप्त होता है। अतएव इस दृष्टिकोण से वर्णिकाभंग को कुछ विद्वानों ने सर्वप्रमुख माना है। कुछ विद्वान् सबसे अंत में कहे हुए तर्क को निकृष्ट या गौण तथा सर्वप्रथम (रूपभेद) को सर्वोत्कृष्ट, सर्वप्रधान मानते हैं। वस्तुतः ये सभी अन्योन्याश्रित हैं। रूपभेद प्रमाण की अपेक्षा करता है, प्रमाण भाव की, इस प्रकार ये छहों अंग एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। चित्र-रचना में किसी एक अंग की भी उपेक्षा होने पर चित्र त्रुटिपूर्ण होगा।

अवनीन्द्रनाथ रूपभेद को प्रधान मानते हुए उसकी उपमा जप-माला के सुमेरु से देते हैं – 'प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग – ये पांचों गवाह हैं और रूपभेद नामक सुमेरु से षडंग की जो सुमिरनी चित्र-साधना के लिए शास्त्रकार ने तैयार कर दी है, उस माला मे किस मंत्र के जपने का उपदेश दिया गया है, यही ध्यान देने की चीज

१—विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी रूपभेद (विभिन्न प्रकार के रूप), प्रमाण, भाव, वर्णिकाभंग (रंग-योजना) को बहुत विस्तार से बतलाया गया है कि किस प्रकार चित्र में इनका प्रयोग करना चाहिये, किन्तु लावण्ययोजना एवं सादृश्य को संक्षेप मे कहा है। विष्णुधर्मोत्तर (४२।४८) में चित्रसूत्रकार ने चित्र मे सादृश्य दिखाना ही चित्र की सबसे बड़ी विशेषता माना है – **"चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम् ॥"**

है। माला फेरते समय साधक की उंगली सुमेरु से शुरू करके एक-एक गवाहो (मनकों) को छूती हुई फिर सुमेरु पर पहुँचकर विश्राम करती है। सुमेरु से ही जप की गति शुरू होती है और सुमेरु पर ही पहुँचकर जप को मुक्ति या स्थिति मिलती है। अब दिखाई पड़ता है कि चित्र की गति की मुक्ति सुमेरु में ही होती है। हमारे शास्त्रकारों के मतानुसार यही सुमेरु रूपभेदाः है जो चीन के शास्त्रकारों के अनुसार "Rhythmic Vitality" या जीवनछन्द है।

"रूपभेद" और "जीवनछन्द" ये दोनों चित्र के मूलमंत्र हैं। रूप और प्राण यही दोनों चित्र के इति और अंत है। प्राण अभिव्यक्ति पाने के लिए रूप की कामना करता है और रूप जीवित रहने के लिए प्राण की प्रतीक्षा करता है। केवल रूप से ही चित्र नहीं बनता केवल प्राण से भी चित्र नहीं होता। इसीलिए षडंगकार यशोधर ने रूपभेदाः कहा है। अब इस भेद शब्द को समझना होगा।

"रूपभेद" का अर्थ यदि हम सभी सृजित वस्तुओं की विभिन्नता लगाते हैं तो यह षडंग निर्जीव, निष्क्रिय एवं जड़ साधना का आधार बन जायेगा। चित्र तो निष्क्रिय, निर्जीव नहीं है, क्योंकि चित्रित बिम्ब की, चित्रकार और चित्र-दर्शक के जीवन में आत्मीयता है, रागात्मक संबंध है। इसके अतिरिक्त चित्र की अपनी एक अलग सत्ता भी है। रूप-भेद का एक दूसरा भी अर्थ हो सकता है। "भेद" के दो अर्थ हैं (१) विभिन्नता (Individuality, differentiation) प्रकट करने के लिए भेद शब्द का साधारणतः व्यवहार होता है, (२) वस्तु का "मर्म" या "रहस्य" भी भेद का अर्थ है। अतः रूपभेदाः के भी दो अर्थ हुए – (१) इस रूप से उस रूप में भेदाभेद भी हो सकता है और (२) रूप का मर्म भेद या रहस्योद्घाटन भी।

चित्र के ये छः अंग अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। षडंग के एक अंग से दूसरे अंग में योग है जिनको यथास्थान सजाकर ही चित्र की एक सजीव मंत्रमूर्ति खड़ी की जा सकती है। जैसा मनुस्मृति (९, २९६–७) में कहा गया है कि – सप्तांग (सात प्रकृतियों वाला) राज्य सन्यासियों के त्रिदण्ड के समान बंधा हुआ है। जिस प्रकार तीन डंडे को एक में मिलाकर बाँध देने से वह त्रिकोण में खड़ा हो जाता है, यह अंग त्रिदंडवत् है, उसी प्रकार राज्य भी सप्तांग प्रकृतियों[1] में बंध कर चलता है[2]। इन प्रकृतियों के परस्पर गुण की अपनी-अपनी विलक्षणता है, अतः एक प्रकृति, दूसरी में किसी प्रकार बढ़-चढ़ कर नहीं है। अपने-अपने कार्य में वह अंग या प्रकृति बढ़कर होती है। प्रत्येक अंग (प्रकृति) का एक निश्चित कार्य होता है। उसी प्रकार संपूर्ण षडंग के अंदर छन्द की धारा बहाकर रूपभेद को, प्रमाण भाव को, लावण्य-सादृश्य को वर्णिकाभंग से, और सभी अंगों में सभी का एक अकाट्य तथा अविरोध संबंध स्थापित कर षडंग को एक ऐसी परिमिति, गति एवं भंगी दी जाती है कि षडंग एक छन्द से अनुप्राणित होकर सजीव रूप में हमारे सामने प्रगट हुए बिना नहीं रह सकता।

जिस प्रकार चेतन-अचेतन एवं उत्पत्ति-निवृत्ति के छन्द में संसार बंधा हुआ है। उसी तरह सजीव और निर्जीव रूप के लय में यह षडंग समाहित है। वस्तु रूप चेतना के स्पर्श से कब कहाँ सजीव है, चेतना के अभाव से कहाँ

१—राज्य की सप्तांग प्रकृतियाँ – (१) स्वामिन् या राजा, (२) अमात्य या अधिकारी वर्ग, (३) जनपद या राष्ट्र, (४) दुर्ग, (५) कोश, (६) दण्ड या बल, सेना और (७) मित्र। शास्त्रीय शब्दावली में ये राज्य की सात प्रकृतियाँ कहलाती हैं। सातों अंगों को प्रकृति कहा गया है।

२—इसी प्रकार शंकराचार्य ने कामन्दक-नीतिसार पर अपनी टीका में कहा है कि "राज्य एक रथ के समान है, जिसके कई भाग हैं जो एक दूसरे के सहायक हैं। जैसे भिन्न-भिन्न परस्पर सहायक भागों को जोड़कर रथ चलाया जाता है, वैसे ही राज्य भी एक संगठन है।"

वह प्रियमाण है, यही षडंग का मूलमंत्र है। षडंग के प्रारम्भ में जो "भेद" और अन्त में जो "भंग" शब्द है, उसी में चित्र और चित्रकार के प्राण का रहस्य छिपा होता है। षडंग के इस भेद और भंग के उतार-चढ़ाव के स्वच्छन्द प्रयोग में ही चित्रकार की निपुणता परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त षडंगकार ने "योजनम्" शब्द को षडंग के ठीक मध्य में रखा है। अवनी बाबू इसका रूपक रथ में बंधे घोड़ों से बांधते हुए उसे इस षडंग साधना का लक्ष्य बताते हैं। सारथी की भांति शिल्पी भी वर्णिका या वर्णवर्तिका या तूलिका की खींच-तान के द्वारा अपनी इच्छा-शक्ति या कामना को प्रवाहित करके विश्वचराचर के साथ अपने रचे चित्र और अपने को भी एक आकृति में बांधता चलता है। चित्र के साथ दर्शक, चित्रकार और चित्र में जिन्हें चित्रित किया जाता है, उनके परस्पर के प्राणों का परिचय कराना ही षडंग-साधना का चरम लक्ष्य है।

रूपभेद और प्रमाण – ये दोनों परम्परागत है। षडंग के शेष चारों अंग – भाव, लावण्य, सादृश्य और वर्णिकाभंग चित्रकार के अपने चित्रपक्ष होते हैं। रूपभेद और प्रमाण के नियम जो प्राचीन शास्त्रों में लिखे गये हैं उन्हीं रूपों और प्रमाणों को लेकर चित्रकार अपने कृतित्व के अनुसार व्याख्यायित करके अपने चित्र में बनाता है। किन्तु भाव, लावण्य, सादृश्य और वर्णिकाभंग को चित्रकार अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार चित्र में प्रगट करता है। उसके लिए उसे कोई विशेष बंधन नहीं होता, यही उसका "चित्रपक्ष" कहलाता है। इस षडंग के तीन अंग – भाव, लावण्य-योजना और सादृश्य काव्य में भी प्रभूत महत्व रखते हैं। प्रमाण के संबंध में यह ध्यातव्य है कि चित्र-कला ही नहीं अपितु समस्त दृश्य-कलाओं में प्रमाण या अनुपात की संगति अवश्य विद्यमान रहती है। दृश्य-कलाओं में संगति उत्पन्न करने वाले अनुपात को हम "वास्तु-अनुपात" कह सकते हैं। यह संगति चित्रकला में विभिन्न आकृतियों या रंग-रेखाओं के अनुपात से निर्गत होती है।

"षडङ्ग"

१- **रूपभेद** :—रूपभेद में दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं - (१) रूप और (२) भेद। जो आकृतियों और उनकी विशेषताओं का विभेद करते हैं। इसमें मानव-आकृति के लक्षण तथा अभिजात भी सम्मिलित हैं। लक्षण से तात्पर्य हिन्दू सामुद्रिक की उन विशेषताओं से है जिनके होने से मनुष्य राजा, महापुरुष, योगी या योद्धा इत्यादि होता है।

विष्णुधर्मोत्तर, तिलकमंजरी और नैषधचरित में उत्तम पुरुष-स्त्री के लक्षण विशेष रूप से दिये गये हैं जिनसे रूपभेद और आभिजात्य का स्पष्ट रूप से पता लगता है। इनमें उत्तम पुरुष को विशाल हृत्कपाट, नील कमलसदृश नेत्र आदि में तथा उत्तम स्त्री को बेलसदृश वक्ष से डमरुकार कटि तथा नितम्ब और हस्तिशुडाकार भुजाओं से दर्शाया गया है। विष्णुधर्मोत्तर में दास-दासियों आदि के भी रूप का वर्णन है। अजंता के विभिन्न चित्रों में मनुष्यों के रूपभेद और आभिजात्य जैसे – भिक्षुक, ब्राह्मण, वीर, सैनिक, राजपरिवार, विश्वासनीय कञ्चुक, आदि के रूप सामुद्रिक और अंगकद की कल्पना बड़ी मार्मिकता से की है।

रूप – प्रकारों के संबंध में संस्कृत साहित्य में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व, मोक्षधर्म (अध्याय १८४) में कहा गया है -- **ज्योति पश्यन्ति रूपाणि रूपंच बहुधा स्मृतम्**। इसमें रूप १६ प्रकार के कहे गये हैं, जैसे – सुरूप, कुरूप, विरूप, चाक्षुष रूप, मानस रूप आदि। उनका विस्तार अनन्त है। इस रूप की असीमता एक-एक पदार्थ में विच्छिन्न है। जब हम रूपभेद को समझने चलते हैं तो एक रूप से दूसरे रूप की तुलना करके दोनों का पार्थक्य देखते हैं – ह्रस्व को दीर्घ से चतुष्कोण को **विभिन्न कोणों** में या त्रिकोण से मंडित को

कोमल में और एक वर्ण को दूसरे वर्ण में। रूप की इस अनन्त वास्तविक सत्ता को ज्ञान चक्षु से जाना जा सकता है। इसी को पंचदशी, द्वैत विवेक में कहा गया है — **"ननु ज्ञानानि भिद्यन्ताभाकारस्तु न भिद्यते।"** अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपों की सत्ता को प्रकट कर वह ज्ञान या बुद्धि ही रूप का यथार्थ भेद बतलाती है। इसे अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने एक उदाहरण द्वारा अतीव सुन्दर रूप में स्पष्ट किया है कि रमणी में भगिनीत्व, पत्नीत्व, मातृत्व, दासीत्व आदि को समझाने के लिए बहिरंगीण आकार की भिन्नता (शिशु, झाड़ आदि) देकर उसके वास्तविक रूप को नहीं समझाया जा सकता है क्योंकि नारीत्व जाति धर्म इन सभी में विद्यमान है। इनकी वास्तविक भिन्नता को ज्ञानचक्षु से जाना जा सकता है। यही रूप के अन्दर ज्ञान को प्रेषित करना ही रूप का मर्म देना, जीवन देना अथवा रूप का सुरूप या स्वरूप दिखाना है। इसका विपरीत है रूप को अरूप करना। सारांश यह है कि पहले-पहल रूप से चक्षुओं का परिचय होता है, धीरे-धीरे उसमें आत्मा का परिचय होता है - यही रूपभेद का प्रारंभिक और अंतिम लक्ष्य है।

रूप का साम्राज्य सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। ब्रह्मा जैसे विश्व में रूप - जगत् की सृष्टि करता है उसी प्रकार चित्रकार भी चित्र में करता है। जिसे व्यष्टि और समष्टि रूप से देखा जा सकता है। जैसे —

धनुष जितना टेढ़ा होता है वह देखने में उतना ही सुन्दर होता है और चलाने में भी उतना ही अच्छा होता है। तीर सीधा है और धनुष टेढ़ा। एक सीधा और एक टेढ़ा, रूप का यह दोनों ही भेदाभेद एक में आ गया। ऐसा ही भेदाभेद संगीत, कविता में भी है, सुरों में, शब्दों में। सीधा-सीधा मिलकर एक रूप होता है और टेढ़ा-टेढ़ा मिलकर अन्य रूप। यह व्यष्टि रूप का उदाहरण है।

वर्षाकाल में इन्द्रधनुष को हम प्राय: देखते हैं। यह इन्द्रधनुष सूर्य के रंगीन प्रकाश का एकमात्र बांकपन है, किन्तु उसके साथ तीर नहीं लगा हुआ है। केवल सूर्य का आलोक, अंधकार, रौद्र मेघ हैं, उनके भेदाभेद से इन्द्रधनुष का सुन्दर रूप सम-वर्ण-प्रधान और बांका होकर प्रस्फुटित हो उठता है। यह समष्टि रूप का उदाहरण है।

चित्रकला का मेरुदण्ड या आधार रूप है। रूप मूर्त या अमूर्त दोनों ही हो सकता है। चित्रकला में मूर्त रूप का प्रादुर्भाव होता है (यद्यपि आधुनिक चित्रकार चित्र में अमूर्त रूप भी बनाने लगे हैं)। सभी दृश्य कलाओं का उद्देश्य रूप की योजना करना है।

संस्कृत साहित्य में रूप शब्द के अभिधा-मूलक और व्यंजना-मूलक अनेक अर्थ हैं। लावण्य रूप पर आधारित प्रवृत्तियों का द्योतक या प्रकट रूप है। लावण्य-योजना को जब हम थोड़ा बदल कर लेते हैं तो यह "रूप" लावण्य का पर्यायवाची भी होता है। परन्तु रूप, लावण्य का मौलिक एवं वास्तविक आधार है। रूप (आकार) को जब उससे भी अधिक मौलिक अवस्था में लेते हैं तब वह अंग्रेजी के "Shape" के निकट आता है। लावण्य इससे अधिक उच्च है। अंग्रेजी कोश मौनियर विलियम में रूप का अर्थ है — Form, Resemblance, Appearance, Shape आदि।

संस्कृत साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रकार से रूप का अर्थ किया गया है, जैसे — **"विरूपं रूपवंतं वा पुमानित्येव "भुञ्जते।"** अत: सुरूप और कुरूप ये दो रूप हुए। ऋग्वेद (१।११०।९) में कहा है — **"रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वो"** — **रूपैः अर्थात् देवतिर्यङ्मनुष्याद्याकारैः। अपिंशत्** अर्थात् — **रूपवत्यावकरोत्।**

ऋग्वेद में रूपों के निर्माण का प्राय: उल्लेख आता है। देवों के वर्धकी या बढ़ई को "त्वष्टा" कहा गया है जो विश्वकर्मा की भांति एक देवता की ही संज्ञा है। रूपपिंशन या तक्षणकर्म द्वारा विविध वस्तुओं का निर्माण

करना त्वष्टा का काम था (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु) । वस्तुओं के भौतिक रूप को अधिक महत्व माना जाता था। इन्द्र के संबंध मे भी कहा गया है कि वह अपनी माया या शक्ति से अनेक रूपों की रचना है,

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, (ऋग्वेद), रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव ।"

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव अर्थात् वह (ब्रह्म इन्द्र) रूप-रूप के प्रतिरूप हो गया । ईश्वर माया से अनेक रूप वाला प्रतीत होता है । यह बृहदारण्यकोपनिषद (पञ्चम ब्राह्मण श्लोक १९) में आत्मा के विविध रूप वर्णन प्रसंग में कहा गया है । कठोपनिषद (२।२।९ १०, १२) में भी ब्रह्म के नाना रूपों के अर्थ में यही उक्ति आयी है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥ ९ ॥

वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस उक्ति को *manifestation* के रूप में (अर्थात् उस विश्व में व्याप्त रूप के एक रूप हम भी है) माना है । रूप के अनेक भेद है, पुराणों में वैदिक आदि रूप कहे गये है । सांख्य दर्शन में प्रकृति-पुरुष-ये माया के दो स्वरूप कहे गये हे । यही माया का रूप समाज में विविध रूपों में दृष्टिगोचर होता है । जैसे विष्णु द्वारा विश्वरूप प्रदर्शन का एक चित्र भारत कला भवन में है (चित्र - १) ।

न्याय दर्शन में कहा गया है **चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमान् गुणो रूपम्** । अर्थात् चक्षु मात्र से जिस गुण का ग्रहण होता है उसे रूप कहते हैं । चित्रकार इसी नियम को मानता है । न्याय दर्शन में रूप को तेज का एक गुण माना गया है । रूप को ग्रहण करने वाला चक्षु, रूप का आश्रय है । वह तेजस इसलिए है कि रूपादिपञ्चक में से प्रदीप की तरह रूप का ही ग्रहण करता है । रूप पञ्चतत्व का एक गुण भी है **पृथिवीजलतेजो-वायु-नभांसि भूतानि तथा चोक्तम् — "रूपं गन्धो रस स्पर्शः"** ।

कठोपनिषद में ऐसा दृष्टिकोण है कि — रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और मैथुन का अनुभव ज्ञानशक्ति द्वारा ही होता है । ये सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदलने वाले होने से विनाशशील है ।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते एतद्वैतत् । - कठो० २।१।३।

भारतीय सौंदर्य - शास्त्र के अनुसार कला और काव्य के चार तत्व या रूप माने गये है — (१) रस, (२) अर्थ, (३) छन्द और (४) शब्द (काव्य के लिए) या रूप (कला के लिए) । कला में रूप के द्वारा भाव को भौतिक धरातल पर लाते हैं । शिल्प-चित्र-वास्तु को व्यक्त करने के माध्यम अलग-अलग हैं, किन्तु वे सब भावो के मूर्त्त रूप है । उनकी भाषा प्रत्यक्ष होती है और वे इन्द्रियों के माध्यम से मन पर प्रभाव डालते हैं । कालिदास ने "शब्द या रूप" को जगन्माता कहा है — "**वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।**"

इसमे उन्होंने "वाक्" को मूर्त रूप और "अर्थ" को अमूर्त रूप माना है । शतपथ ब्राह्मण में भी यही कहा गया है । यहा पर रूप का (Sublimation) है अर्थात् रूप को बहुत ऊंचे धरातल पर रखा गया है। कुमारस्वामी रूप के अनेक अर्थ बतलाते है —

रूप . – Shape, natural shape, semblance colour, loveliness; image, effigy, likeness;

symbol, ideal form, means of conventional discrimination (see nāma-rūpa). (Cf. vi-rūpa, having two forms, various, altered, deformed, ugly, and a-rūpa, not formed, transcendental)[१]

"नाम–रूप" की व्याख्या करते हुए कुमारस्वामी कहते है – शतपथ ब्राह्मण (११।२।३) में कहा गया है कि नाम और रूप ये दोनों ब्रह्म के विवर्त (प्रकाशन या प्रत्यक्षीकरण) है। इन दोनों को अलग नही किया जा सकता है। नाम चाहे जो कुछ भी हो किन्तु रूप तो सत्य ही है, उसका प्रत्यक्ष होता है। आकार (रूप) दैवीवाणी का सार है और आत्मा को केवल पुतले के रूप मे जाना जाता है। कुमारस्वामी कहते है कि अंग्रेजी की भांति ही संस्कृत मे भी एक ही शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होता है। जैसे रूप शब्द ही तीन प्रकार के अर्थो मे प्रयुक्त होता है – हूबहू, आदर्श और भावात्मक या अनुभवगम्य। रूप का संबध जब नाम के साथ होता है तब उसका पहलू देखा जाता है, आकार कम। मनुष्य से संबद्ध नाम–रूप आत्मा और शरीर ही है।

कठोपनिषद् (२।२।९) मे कहा गया है कि आत्मा एक होता हुआ भी अनेक रूपो मे वर्तमान है, वही कर्मफलों को भोगता है। इन रूपो का प्रत्यक्ष कैसे होता है ? इसके लिए पंचदशी, द्वैतविवेक प्रकरण मे विद्यारण्य मुनि कहते है

> व्यञ्जको वा यथालोको व्यंग्यस्याकारतामियात्।
> सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ।। २९ ।।

जैसे व्यंजक (प्रकाशक) सूर्य आदि का प्रकाश, प्रकाश्य घट आदि के आकार वाला हो जाता है, वैसे ही सब पदार्थों की प्रकाशिका होने से बुद्धि भी पदार्थ के आकार की दीखने लगती है। जैसा आकार (रूप) पदार्थ का होता है, वैसा ही आकार उस पदार्थ को देखने वाली बुद्धि का भी हो जाता है।

सभी वस्तुओ को प्रकाशित करने वाला आलोक जब जिस वस्तु को आलोकित करता है तभी उस वस्तु को आकार प्राप्त होता है, बिना आलोक के स्वरूप प्रकट नहीं होता। उसी प्रकार सभी वस्तुओं का यथार्थ प्रकाशक अन्तःकरण जब जिस वस्तु के ऊपर पड़ता है, तभी उस वस्तु को आकार (रूप) प्राप्त होता है। केवल आखों की दीप्ति से रूप को देखा नही जा सकता, नेत्रेन्द्रिय का मन संयोग होने से ही किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए शुक्राचार्य ने "शुक्रनीति" में प्रतिमा का लक्षण लिखने के प्रारंभ में ही कहा है – **"नान्येन मार्गेण प्रत्यक्षेणापि वा खलु।"**[२] प्रतिमा बनाने वाला मनुष्य प्रतिमा बनाते समय जैसा ध्यान में लीन हो जाता है वैसा निश्चय ही अन्य मार्ग से या प्रत्यक्ष देवता के दर्शन से भी ध्यान मे लीन नही हो सकता। ध्यान–योग की सिद्धि के लिए प्रतिमारूपी साधन आवश्यक है। इसी प्रकार चित्रकार चित्र बनाते समय, प्रकृति के जिन उपकरणो को सदैव देखता रहता है उन पर जब उसके अंतःकरण का प्रकाश पड़ता है तभी वह उस वस्तु को चित्र मे अंकित करने मे समर्थ होता है।

१—आनन्द के० कुमारस्वामी, दि ट्रान्सफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट, न्यूयार्क, सन् १९३५, पृ० २२५।

२—शुक्राचार्यविरचित, शुक्रनीतिः, चतुर्थाध्याये लोकधर्मनिरूपण प्रकरणम्।

> ध्यानयोगस्य संसिद्ध्यै प्रतिमालक्षणं स्मृतम्।
> प्रतिमाकारको मर्त्यो यथा ध्यानरतो भवेत् ।। ७८ ।।
> तथा नान्येन मार्गेण प्रत्यक्षेणापि वा खलु ।।७४३।।

कला की दृष्टि से रूप कैसा होना चाहिये, इसमें भी अनेक मत-मतान्तर हो सकते है, किन्तु मेरे विचार से रूप ऐसा होना चाहिये जो सत्य भी हो और प्रिय अर्थात् सुन्दर भी हो। मनुस्मृति में कहा गया है --

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।

जैसे वाणी के लिए कहा गया है कि प्रिय सत्य बोलना चाहिये, अप्रिय सत्य नही। उसी प्रकार सत्य और सुन्दर रूप ही बनाना चाहिये। ऐसा सत्य रूप चित्र मे अंकित नही करना चाहिये, जिसे देखकर दर्शक को दुःख हो, क्रोध या बुरे विचार आये, असुन्दर रूप नही बनाना चाहिये। सत्य, शिव, सुन्दर रूप बनाना चाहिए।

रूप कहने से ही अनेक प्रश्न मन मे उठने लगते है, जैसे रूप है तो अरूप क्या है ? रूप का सादृश्य से क्या सबध है ? रूप और लावण्य मे क्या भेद है ? सादृश्य, रूप और प्रमाण क्यों होना चाहिये ? अरूप, विरूप, कुरूप क्या है ? सुरूप, जीवित रूप, निजित रूप, चाक्षुष रूप, मानस रूप आदि -- ये सब क्या है ?

रूप यह अमूर्त विचार (Abstract idea) है, अमूर्त, अरूप, निराकार ब्रह्म का विचार है। रूप-अरूप के सबध मे रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गीताजलि में अत्यन्त सुन्दर पंक्ति कही है :--

"रूप सागरे डुब दियेछि, अरूप रतन आशा करे।"

अर्थात् हम रूप के अन्दर अरूप को देखना चाहते है। हम रूप को नहीं छोडना चाहते। रूप-सागर मे डूब जाना चाहते है।

"रूप आपोनारे चाहे छन्दे
छन्द सेचाय रूपेते राखिये।
सीमा होते चाये असीमेर माझे हारा,
असीम सेचाय सीमा रे राखीते धोरे ।।"—गीतांजलि।

रूप अपने को छदोबद्ध रूप में देखना चाहता है और छद चाहता है कि वह रूप में प्रतिष्ठित रहे। सीमा असीम के अन्दर विलीन होना चाहती है एवं असीम सीमा को आबद्ध किये रहना चाहता है।

असीम संसार मे यही रूप छंद मे और छंद रूप में दृष्टिगोचर होता है। चित्रकार विश्व मे किसी सुदर रूप को देखता है, उसे देखकर उसके हृदय मे एक छंद या झंकार उठती है और उसका मन उसे रेखा और रग मे आबद्ध कर लेना चाहता है। यही निराकार ब्रह्म का साकार रूप चित्रकार रेखा मे दिग्दर्शित करता है और कवि शब्दों मे।

जन्म से ही हम लोग रूप के बंधन मे बधे हुए है। इस बधन से मुक्त होना ही रूपकार (चित्रकार या मूर्तिकार) की मुक्ति-साधना है। ससार मे सभी चीजे सुन्दर (रूपवान्) नही है। जो भी वस्तु विश्व मे हैं उसमें से सुन्दर वस्तु को निकालना ही रूपदक्ष (चित्रकार) का काम है। यही उसकी रूपमुक्ति है, अमूर्त साधना, साकार-निराकार ब्रह्म प्राप्ति की साधना है। जिस प्रकार संगीत में सात ही स्वर है, किन्तु कुशल संगीतज्ञ के कठ मे जाकर वह असख्य राग-रागिनी उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अनत रूपों को इसके स्पर्श से मुक्ति-देना, सौंदर्य को निकालना चित्रकार के आनंद और कुशलता का विषय है और यही उसकी चरम सार्थकता है।

उपर्युक्त विवेचनों से रूप का अर्थ यह निकला कि —

(१) रूप=प्रकृति (Nature); रूप-साधना=प्रकृति चित्रण (Study of Nature) ।

(२) विरूप=बदशक्ल, विकृत आकृति वाला । किन्तु विरूपता अर्थात् बहुरूपता, और विरूपाक्ष शिव भी कहलाते हैं ।

(३) अरूप=नास्ति रूपम् इति अरूपम्, अर्थात् वैरूप्य । यह समस्त विश्व रूप "किंभूत" विलक्षण रूप है ।

(४) किंभूत रूप (Grotesque)=बेमेल, हास्यजनक, पचरंगी, असंगत (Fantastic, Wildly-formed) । जैसे :— आधा मनुष्य और आधा वृक्ष, नरसिंह रूप, अर्धनारीश्वर रूप, किन्नर रूप[1] (जिसमें पक्षी या अश्व का अर्धांगयुक्त मानव शरीर होता है ।)

रूप का और भी अर्थ है —

(१) रूप-लावण्य युक्त आकार, सुन्दर या आकर्षक रूप ।

(२) **"त्वष्टा रूपाणि पिंशति"** में रूप-आकार या आकृति अर्थात् Figurative Art, जो Abstract Art नहीं है । यह लावण्ययुक्त सुन्दर रूप भी हो सकता है ।

(३) "निरपेक्ष रूप" भी होता है अर्थात् प्रसाधनरहित वास्तविक रूप जैसे – निराभरणा, निरावरणा सुन्दरी ।

स्थूल रूप में "रूप" को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :— (१) मूर्त रूप (Figurative, Representational), (२) अमूर्त रूप (Abstract) ।

समरांगणसूत्रधार में वर्णन है :—

गणरक्षः किन्नराणां कुब्जवामनयोषिताम् ।
विकल्पाकृतिमानानि रूपसंस्थानमेव च ॥

यहाँ पर 'रूपसंस्थान' का अर्थ है रूप का आकार जहाँ आकर स्थित रहे अथवा जहाँ रूप आकार को ग्रहण करता है । उज्ज्वलनीलमणि में रूपगोस्वामी कहते हैं —

अङ्गान्यभूषितान्येव केनचिद्भूषणादिना ।
येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते ॥२३॥

बिना अलंकारों (आभूषणों) के अंगों की जो शोभा होती है, उसे रूप कहते हैं । इसी भाव को बिहारी ने भी — "भूषणभारि सवारिहै ." में व्यक्त किया है । रूपगोस्वामी ने यहाँ पर रूप "लावण्य" के अर्थ में कहा है । इसके

१—"किन्नर" इन्हे किम्पुरुष, स्वर्गगायक भी कहा जाता है । "हलायुधकोश" में – "किं कुत्सितो नरः अश्वमुखत्वात् तथात्वम्" ऐसा किन्नर का अर्थ किया है । किन्नर=कि+नरः, अर्थात् क्या ये नर है या नारी, ऐसा प्रश्न उठता है क्योंकि इसका मुख अश्व के समान और शरीर मनुष्य के समान होता है । कभी-कभी इसके विपरीत भी दिखलाई देता है और कभी अधोभाग पक्षी का तथा मुख मानव का होता है । इनका चित्र अजंता में (चित्र ७) है और मूर्तियों में भी ये इसी प्रकार बहुत प्राप्त हुए है । महाभारत, विष्णुपुराण (२।१।१६–१७), कुमारसम्भव (२।३८) आदि ग्रंथो में भी किन्नरों का वर्णन है ।

अतिरिक्त यह रूप नवीन तारुण्य के पूर्ण होने पर शोभापूर्ति विशेष को प्राप्त करता है। पूर्ण अर्थात् स्त्री-पुरुष के सहचर वृत्ति अपनाने पर ही पूर्ण होते है। तभी वे अपूर्व रूप-शोभा को पाते है।

तारुण्यस्य नवत्वेऽपि कासाचिद्व्रजसुभ्रुवाम् ।
शोभापूर्तिविशेषेण पूर्णतेव प्रकाशते ॥२२॥ – उज्ज्वलनीलमणि ।

निराभरणा (अलंकार विहीन), निरावरणा (वस्त्रविहीन) बनाव-उनाव से रहित नारी को थोडे अलकार से आवेष्टित करके जब चित्रित करते है तभी वह सुन्दर लगती है। इसमे वेशभूषा के अतिरेक और व्यतिरेक के नियम मे बहुत सावधानी रखनी पडती है। पर्वत-दुहिता उमा निर्भूषणा तपसी है, उसी प्रकार आश्रम की सुंदरी शकुन्तला, श्रीराधिका मथुरा कुब्ज की, और अशोक वाटिका में सीता निर्भूषण सुन्दरी है। इनमे भूषातिरपेक्ष सौंदर्य है।

'रूप' यहाँ सुरूप, सौंदर्य के पर्याय के अर्थ में है। **अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात** । (कुमार० ५।५३।) अर्थात् मदन के निग्रह के कारण, पार्वती का रूप या सौंदर्य शिव जी के चित्त को नही हरण कर सका।

कुमारसम्भव में मदन–दहन के बाद शिव को प्रसन्न करने मे असफल रहने पर पार्वती अपने रूप अर्थात् सौंदर्य की निन्दा करती है "**निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती** "। (सर्ग ५।१),[1] क्योंकि सौंदर्य की सफलता तो तभी है जब वह प्रिय को मुग्ध कर सके। प्रिय के प्रति सौभाग्य उद्रिक्त करना ही रूप सौंदर्य का वास्तविक फल है – **प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता** (कुमार० ५।१) । राजानक रुय्यक ने दस शोभा - विधायक धर्मों मे प्रथम को "रूप" कहा है और अन्तिम को "सौभाग्य"। रूप बाह्य आकर्षण है और सौभाग्य की कामना आन्तरिक। अतः कालिदास के अनुसार यह आन्तरिक वशीकरण धर्म ही रूप का फल है।[2]

कालिदास के समय मे यह प्रवाद प्रचलित था कि विधाता जिसे रूप देता है उसके चित्त मे महनीय गुण भी देता है। उसका चित्त पाप–वृत्ति की ओर नहीं जाता। यह प्रवाद कालिदास की दृष्टि मे सत्य है – **यदुच्यते पार्वति पाप–वृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः** – (कुमार० ५।३६)। इसका अर्थ यह हुआ कि पाप–वृत्ति की ओर उन्मुख होने वाला रूप वस्तुतः रूप है ही नही, वह कृत्रिम सौंदर्य है। हे पार्वती, यह जो कहा जाता है कि रूप (सौंदर्य) पाप–वृत्ति के लिए नही होता, वह वचन आज सही सिद्ध हुआ है। जो रूप पापवृत्ति को उकसाता है वह जडत्व की उपज है। वह तामसिक है, उसमे सत्वोद्रेक की शक्ति नही होती, इसलिए वह सुंदर नहीं कहा जा सकता।

कालिदास ने कुमारसम्भव में अरूप, विरूप, अयुक्तरूप आदि शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे – **अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्** (कुमार० ५।५३) । रूपहार्य, अरूपहार्य – रूप से एक अनहर्य होना है। रूपहार्य यहा पर सुन्दर के अर्थ मे है। रूप से जिसे अर्ह अर्थात् प्राप्त किया जाता है। अपने रूप का हरण (–हृ धातु से बनेगा) रूपहार्य है। रूप यहा स्पष्टतः (Concrete form में) लावण्य के लिए आया है।

अयुक्तरूपं (कुमार० ५।६९) अर्थात् बेडौल रूप हो सकता है, जिसका विपरीत होगा – रूपयुक्त, सुन्दर रूप, सुरूप, युक्तरूप। युक्तरूप – इच्छित रूप, जैसा रूप हम चाहते हैं वैसा ही ठीक–रूप। कुमारसम्भव (५।७२) मे कहा है —

१—श्रुति मे कहा गया है – "कन्या वरयते रूपम्"। कन्या रूपवान् पति का वरण करना चाहती है।

२—कामसूत्र मे भी कहा गया है – "रूपं गुणो वयस्त्याग इति सुभगकरणम्।" अर्थात् रूप, गुण, आयु और त्याग – ये चार वस्तुयें मनुष्य को सौभाग्यशाली बनाती है।

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ।।

विरूपाक्ष – त्रिनेत्र, विरूप नेत्र वाला। शिवजी अतीव सुन्दर है किन्तु त्रिनेत्र है – यह विरूपता है। रूप प्रमाणहीन भी हो सकता है। विरूपाक्ष, त्रिनेत्र, दिगम्बर आदि कहकर ब्रह्मचारी ने शिव को प्रमाणहीन कहा है, जिससे पार्वती शिव से विमुख हो जाये, किन्तु फिर भी वे शिव की ओर आकृष्ट होती है। विरूप क्या है ?– विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार विरूप है बृहत् गण्ड, ओष्ठ, नेत्र – **बृहद्गण्डौष्ठनेत्रत्वम्**। भोंडे जैसा लटकता होंठ विरूप है। तान्त्रिकों का रूप – विधान इसमे बिल्कुल भिन्न है। अतः साराश यह निकला कि एक निश्चित प्रमाणादि से भिन्न जो भी चित्र या मूर्ति होगी, वह विरूप होगी। विष्णुधर्मोत्तर मे रूप का वर्णन इस प्रकार है ––

पिशाचा वामनाः कुब्जाः प्रमथाश्च महीभुजः।
मानन्नियमतः कार्यं रूपन्नियमतस्तथा ।। ४२।१२ ।।

पिशाचों बौनों, कुबड़ा, प्रमथों (शिव के अनुचर विशेष तथा यक्ष) तथा राजाओं का प्रमाण और रूप नियमपूर्वक बनाना चाहिये। रूप का अर्थ यहां पर विरूप भी है। चारुता ही केवल रूप नहीं है, वरन् विरूप भी रूप है। पिशाचादि में विरूपता होते हुए भी मान–परिमाण होना चाहिये। दैत्यों, दानवों, यक्षों तथा राक्षसों की पत्नियां रूपवती बनानी चाहिये।

"दैत्यदानवयक्षाणां राक्षसाना तथैव च ।। २५ ।।
रूपवत्यस्तथा कार्या पत्न्यो मनुजसत्तम।।" –वि० ध०, ४२।२५, २६
"पिशाचानां तु पत्न्योऽपि कार्यास्तद्रूपसंयुताः ।।" –वि० ध० ४२।२६

और पिशाचों की पत्नियों के रूप पिशाच जैसे चित्रित किये जाये।

स्त्रियों को सुन्दर रूपवती बनाना चाहिये यह परम्परा तो प्राचीन काल से थी ही। पिशाच, राक्षसादि कुरूप है तो उनकी स्त्रियां भी कुरूप होनी चाहिये, ऐसा नहीं है, उनकी पत्नियों को सुन्दर बनाना चाहिये। विष्णुधर्मोत्तर में यह मत जो परम्परा दी गयी है वह पिशाचादि के लिए ही नही वरन् रूप या आकार के लिए भी है।

अश्लक्ष्णा मरणायोक्ता क्रुद्धा रूपविनाशिनी। — वि० ध० ३८।२१

अश्लक्षण अर्थात् ऊबड़–खाबड़ प्रतिमा (जो सुन्दर, चिकनी नहीं बनी है) मरण देने वाली और क्रुद्ध प्रतिमा रूप का नाश करने वाली होती है। यहां पर रूप का अर्थ सुन्दर रूप से है और क्रुद्धा से भावाभिव्यक्ति से भी तात्पर्य है। भावहीन प्रक्रिया नहीं होनी चाहिये। इससे बनाने वाले की मानसिक भावनायें भी प्रगट होती है। रूपनिर्माण के लिए ही प्रमाण, सादृश्य, वर्णिकाभंग आदि है। कालिदास ने अभिज्ञान–शाकुन्तलम् (अंक २) मे कहा है —

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगाद्
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।

दुष्यन्त कहते है कि – ब्रह्मा ने सबसे पहले शकुन्तला के रूप की मानस–कल्पना की होगी और उसमे मानो विधाता ने विश्व के समस्त रूप अर्थात् सौंदर्य के संचय से शकुन्तला की रचना की है। इसमें रूप का संघात है। यह यथार्थ मे भिन्न होता है। सौंदर्य के पर्याय के अर्थ मे "रूपोच्चयेन" मे रूप शब्द का यह प्रयोग सौंदर्य के मर्म का गंभीर संकेत करता है।

कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् मे "रूपातिशय्य" शब्द का भी प्रयोग किया है। शरीर का यह आकार केवल रूप–रेखा मात्र नही है, इस आकार के अन्तर्गत वर्ण और कान्ति की छवि मे आच्छादित मास–पेश का विन्यास भी निहित है। मनुष्य की देह में गठन का अतिशय होता है। मनुष्य विशेषत नारियों के कपोल, बाहु, वक्ष, जघन, नितम्ब आदि के वर्तुल विस्तार के गठन मे अतिशय (Magnificence) का योग प्रमुख है। इस अतिशय (आधिक्य) को रूप का अतिशय (रूपातिशय) कहा जा सकता है। यह रूप का अतिशय ही सौंदर्य का मर्म है और उसी मर्म के सूत्र से रूप शब्द सौदर्य का पर्याय बना है। देह के गठन मे वर्तुल मास–पेशियों के विन्यास की लय रूप के अतिशय की वृद्धि करती है। चाक्षुप रूप मे यह रूप का अतिशय मूर्त कलाओं को जन्म देता है।

रुचि–भेद से रूप के दो स्तर है - (१) सुरूप (२) विरूप, कुरूपादि। बिहारी सतसई में कवि बिहारी के अनुसार रुचि–भेद से सुन्दर–असुदर दिखाई देता है —

> समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूप न कोई।
> मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होई ॥ ४३२ ॥

व्यवहार जगत् मे जिस प्रकार सुरूप, कुरूपादि है, उसी प्रकार कलाकार की दृष्टि मे और आत्म–मन मे ये दोनो स्वतन्त्र–स्वतंत्र रूप नही होते। इनके पास केवल रूप ही है। चित्र मे किस जगह कौन–सा रूप ठीक और सुन्दर लगेगा, इसे चयन करना कलाकार के हाथ में है। अपनी रुचि के अनुसार ही इस वस्तु रूप में "सु" और "कु" देखते है। यह रुचि ही हमारे मन की दीप्ति या चिर यौवन शोभा है। जिस प्रकार सभी प्रदीपो की दीप्ति बराबर नही होती उसी प्रकार सभी मनुष्यो के अंत करण मे यह रुचि समभाव मे नही उठती। इसीलिए सबके देखने मे और चित्रकार के देखने तथा चित्रित करने मे उत्तमाधम भेद दिखाई देता है।

कब किसका रूप सुन्दर लगेगा और कब, किसमे मन लग जायेगा, नहीं कहा जा सकता। मन को जो अपनी ओर आकृष्ट कर ले वही वास्तव में सुंदर रूप है। विधाता की सृष्टि – ऊंट, उल्लू मेढ़क, सूअर आदि जन साधारण की दृष्टि मे असुन्दर है, किन्तु चित्रकार इन जीवों मे अपनी कला द्वारा, अपनी तूलिका द्वारा, जो विशेषता (रूप) प्रस्तुत करता है असुंदर एवं महत्वहीन बातों को गौण रखता है वह रूप सुन्दर और अपरूप रूप होता है।

हीरा जिस रूप मे खान से निकलता है उस रूप मे उसका मूल्य नगण्य होता है, किन्तु वही जब हीरा-तराश के हाथ मे जाता है तब वह उसे काट-छाट एवं तराश कर उसका रूप निखारता है तभी वह मूल्यवान होता है। अतः ईश्वरदत्त वस्तु ही सुंदर नही है वरन् कलाकार अपनी कलाशक्ति से, कला-कौशल से भी उसको सुन्दर रूप देता है। आलकारिको ने इस प्रकार की शिल्पकला को "बंध-शिल्प" कहा है। यह दो सृष्टिकर्त्ताओं (ईश्वर तथा कलाकार) से मिलकर होता है। इसीलिए वेदो में कहा गया है कि यह सब देव-शिल्पकारी "अनुरणनदेय" है। नियति के नियम को उल्लंघन करके कोई कार्य नही हो सकता क्योकि रूप-साधना अति दुष्कर है।

सादृश्य, प्रतिकृति और अनुकृति करके ईश्वर के नियम की पुनरावृत्ति कलाकार करता है। ईश्वर के नियम से थोड़ा सा भिन्न नियम कला का होता है। किन्तु ईश्वर के नियम का सर्वथा उल्लंघन करके जो रूप-रचना करता है, उसमें रूप, रस आदि ये सब "निरपेक्ष कला" (उदासीन कला, जो किसी और की अपेक्षा न रखने वाली कला) होती है। विश्वकर्मा या ब्रह्मा ने नक्षत्रादि युग-युगान्तर तक प्रज्वलित होने वाला और जुगनू को क्षणिक प्रकाश वाला बनाया है। इसी प्रकार कलाकार का चित्र अल्पकालिक है और ईश्वर की कला युगों तक चलती है।

हमारी चेतना अक्षर-मूर्ति मे, शब्द-रूप और स्पर्श-रूप मे है – ये तीनों मिलकर ही एक रूप होता है। ईश्वर ने मोती, सीप, नक्षत्र आदि में अपना "स्वाक्षरित रूप" दिया है। अजन्ता की चित्रकारी मे, पालकालीन सचित्र तालपत्र ग्रंथो की चित्रावली में एवं कोणार्क के प्रसिद्ध सूर्यमंदिर मे मनुष्य का स्वाक्षरित रूप है। विद्युल्लेखा यह स्वर्णिम रेखा से खिचा हुआ शब्द रूप है और कोकिल की कूक मे भी शब्द-रूप है, मलय पवन में स्पर्श-रूप है। रूप और उसके सब इगित और आभास को स्पर्श करके, आख बंद करके ध्यान से और नेत्रों से प्रत्यक्ष देख सकते है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष इन दोनों रूपो को चित्रकार रेखा की कठिनता और रेखा की तरलता से अंकित करता है। विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है कि तरग, अग्निशिखा, धूम्र, फहराती हुई पताका, वायु की गति आदि को जो चित्रकार चित्र में अंकित करता है वही कुशल चित्रकार है –

> **तरङ्गाग्निशिखाधूमं[1] वैजयन्त्यं बरादिकम्।**
> **वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयः[2] स तु चित्रवित् ॥४३।२८॥**

अग्निधूम्रादि प्रत्यक्ष है और वायु की गति अप्रत्यक्ष है। अत कहा गया है कि **"चक्षुर्ग्राह्यं भवेत् रूपं"** अथवा **"ननु रूपाणि पश्यन्ति"** —चक्षु में रूप का ग्रहण होता है किन्तु जो चीज नेत्रो से नही दिखलाई देती, उसका रूप अनिर्वचनीय स्पर्श से और मनश्चक्षु से देखा जाता है।[3]

शुष्क वृक्ष या शुष्क काष्ठ में सामान्य व्यक्ति न तो रूप ही देखते है और न तो सौंदर्य। परन्तु चित्रकार और कवि उसमें भी रस का अनुभव करते है, ऐसे रूप को "स्वारोपक रूप" कहते है। साहित्यदर्पण (११।६) में विश्वनाथ कविराज ने कहा है – **"रूपारोपात्तुरूपकम्"** (रूप+अरोपात्+तु+रूपकम्)। यहां रूप का आरोप तो नहीं हुआ, परन्तु जो रूप नष्ट हो गया था वह लौट आया। जैसे – शुष्क वृक्ष का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। उसे कलाकार अथवा कवि अपनी कृति में नये रूप में प्रस्तुत करता है तो उस वृक्ष का अदृश्य सौंदर्य उसमें लौट आता है। इसे "स्वरूपक रूप" (अपने रूप से निकला रूप) कहते है। यहा पर दो दृष्टिकोण कलाकार के मन में होता है – (१) जिस रूप को वह बनाता है उसे बनाते समय उसके मन मे रस उत्पन्न होता है और (२) रस को उत्पन्न होने पर वह उस वस्तु रूप को सुन्दर बनाने का विचार करता है।

दृष्ट-वस्तु द्रष्टा या कलाकार के अगोचर मन को पहले प्रभावित करती है, पुन वह कलाकार उसे सादे कागज, वस्त्र, तालपत्रादि किसी भी पृष्ठभूमि पर अंकित करता है। इस गोचर रूप को वह अनेक प्रकार से परख कर उसका एक ढाचा खडा करता है। तत्पश्चात् विविध रंग लगाकर, छाया और प्रकाश देकर, उक्त चित्र को पूरी घटना या विषय का द्योतक बना देता है। चित्रकला में रूप का यही नियम चलता है।

रचना के कौशल मे, वर्ण की छटा मे, भावो के समावेश से मनुष्य सब रूप स्वतंत्र–स्वतंत्र भाव से देखता है और उसके अनुसार उसका मूल्याकन करता है। रुचि को सुन्दर बनाना ही रूप–साधना है। इसी रुचि की प्रेरणा

१—पाठभेद – वैजयन्त्यस्वरादिकम्।

२—सत्तचित्रवित्।

३—इसी भाव को एक बाउल गान में भी व्यक्त किया गया है :–

> चोखे देखी एक रूप प्राने देखी अन्य रूप।
> एयी होलो रूपेर दुई प्रकाश॥

चित्र की रेखा को या अंकित आकृति को सुन्दर बनाना ही षडंग का प्रथम भेदाभेद है और ''रूपभेद'' पर अधिकार प्राप्त करना है।

२—प्रमाण '—''प्रमाण'' यह षडंग का दूसरा अंग है। प्रमाण का ज्ञान होना चित्रकार के लिए परमावश्यक है। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में भी प्रमाण, चित्र में पृथकता, रेखाविन्यास, वर्ण, सादृश्य (जीवितायमान) की प्रशंसा की है। इसे चित्रकार का कौशल कहा है। विष्णुधर्मोत्तर में चित्र के गुण में कहा गया है कि—

''स्थानप्रमाणभूलम्बो (? म्भो) मधुरत्वं विभक्तता।
..... गुणाश्चित्रस्य कीर्तिताः'' ।। ४१।९ ।।

स्थान, प्रमाण और आधार जिस चित्र के ठीक हो, अंगों में कोमलता और विभक्तता हो, वह चित्र का गुण है। यहाँ पर प्रमाण तालमान के लिए कहा है। यही चित्रकला के लिए परम उपयोगी है। वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में राम के उचित प्रमाण से युक्त शरीर के लिए ''समविभक्तांग'' कहा गया है।

रूपभेदा प्रमाणानि—इस श्लोक में ''प्रमाणानि'' बहुवचन में रखा गया है। रूप के समय में बहुवचन और प्रमाण के समय में भी बहुवचन का प्रयोग रूप-शास्त्रकार ने किया है। जैसे रूप के बहुभेद है, वैसे ही प्रमाण के भी बहुभेद हैं। प्रश्न है कि प्रमाण का अर्थ क्या है — **''प्रमीयते अनेनेतिप्रमाणम्**-- इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जिसके द्वारा प्रमा या यथार्थ अनुभव की उत्पत्ति होती है उसे प्रमाण कहते हैं। मा धातु से प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। ''मा'' के दो अर्थ है — (१) मान (मानदण्ड, तालमान), (२) प्रभा (चित्त, मन)।

कुमारस्वामी के अनुसार प्रमाण का अर्थ है — As principle, ideal symmetry, aesthetic conscience, as canon, *same as* māna Thought of not as principle, but as ascertained standard (pramāṇa) अवनीन्द्र नाथ के मतानुसार प्रमाण का अर्थ है — Correct perception, measure and structure of *forms* इन्होंने तालमान और चित्र या मन – इन दोनों अर्थों मे प्रमाण को लिया है।

रायकृष्णदास के मतानुसार प्रमाण को मुगल शैली के भारतीय चित्रकार ''अंग–कद'' या ''कद–कैंडा'' कहते है। ''कद'' का तात्पर्य यह हुआ कि अंकन मे स्त्री का सारा शरीर उसके चेहरे की नाप मे सतगुने से अधिक न होना चाहिये, इसी प्रकार पुरुष का अठगुने से अधिक नही। ''कैंडे'' का तात्पर्य यह है कि अंगो मे समविभक्तता और अनुपात हो, यह नही कि आंख बहुत बडी या छोटी, नाक बहुत लम्बी या चिपटी इत्यादि। कद–कैंडा मे – कद का अर्थ परिमाण (Proportion) और कैंडा का अर्थ प्रमाण (Configuration) या तद्वत् रूप माना जायेगा।

प्रमाण का अर्थ – संपुष्टि भी है जिसके अनुसार चित्रित विषय का स्पष्टीकरण अथवा विवेचन आवश्यक है। इस प्रयास से उसकी विशेषता एवं निजस्व (Character or syndrome), क्रिया–कलाप (action), गठन अथवा बनावट आदि का आभास देना भी अनिवार्य है। कपिला वात्स्यायन ने 'क्लासिकल इंडियन डान्स इन लिट्रेचर ऐण्ड दि आर्ट्स' मे प्रमाण का अर्थ लिखा है – अनुपात, ठीक–ठीक रेखा और शारीरिक अनुपात, Perspective, Design। नि:सन्देह रूप से चित्रकला में प्रमाण का तात्पर्य अनुपात (Ideal proportion) तथा शरीर–रचना के ज्ञान से है।

संस्कृत शब्दकोषो मे प्रमाण का अर्थ है – वह साधन जिसके द्वारा किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, प्रमा का साधन (न्यायदर्शन), वह साधन जिसके द्वारा कोई बात सिद्ध की जाय; वह जिसका वचन या निर्णय यथार्थ या आप्त माना जाय, माप, परिमाण, सीमा, यथार्थता, सत्यता आदि।

अवनी बाबू ने प्रमाणानि का अर्थ दिया है – "वस्तु रूप के बारे में प्रमा या भ्रम विहीन ज्ञान प्राप्त करना, नैकट्य, दूरत्व और लम्बाई–चौड़ाई इत्यादि का मान–परिमाण, संक्षेप में वस्तु का ब्योरा।

नैयायिक महर्षि गौतम के अनुसार धर्म, अर्थ और काम–इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष रूपी परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। उसकी प्राप्ति प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से होती है—प्रमाणादिषोडशपदार्थाना तत्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवति। विष्णुधर्मोत्तर (४३।३८) में कहा गया है — **कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।** प्रमाणादि समस्त षड्–अंगो से विभूषित श्रेष्ठ चित्र मोक्ष प्रदान करता है। अत: हम देखते हैं कि योगी अथवा साधक चित्रकार, दोनों का ही चरम लक्ष्य प्रमाणादि के तत्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त करना है।

बौद्ध–दर्शन में ज्ञान (प्रमा) के चार कारण या प्रत्यय कहे गये है, जिनके नाम सौत्रान्तिकों के अनुसार है – (१) आलम्बन, (२) समनन्तर, (३) अधिपति और (४) सहकारी। चित्र या मूर्ति बनाने के लिए भी इन चारो का ज्ञान आवश्यक है।

(१) घटादि बाह्य विषय ज्ञान का आलम्बन–कारण है, क्योंकि ज्ञान का आकार उसी से उत्पन्न होता है।

(२) ज्ञान के अव्यवहित पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था से ज्ञान मे चेतना आती है, इसलिए इसका नाम समनन्तर प्रत्यय है। "समनन्तर" अर्थात् जिसका कोई अन्तर या व्यवधान न है।

(३) विषय और पूर्ववर्ती ज्ञान के रहने पर भी बिना इन्द्रिय के बाह्य–ज्ञान नहीं हो सकता। किसी विषय का ज्ञान स्पर्श–ज्ञान होगा या रूप–ज्ञान होगा या अन्य किसी प्रकार का ज्ञान होगा, यह इन्द्रिय पर निर्भर है। इसलिए इन्द्रियों को ज्ञान का अधिपति प्रत्यय या नियामक कारण कहा जाता है।

(४) इनके अतिरिक्त आलोक, आवश्यक दूरत्व, आकार आदि सहायक कारणो का होना भी ज्ञान होने के लिए आवश्यक है। अत: इन्हें सहकारी प्रत्यय कहते है।

इन चार प्रकार के कारणों के संयोग से ही किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान संभव होता है। अत. इस मत को बाह्यानुमेयवाद कहते हैं। बाह्यानुमेय अर्थात् बाह्य वस्तु का ज्ञान वस्तु जनित मानसिक आकारों से अनुमान प्राप्त होता है। चित्र को भी बनाने के लिए इन्ही चारों प्रत्ययो या कारणों का ज्ञान होना परमावश्यक है, तभी कोई चित्र बनाने मे समर्थ हो सकता है।

प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की उत्पत्ति तीन वस्तुओ पर निर्भर होती है — (१) प्रमाता (जानने वाला पुरुष), (२) प्रमेय (वह विषय जो जाना जाता है) और (३) प्रमाण (वह साधन जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है)। शुद्ध चेतन पुरुष ही प्रमाता (ज्ञाता) होता है। बुद्धि की वृत्ति को, जिसके द्वारा पुरुष को विषय का ज्ञान होता है, प्रमाण कहते है। इस वृत्ति के द्वारा जिस विषय का ज्ञान पुरुष को होता है उसे प्रमेय कहते हैं। विषयाकारक बुद्धि मे आत्मा का प्रकाश पड़ना ही प्रमा (ज्ञान) है। जड़ बुद्धि मे चैतन्य के प्रकाश बिना किसी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता।

चित्रकला–जगत् में "प्रमाता" चित्रकार है, "प्रमेय" चित्र–विषय है और "प्रमाण" है सृष्टि का समस्त पदार्थ, जिससे चित्रकार को ज्ञान की प्राप्ति होनी है। "प्रमा" के द्वारा ही किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है।

जब कोई विषय, जैसे वृक्ष, दृष्टि-पथ मे आता है, तब उस वृक्ष का हमारी दर्शनेन्द्रिय के साथ संयोग होता है। उस विषय (वृक्ष) के कारण हमारी नेत्रेन्द्रिय पर विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है, जिसका विश्लेषण और सश्लेषण मन करता है। इन्द्रिय और मन के व्यापार मे बुद्धि पर प्रभाव पडता है और वह विषय का आकार ग्रहण करती है। परन्तु विषय का आकार धारण करने पर भी बुद्धि को स्वत उस (विषय) का ज्ञान नही होता, क्योकि वह बुद्धि जड तत्व है। परन्तु उस बुद्धि मे सत्वगुण का आधिक्य रहता है, जिसके कारण वह दर्पण की भाति पुरुष के चैतन्य को प्रतिबिम्बित करती है। पुरुष का चैतन्य उसमे प्रतिबिम्बित होने पर बुद्धि की अचेतन वृत्ति (वृक्षरूपी वृत्ति) उद्भासित हो उठती है और वह प्रकाशित हो प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाती है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण मे दीपक के प्रकाश का प्रतिबिम्ब पडता है और उससे अन्यान्य वस्तुयें भी आलोकित हो जाती है, उसी प्रकार सात्विक बुद्धि मे पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडता है और उससे विषयो का प्रकाश या ज्ञान हो जाता है।

चित्रकार के मन मे भी बिल्कुल इसी प्रकार किसी दृष्ट वस्तु के दर्शन से ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है। उसकी आत्मा का संयोग मन से और मन का संयोग नेत्रेन्द्रिय से होता है एवं नेत्रेन्द्रिय से वस्तु-विषय का भ्रम-विहीन यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान या प्रमा को जागरूक रखकर ही वह वस्तु के नैकट्य, दूरत्व, लम्बाई-चौड़ाई-गहराई-ऊँचाई इत्यादि विवरणो को अपने चित्र मे अंकित करता है, तभी वह चित्र उचित मान-परिमाण से युक्त सफल चित्र होता है। इसके लिए एक उदाहरण अवनी बाबू ने "भारत शिल्प के षडंग" मे अत्यन्त सुन्दर दिया है –

"आंखे देख रही है समुद्र का अनन्त विस्तार, लेकिन कई अंगुल-परिमिति पट पर हमें समुद्र दिखाना होगा। सारे कागज को नीले रंग मे डूबो कर नही कह पा रहा हूँ कि यही समुद्र है, क्योंकि वह एक चौकोर नीले काच की तरह लग रहा है – बिल्कुल सीमाबद्ध क्षुद्र पदार्थ। अनन्त का तनिक भी आभास उसमे नही है। इसी समय ही हम समुद्र के अनन्त विस्तार को आकाश और तट इन दो सीमाओ से परिमिति या प्रमिति देने जाते है। हम तट को पट का इतना, आकाश का इतना स्थान लेने देगे और बाकी स्थान समुद्र के लिए छोड देगें – यह है हमारे प्रमातृ-चैतन्य या प्रमा का प्रथम कार्य। इसके बाद प्रमा से हम निरूपण करने बैठते है – रंग से भरे तट मे सोने के आलोक से रंजित आकाश के पीतवर्ण का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद,.. सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकृति-भेद, वर्ण-भेद, लम्बाई-चौडाई विस्तार आदि का भेद; केवल यही नही, भाव के भेद तक। आकाश की निर्निमेष नीरवता, समुद्र की सनिर्घोष चंचलता, यहां तक कि तटभूमि की सहिष्णु निश्चलता तक . तटभूमि में सन्ध्या का जो आलोक दीप्ति पा रहा है या सारी तसवीर पर रात की जो गहराई घनी हो रही है उसे भी प्रमा के द्वारा परिमिति देकर हम निरूपण कर लेते है।...यह प्रमा सान्त (जिसका अंत है) और अनन्त दोनो को नापने, समझ देखने के लिए हमारे अन्त करण का आश्चर्यजनक मापदण्ड है। क्षुद्रातिक्षुद्र की नाप भी दे रहा है, बृहत् की नाप भी दे रहा है, गहरे और छिछले दोनों की नाप दे रहा है, रूप की भी नाप दे रहा है, भाव की भी नाप दे रहा है, लावण्य-सादृश्य-वर्णिकाभंग सभी की नाप और ज्ञान दे रहा है।"

प्रमातृ चैतन्य की अविकसित अवस्था मे नवीन चित्रकार अनुभवहीनता के कारण चित्र में दृष्ट वस्तु के यथार्थ चित्रण में असफल हो जाता है। उसके कार्य (चित्रण) मे प्रमाण के ज्ञान (प्रमा) अनभिज्ञता रूपी कारण-दोष बाधक होता है।

बुद्धि (ज्ञान) दीपक के समान समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देती है। ज्ञान का अधिष्ठाता आत्मा होता है। ज्ञान दो प्रकार का होता है – (१) स्मृति और (२) अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति पद वाच्य होता है। अनुभूत पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य भावना रूप संस्कार के हृदय

मे विद्यमान रहता है। तत्सदृश वस्तु के दर्शन होने पर वही सुप्त संस्कार प्रबुद्ध होकर द्रष्टा के सामने अनुभूत पदार्थ को पुनः लाकर उपस्थित कर देता है, इसे ही "स्मृति" कहते हैं और स्मृति-भिन्न ज्ञान को "अनुभव" कहते है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है — (१) यथार्थ तथा (२) अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते है और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा। जैसे — "रज्जु में सर्प की भ्रान्ति" — मे रज्जु यथार्थ (सत्य) है किन्तु सर्प अयथार्थ (असत्य) है।

चित्रकार की आत्मा मे भी पूर्वकाल में देखे हुए पदार्थ का अनुभव होता है। उससे स्मृति उत्पन्न होती है और वह उस स्मृति से ही चित्र-रचना करता है। चित्रकार का जैसा अनुभव होता है यथार्थ-अयथार्थ, उसी के अनुरूप वह चित्र में "प्रमाण" करता है। जैसा कहा गया है — **सर्वेतसाम् अनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।** यथा— बालकों द्वारा चित्रित वस्तुओं में भी इस प्रमा-प्रयोग के तारतम्य को देखा जा सकता है। मान लीजिये दो बालकों ने एक हाथी का चित्र बनाया है, यू हाथी की आकृति के बारे में दोनो की ही प्रमा ने ठीक अन्दाज लगाया है — दोनों ने ही सूंड, पूछ और ढोल जैसे पेट को देखा है, लेकिन पैरो के मामले मे किसी ने दो देखा है किसी ने चार। दातों के बारे में भी यही बात है — एक ने देखा है एक दात, दूसरे ने देखा है दो दांत, किसी ने दात बिल्कुल ही नहीं देखा है। पैरो की बनावट के बारे मे भी दिख रहा है कि एक बच्चे ने प्रमा का काफी प्रयोग करके दो पैर बनाये है। लेकिन दोनो पैरो को स्तम्भाकृति दी है, दूसरे ने चार पैर बनाये है — पैरों की संख्या के बारे में प्रमा का प्रयोग करके — लेकिन पैरो की बनावट के बारे मे वह बिल्कुल अन्धा रह गया है और चार तीलियां बनाकर हाथी के पैर बताना चाह रहा है। भिन्न-भिन्न चित्रकारों के चित्रो मे भी प्रमा प्रयोग का इसी प्रकार तारतम्य दिखाई पड़ता है।

इसमें जिसने स्तम्भाकृति दो पैर हाथी के बनाये है, उसकी प्रमा को यथार्थ अनुभव कहेंगे, क्योंकि यद्यपि हाथी के चार पैर होते है। फिर भी खड़े हाथी की स्थिति को बिलकुल सामने से (ऋज्वागत स्थिति में, जो ब्रह्मसूत्र (मध्य) रेखा से न तो कुछ उधर दायें, न बायें हों, देखने पर उसके पीछे के दोनो पैर आगे के दोनो पैरो के समानान्तर होने से नही दिखलाई पड़ते। अतः इसकी प्रमा को यथार्थ कहेगे और पतले चार पैर दिखलाने वाले की प्रमा या स्मृति, अनुभव को अप्रमा-अयथार्थ कहेंगे। अतः प्रमा को सर्वदा जाग्रत रखना ही षडंग की दूसरी साधना है।

यह प्रमा जन्म से ही मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु सभी में रहती है। जैसे पत्ता खडकते ही हरिण की प्रमा दोनो कान खड़े करके शब्द को तौलने लगती है — कि यह पत्ता खडकने का शब्द है या किसी अज्ञात शत्रु का सतर्क पदक्षेप। अज्ञात शत्रु की आशंका होते ही, उसकी प्रमा स्व-रक्षा के लिए छिपने को उद्‌बुद्ध कर देती है। मकडी अपने प्रमा-जाल को चारो ओर फैलाकर बीच में बैठी रहती है, उस जाल में किसी भी कीट-पतंगों के फसते ही पलक मारते ही उसकी प्रमा जाग उठती है और वह उस कीट को अपना आहार बना लेती है।

प्रमा केवल दूरी — निकटता का ही बोध नहीं कराती, वरन् किस वस्तु को कितना दिखाने मे वह मनोहर होगी, उसे भी यह निश्चित करती है। अतएव प्रमाणानि केवल गणितशास्त्र का दैनिक व्यवहार में आने वाला नाप ही नही है, वह प्रमातृचैतन्य भी है, जो भीतर-बाहर दोनो को ही परिमिति दे रहा है। पञ्चदशी, द्वैत विवेक प्रकरण में वर्णन है —

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥३०॥

पहले प्रमाता अर्थात् कूटस्थ अधिष्ठानसहित बुद्धिस्थ चिदाभास रूप प्रमाता, जीव से चिदाभास सहित अन्तःकरण की वृत्तिरूप प्रमाण की उत्पत्ति होती है। जब वह प्रमाण उत्पन्न हो जाता है, तब वह घटादि मेय जिसकी

नाप-तौल हो सके, जो जाना जा सके पदार्थो के पास पहुचना है और इस प्रकार मेय पदार्थ से सम्बद्ध हुआ वह प्रमेय के आकार के समान दीखने लगता है।

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥३१॥ पंचदशी।

पंचदशी के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि प्रमाण के विषय-घट, दो होते है – एक मिट्टी का और दूसरा मनोमय। जिस प्रकार मृण्मय घट मनोवृत्ति द्वारा प्रमाज्ञान का विषय अर्थात् प्रमाताभास्य है, (प्रमाणवृत्ति द्वारा जिनको साक्षी प्रकाशित करता है, वे बाह्य घट-पटादि प्रमानाभास्य है।), वैसे ही, मनोमय घट साक्षिभास्य है। साक्षी से भीतर ही उत्पन्न हुई वृत्ति द्वारा जिनको साक्षी-प्रकाशित करता है वे स्वप्न, सुख-दुःख और काम आदि मनोमय पदार्थ साक्षिभास्य है।

वस्तु के गोचर होते ही प्रमातृ चैतन्य मे अन्तःकरण वृत्ति उत्पन्न होकर प्रमेय या वस्तुरूप पर अधिकार कर लेती है, तब वह अन्तःकरण, प्रमेय जो वस्तु रूप है उसमें मंगल होकर तदाकार में परिणत होती है अर्थात् मन वस्तुरूप धारण करता है और वस्तुरूप मनोमय हो उठता है। हम देखते है कि एक ओर हमारी अन्तरिन्द्रिया (५ ज्ञानेन्द्रिया) और बहिरिन्द्रिया (५ कर्मेन्द्रियां) है और दूसरी ओर अन्तर्बाह्य दो-दो वस्तुरूप हैं (एक मिट्टी का घट है, दूसरा मनोमय घट।), इन दोनो के बीच प्रमातृचैतन्य मानो मानदण्ड या मेरुदण्ड है। **"पूर्वा परौ तोयनिधीवगाह्य"** – इस मानदण्ड को हम शैशवावस्था से विभिन्न वस्तुओं मे प्रयोग करते-करते ऊँचे-नीचे, दूर-निकट, सफेद-काला, जल-स्थल इत्यादि के भेदाभेद ज्ञान को प्राप्त करते है और नित्य व्यवहार के द्वारा इसे हम प्रखरतर बना डालते हैं। जैसे कृपाण को अधिक दिनो तक काम मे न लाने से उसमें जंग लग जाता है, उसी तरह प्रमातृ-चैतन्य से काम न लेने से उसका पैनापन खो जाता है और वह निष्प्रभ हो जाता है।

चित्रकला मे प्रमाण को जानना अत्यन्त आवश्यक है, तभी सफल चित्ररचना संभव है। कुमारस्वामी भी कहते है कि चित्रकला के लिए परमावश्यक "प्रमाण" को (Criterion of Truth) 'सत्य की कसौटी या नियम या सत्यरूप" कहा जा सकता है। किन्तु चित्रकला मे यह "आदर्श प्रमाण" के लिए आता है जिसको रायकृष्णदास ने "कैंडा" कहा है। यह "मानदण्ड" के लिए आया है। भारतीय दर्शन की परिभाषा मे केवल अनुभव जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण की परीक्षा के लिए आया है, परन्तु चित्रकला मे यह प्रमाण प्राचीन आदर्श के रूप में बना दिया गया था। जैसे – शरीर का अमुक-अमुक अंग इतने-इतने प्रमाण का ही होना चाहिये। देवता, मनुष्य, गंधर्व, किन्नर, राक्षसादि को इतने-इतने तालमान का ही बनाना चाहिये।

दार्शनिक, चित्रकार आदि ने प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रधान माना है। प्रत्यक्ष से ही "अन्तर्ज्ञेय-रूप" (an inwardly known model) का साक्षात्कार होता है और उसी समय वह ज्ञान को आकार देता है एव वही ज्ञान का कारण है। यह ज्ञान भी विज्ञान की भांति ही प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रयोग करके सिद्ध करता है कोरी कल्पना के माध्यम से नहीं। प्रमाण तो स्वतः प्रामाण्य है। केवल चित्रकला में प्रमाण स्मृति पर आश्रित होता है, भले ही वह स्मृति अनुभवहीनता के कारण असत्य हो।

कला एवं दर्शन संबंधी प्रमाण का विवेचन कुमारस्वामी 'दि ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट' (पृ १७) में इन शब्दों में करते है :—"Pramāṇa means in philosophy the norm of properly directed thought, in ethics the norm of properly directed action, in art the norm of properly conceived design."

यहां पर कुमारस्वामी इसका आध्यात्मिक अर्थ बतला रहे हैं। सार्थक विचार (Properly directed) दर्शन में है और व्यवहार में जैसे सार्थक कर्म है वैसे ही कला में सार्थक डिजाइन (अलंकरण) है।

चित्रकला और मूर्तिकला में जो प्रमाण (Proportion) बनाते हैं, उसे Aesthetic प्रमाण कह सकते हैं। इस एस्थेटिक प्रमाण की विधि या नियम को शास्त्रों में ताल, तालमान, प्रमाणानि, लक्षण (मूर्तिकला में) कहा गया है। शास्त्रकारों के द्वारा बनाये गये प्रमाण संबंधी नियम और परम्परायें शिल्पशास्त्रों में दी गयी हैं, जैसे — शुक्रनीति, विष्णुधर्मोत्तर, शिल्परत्न आदि। शुक्रनीति (श्लोक १०६) में रम्य प्रतिमा का लक्षण देते हुए शुक्राचार्य ने कहा है कि — मूर्ति के बनाने वाले कारीगरों द्वारा निर्मित मूर्ति के जो-जो अवयव हों, वे सब यदि शास्त्रोक्त मान से न अधिक और न कम हों, तभी अत्यन्त सुन्दर मानना चाहिये और यदि सभी अंग न स्थूल तथा न कृश बने हों तो सभी भांति से उन्हें सुन्दर कामना चाहिये।

इसमें शास्त्रोक्त मान में "कद या परिमाण" (Proportion) को कहा है और "सभी अंग न स्थूल तथा न कृश बने हों" में "कैंडे या प्रमाण" (Configuration) को कहा है। विष्णुधर्मोत्तर में भी सर्वथा इसी को कहा गया है —

दीर्घाङ्गं सप्रमाणं च सुकुमारं सुभूमिकम् ॥ २ ॥
चतुरस्रं सुसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणाकृतिम् ।
प्रमाणं स्थानलम्बाढ्यं वैणिकं तन्निगद्यते ॥ ३ ॥
दृढोपचितसर्वांगं वर्तुलं न घनोल्वणम् ॥ ३½ ॥ अध्याय ४१ ।

सुकुमार प्रमाण तथा सुन्दर भूमिका (पृष्ठभूमि) से युक्त और लंबे अंगों वाला (सत्य चित्र) हो ॥ २ ॥ जो चित्र सुडौल एवं परिपूर्ण हो, न लंबा हो न उत्कट आकृति वाला हो और आधार एवं प्रमाण से युक्त हो, उसे वैणिक कहते हैं ॥ ३ ॥ जिसके सभी अंग दृढ़ एवं पुष्ट हों और जो न गोल हो न उत्कट, उसे नागर चित्र कहते हैं ॥ ३½ ॥

कुछ प्राकृतिक नियम ऐसे होते हैं जिनसे आबद्ध होकर कलाकार को चलना ही पड़ता है और वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है, किन्तु कुछ ऐसे भी मान-परिमाण आदि के नियम शास्त्रों में रख दिये गये हैं, जिन्हें चित्रकार चित्र में यथावत् अंकित नहीं कर सकता।

शुक्राचार्य ने शुक्रनीति में कहा है —

प्रतिमाकारको मर्त्यो यथा ध्यानरतो भवेत् ।
तथा नान्येन मार्गेण प्रत्यक्षेणापि वा खलु ॥ ४।७४-७५ ॥

प्रत्येक रूप और उसका मान-परिमाण आदि बिल्कुल वर्जन करना मनुष्य के द्वारा कैसे संभव हो सकता है ? यद्यपि शास्त्रकारों ने कहा है — **"नान्येन मार्गेण"**, केवल ध्यान से ही, अपने से अपने में लीन होकर कोई मूर्त प्रतिमा नहीं बन सकती। अरूप का, अव्यक्त का ध्यान, अलौकिक-आध्यात्मिक का ध्यान करते-करते साधक "तुरीय-अवस्था" में पहुंच कर आनन्दित होते हैं। किन्तु उसी प्रकार के ध्यान के पथ को लेकर, बिना क्रियात्मक रूप दिये मूर्त रूप-रचना असम्भव है। कलाकार का ध्यान गोचर रूप के ऊपर निर्भर करता है, तभी वह अपनी कृति में विशिष्ट रूप दे पाता है।

दैवी प्रतिभा सम्पन्न जो कलाकार हैं, वे अपनी कृति को एक शैली में बनाते हैं और उसी में उचित मान-परिमाण को दिखलाते हैं। मान-परिमाण को बनाने के लिए उनको चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं होती, स्वत स्वाधीनभाव से उनका हाथ चलता है। जैसा कालिदास ने कुमारसम्भव में कहा है :---

"भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वति गौरवा क्रिया" ।। ५।३१ ।।

"वपुर्विशेष" सुन्दर और पुष्ट देह वाली (Well proportionate figure) वपुष्मान (वपुमान)। शरीर के सभी अंग-प्रत्यंग जिसके सुडौल, सुन्दर हो। जैसे अजन्ता के चित्र सामान्य से कुछ अधिक सुन्दर और मान-परिमाणयुक्त है। "उज्ज्वल-नीलमणि" में यथोचित प्रमाण से युक्त अंग-प्रत्यंगों के सन्निवेश को ही सुन्दर कहा गया है :---

अङ्गप्रत्यंगकानां यः सन्निवेशो यथोचितम् ।
सुश्लिष्टसन्धिबन्धः स्यात्तत्सौंदर्यमितीर्यते ।। २२ ।।

यहां पर "सन्निवेश" का अर्थ "समविभक्तता" है। इसी को "आदर्श अनुपात" कहते हैं। विष्णुधर्मोत्तर में इसके विपरीत चित्रदोष में कहा गया है :---

"दौर्बल्यंबिन्दुरेखत्वमविभक्तत्वमेव च ।। ७ ।।
बृहद्गण्डौष्ठनेत्रत्वं संविरुद्धत्वमेव च ।
मानवाकारता चेति चित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ।। ८ ।।

साराश यह है कि निश्चित प्रमाण से विहीन होने पर बृहत् अंग दोष है। यहां पर बृहत् शब्द को महत्व दिया गया है।

रूपभेद की तरह ही प्रमाण भी परंपरागत हैं। प्रमाण के जो-जो नियम कला-शास्त्रों में बना दिये गये है, उन नियमों का पालन चित्रकार करते है, साथ ही चित्रकारों का कुछ अपना भी मान-परिमाण होता है जिसका वे अपनी कृति में प्रयोग करते हैं। जैसे - रूप का बहिरंगीन अंग, उसका आभ्यन्तरीन अंश एव एवं भीतर-बाहर इत्यादि स्वप्रमाणित सम्पूर्ण रूप मिला कर ही एक रूप-रचना की मूल कला होती है। निर्दिष्ट मान-परिमाण और अनिर्दिष्ट मान-परिमाण को लेकर दो प्रकार का रूप होता है। विधाता अथवा शिल्प शास्त्रकार[1] के द्वारा दिया गया समस्त रूप और कलाकार द्वारा दिया गया समस्त रूप-दोनो का मान-परिमाण स्वतंत्र है। कलाकार का मानस जहां अपना रास्ता लेकर चलता है वहा चाक्षुष (चक्षु द्वारा देखे हुए) की उपेक्षा नहीं कर सकता और वहा पर वह मनोमत मान-परिमाण को लेकर रूप का गठन करता है। वास्तव में रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्ण के प्रमाण मे स्थिरता नही है। प्रबल भेदनीति को लेकर विधाता की सृष्टि के समकक्ष, समतुल्य होकर, कलाकार की रूपसृष्टि चलती है।

प्राचीन काल में ब्राह्मण ही शास्त्रों की रचना करते थे। उन्ही को शास्त्रो की रचना करने का अधिकार था, वे ही समस्त शास्त्रो, कलाओ आदि के ज्ञाता माने जाते थे। वे शास्त्री ब्राह्मण शिल्पियों को अपने हाथ में (मुट्ठी में, वश और प्रभाव में) रखते थे। शिल्पी स्वाधीन नही थे। शास्त्रकार कहते है कि - शास्त्रजित प्रतिमा बनाइयेगा तब तो ठीक है, नहीं तो आपकी (शिल्पकार की) मृत्यु हो जायेगी।

१---ब्रह्मा के द्वारा कहा गया ब्रह्मवाक्य जिस प्रकार असत्य नही होता, अमोघ होता है, उसी प्रकार शिल्प-शास्त्रकार भी अपने वचन को ब्रह्मवाक्य मानते है।

यथोक्तावयवैः पूर्णा पुण्यदा सुमनोहरा ।
अन्यथाऽऽयुर्धनहरा नित्यं दु:खविवर्द्धिनी ॥ ७६ ॥ — शुक्रनीति ।

शास्त्रोक्त एवं अन्यथा रीति से बनी प्रतिमा के फल :– यदि प्रतिमा शास्त्रोक्त नियमानुसार अंगों से परिपूर्ण बनी हो तो वह पुण्य देने वाली तथा अत्यन्त मनोहर होती है। यदि अन्यथा रीति से बनी हो तो आयु तथा धन को हरण करने वाली और नित्य दु:ख को बढ़ाने वाली होती है।

विष्णुधर्मोत्तर में भी यही बात इस प्रकार कही गई है —

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मानहीनां विवर्जयेत् ।
चित्रलक्षणसंयुक्त प्रशस्तं सर्वमुच्यते ॥ २४ ॥
आयुष्यं च यशस्यं च धनधान्यविवर्धनम् । ॥ ३८।२४–२५ ॥

सब प्रकार के प्रयत्नों से प्रतिमा को प्रमाणहीन नहीं होने देना चाहिये। चित्र के सभी लक्षणों से संयुक्त प्रतिमा सदैव प्रशंसनीय होती है। वह आयु, यश, धन–धान्य को बढ़ाती है।

शास्त्रमत से रूप के आकार–प्रकार के १६ भेद है — **रूपन्तु षोडश विधम्** (महाभारत, शान्तिपर्व) – यथा ह्रस्व, दीर्घ चतुरस्र, त्र्यस्र इत्यादि यह सब आकार नाप कर बनाते हैं। रंग का मान–परिमाण लेकर प्रकार–भेद – यथा रक्त, पीत, पाण्डु, कृष्ण, नीलारूण, शुक्लरजत आदि। आकार और रंग का मान–परिमाण लेकर बहुत से प्रकार – भेद होते हैं। साथ ही वस्तुओं के गुणागुण को लेकर भी प्रकार–भेद होता है, जैसे–दारूण, पिच्छल, चिक्कण इत्यादि।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर की 'बागेश्वरी शिल्प प्रबन्धावली के अनुसार मान–परिमाण सम्बन्धी कुछ भाव ये हैं – गन्ने का वृक्ष और ताड़–वृक्ष दोनों पतला और लम्बा होने पर भी एक समान नही है। खद्दर और सिल्क, लावण्य और स्पर्श मे एक समान नही है। इन सबमें रूप, गुण, रंग, स्पर्श आदि मे भिन्नता है। रूप मे उसके बहिरंगीन अंश उसके आकार या गढ़न को देखकर माप स्थिर करते है। समान आकार से समपरिमाण नही होता। जैसे जगत् में दो व्यक्ति समान नही है – हाथ–पैर, आंख नाक–कान आदि दोनो मे होने पर भी, दोनों के नाप में भिन्नता होती है। इसी नाप की भिन्नता से ही एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की भिन्नता पहचानी जाती है। यही रूपभेद में भी है। यह गढ़न का स्वभाव असम–विषम छन्द मे प्रस्तुत किया गया है, सबका अलग–अलग माप है। रूप का वैचित्र्य, रस का वैचित्र्य लेकर व्यष्टि रूप मे विश्वकर्मा ने रूप–रचना की है। अपना–अपना मान–परिमाण लेकर ही सब रूपमान और प्रमाप लेकर, कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई दूर, कोई पास ऐसा ही सब आकार – प्रकार है। यथा–बिल्कुल समीप से वन हरा दिखलाई देता है, किन्तु वही वन दूर से देखने पर नील वर्ण का प्रतीत होता है। सामने का वृक्ष बड़ा दिखता है, दूर का छोटा। इसे Forshortning या Perspective कहते है। मनुष्य के सामने श्वान छोटा है और शशक के सामने बड़ा। Scale के अनुसार भी प्रमाण मे अंतर आता है। चित्र मे प्रधान प्रतिमा बड़ी और अप्रधान प्रतिमा छोटी बनाते है।

प्रमाण मे दो चीजें आती है – (१) निजस्व या व्यक्तित्व (Character), (२) गढ़न (गठन)।

(१) निजस्व, व्यक्तित्व और स्वभाव दिखलाना (पेड़, फूल–पत्ती, पशु–पक्षी, स्त्री–पुरुष आदि का)

(२) गढ़न (गठन), बनावट आदि का आभास देना Sheding, Stippling आदि के द्वारा।

व्यक्तित्व या निजस्व से मनुष्यों में जैसे राजा, भिक्षुक, सन्यासी, ब्राह्मण आदि में भिन्नता उनके चेहरे और उनके अंग-प्रत्यंगों के सामुद्रिक लक्षणों की विशेषताओं को देखने से ज्ञात होता है। जैसे "नैषधचरित" में नल-दमयन्ती और "रामायण" में राम-सीता, पद्मिनी नायिका एवं शशक पुरुष — के सामुद्रिक लक्षण दिये गये हैं, जिनसे उनकी उत्तमता का बोध होता है। इसी प्रकार वृक्षों, फूल-पत्तियों पशु-पक्षियों के निजस्व (Character) को चित्रकार प्रमाण के द्वारा परख कर चित्रांकन करता है। जैसे स्थूल रूप से दूर से वट वृक्ष का ऊपरी भाग गोलाई के साथ ही बीच में कुछ नोकीला होता है और आम्र-वृक्ष पूरी गोलाई लिए हुए तथा पीपल का वृक्ष नोकीला और कम गोलाई लिए हुए होता है। नारियल और सुपारी की पत्तियां लगभग एक जैसी होती हैं किन्तु दोनों के तने में बहुत अंतर है, सुपारी का तना बहुत पतला, सीधा, लम्बा होता है और नारियल का इससे मोटा।

रूप-जगत् में दो प्रकार का माप है — (१) रूप का बहिरंगीन माप, (२) आभ्यन्तरीन माप। भाव को लेकर सुगंध, सौंदर्य की जब आलोचना करते हैं, तब आभ्यन्तरीन माप होता है। अंदर और बाहर के ये दोनों रूप मिलाकर ही स्वयं-रूप सम्पूर्णता पाते हैं। लम्बाई-चौड़ाई और गहराई या ऊंचाई मिला कर ही वस्तु का पूर्ण माप होता है।

बहिरंगीन माप ही चित्रकला और मूर्तिकला का आधार है। विष्णुधर्मोत्तर, मानसोल्लास या अभिलषितार्थचिंतामणि, शिल्परत्न, रूपमंडन आदि ग्रन्थों में मान-परिमाण के नियमों का विशद विवेचन है। विष्णुधर्मोत्तर, अध्याय ३५-३६ में अंग-प्रत्यंगों का माप विस्तार से दिया गया है। विष्णुधर्मोत्तर और शिल्परत्न में पांच प्रकार के मनुष्यों का वर्णन है — (१) हंस, (२) भद्र, (३) मालव्य, (४) रुचक (५) शशक। इनकी ऊंचाई क्रमश: १०८, १०६, १०४, १०० और ९० अंगुल की बताई गई है। इस प्रकार विष्णुधर्मोत्तर का हंस प्रमाण (जो सर्वश्रेष्ठ माना गया है) १०८ अंगुल का "नवताल" ही है।

विष्णुधर्मोत्तर की माप की रीति :

८ प्रमाण — १ रज
८ रज — १ बालाग्र
८ बालाग्र — १ लिक्षा
८ लिक्षा — १ यूका
८ यूका — १ यव
८ यव — १ अंगुल
१२ अंगुल या ४ अंश — १ ताल।

१२ अंगुल (या १ ताल) × ९ ताल = १०८ अंगुल का नवताल। यहां पर प्रमाण यूनिट के अर्थ में आया है।

सोमेश्वर के मानसोल्लास के चित्र-विधान पर यद्यपि विष्णुधर्मोत्तर के "चित्रसूत्र" का प्रभाव है, फिर भी युग के परिवर्तन की दृष्टि से उसमें कुछ मौलिकता है। सोमेश्वर की मान-प्रणाली भी अपनी है जैसा नीचे की तालिका से प्रगट है —

८ परमाणु — १ त्रसरेणु । ८ यव — १ अंगुल या मात्रा
८ त्रसरेणु — १ बालाग्र । २ मात्रा — १ गोलक या कला
८ बालाग्र — १ लिक्षा । ३ मात्रा — १ अध्यर्द्धकला

८ लिक्षा — १ यूका । ४ मात्रा— १ भाग
८ यूका — १ यव । ३ भाग— १ वितस्ति या ताल।

इसी प्रकार "विष्णुधर्मोत्तर" एवं "मानसोल्लास" में एक संपूर्ण शरीर का एक ढांचा प्रस्तुत करने के लिए उसका "नवताल प्रमाण" इस तरह निर्धारित किया गया है।

नवताल प्रमाण के नाप की रीति (१२ अंगुल = १ ताल)

विष्णुधर्मोत्तर		मानसोल्लास	
चेहरा	— १२ अंगुल	चेहरा	—१ ताल
उष्णीष–केशांत	— २ ,,	उष्णीष–केशांत	— २ अंगुल
गला	— ४ ,,	ग्रीवा	— ४ अंगुल
गले से हृदय	— १२ ,,	ग्रीवा से हृदय	— १ ताल
हृदय से नाभी	— १२ ,,	हृदय से नाभि	— १ ताल
नाभी से पेड़ू	— १२ ,,	नाभि से मेढ़ू	— १ ताल
जांघ	— २४ ,,	जांघ	— २ ताल
घुटना	— ३ ,,	जानु	— ४ अंगुल
ऊरु	— २४ ,,	ऊरु	— २ ताल
गुल्फ	— ३ ,,	चरण	— २ अंगुल
	१०८ अंगुल		१०८ अंगुल

इसमें केवल जानु में भेद है।

सभी मनुष्य अपने हाथ से साढे तीन हाथ लम्बे होते है। मनुष्य का अपना मुखमंडल उसी का एक विद्यत (वितस्ति या बित्ता – आधा हाथ या १२ अंगुल) होता है। इसी प्रकार और भी बहुत से नाप हैं जैसे युवा पुरुष के और बालक के सिर के नाप में थोड़ा अंतर है। शिशु का सिर उसके एक विधत (१२ अंगुल) से थोड़ा अधिक होता है। विविध मान–परिमाण के नियम से मोटे–पतले शरीर की रचना होती है। अभिलषितार्थचिंतामणि में कहा गया है :—

> **प्राणी वा यदि वाऽप्राणी यत्प्रमाणमभीप्सितम्।**
> **चिन्तयेत्तत्प्रमाणं तद्भूयालं भित्तौ निवेशयेत्** ॥ १५८ ॥
>
> **भित्तौ निवेशितस्यास्य दृश्यमानस्य चेतसा।**
> **तन्मानेन लिखेल्लेखां सर्वांगेषु विचक्षण** ॥ १५९ ॥

मनुष्य की आकृति केवल तालमान तथा अंगुल पर ही नहीं आधारित रहती, वरन् नापने की कई रेखाओं पर भी प्रमाण आधारित है जैसा विष्णुधर्मोत्तर और शिल्परत्न में भी वर्णित है – ब्रह्मसूत्र, पक्षसूत्र, बहि.सूत्र (अथवा ब्रह्मसूत्र, मध्यसूत्र एवं पार्श्वसूत्र, कक्षसूत्र, बाहुसूत्र) ।

जलवायु आदि की भिन्नता के कारण जातिगत एक प्रकार का अलग माप भी होता है, जैसे – चीनी, नेपाली, संथाल, पठान, नीग्रो, रेडइण्डियन आदि अलग–अलग जाति के लोगों के मान–परिमाण में भिन्नता होती है।

कोई नाटा, कोई लम्बा, किसी की नाक लम्बी, किसी की चपटी, किसी का पग शरीर के अनुपात में बहुत छोटा आदि भेदाभेद होता है। मनुष्य के मान–परिमाण में उसके अवस्था के अनुसार भी भिन्नता आती है, जैसे–बालक और वृद्ध। रूप के अंतर में, बाह्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष में, परोक्ष और अपरोक्ष में, निकटस्थ–दूरस्थ में, समान–असमान का नियम प्रमाण देता है। उसी में चित्र में रूप–रचना होती है।

अलंकारशास्त्र में तीन प्रकार की नायक–नायिकाओं का वर्णन आया है – (१) दिव्य, (२) अदिव्य एवं (३) दिव्यादिव्य। यही तीन प्रकार का रूप शिल्पशास्त्र में भी कहा गया है – (१) देवता, (२) मनुष्य एवं (३) देवता–मनुष्य से मिश्रित रूप। देवलोक, मर्त्यलोक एवं गन्धर्वलोक – इन तीनों रूपों को लेकर ही शिल्पशास्त्र में मान–परिमाण और लक्षण दिया गया है। किन्तु चित्रकला या मूर्तिकला में, दिव्यादिव्य एवं अदिव्य मान–परिमाण ही काम में आते हैं, क्योंकि रूप अदिव्य हो जाता है और रस दिव्य।

शिल्पशास्त्र के प्रतिमा–लक्षण में जो मान–परिमाण सुनिर्दिष्ट है, उसमें देवता और उनके वाहन आदि के लिए कहीं कुछ बढ़ाकर और कहीं कुछ घटा कर तालमान स्थिर किया है, यथा – नवताल, दशताल, कौमारी, वामनी, राक्षसी इत्यादि।

वामनी सप्तताला स्यादष्टताला तु मानुषी।
नवताला स्मृता देवी राक्षसी दशतालिका॥ ४।८६॥–शुक्रनीति

जो प्रतिमा ७ ताल–प्रमाण की ऊंची होती है वह "वामनी", ८ ताल की "मानुषी", ९ ताल की "दैवी" और १० ताल प्रमाण की ऊंची "राक्षसी" कहलाती है। अजन्ता में इन सभी प्रमाणों की मूर्तियों के दिग्दर्शन होते हैं। जैसे – अजन्ता, गुफा १७ में वासगृह में मधुपान करते पति–पत्नी के निकट मधु पात्र लिए हुए परिचारक वामन (बौना)। मानुषी प्रतिमा तो अजंता के सभी दृश्यों में है। विशालकाय दैवी बुद्ध प्रतिमा के सम्मुख राहुल को समर्पण करते माता यशोधरा (अजंता, गुफा १७) तथा उसी गुफा १७ में राक्षसी प्रतिमा सिंहलों की सेना नाव से समुद्र पार करते हुए तथा उसी दृश्य में समर्पण करती हुई राक्षसियों का अंकन है।

शास्त्रकारों ने मनुष्य और पशु–पक्षियों के विविध मान–परिमाण को एक में मिलाकर भी अनेक देवी–देवताओं का रूप–स्वरूप निर्धारित किया है, जैसे – गणेश, चतुर्मुख ब्रह्मा, पंचमुख शिव, षण्मुख कार्तिकेय, वाराह, नृसिंह, हरि–हर, अर्धनारीश्वर, दशानन, गरुड़, नैगमेश आदि। विशाल मानव शरीर और विरूप को लेकर राक्षसी प्रतिमा बनाते हैं। मनुष्य और वराह के मान–परिमाण को बड़ा करके वराह–अवतार, घोड़ा या पक्षी और मनुष्य मिलकर किन्नर, मनुष्य के माप की विशालता और अंग–प्रत्यंग का बाहुल्य लेकर समस्त देव–देवियों की मूर्तियां बनी हैं। पक्षी और मनुष्य की आंखों का मिलान करके सुन्दर आखों को खंजन–नेत्र की संज्ञा दी गई है। यह दोनों असमान होने पर भी समान हैं। इस प्रकार के समस्त जीव–जगत् में समान – असमान, मान–परिमाण एक करके, प्रतिमाकारक विश्व के रूप की रचना करता है। उसके बाद वृक्ष और फूल–पत्ती को लेकर – जैसे कल्पतरु, पारिजात, बेलपत्र आदि – ऐसी विभिन्न रूप की सृष्टि चल रही है। प्रतिमा–निर्माण के मान – परिमाण की यह सीमा मर्त्यरूप के व्यतिक्रम के ऊपर आधारित है।

कलाकार प्रतिमा के अपरिमेय (जिसकी नाप–तौल न हो सके, अनगिनत)–रस को परिमिति के मध्य में रख कर एक–एक रस–रूप की रचना करता है। रस को यदि हम ग्रहण करना चाहते हैं तो आलम्बन का मान–परिमाण कैसा होना चाहिये, यह कलाकार के लिए विचारणीय विषय है।

देव–प्रतिमा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मान–परिमाण के शास्त्रीय–विधान मे हेर–फेर नही हो सकता, जैसे – उन्मीलित नेत्र, स्मित मुख, अग–प्रत्यग की भगिमा इत्यादि। इस प्रकार के शास्त्रीय मान–परिमाण से युक्त असख्य देव–प्रतिमाये पूजा के काम मे ही आती है, किन्तु कलाकार के कार्य मे इन नियमो के पालन मे बाधा उत्पन्न होती है। शास्त्र के नियमों से कलाकार की क्रिया रुद्ध हो जाती है, अत वह अपनी कृति मे अपनी भावनाओ का समावेश नही कर सकता। फिर भी, कितने ही कलाकारों ने शास्त्रीय मर्यादा की परिधि मे रहते हुए अपनी भावनाओं को अपनी कलाकृति मे व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है और उनके ये मौलिक प्रयोग ही उक्त कलाकृतियो की विशेषता मानी जाती है।

३—**भाव :**—चित्त की वृत्ति ही भाव है। चित्त की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह कुछ न कुछ सदैव विचार करता रहता है। यह एक मानसिक वृत्ति या मनोवृत्ति है। चित्त इसे कभी भावों द्वारा (नेत्र, भ्रू–भग, मुखरागादि के माध्यम से) प्रगट करता है और कभी नही भी प्रगट करता। चित्त की वृत्तियां चचल होती है। ये प्रतिक्षण तीव्रता से परिवर्तित होती रहती है। कलाकार इन वृत्तियो को सामूहिक रूप में अपनी कृति मे व्यक्त करता है। पातजल योगसूत्र में कहा गया है कि इन चंचल चित्तवृत्तियों का निरोध योग के द्वारा करना चाहिये। निष्कम्प दीप–शिखा के समान योग मे निरोध होता है। रूपभेद, प्रमाण – ये बाह्य आकार है। इसी मे ही भाव उत्पन्न होता है।

रूप के लिए शास्त्रकार ने "रूपभेदा." (अनेक प्रकार के रूप) कहा है, प्रमाण के लिए भी "प्रमाणानि" बहुवचन देकर निर्देश किया है और भिन्न–भिन्न रूपो के लिए भी बहुप्रमाण है तथा भाव के लिए "भावयोजनम्" कहा है। भावलावण्ययोजनम् – मे द्वन्द्व समास से "योजनम्" भाव तथा लावण्य दोनो के साथ सयुक्त होगा। इसका अर्थ है कि रूप को भाव के साथ युक्त करना चाहिये, रूप मे भाव की योजना करनी चाहिये। चित्र में केवल रूप और मान–परिमाण देकर ही कलाकार का कार्य पूर्ण नही हो जाता। उसे अपनी कृति मे भाव का भी सन्निवेश करना पडता है, तभी उसका चित्र सरस, सुन्दर, मनोहर होता है।

भाव, कलाकार के अकन मे चित्रित आकृतियो के स्वभाव आदि को परिलक्षित करता है। चित्र के षडग मे भाव का अत्यधिक महत्त्व है। स्वभाव की यह अभिव्यक्ति भारतीय चित्रकारी की सर्वप्रधान विशेषता और प्राण माना गया है। भाव शब्द कहने के साथ ही तत्सबधी अनेक शब्द मस्तिष्क मे विद्युत् काति के समान कौध जाते है, जैसे – आकृति की भाव–भगिमा, स्वभाव मनोभाव या मनोवृत्ति विभाव, अनुभाव, सचारी–भाव, व्यभिचारी भाव, सत्वभाव एव व्यग्य इत्यादि।

अवनी बाबू ने 'सिक्स लिम्ब्स आफ इडियन पेंटिंग" मे भाव के सम्बन्ध मे कहा है :— "Bhava is idea, sentiment intention, nature of a thing and Vyangya means suggestion : In art, we express bhava by the different attitudes."

भाव का अर्थ है — "The action of feelings on forms"। अनुभाव से विभाव उत्पन्न होता है यह अवनीन्द्रनाथ ने माना है। इसे पारिभाषिक शब्दो में कहेगे कि भाव, आकृति मे अन्तर्निहित भावो के प्रभाव को प्रगट करता है। विभावजनित चित्तवृत्ति भाव है। जैसे – बुद्ध की मूर्ति मे शात भाव ही दिखलाना है। इसे बनाने के लिए बुद्ध के शात भाव को मन मे लाने पर ही सफल अभिव्यक्ति हो सकती है, यही विभाव है।

कुमारस्वामी के अनुसार "भाव" का अर्थ है — nature, emotion, sentiment, or mood, as

represented in a work of art, the vehicle of rasa, और तत्सबंधी "भावना" शब्द का अर्थ है — Origination, production, imagination, persistent image, emotional impression surviving in conscious or unconscious memory.

शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणा विधायका ।
भाव विभावजनिताश्चित्तवृत्तयः ईरिता ।।—भक्तिरसामृतसिन्धु ।

शरीर और इन्द्रिय सभी का विकार–विधायक भाव है, विभावजनित चित्त–वृत्ति भाव है । उज्जवलनीलमणि मे **वैष्णव कवि रूपगोस्वामी भाव की व्याख्या करते हुए कहते हैं** :–

प्रादुर्भावं व्रजत्येव रत्याख्ये भाव उज्ज्वले ।
निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथमविक्रिया ।।[1]

निर्विकार चित्त मे भाव ही प्रथम विक्रिया (आलोडन, चित्त का कंपन, Movement) प्रदान करता है । चित्त स्वभावत निर्विकार और निर्मल, वर्ण–विहीन है, भाव ही उसे वर्ण देता है, चंचलता या गति देता है । भाव ही मानव को उच्च और नीच पद पर अधिष्ठित करता है । क्रौंच–वध–जनित विरह–दुःख के भाव–पर्याधि से जो महर्षि वाल्मीकि की दिव्य वाणी प्रस्फुटित हुई :—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम शाश्वती समा ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितः ।।

उसी से वे महाकवि हो गये । हृदय के इन्ही प्रच्छन्न, प्रसुप्त विचाराकर्षण को भाव कहते है ।

भूतकाल की कृति और भविष्य के कर्त्तव्य के बारे मे मन मे जो तत्क्षण योजना बनती है, वही भाव है । चित्र मे उक्त विशेषताओ का परिलक्षण भाव है । जैसे – भारत कला भवन मे माखन चोरी का एक रेखाचित्र है जिसमे कृष्ण ग्वाल–बालो के साथ मक्खन चुरा कर खा रहे हैं और एक बंदर खिडकी में से ललचाई दृष्टि से झाक रहा है । भारतीय चित्रकार अपने चित्रो मे भाव–प्रदर्शन का बहुत ध्यान रखते थे । विष्णुधर्मोत्तर मे भी कहा गया है कि चित्र में सपूर्ण अंग और उपागों से भाव को दिखलाना चाहिये ।

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृति स्मृता ।
दृष्टश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः ।।

नृत्यकला की तरह चित्रकला मे भी तीनो लोको की अनुकृति की जा सकती है । चितवन, भाव और अग–प्रत्यग – सब प्रकार से दोनो मे साम्य है ।

इसमे देव, नृप आदि मनुष्यो मे तथा प्रात साय, ऋतुओ आदि मे रस और भाव को दिखलाने का निर्देश किया गया है — **"रसभावाश्च कर्तव्या यथापूर्वमुदाहृताः ।"**

अपराजितपृच्छा मे कहा गया है कि ब्रह्मवादीजन जैसे जल मे चन्द्रमा को देखते है, वैसे ही सपूर्ण ससार को चित्रमय भाव और रूप में देखते है —

१—टीका–उज्जवले शृंगारे रसे रत्याख्यो रतिनामा यो भावः स्थायी तस्मिन् प्रादुर्भावं व्रजति प्राप्नुवति सति चित्ते या प्रथमविक्रया वयः सधौ अभूतपूर्वं प्रथमो यः कन्दर्पक्षोभानुभव स भावः । चित्ते कीदृशे । निर्विकारात्मके पौगण्ड वयस्त्वेन कन्दर्प प्रवेशाभावात् तद्विकारहीन इत्यर्थः । —उज्जवलनीलमणि, पृ० २४५।

"पश्यन्ति भावरूपैश्च जले चन्द्रमसं यथा।
तद्वच्चित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिनः ।।"

जल मे चन्द्र प्रतिबिम्ब के समान यह संसार भाव रूप है। यहा पर भाव आतरिक है और रूप बाह्य। भाव और रूप आभास है सत्य नही। मानसोल्लास में कहा गया है —

शृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते।
भावचित्र तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम् ।।
सुप्रमाणं तथा विद्धमविद्धं भावचित्रकम् ।

शृंगारादि रस जिस चित्र मे दिखलाया जाता है, उसे "भाव–चित्र" कहते है, और भावचित्र ही कौतुक को बढाने वाला होता है। भावचित्र अर्थात् रसचित्र अथवा काल्पनिक चित्र सुन्दर, प्रमाणयुक्त और विद्ध–अविद्ध दोनो प्रकार का होता है। मानसोल्लास में भाव तथा गति से युक्त आकृति वाले चित्र को "अविद्धचित्र" कहा गया है।

भावुक और तत्वविद में बहुत अतर है। तत्वविद् विश्व के शिल्पकार्य के पुरातत्व (स्थूल ज्ञान) का ज्ञाता होता है और भावुक उसके मर्म को जानता है। भाव और रस कला के प्रमुख साधन है। भाव इस भौतिक जगत् की व्यापक सत्ता है, वह चित्तवृत्ति के रूप में प्राणिमात्र मे वैसे ही व्याप्त है जैसे पार्थिव तत्व में गंध। परन्तु मानव में यह अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में वर्तमान है। वस्तुत. बिना भाव के मनुष्य ही नहीं, सृष्टि की प्रक्रिया की कल्पना भी असंभव है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मे भाव की इस व्यापक सत्ता का ही विचार करके नाट्य के प्रसंग मे उसका शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है —

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।
नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।। –१।१०७–११२ ।।

जिस प्रकार नाट्य मे सपूर्ण त्रैलोक्य के भावो की अनुकृति होती है और इन विविध भावो के अंतर्गत नाना अवस्थाये है, उसी प्रकार चित्र मे भी त्रैलोक्यानुकृति एवं भावोपपन्नता होती है।

भाव का शास्त्रीय विवेचन :—प्रश्न उठता है कि भाव क्यों कहे गये है और वे किसको भावित (भावना) कहते है? **भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि।** (नाट्यशास्त्र, ६।३)। नाट्यशास्त्र मे भरतमुनि ने इसकी अतीव सुन्दर व्याख्या की है। **भावा इति कस्मात्। किं भवन्तीति भावाः किं वा भावयन्तीति भावाः। उच्यते – वागंगसत्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति।** – भाव यह चित्तवृत्ति के लिए क्यो प्रलम्बित है? क्या ये हृदय में चित्तवृत्ति के रूप मे स्थित होते है, इस कारण भाव कहे जाते हैं अथवा भावना करने वाले होने के कारण भाव होते है। उत्तर है – वाक्, अग तथा सत्व मे युक्त काव्यार्थो को भावित करने के कारण भाव कहे जाते है।

भावना (कल्पना से अनुकरण) करने वाले होने के कारण ये भाव कहलाते है, क्योंकि भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होते है, अतः उनकी दो प्रकार से व्युत्पत्ति की सम्भावना स्वीकार की जाती है। रति–भाव के प्रकट होने की स्थिति को एक रूप में माना जा सकता है। इसमे भाव विस्तार अथवा उत्कर्ष को प्राप्त होता है। भाव का तात्पर्य ही है कि यह अधिकाधिक विकसित होता है और क्षण भर के लिए भी एक रूप मे स्थिर नही रहता। अनुभाव ज्ञान के माध्यम से ये भाव सीमित समय में चित्तवृत्तियो को भावित करते है। इस प्रकार हृदय में व्याप्त होकर ये भाव आस्वादनीय हो जाते है¹।

भरत की दृष्टि से "भाव" मात्र स्थायी चित्तवृत्ति ही नहीं अपितु रसानुभव की समस्त प्रक्रिया का वह स्रोत भी है। उनके विचार से विभाव (आलबन रूप नायक—नायिका एव उद्दीपन रूप प्रकृति—सुन्दरता आदि) मात्र रस—प्रतीति के ही कारण नही होते, अपितु अभिनय के माध्यम से स्थायी भावो को भी प्रतीति योग्य बनाते है, अतएव वे विभाव के रूप में प्रसिद्ध है।

व्युत्पत्ति और अर्थ :—भाव शब्द "भू" धातु मे करण अर्थ मे (घञ्प्रत्यय लगाने से बनता है) होता है तथा भावित, वासित और कृत – ये सभी समानार्थक है। लोक मे भी यह प्रसिद्ध है – अहो, इस गन्ध से और इस रस से सब कुछ भावित हो गया है। इससे भावित का अर्थ परिव्याप्त होता है। "मेदिनी कोश" मे भाव का अर्थ सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, क्रिया, लीला आदि है।

भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु।
क्रियालीलापदार्थेषु विभूतिबन्धुजन्तुषु॥

अमरकोश मे मन के विकार को भाव कहा गया है – **विकारो मानसो भावः** अत भाव वर्णन से पूर्व विकार को समझ लेना आवश्यक है। मन जब किसी हेतु विचलित हो जाता है तब उस दशा को विकार कहते है।[1] काव्यशास्त्र के आचार्यो ने मानसिक विकार अथवा वासना को ही भाव माना है। मानसिक विकार होने पर वास्तविक ज्ञान के लिए चित्त की वृत्तियो का निरोध करना चाहिये, ऐसा पातञ्जल योगसूत्र में कहा गया है – **योगश्चित्तवृत्तिनिरोध** ॥ २ ॥ अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मे कहा है कि – जो अर्थ विभावो के द्वारा प्रस्तुत होकर अनुभावो तथा वाचिक, आगिक तथा सात्विक अभिनयो के द्वारा प्रतीत योग्य बना है, वह भाव कहा जाता है। वचन, अग तथा मुख—राग द्वारा और सात्विक अभिनय के द्वारा भी कवि के अन्तर्निहित भाव को भावित (अभिव्यक्त या व्याप्त) करना भाव कहलाता है।[2]

नाट्यशास्त्र मे मुखराग के महत्व को विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है – विभिन्न प्रकार के अग तथा उपाग से युक्त अभिनय भी विना मुखराग के शोभित नही होता (८, १६५)। वस्तुत इसके माध्यम से अत्यन्त सूक्ष्म मनोभाव व्यक्त होते है।

१—आचार्य सोमनाथ रसपीयूषनिधि मे विकार का लक्षण इस प्रकार लिखते है :—

चित किहि हेतुहि पाइ जब, होई और ते और।
ताकौ नाम "विकार" कहि, बरनत कवि सिरमौर॥

२—विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयै स भाव इति सज्ञित. ॥ १ ॥
वागङ्गमुखरागेण (रागैश्च) सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भाव भावयन्भाव उच्यते ॥ २ ॥ —ना० शा०, सप्तम अध्याय।

"सत्वाभिनयै" अर्थात् सत्व भाव का अभिनय। सात्विक भावो – स्तम्भ, स्वेद, रोमाच आदि आठ है – की उत्पत्ति एकाग्र मन होने से होती है। नाट्य प्रसग मे यही सत्व है कि नट (पात्र) दुःखी हो या सुखी हो उसे अश्रु अथवा रोमांच आदि का प्रदर्शन करना ही होता है। यही सत्वाभिनय है।

मानव का भाव-लोक अनन्त है और यह समस्त विश्व ही भावमय है। मनोविकारों का होना मन का स्वाभाविक धर्म है। इन्हीं मनोविकारों को काव्य में भाव कहा गया है, जिनकी संख्या चार है – (१) स्थायी, (२) विभाव, (३) अनुभाव और (४) संचारी। इनके अवान्तर भेद से ४९ भाव वर्णित है – इनमें ८ स्थायी, ३३ संचारी और ८ सात्त्विक भाव है। मनोविकारों के कारण को काव्य मे विभाव, कार्य को अनुभाव और सहकारी कारणों को संचारी भाव कहते है। रति, शोक, क्रोध, करुणा आदि मानसिक उद्वेग सूक्ष्मरूप से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में सदैव विद्यमान रहते है, इन्ही मानसिक उद्वेग पूर्ण भावो को स्थायी भाव तथा संचारी भाव कहा गया है। स्वरूप मे स्थायी और संचारी दोनो एक से होते है, किन्तु उनमे सबसे महत्वपूर्ण अंतर यह है कि स्थायी भाव चिर-काल तक मानव हृदय मे स्थिर रहता है, परन्तु संचारी भाव एक के पश्चात् दूसरे बारम्बार उत्पन्न और नष्ट होते हुए स्थायी भाव को सहायता पहुंचाते रहते है। चिर काल तक स्थिर रहने के कारण और विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावो को उस पर प्रभाव न होने से स्थायी भाव कहलाता है, किन्तु अनुकूल एव प्रतिकूल भावो से बढने–घटने और उदय एव अस्त होते रहने से तथा रस मे संचार करने से ये 'संचारी" अथवा "व्यभिचारी भाव" कहलाते हैं। मानसिक भावो को विभावन अर्थात् आस्वादन के योग्य बनाने वाले "विभाव" कहलाते है, ये स्थायी भाव के कारण कहे जाते है और स्थायी भाव का अनुभव कराने वाले "अनुभाव" कहलाते है। इनको स्थायी भाव का कार्य कहा गया है और बारम्बार उदय–अस्त होकर स्थायी भाव को सहायता देने के कारण संचारी भावो को स्थायी भाव का सहकारी कारण कहा गया है।

प्रश्न उठता है कि क्या रसों से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रसो की। इस सम्बन्ध मे कुछ लोगो के मत मे एक दूसरे के संबंध मे इनकी उत्पत्ति होती है – **"न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित.। परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये। भवेत"** ।। ६।३६ ।।

> **"एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्** ।। ६।३७ ।।
> **यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फल यथा।**
> **तथा मूलं रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः** ।। ६।३८।।—नाट्यशास्त्र।

भावो के बिना रस नही रहता और न रस के बिना भाव होता है। अभिनय के द्वारा एक दूसरे के आश्रय से इनकी सिद्धि होती है। भाव और रस परस्पर एक दूसरे को भावित करते है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष मे पुष्प तथा फल होते है, इसी प्रकार समस्त रस मौलिक है और उनके द्वारा ही भावो की व्यवस्था होती है। इसका समर्थन आनन्दवर्धनाचार्य के इस कथन से होता है – "यदि कवि शृंगारी है, तो समस्त संसार रसमय हो जायेगा और यदि वह वीतरागी है तो समस्त काव्य ही नीरस हो जायेगा।" किन्तु भरत मुनि कहते है कि यह ऐसा नही है, क्योकि स्पष्ट रूप से भावों से रस की उत्पत्ति देखी जाती है, रसो से भावो की उत्पत्ति नही।[1] किन्तु रस-विशेष वाले दृश्य अथवा संवाद के कारण भाव बदल जाते है।

भाव कहने के साथ ही "भावुक" शब्द का भी स्मरण हो आता है। भावुक किसे कहते है, और भावुक का कार्य क्या है ? — जिसके हृदय मे भाव उत्पन्न होता है, वह भावुक है, वह उस भाव की भावना करता है, इससे उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है और तब उसके क्रिया-कलापो मे, कृति मे वह प्रगट होता है। जैसे भवभूति विरचित उत्तररामचरित मे चित्रवीथी को देखते समय सीता के हृदय मे प्रेम, भय आदि तरह-तरह के भाव उठने लगते है

१— दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो* भावनामभिनिर्वृत्तिरिति। —ना० शा०, अ० ६।
पाठभेद – * न रसेभ्यो भावनामिति।

भावुक की मैत्री अथवा रागात्मक संबंध उस सहृदय (भावुक) के भाव के साथ होता है। भावुक और भावनाग्रस्त मे भी बहुत अन्तर है। वणिक आदि जो बड़े-बड़े व्यापार करते है और भोजनादि मे ही तृप्त रहते हैं उन्हें "भावनाग्रस्त" कहते है। इसके विपरीत भोजनादि की चिन्ता मे रहित, सब कुछ छोड़कर जो मधुर और सरस पदावलियों की रचना करता है, चित्रांकन करता है, जिसके श्रवण-दर्शन से रसिक-अरसिक सभी का हृदय तन्मायित हो उठता है, उसे भावुक कहते है। कभी हृदय में कुछ भाव उठा और हम छन्द गुनगुनाने लगे, नेत्रों मे रंग आ गया, उन सबका कारण अनुसंधान करने पर भाव तथा भावुक हृदय के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता।

'भाव' का कला और साहित्य की दृष्टि से भी विवेचन किया गया है। — चित्र काव्य, संगीत आदि रचनायें मनुष्यों के भावो को प्रगट करती है, उसमें से कुछ तो सहेतुक होती है और कुछ अहेतुक। शिल्प-रचना मे रस और भाव की दोनो दशाये होती है और जब भावोदय होता है तभी कविता एवं चित्र लिखा जाता है। भावावेग या भाव-प्रवणता में कलम और तूलिका चलती है, नृत्य मे हाथ-पैर थिरकने लगते है, कंठ मे स्वर प्रस्फुटित हो उठते है — ये सब सहेतुक या सार्थक हैं और पागल का प्रलाप अहेतुक या निरर्थक है। इसी प्रकार नाट्य मे रस-सृष्टि के लिए सकारण भाव होती है। एक बूंद अश्रु मे अगाध भाव रहता है, यह भी सहेतुक है।

'भाव-चित्र'' मे चित्रकार (भावुक) और चित्र के विषय (भाव) की कल्पना के द्वारा दोनो मे रागात्मक संबंध हो जाता है। इसी को "एकतानता" भी कहते हैं। इस रागात्मक संबंध से चित्र मे जो एक विशेष स्थिति उत्पन्न होती है, वही भाव है। अर्थात् चित्रकार, चित्रित किये जाने वाले विषय की सम्यक् अनुभूति और उसके प्रति सम्यक् सहानुभूति के कारण, उसकी ऐसी आकृति अंकित करने मे समर्थ होता है जिसमे बाह्य सादृश्य ही नही वरन् अन्तस्तल का, मर्म का, स्थूल शरीर का ही नही प्रत्युत सूक्ष्म शरीर का भी आलेखन होता है। भारतीय चित्रकारों का सिद्धान्त है कि — चित्र मे भाव रहे, चेष्टा न रहे। चेष्टा से यहा चेष्टित या बनावट का तात्पर्य है।

सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ रायकृष्णदास ने "भारत की चित्रकला'' मे मुगल चित्रकार उस्ताद रामप्रसाद द्वारा दिये गये एक रोचक उदाहरण से चित्र मे भाव और चेष्टा के अंतर का इस प्रकार उल्लेख किया है -- उस्ताद रामप्रसाद कहते है कि — "मान लीजिए राम निषाद-मिलन का एक चित्र है। यदि देखने वाले पर उसका यह प्रभाव पड़ता है कि गुह सच्ची भक्ति-भावना और दीनता से भगवान् का स्वागत कर रहा है कि आज मुझे भव-सागर से पार कर देने वाला आ गया, तो समझना चाहिये कि चित्रकार भाव के अंकन मे समर्थ हुआ है। किन्तु यदि चित्र देखने से ऐसा लगता है कि निषाद गिड़गिड़ा कर आव-भगत तो कर रहा है लेकिन मौका पाते ही वह रामचन्द्र को मूस-मास कर किस्सा खतम कर देगा, तो यह चित्र में भाव नही चेष्टा हुई।'' तात्पर्य यह है कि पहले मे उसकी मनोवृत्ति का भी अंकन रहता है और दूसरे में केवल उसके अभिनय का। अन्य शब्दो में, पहले में चित्रकार की अनुभूति निषाद राज गुह की मनोवृत्ति का साक्षात्कार करके उसे व्यक्त करने मे समर्थ होती है, किन्तु दूसरे मे उसकी पहुंच केवल निषाद के अभिनय या बहिरंग तक रह जाती है।

चित्रकार अपनी ऐसी भावमयी कृति द्वारा सहृदय दर्शक के मन मे जो भावोदय करता है, वही साहित्य-शास्त्र का रस है। चित्र मे अन्तर्निहित भावो को प्रकट करना अति कठिन तथा चित्रकारो के लिए बड़ी गूढ समस्या है। इसे सभी चित्रकार स्वानुभूत अनुभव के बिना बनाने में असमर्थ होते है। सहृदय, भावुक चित्रकार ही भावपूर्ण चित्र बनाने मे समर्थ होते है। दसवी शताब्दी मे काश्मीर के धुरन्धर आचार्य अभिनवगुप्त कहते है ---"**अधिकारी चात्र विमलप्रतिभाशालिहृदयः**'' — विमल प्रतिभा जिनके हृदय में है, वे ही रसास्वादन के अधिकारी है वही भावुक है और यह गुण पुण्यवान् व्यक्तियो को ही मिलता है। उनकी तुलना योगियो से की गई है। अभिनवगुप्त विस्तार स

इस भावुकता, रसज्ञता का वर्णन करते हैं **"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी-भवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः —** " यह रसज्ञता, तन्मय होना, अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त होता है। स्मरण रखना चाहिये कि यह रसज्ञता किसी भाव में तन्मय होने की – लीन होने की – शक्ति है। इस तन्मय – शक्ति का यदि अभाव हो तो रस की प्रतीति असम्भव है, जैसे बधिर संगीत के आस्वादन में अशक्य है। भावुकता और रसास्वादन सहृदय व्यक्ति का विशेष गुण अथवा ईश्वरदत्त एक विशेष प्रतिभा है, और यही अद्वितीय प्रतिभा अजन्ता के चित्रकारों में सर्वाधिक परिलक्षित होती है।

अजन्ता के चित्रकारों के रोम-रोम में भावुकता का अथाह सागर हिलोरें ले रहा है जैसे — अजन्ता की पहली गुफा में बने प्रसिद्ध चित्र अवलोकितेश्वर – पद्मपाणि बोधिसत्व (चित्र – १८) के अंकन में चित्रकार ने असीम विश्व-करुणा के भाव को बड़े सामर्थ्य और सफलता से उनके मुख-मंडल पर अभिव्यक्त किया है, जो बोधिसत्व का स्वभाव मानी जाती है। उसमें भाव के साथ साथ वास्तविकता भी है। उनके भावमग्न नेत्र, जैसे स्वर्ग से देखने के कारण नीचे की ओर झुके हैं मानो सारे संसार की व्यथा को देख, उसे दूर करने के लिए चिंतित हैं। एक अन्य दृश्य में अर्धांगिनी यशोधरा बुद्ध के सम्मुख पुत्र राहुल को समर्पण करते हुए अंकित है, भावुकता से ओत-प्रोत यह चित्र बोधिसत्व के सर्वश्रेष्ठ अंकनों में से एक है। चापेय जातक में मार-विजय, बुद्ध गुफा में वृद्ध कञ्चुक के आर्त नेत्र ही उसकी करुण कथा कह रहे हैं। दाहिने हाथ की मुद्रा ही सब कुछ नष्ट होने की सूचना दे रही है।

अजन्ता के चित्रों में प्रेम, लज्जा, हर्ष, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, घृणा, भय, आश्चर्य, चिन्ता, विरक्ति, निस्संगता, ग्लानि आदि भावों को बड़ी कुशलता से दिखलाया गया है जिनका वर्णन करना प्रायः असंभव है। अजन्ता, गुफा १, के "मार-विजय" चित्र में नव-रसों का चित्रण एक साथ देखा जा सकता (चित्र – १९)

काव्य में हृदय-न्यस्त भावों को प्रकट करना कुछ सरल है। कवि ऐसी बहुत-सी बातों को अपनी कविता में छोड़ देता है जिनको पाठक स्वयं समझ लेते हैं। परन्तु चित्रकार के लिए इसमें महान् संकट उपस्थित हो जाता है कि कौन-सी वस्तु ले और कौन-सी छोड़ दे, क्योंकि चित्र में एक दृश्य में सारे दृश्य स्थिर हो जाते हैं। अतः काव्य और चित्र दोनों स्वतन्त्र हैं। कवि कहते हैं — **"संचारिणी पल्लविनी लतेव"** (कुमार०, ५।३५) अर्थात् पल्लविनी लता के समान संचरण करने वाली रूपसी (नारी)। इसमें लता को प्रत्यक्ष देखकर रूपसी का भाव अथवा रूपसी को देखकर सुन्दर लता का भाव कवि के मन में उठता है। कवि, रूपसी के समान लता कहकर उपमा द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त करता है, किन्तु चित्रकार लता के रूप में नारी का चित्रण करके अपने भावों को अभिव्यक्त नहीं कर सकता, वह कोमलांगी रमणी को सुन्दर भंगिमा में खड़ी अंकित करके, उसके बगल में वसंत के नवीन पुष्पों से युक्त लता को चित्रित करके अपने भावों को अभिव्यक्त करता है।

हृदय के प्रच्छन्न विचाराकर्षण को भाव कहते हैं। भिन्न-भिन्न भावों की शक्ति से शरीर में भिन्न-भिन्न विकारों का प्रादुर्भाव होता है। अतएव मानव चित्तवृत्ति रस का सहगमन करता है और उसी के अनुकूल भाव नियमित रहता है। जो भाव नेत्र, भृकुटि, हाथ-पैर आदि शरीर के अवयवों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं, उनको कायिक (काया-शरीर द्वारा होने वाले) भाव कहते हैं। विचारशक्ति के अनुसार चित्र में भावों का प्रदर्शन होता है। भाव ही हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंगों को परिवर्तनशील बनाता है।

अलंकार शास्त्र में – (१) भाव, (२) हाव और (३) हेला - ये तीनों अनुभाव के अन्तर्गत अलंकार हैं, ये सात्विक और अंगजा हैं। इनमें से "भाव" तथा "हाव" का चित्रकला से घनिष्ठ संबंध है। उज्जवलनीलमणि (पृ० २४५) में हाव के संबंध में कहा गया है :

भावुक की मैत्री अथवा रागात्मक संबंध उस सहृदय (भावक) के [illegible] । भावुक और भावनाग्रस्त मे भी बहुत अतर है । वणिक आदि जो बडे-बडे व्यापार करते है और [illegible] उन्हे "भावनाग्रस्त" कहते है । इसके विपरीत भोजनादि की चिन्ता मे रहित, सब कुछ [illegible] जो मधुर और [illegible] पदावलियों की रचना करता है, चित्राकन करता है, जिसके श्रवण-दर्शन से [illegible] हो उठता है, उसे भावुक कहते है । कभी हृदय मे कुछ भाव उठा और हम [illegible] गुनगुनाने [illegible], [illegible] सबका कारण अनुसधान करने पर भाव तथा भावुक हृदय के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता ।

'भाव' का कला और साहित्य की दृष्टि से भी विवेचन किया गया है । — [illegible] सगीत आदि रचनाये मनुष्यों के भावो को प्रगट करती है, उसमे से कुछ तो सहेतुक होती है और कुछ अहेतुक । [illegible] रचना मे रस और भाव की दोनो दशाये होती है और जब भावोदय होता है तभी कविता या चित्र [illegible] है । भावावेश या भावप्रवणता मे कलम और तूलिका चलती है, हृदय मे [illegible] आते है, [illegible] उठते है — ये सब सहेतुक या सार्थक है और पागल का प्रलाप अहेतुक या निरर्थक है । [illegible] रस-सृष्टि के लिए सकारण भाव होती है । एक बूद अश्रु मे अगाध भाव रहता है, वह भी सकारण है ।

"भाव-चित्र" मे चित्रकार (भावुक) और चित्र के विषय (भाव) [illegible] दोनो मे रागात्मक सबध हो जाता है । उसी को "[illegible]" [illegible] । [illegible] चित्र मे जो एक विशेष स्थिति उत्पन्न होती है, वही भाव है । अर्थात् चित्रकार, [illegible] विषय की सम्यक् अनुभूति और उसके प्रति सम्यक् सहानुभूति के कारण, उसकी ऐसी आकृति अकित करने मे समर्थ होता है जिसमें [illegible] सादृश्य ही नही वरन् अन्तस्तल का, मर्म का, स्थूल शरीर का ही नहीं [illegible] सूक्ष्म शरीर का भी [illegible] है । भारतीय चित्रकारों का सिद्धान्त है कि — चित्र मे भाव रहे [illegible] । [illegible] का साधन है ।

सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ रायकृष्णदास ने "भारत की चित्रकला" मे मुगल चित्रकार उस्ताद रामप्रसाद द्वारा दिये गये एक रोचक उदाहरण से चित्र मे भाव और [illegible] के अंतर का इस प्रकार उल्लेख किया है — उस्ताद रामप्रसाद कहते है कि — "मान लीजिए राम निषाद-मिलन का एक चित्र है । [illegible] देखने वाले पर उसका यह प्रभाव पड़ता है कि गुह सच्ची भक्ति-भावना और दीनता से भगवान का स्वागत कर रहा है कि आप मुझे भव-सागर से पार कर देने वाला आ गया, तो समझना चाहिए कि चित्रकार भाव के अकन मे समर्थ हुआ है । किन्तु यदि चित्र देखने से ऐसा लगता है कि निषाद गिड़गिड़ा कर [illegible] कर रहा है [illegible] मौका पाते ही वह रामचन्द्र को मूस मास कर किस्सा खतम कर देगा, तो वह चित्र मे भाव नहीं [illegible] ।" [illegible] पहले मे उसकी मनोवृत्ति का भी अकन रहता है और दूसरे मे केवल उसके अभिनय का । [illegible] पहले मे चित्रकार की अनुभूति निषाद राज गुह की मनोवृत्ति का साक्षात्कार करके उसे व्यक्त करने मे समर्थ होती है, किन्तु दूसरे मे उसकी पहुच केवल निषाद के अभिनय या बहिरंग तक रह जाती है ।

चित्रकार अपनी ऐसी भावमयी कृति द्वारा सहृदय दर्शक के मन मे जो [illegible] करता है, वही साहित्य शास्त्र का रस है । चित्र मे अन्तर्निहित भावों को प्रकट करना अति कठिन तथा चित्रकारों के लिए बड़ी गूढ़ समस्या है । इसे सभी चित्रकार स्वानुभूत अनुभव के बिना बनाने मे असमर्थ होते है । सहृदय, भावुक चित्रकार ही भावपूर्ण चित्र बनाने मे समर्थ होते है । दसवीं शताब्दी मे काश्मीर के [illegible] आचार्य अभिनवगुप्त कहते है - "**अधिकारी चात्र विमलप्रतिभाशालिहृदय."** — विमल प्रतिभा जिनके हृदय मे है, वे ही रसास्वादन के अधिकारी है वही भावुक है और यह गुण पुण्यवान् व्यक्तियों को ही मिलता है । उनकी तुलना योगियों से की गई है । अभिनवगुप्त विस्तार से

इस भावुकता, रसज्ञता का वर्णन करते हैं **"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः —"** यह रसज्ञता, तन्मय होना, अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त होता है। स्मरण रखना चाहिये कि यह रसज्ञता किसी भाव में तन्मय होने की – लीन होने की – शक्ति है। इस तन्मय – शक्ति का यदि अभाव हो तो रस की प्रतीति असम्भव है, जैसे बधिर संगीत के आस्वादन में अशक्य है। भावुकता और रसास्वादन सहृदय व्यक्ति का विशेष गुण अथवा ईश्वरदत्त एक विशेष प्रतिभा है, और यही अद्वितीय प्रतिभा अजन्ता के चित्रकारों में सर्वांगतः परिलक्षित होती है।

अजन्ता के चित्रकारों के रोम-रोम में भावुकता का अथाह सागर हिलोरें ले रहा है जैसे — अजन्ता की पहली गुफा में बने प्रसिद्ध चित्र अवलोकितेश्वर – पद्मपाणि बोधिसत्व (चित्र – १८) के अंकन में चित्रकार ने असीम विश्व-करुणा के भाव को बड़े सामर्थ्य और सफलता से उनके मुख-मंडल पर अभिव्यक्त किया है, जो बोधिसत्व का स्वभाव मानी जाती है। उसमें भाव के साथ-साथ वास्तविकता भी है। उनके भावमग्न नेत्र, जैसे स्वर्ग से देखने के कारण नीचे की ओर झुके हैं मानो सारे संसार की व्यथा को देख, उसे दूर करने के लिए चिंतित हैं। एक अन्य दृश्य में अर्धांगिनी यशोधरा बुद्ध के सम्मुख पुत्र राहुल को समर्पण करते हुए अंकित है, भावुकता से ओत-प्रोत यह चित्र बोधिसत्व के सर्वश्रेष्ठ अंकनों में से एक है। चार्येय जातक में मार-विजय, वृद्ध गुफा में वृद्ध कञ्चुक के आर्त नेत्र ही उसकी करुण कथा कह रहे हैं। दाहिने हाथ की मुद्रा ही सब कुछ नष्ट होने की सूचना दे रही है।

अजन्ता के चित्रों में प्रेम, लज्जा, हर्ष, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, घृणा, भय, आश्चर्य, चिन्ता, विरक्ति, निस्संगता, शान्ति आदि भावों को बड़ी कुशलता से दिखलाया गया है जिनका वर्णन करना प्रायः असंभव है। अजन्ता, गुफा १, के "मार-विजय" चित्र में नव-रसों का चित्रण एक साथ देखा जा सकता (चित्र – १९)

काव्य में हृदय-न्यस्त भावों को प्रकट करना कुछ सरल है। कवि ऐसी बहुत-सी बातों को अपनी कविता में छोड़ देता है जिनको पाठक स्वयं समझ लेते हैं। परन्तु चित्रकार के लिए इसमें महान् संकट उपस्थित हो जाता है कि कौन-सी वस्तु ले और कौन-सी छोड़ दे, क्योंकि चित्र में एक दृश्य में सारे दृश्य स्थिर हो जाते हैं। अतः काव्य और चित्र दोनों स्वतन्त्र हैं। कवि कहते हैं — **"संचारिणी पल्लविनी लतेव"** (कुमार०, ५।३५) अर्थात् पल्लविनी लता के समान संचरण करने वाली रूपसी (नारी)। इसमें लता को प्रत्यक्ष देखकर रूपसी का भाव अथवा रूपसी को देखकर सुन्दर लता का भाव कवि के मन में उठता है। कवि, रूपसी के समान लता कहकर उपमा द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त करता है किन्तु चित्रकार लता के रूप में नारी का चित्रण करके अपने भावों को अभिव्यक्त नहीं कर सकता, वह कोमलांगी रमणी को सुन्दर भंगिमा में खड़ी अंकित करके, उसके बगल में वसंत के नवीन पुष्पों से युक्त लता को चित्रित करके अपने भावों को अभिव्यक्त करता है।

हृदय के प्रच्छन्न विचाराकर्षण को भाव कहते हैं। भिन्न-भिन्न भावों की शक्ति से शरीर में भिन्न-भिन्न विकारों का प्रादुर्भाव होता है। अतएव मानव चित्तवृत्ति रस का सहगमन करता है और उसी के अनुकूल भाव नियमित रहता है। जो भाव नेत्र, भृकुटि, हाथ-पैर आदि शरीर के अवयवों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं, उनको कायिक (काया-शरीर द्वारा होने वाले) भाव कहते हैं। विचारशक्ति के अनुसार चित्र में भावों का प्रदर्शन होता है। भाव ही हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंगों को परिवर्तनशील बनाता है।

अलंकार शास्त्र में – (१) भाव, (२) हाव और (३) हेला – ये तीनों अनुभाव के अन्तर्गत अलंकार हैं, ये सात्विक और अंगजा हैं। इनमें से "भाव" तथा "हाव" का चित्रकला से घनिष्ठ संबंध है। उज्ज्वलनीलमणि (पृ॰ २४५) में हाव के संबंध में कहा गया है :

ग्रीवारेचकसयुक्तो भ्रूनेत्रादिविकाशकृत ।
भावादीषत्प्रकाशो य. हाव इति कथ्यते ॥

जहाँ ग्रीवा तिर्यक् करके, भ्रू, नेत्रादि के विकसित होने से अथवा आकृति की विभिन्न भंगिमाओं में भाव का किञ्चित प्रकाश होता है उसे "हाव" कहा जाता है। उसको हम नेत्रों से देख सकते हैं। भारत कला भवन में पहाड़ी शैली का 'प्रेम-परिरंभ" शीर्षक एक रोचक चित्र (चित्र–२०) है। उसमे शरीर पर फूलपत्ती का अलंकरण न करके राधा ने 'हेला' भाव में चदन से कंचुकी बनायी है और केसर से उसकी डोर चित्रित की है। उस चित्र के सिरे पर गुरुमुखी में एक कविता लिखी है ...

"भूषन भेद सवारि सबैअंग औरहि भाति किये कछु बाना ।
चंदन की कंचुकी कुच ऊपर केसर बंद तेऊ रंग नाना ॥
श्रीघनश्यामसुजान पिया रस के चसके कछु भेद न जाना ।
व्है तिरछी बिहंसी ललना, तब कंचुकी खोलत लाल लजाना ॥"

हाव-भाव से अन्तस्तल की वस्तु (भाव) अभिव्यक्त हो जाती है। वसन्त के नवीन पुष्प, हरे पत्तों में वर्ण के उत्कर्ष में, उनकी सजीव अथवा सो जाने की भंगिमा में, आंधी से वृक्षों के झुक जाने, समुद्र की उर्मियों की उद्दण्ड गति में, कपोलो या सिर पर हाथ रखकर बैठने में, आँखो पर आंचल डालकर रोने में, अस्त-व्यस्त वेष में, पलकों के झुकने में, अधर के किंचित कंपन मे, भौंहो के सामान्य कुंचन आदि की भंगिमा में भाव निहित है।

नेत्रों से भावों का दर्शन होता है और भंगिमाओ से — यथा त्रिभंग, समभंग, अतिभंग, अभंग आदि — शास्त्रसम्मत तथा शास्त्र के बाहर की अनगिनत भंगिमाओ से उसका दिग्दर्शन होता है। किन्तु भाव की व्यञ्जना या गूढ़ भाव को हम केवल मन से अनुभव कर सकते है। जैसे —

कोयल का कंठ किस चीज को बता रहा है, जाड़े के कुहरे ने किसे ढक रखा है, मेरे अन्दर किसकी वेदना बाहर के वसन्त के सारे आनन्द को वर्ण-वर्ण में दु:ख की कालिमा आलिम्पन कर रही है, किसका आनन्द अन्धकार मे आलोक प्रदान कर रहा है — इसे देखना नेत्रों के वश की बात नही हैं, यह मन के आयत्ताधीन है। अतएव केवल नेत्रो से भाव के कार्य हाव की जो भंगिमा दिखाई पड रही है, केवल उसी को चित्रित करने से काम नही चलता; क्योकि इस रूप मे भाव की व्यञ्जना का पक्ष सर्वथा छूट जाता है। इंगित के अभाव में व्यंग्य अथवा गूढ़ता के अभाव मे केवल रेखा, वर्ण आदि की भंगिमा के पक्ष को दिखाने से चित्र असम्पूर्ण रह जाता है।

काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में मम्मट ने कहा है —

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यंत्ववरम् स्मृतम् ।
इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये ॥

व्यंग्य के अभाव से शब्दचित्र, वाच्यचित्र और लिखित चित्र भी अनुत्तम हो जाते हैं। व्यंग्य के रहने पर ही चित्र उत्तम होता है, किन्तु चित्रित के अंदर व्यंग्य देना भी कठिन है।

चित्र-काव्य (मम्मट का अवर-चित्र अर्थात् जो श्रेष्ठ चित्र नहीं है।) में व्यंग्य नही होता। अभिधा से लक्षणा और लक्षणा से व्यंजना अधिक श्रेष्ठ है। व्यंजना को ही आज कल संकेत (Suggestion) कह सकते है।

काव्य में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है और चित्र में अभिधा, लक्षणा। किन्तु व्यंजना-युक्त चित्र अधिक उत्तम होता है। इसलिए सहृदय होने पर ही दर्शक उसके गूढ़ भाव को समझ सकते हैं।

व्यंग्य और भाव दोनों के अभिप्राय में थोड़ी भिन्नता है। भाव की प्रच्छन्नता अथवा व्यंग्य को चित्र में कैसे दिखाया जाय इसे समझना होगा। – झोपड़ी को आधा चित्रित करके तथा शेष भाग को वृक्ष की ओट में छिपाकर, चित्रित अंश में उसके भीतर का दृश्य दिखाकर एवं प्रच्छन्न भाग के क्रिया-कलापों का आभास देकर ही व्यक्त कर देते हैं। इसी प्रकार जगत् को दिखलाने के लिए कमल-पत्र पर एक जल-बिन्दु दिखलाते हैं। इस अंकन को ही पृथ्वी का प्रतीक भी कहा जाने लगा है। अतः एक वस्तु को चारों ओर से भाव-भंगिमा देकर भाव को सीधे ढंग से चित्रित करते हैं और अंकन का दूसरा प्रकार प्रतीक का होता है। इन सब व्यंग्यों और प्रतीकों को कुशल कलाकार ही दिखा सकता है, अन्यथा उसे पग-पग पर धोखा खाना पड़ेगा और उसकी रचना में निम्नलिखित दोष दृष्टिगोचर होंगे — (१) अप्रयुक्तता (यथोचित प्रयोग का अभाव), (२) निहितार्थता (जिसका अर्थ ही समाप्त हो गया हो , (३) प्रतिकूल-वर्णता (ऐसा वर्णन जो सम्बन्धित विषय से विरुद्ध हो), (४) प्रसिद्धित्याग (प्रधानता या मुख्यता से विहीन), (५) दूरान्वय (दूर + अन्वय, अन्वय की प्रतिकूलता) (६) प्रकाशितविरुद्धता (दिखलाये हुए भाव में विरुद्धता), इत्यादि।

पुष्प में जैसे सौरभ होता है उसी प्रकार चित्र में व्यंजना होती है। रूप, प्रमाण, भावभंगिमा आदि सब कुछ होने पर भी व्यंजना के अभाव में चित्र सुगन्धिहीन पुष्प-माला के समान अश्रेष्ठ होगा। केवल भाव-भंगिमा को लेकर ही तूलिका रख देने से दर्शक का मन चित्र पर नहीं ठहरता। चित्र की भाव-भंगिमा से हमारे मन में थोड़ी देर के लिए आनन्द की लहर अवश्य उठती है, किन्तु उससे मन में नये-नये भावरसों को पाकर मन मुग्ध होकर तरंगायित नहीं होता। वरन् कभी-कभी वह मन को अरुचिकर लगता है। व्यंग्य इस अरुचि से चित्र और भाव दोनों को बचाता है, उसे नयी-नयी दिशाओं से हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। भाव का काम है रूप को भंगिमा देना और रूप की ओट में मानो भाव के इशारे को अवगुंठित रूप में प्रकट करना ही व्यंग्य का काम है।

प्राचीन भारतीय चित्रकार अपनी कला में भाव-प्रदर्शन का पूर्ण रूप से ध्यान रखते थे। हाथ की मुद्राओं, नेत्रों की चितवनों और पैर आदि अंगों के लोच तथा उठान से अधिकांश भाव व्यक्त करते हैं। शारीरिक परिवर्तन केवल बाह्य भाव है। जब तक बुद्धि द्वारा यह जानने की चेष्टा न की जाय कि इस परिवर्तन के अन्तरस्थ कौन-सा भाव निहित है, आलेखन सुन्दर हो ही नहीं सकता। अलंकार शास्त्र में कहा है कि वही आलेख्य सुन्दर कहा जा सकता है जिसके बाह्य परिवर्तनों से अन्तर्निहित भाव ज्ञात हो सकें।

संस्कृत काव्यों, नाटकों और अलंकार शास्त्रों में भाव से संबंधित अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसे – भाव, भावाभास, भावसंधि, भावसरलता, भावोपपन्नता, भावानुप्रवेश, भावगम्य चित्र, भाव-चिन्ह आदि। ये सभी थोड़ा परिवर्तन करके कलाकार के काम में आ जाते हैं। इन्हें काव्य या चित्र आदि में प्रकाशित करने में ही प्रभेद है। जो इसे सुचारु रूप से प्रस्तुत कर लेता है वही कुशल कलाकार है।

महाकवि भास विरचित दूतवाक्यम् में दुर्योधन द्रौपदी-चीर-हरण के चित्र को चित्रपट पर देखकर कहता है – **अहो भावोपपन्नता** – यह भाव के अनुभव की अत्यधिकता (richness of feeling) है। इसमें उसके सौंदर्य-भाव की अभिव्यंजना है। इसी प्रकार उनके प्रतिमानाटकम् (३।५) में भरत मूर्तियों को देखकर उसके भाव तथा गति की प्रशंसा करते हुए कहते हैं – **अहो भावगतिराकृतीनाम्।**

महाकवि कालिदास के समान भाव का चतुर-चितेरा कवि (कलाकार) अन्यत्र नहीं दृष्टिगोचर होता। कुमारसम्भव मे कामदेव के शर-सधान के कारण शकर जी के हृदय मे अधीरता का भावोदय होता है जिस प्रकार चन्द्रोदय होने पर समुद्र मे ज्वार (अधीरता, आकर्षण) आने लगता है। उसी फलस्वरूप वे बिम्बाधरोष्ठी पार्वती की ओर प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखने लगते है।

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ ३।६७ ॥

तभी पार्वती को भी सहसा रोमांच हो आता है और उनके पुलकित कदम्बकल्प मे स्फुरण होने लगता है। अत उनका मनोभाव छिप नही सका। वह आखे फेरकर तनिक तिरछी-सी होकर लज्जित खडी रह गई, इससे उनका मुख और भी सुन्दर हो गया ---

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गै स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ३।६८ ॥

इस प्रकार शिव-पार्वती के प्रेम-भाव का यह अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। प्रेम ही रचना का मूल है। यहा पर भाव का अर्थ प्रेम है। कालिदास मेघदूत मे विरही यक्ष द्वारा कहलाते है

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागै शिलायां ।
आत्मानं ते चरण पतितं यावदिच्छामि कर्तुम् । २।४७ ॥

विरही यक्ष प्रिया (प्रणयकुपित मानिनी नायिका) का चित्र धातुराग से अंकित कर रहा था और भावातिरेक के कारण उसके नेत्र अश्रु विगलित कर रहे थे। वह अपने मनोभावानुकूल तद्गत प्रिया को भी अपनी स्मृति मे भावगम्य चित्र लिखते हुए देखता है। यक्ष मेघ से कहता है कि सम्भवत तुम मेरी प्रिय पत्नी को मेरा भावगम्य चित्र बनाती हुई पाओगे। भावगम्य अर्थात् मानसिक प्रभाव (Mental impression) युक्त चित्र। -

"मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।—" (मेघ० २।२५)

यहा भाव का तात्पर्य यह हुआ कि वह अपने बिछुड़े हुए पति का स्मृति-चित्र ही नही बना रही थी वरन् उसमे अपनी अन्तर्व्यथा अपनी अन्तर्दृष्टि एवं कल्पना की उड़ान, यक्ष की वियोग-जनित मानसिक तथा शारीरिक दशा को भी अंकित कर रही थी "स्मृति-चित्र" या "भाव-चित्र" मे भावुक (चित्रकार) का भाव (चित्र के विषय) की कल्पना के साथ रागात्मक संबंध हो जाता है। इस एकतानता या रागात्मक सबध से चित्र मे जो बात उत्पन्न हो जाती है वही भाव है। उक्त भाव-चित्र मे प्रेम मे आसक्ति नही है वरन् सात्विक भाव है। उत्तम कृति के लिए कलाकार का नि सग या आसक्ति-रहित होना बहुत आवश्यक है। जैसे अजता के चित्रो मे नारी-सौंदर्य देखकर प्रेम-भाव तो उत्पन्न होता है, किन्तु उसमे आसक्ति या विकार नही, वरन् सात्विक भाव उत्पन्न होता है।

"स्मृति-चित्र" केवल कल्पना-प्रसूत होता है। इसका वर्णन अभिज्ञानशाकुन्तल में भी है। प्रेमी दुष्यन्त चित्र-रचना करने के समय थोडी देर के लिए समाधिस्थ अवश्य होता है, किन्तु शीघ्र ही वह प्रेमासक्ति के लोक मे आ जाता है। स्वनिर्मित शकुन्तला के चित्र को देखकर उसकी आखो मे आंसू आ जाते है। वह कहता है कि नींद न लगने के कारण मैं उससे स्वप्न मे भी नही मिल पाता और सदा बहते रहने वाले ये आंसू उसे चित्र मे भी नही देखने देते। —

प्रजागरात् खिलीभूतस्तयाः स्वप्ने समागमः ।
वाष्पस्तु न ददात्येना द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ ६।२२ ॥

विरह मे चित्र बनाना, उसके द्वारा नायक–नायिका का मन बहलाव करना कालिदास के युग मे काव्यगत अभिप्राय के रूप मे प्रचलित था । कालिदास ने उनने स्पष्ट रूप मे कला के विषय मे जो इगित या व्यंग्य दिये है उनसे सिद्ध होता है कि वे सफल चित्रकार भी थे । जो व्यक्ति स्वयं चित्राकन का कार्य नही करता वह ऐसे इगित भी नही कर सकता ।

अभिज्ञानशाकुन्तल मे तो भाव–चित्र की पराकाष्ठा देखते ही बनती है । राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था उसमे रगो के भरने मे उसके शरीर के उच्चावच अगो की जो शोभा निखर आई थी, उसे देखकर विदूषक ने कहा था कि – "वाह सखे ! तुमने यह चित्र बहुत ही सुन्दर बनाया है और प्रत्येक अग से मन के भाव प्रकट हो रहे हैं । मेरी आखें इस चित्र मे बने हुए ऊचे–नीचे स्थानो मे फिसल सी रही है ।" राजा ने भावगम्य चित्र बनाया था । उसका यह चित्र केवल ऊपरी स्तर के यथार्थ के अनुरूप ही नही था वरन् उसमे उसके अन्तस्तल के भाव भी प्रगट हो गये थे । चित्र के दर्शनीय स्थलो मे मानसिक भावों के प्रवेश को ही विदूषक ने भावानुप्रवेश[1] कहा है । इसी से वह केवल चित्र–मात्र ही नही रह गया था वरन् जीवन्त प्रतिमा बन गया था । प्रत्येक अग मे चित्रित की हुई की भावधारा उच्छ्वसित हो रही थी । निकट ही खडी सानुमती उस चित्र को देखकर कहती है – "**अहो एषा राजर्षेनिपुणता । जाने सख्यग्रता मे वर्तत इति ।**" दर्शक मे चित्रितव्य के भावो को लेख और रगो द्वारा फिर मे प्रवेश करा देना ही भावानुप्रवेश है । अन्य कलाओ मे भी इस प्रकार के भावानुप्रवेश से कला प्राणवन्त हो उठती है और उसकी यही विशेषता कलाकार की अमर देन होती है ।

मालविकाग्निमित्र में मालविका नृत्य मे अपने अगो से, जिनके भीतर वाणी प्रच्छन्न रूप से अर्थो को प्रगट कर रही थी, उसके चरण–विन्यास लय के साथ–साथ चल रहे थे और गीत के रस मे भी वह तन्मय हो गई थी । उसके नृत्य ने दर्शको को मुग्ध कर दिया था क्योंकि ताल के साथ होने वाले अभिनय मे नाना भाव से अंगो को चालित करके जो भाव प्रकट किये गये वे आकर्षक थे कि देखने वालो के मन किसी दूसरी ओर नही जा सके, नृत्य मे जिस भाव को प्रदर्शित करना है, उसी भाव मे नर्तक का लीन होना भावानुप्रवेश है । वही रागबन्ध उत्तम है । — **भावो भावंनुदति विषयाद् रागबन्धः स एव** । – (मालविका० २।८)

"भावगम्य चित्र" की पराकाष्ठा इस श्लोक मे अद्वितीय बन पडी है । दुष्यन्त भ्रमर को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर दण्ड देने का आदेश देते हैं -

---

१—विदूषक – "साधु वयस्य । मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेश । स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नत प्रदेशेषु ।" — इसके लिए कुमारस्वामी कहते है "The Vidūṣaka finds the line (Rekhā) full of tender sentiment (भाव–मधुरा), and the 'imitation of mood in the tender passages is noteworthy' (मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेश), alternatively it seems to be the very rendering of reality" (सत्त्वानु प्रवेश – शखगा) he exclaims "In short" (कि बहुना), "she seems to be speaking, I think" (आलपनकौतूहल से जनयति), he pretends that this eye actually stumbles (स्खलति) over the hills and valleys (निम्नोन्नतप्रदेशेषु)"
— JAOS, Volume 52, 1932, A.K. Coomaraswamy, 'Reactions to Art In India," p. 215.

राजा – एवं न मे शासने तिष्ठसि । श्रूयतां नर्हि सम्प्रति ।
अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियाया–
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥६।२०॥ अभि० शा० ॥

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की लालित्य योजना' (पृ० ९४–९६) में वर्णन किया है, कि प्रेमी चित्रकार की दो अवस्थाओं को कालिदास ने बताया है। प्रथम अवस्था में वह अपने स्व को भूल जाता है और प्रेमिका के भावों मे अनुप्रवेश करता है। दूसरी अवस्था मे वह चित्र को वास्तविक, सत्य समझता है और उसे देखकर उसके चित्त मे वैसे ही सात्विक अनुभाव उत्पन्न होते हैं जैसे कि वास्तविक प्रेमिका को देखने से होते। इन दोनों अवस्थाओं के लिए कालिदास ने दो पारिभाषिक जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। प्रथम अवस्था का नाम "भावानुप्रवेश" है और दूसरी का "**यथालिखितानुभाविता**"।

कलाकार को वक्तव्य विषय के साथ तन्मय होना पड़ता है। जब तक वह तन्मय नही होता, तब तक उत्तम कला का सृजन नही कर सकता। कालिदास ने चित्रकला, नृत्यकला एवं नाट्यकला के प्रसंगों में इसी बात को स्पष्ट किया है और यही सभी कलाओं का मर्म है। चित्र की सफलता की कसौटी कलाकार की ओर से तो भावानुप्रवेश है किन्तु वही सहृदय की ओर से यथालिखितानुभाव है, अर्थात् जैसा लिखा उसे सत्य समझकर अनुभव करने के कारण चित्रगत विकार और उससे उत्पन्न स्वेद, रोमाञ्चादि होना।

दुष्यन्त ने शकुन्तला और उसकी दोनो सखियों का जो चित्र बनाया था उसमें उसके भाव-चिह्न भी दिखलाई दे रहे थे, उसने विदूषक से उसमे शकुन्तला को पहचानने को कहा। उसने पहचान कर कहा कि चित्र मे वृक्षो मे जल-सिंचन करती हुई, श्रमसीकर युक्त, श्रांत, आम्रवृक्ष का सहारा लेकर खड़ी शकुन्तला अंकित है। राजा ने विदूषक की प्रशंसा करते हुए कहा कि मित्र, तुम बड़े चतुर हो, तुमने ठीक ही पहचाना है। इस चित्र में मेरे भाव-चिह्न भी है—**अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्**।'

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्[1] ॥६।१५॥

चित्र के रेखाप्रान्त भाग मे यह जो मलिन धब्बा दिखलाई दे रहा है यह मेरी स्वेद से पसीजी हुई अंगुलियों के स्पर्श से ऐसा हो गया है। फिर मेरे नेत्रों से जो अश्रु विगलित हुए थे वे शकुन्तला के कपोलों पर गिर गये हैं जिससे तूलिका से भरे हुए रंग कुछ फैल गये हैं। ये ही राजा दुष्यन्त के भाव-चिह्न है। चित्र को देखकर यह सब प्रतिक्रिया होती है। ये सब अश्रु, स्वेद आदि का निकलना विभाव है। यहाँ पर भाव विभाव के लिए आया है।

संस्कृत साहित्य के समान भारतीय चित्रों में कोई भी चित्र भाव–हीन नहीं होना चाहिये। सभी चित्रों मे कोई न कोई भाव अवश्य दृष्टिगोचर होना चाहिये। इस प्रकार हम भाव रूपी सागर का जितना ही मथन करते है, उसमे से उतने ही रत्नों का प्रादुर्भाव होता है और मन रसामृत का पान करता है।

१—वर्णकोच्छ्वासात्।

४—लावण्ययोजना :—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं[1] तदिहोच्यते[2] ॥ २६ ॥ — उज्जवलनीलमणि

लावण्य के सबध मे उज्जवलनीलमणिकार ने कहा है कि मुक्ताकलाप के अन्दर से जो छटा निकलती है और स्वच्छतायुक्त अगों से जो चमक या कान्ति प्रतीयमान होती है, उसी को "लावण्य" कहते हैं। जैसे – सद्यः स्नाता के चेहरे और शरीर मे जो (टटकापन, ताजगी, Freshness) कान्ति और छटा प्रगट होती है, वही लावण्य है। उसमें स्वतः उद्भूत प्रफुल्लता होती है। भारत कला भवन में पहाडी शैली का एक चित्र "सद्य.स्नाता" है, उसमे इसी लावण्यता को कलाकार ने दिखलाया है (चित्र–२१)। लावण्य को यहां तरल कहा है। जिस प्रकार मोती का आब स्थिर नही होता, उसे जिस ओर भी घुमाते है उसी ओर नया आब आता है, और स्थूल न होने के कारण आब (काति, जल) को पकड़ा भी नहीं जा सकता, किन्तु मन मे लावण्य (कांति) का सचार होता है। यह तरल है अत इसे पकडा नहीं जा सकता।

अति स्वच्छता के भी आधिक्य मे और प्रतिक्षण उठती हुई कान्ति के समान ही लावण्य दिखाई देता है। रूपगोस्वामी लावण्य का उदाहरण देते है .

जगदमलरुचिर्विचित्य राधे व्यधित विधिस्तव नूनमङ्गकानि ।
मणिमयमुकुरं कुरङ्गनेत्रे किरणगणेन विडम्बयन्ति यानि ॥ २७ ॥

यहा पर रूपगोस्वामी ने श्रीराधा की अगद्युति की उपमा मणिमय मुकुर से दी है और श्रीकृष्ण के वक्ष-स्थल की उपमा मरकत मुकुर से। वैष्णव कवियो की कविताओ मे लावण्य शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। जैसे – कच्चे सोने की तरह राधा का सौंदर्य, लावण्य ढलढला रहा है, निखर रहा है। यथा – मुग्धा – नायिका – जो नायिका कौमारावस्था और पूर्ण यौवनावस्था के मध्य मे है अर्थात् यौवन और काम के संयुक्त विकास पर स्थित नायिका में लावण्य छलकता रहता है। वैष्णव कवियो के मत से लावण्य शब्द का अर्थ होता है – प्रभा, दीप्ति, स्वच्छता से निखरा हुआ औज्ज्वल्य, जिसको सामान्य भाषा में "दमक" कहते है। किन्तु शब्दकोष मे इसका अर्थ है – **"लवणस्य भावः लवणिमा"**। इससे स्पष्ट रूप से स्वाद की ओर निर्देश किया गया है, जिसको अंग्रेजी मे "Taste" (स्वाद, रुचि) कहा गया है। अवनीन्द्रनाथ टैगोर एव कुमारस्वामी ने भी लावण्य को Taste (स्वाद) के अर्थ मे "Salt" माना है।

१—पाठभेद – तल्लावण्यमिहोच्यते।

२—रूपगोस्वामी, उज्जवलनीलमणि, काव्यमाला सीरीज ९५, उद्दीपनविभाव प्रकरण, पृ० २२३ के उपर्युक्त श्लोक की टीका ·

छायाया कान्तेस्तरलत्वं तरंगायमानत्वम्। यथा तथा यदन्तरा मध्येएवांगेषु प्रतिभाति प्रतिमान भवेदित्यर्थः। अतिस्वच्छत्वादाधिक्याच्च प्रतिक्षणमुद्गच्छन्त्य इव कान्तयो यतो लक्ष्यन्ते तल्लावण्यमुच्यत इत्यर्थं ॥

लावण्यशब्द. खलु लवणाशब्दप्रकृतिक। लवणा हि कान्तिरुच्यते। "लवणा रसभेद स्याल्लावणा तु नदीत्विषोः।" इति मेदिनीकारकोषात्। ततश्च लवणास्मिन्नस्तीति लवणः। अर्श आद्यच्। तस्य भावो लावण्यम्, लवणिमा चेति सिद्धम् ॥

चित्र मे लावण्य (बाह्य–सौन्दर्य) को रगो के संगतीय विधान, उचित सयोजन आदि द्वारा दिखाया जाता है। उसमे अंग–प्रत्यगो का जब विकास होता है तब लावण्य आता है। चित्र में विधि–विधान के बाद जो शोभा होती है वही लावण्य है।

चित्र रचना करते समय चित्र में रूप और प्रमाण द्वारा उसमे भावभगी देकर, जो रचना की गई, उसको जब लावण्य–युक्त किया गया तब वह चित्र सुन्दर हुआ। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस मे कहा है – **"करत प्रकास फिरई फुलवाई।"** और **"सुन्दरता कहुं सुंदर करई। छविगृह दीपसिखा जनु बरई॥"** (बालकाण्ड। २२९।४)। अर्थात् सीता की शोभा, सुदरता को भी सुन्दर करने वाली है। वह ऐसी प्रतीत होती हैं मानों सुन्दरता रूपी गृह मे दीपक की लौ जल रही हो। – अब तक सुंदरता रूपी भवन मे अधेरा था, वह भवन मानो सीता की सुन्दरता रूपी दीपशिखा को पाकर जगमगा उठा है, पहले से भी अधिक सुन्दर हो गया है। कालिदास ने भी रघुवंश मे – **"संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ"** – कह कर इन्दुमती के लावण्य की उपमा दीपशिखा (चचल चीज) से देकर तरलत्व दिखाया है। इसी प्रकार कालिदास ने अनेक स्थलों पर लावण्य को अनेक शब्दो से व्यक्त किया है जैसे – **कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्री** (मेघ०, १।६१) – से श्री अर्थात् कान्ति, सौंदर्य, **"कांतिमापत्स्यते"** मे काति; **"ललितवनिता पादरागं"** मे वनिता का पादराग लावण्य के समान है। **"कांतिविसवादि"** (माल०) मे चित्र–रचना पूर्ण होने पर भी उसमे लावण्य का अभाव है। इस प्रकार उनकी रचना मे पदे–पदे लावण्य का उल्लेख है।

भावलावण्ययोजनम् मे भावयोजना और लावण्ययोजना यह चित्र के षडंग में कहा गया है। यहा योजना का क्या अर्थ है, इसे जानना है – यदि किसी वस्तु मे उसको निखारने अथवा उत्तम ढग से प्रदर्शित करने की क्षमता नही है तो उक्त रिक्तता की पूर्ति करने की क्रिया को योजना या सन्निवेश कहते है। लावण्ययोजना का अर्थ अवनीन्द्र-नाथ ने दिया है – "Infusion of grace, Artistic representation," रूप (आकृति) की रेखा को भाव–युक्त करने के साथ–साथ लावण्य–युक्त करने की भी बात उठती है, जो इस प्रकार है।

रंधन–शिल्प (पाक–कला) मे लावणिमा और उसकी योजना बड़ी निपुणता का काम है। यदि लवण अधिक या कम हुआ तो दोनों ही परिस्थिति मे भोज्य पदार्थ सुस्वादु न होगा। भोज्य पदार्थ में लवण नाम की वस्तु नही दिखाई देती किन्तु उसमें अपूर्व स्वाद के रूप में वह परिणत हो जाता है। इसी प्रकार चित्रकार भी थोड़े लावण्य का योगदान करता है जिससे उसकी चित्र रचना स्वादमय हो जाती है।

महाकवि सुबन्धु की वासवदत्ता (पृ० १०९–११०) मे आया है – **पारावार इव संजातलावण्ये यौवने**। अर्थात् क्षारत्व उत्पन्न हुए पारावार (समुद्र) के समान लावण्य उत्पन्न करने वाला यौवन। **"संजात-लावण्ये – संजातं लावण्यं कान्तिः यस्मिन् येन वा तत् (बहुव्रीहि समास); पक्षे, लवणस्य भावो लावण्यं क्षारत्वम्।"** सस्कृत साहित्यकारों के अनुसार यौवन आने पर नायिका के शरीर मे लावण्य के साथ ही क्षारत्व भी विशेष रूप से उत्पन्न होता है। इस क्षार की विभिन्न गंध और उसके प्रभाव विशेष के आधार पर उन्होने इनका उत्तम, मध्यम और अधम भेद माना है जो अनुकूल नायको को आकर्षित करती है।[1] समुद्र मे क्षार होता है और लावण्य का भी सबंध क्षार से है।[2]

१—रतिरहस्य, प्रकरण—जात्यधिकारः, श्लोक सं० ११–१४–१६–१८।

२—धनञ्जय ने "दशरूपक" में समुद्र के लिए "लवणाकरः" शब्द का प्रयोग किया है –
"आत्मभावं नयत्यर्थान् स स्थायी लवणाकर ॥" —४।३४।

कुमारस्वामी भी लावण्य का अर्थ बतलाते हैं – "Salt," charm, "it" (in a feminine subject)

लावण्य–योजना के संबंध में रामकृष्णदास कहते हैं कि भाव के साथ लावण्य की योजना भी होनी चाहिये। भाव का संबंध आन्तरिक विकारों से है और लावण्य बाह्य सौंदर्य का व्यंजक है। इसलिए चित्र में भाव के साथ लुनाई की सृष्टि भी होनी चाहिये। मुगल शैली के भारतीय चित्रकारों का सिद्धांत है कि शबीह (व्यक्ति–चित्र) की शबाहत जाने न पावे, साथ ही उसमें सुन्दरता भी पैदा हो जाय। यही है चित्र में लावण्य–योजना।

रुचि जैसे रूप को दीप्ति देती है, उसी तरह भाव को लावण्य दीप्ति देता है। रसशास्त्रकार ने कहा है – मुक्ताकलाप (मोती का पानी या आब) के अंतर में जो छटा निकलती है वह लावण्य है। इससे यह प्रतीत होता है कि लावण्य रूप के प्रमाण स्वरूप भाव में अन्तर्निहित होकर उपस्थित रहता है, जैसे काव्य में ध्वनि या व्यंजना। सामान्यतया कहते हैं कि अमुक के मुख में पानी फूटा पड रहा है। यह पानी या आब (फारसी में), कांति, दीप्ति यौवन आने पर चेहरे पर लालिमा के उसी रूप में दिखलाई पडने लगती है[1] जिस प्रकार सच्ची मोती में से एक विशेष प्रकार की लालिमा–नीलिमा चमकती हुई दिखलाई पड़ती है। यदि मोती में लावण्य की दीप्ति न हो, तो उसकी आभा निष्प्रभ होती है। उसी प्रकार चित्र के रूप, प्रमाण और भाव में यदि लावण्य आकर दीप्ति प्रदान नहीं करता है तो ये सभी निष्प्रभ हो जाते हैं।

लावण्य को, शिल्पी की अपेक्षा रचना-कौशल से प्रकाशित करना होता है। लावण्य कलाकार के स्पर्श की अपेक्षा रखता है अर्थात् यदि कलाकार न रहे, तो कला न निखरे। चित्र की सारी भाव-भंगिमा में लावण्य एक शांति या शीतलता एवं शोभा प्रदान करके चित्र को मनोहर बना देता है। प्रथम दर्शन में प्रेम के उत्पन्न एवं विकसित होने का उल्लेख सभी साहित्य में (विशेष रूप से संस्कृत साहित्य में) मिलता है। इससे दोनों के शरीर में एक अद्भुत लावण्य और दीप्ति आ जाती है। वे दोनों ही नयनाभिराम एवं मनोहर हो जाते हैं। उसी प्रकार चित्र में भी लावण्य के योग से मनोहरता आ जाती है।

चित्रकार को समझ-बूझकर, प्रमा द्वारा परिमिति देकर लावण्य का प्रयोग करना पडता है। अतिरिक्त लावण्य से चित्र की भाव-भंगिमा कडवी हो जाती है, बहुत कम लावण्य से वह फीकी हो जाती है।

लावण्य युक्त चित्रण सर्वदा शुचि और संयत है। प्रमाण जैसे रूप को परिमिति देता है, उसी तरह भाव (प्रेम) की अद्भुत् और उच्छृंखल भंगिमा को लावण्य परिमिति देता है। तीव्र भावोद्रेक से भंगिमा असंयत, उद्दाम, असहिष्णु, यहाँ तक कि अशोभन भी होकर अपने को प्रमाण की सीमा से विच्छिन्न कर देती है, तब लावण्य उसे अपने मधुर और कोमल संयोग से शांत करता है। भाव की ताड़ना से रूप जब शकुन्तला-प्रत्याख्यान के समय दुर्वासा ऋषि की तरह अपरिमित तौर से, क्रोध से हाथ पैर हिला-डुलाकर, दांत किटकिटा कर उद्दण्ड भंगिमा में खडा देख रहा है, तभी लावण्य उसके पास आकर कहता है, **"स्थिरो भव !"** पागल बन रहे हो।

प्रमाण के बंधन में जितनी कठोरता है, लावण्य की सीमा में उतनी नहीं है। परन्तु वह भी परिमिति ही है, एक सुनिश्चित, सौम्य, सुकुमार बंधन है।

१—(i) "नैषधमहाकाव्य में महाकवि श्री हर्ष ने भी लावण्य को जल माना है :

रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणञ्च लावण्यजलञ्च बाला।
तारुण्यमूर्तें कुचकुम्भकर्तुर्विभर्ति शंके सहकारिचक्रम् ॥ ७।८९ ॥

(ii) बिहारी ने भी दीप्ति (दमक) को लावण्य कहा है – "गई न सिसुता की झलक...जोवन दमक्यौ अंग ॥"

भावादि से युक्त होने पर भी लावण्य सर्वदा अपने निजत्व को स्थिर रखता है जैसे—मुक्ता, हीरा आदि का तथा सफेद और काली चमडी का लावण्य भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार चिकने बाल, तेल लगे बाल और काले-सफेद मिश्रित बालो का भी अलग-अलग लावण्य है। धुले वस्त्रों में बार-बार हाथ लगने से उसका लावण्य नष्ट हो जाता है। लावण्य कही छिपा रहता है, कही प्रगट और कही नष्ट हुआ।

जनसाधारण जिस अप्रकट सौंदर्य की ओर से विमुख रहते है उन्ही को भाप लेना कलाकार की विशेषता है और उन्हे अपनी कलाकृति मे महत्व देना ही उसकी योग्यता तथा कला मर्मज्ञता है। वह उसमे नये ढंग का निखार देकर प्रस्तुत करता है। पत्थर का लावण्य पत्थर मे है, सोने का लावण्य सोने में है, जल मे – नदी, समुद्र आदि का लावण्य अलग-अलग है। नवजलधर, शरदाकाश, प्रात. आकाश, सन्ध्याकाश आदि में लावण्य अलग-अलग है। प्रकृति मे वृक्ष, पत्ते, पुष्प आदि मे स्वत लावण्य है। धूल पडने पर यह लावण्य ढक जाता है, वृष्टि होने पर धुलकर उसका लावण्य प्रगट हो जाता है। इसे समझकर ही चित्र-रचना करना कलाकार की विशेषता है।

लावण्य[1] मे गोरा होना आवश्यक नही है। जिसका चेहरा चिकना हो, शरीर के अंग-प्रत्यंग सुडौल, सुगठित, सुंदर हो, वही लावण्यमय है। इसीलिए संथाल युवतियां श्यामवर्णा होने पर भी अति लावण्यमयी होती है।

कहा जाता है कि – 'मणिकाञ्चन का संयोग'' हुआ है। मणि को यदि स्वर्ण-मण्डित करते है, तब उसमे एक विशेष प्रकार का लावण्य आ जाता है, और उसी मणि को पीतल, तांबा, रजत, गजदन्त में मण्डित करने से उसमे वह लावण्य नहीं आता। इसी प्रकार शिल्प-रचना में भाव-भंगी, मान-परिमाण और रूप के संयोग से लावण्य का संस्पर्श पाकर वह मणि मनोहर, निखरी हुई समझी जाती है। अंकन मे निखार लाने के लिए लावण्य सोने में सोहागा का काम करता है। नृत्य मे भी जो लावण्य और लोच, मणिपुरी नृत्य में है, वह अन्य में नही है।

''मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिव'' में कहा है कि – लावण्य तरंगायमान होता है। जिस रेखा द्वारा रूप को अंकित करना है, उसमें मान-परिमाण के कठिन बंधनों एवं भाव-भंगिमा के समावेश से जब लावण्य उत्पन्न किया जाता है, तभी वह कला के उपयुक्त होता है, अन्यथा उसका कोई महत्व नहीं। गद्य में बीच-बीच मे जब पद्य का समावेश हो जाता है, तब उस रचना मे लावण्य आ जाता है। इसे अंग्रेजी मे Development Effervasce कहते हैं। किसी वाक्य को ऐसे शब्दो में कहा जाय कि वह अच्छा न लगे और कटु प्रतीत हो तब उसका कोई मूल्य नहीं। परन्तु यदि उसी वाक्य को सुन्दर, मधुर, छन्दोबद्ध रूप में कहा जाय, तो उसमें जो माधुर्य उत्पन्न होता है, वह लावण्य के कारण ही होता है। जैसे—दूराकाश मे बादल आया – इसके स्थान पर ''मेघैर्मेदुरमम्बरम्'' (गीत गोविन्द १।६) कहा जाय तो वह अधिक सुन्दर होगा। बिना लावण्य के छन्द भी रस से विहीन होता है। छन्द में भी बहुत देर तक बात नहीं की जा सकती है, किन्तु उसमें लावण्य का समावेश होने पर वह अधिक देर तक रहता है। इसी प्रकार चित्र में भी जब लावण्य का समावेश करते है तभी चित्र सुन्दर होता है और उसकी स्मृति चिरकाल तक बनी रहती है।

लावण्य या लवणिमा का परिमाण (या वजन) समझना ही सबसे कठिन कार्य है। इसके कम या अधिक होने पर वस्तु अशोभनीय हो जाती है। चित्रकार अथवा मूर्तिकार अपनी रचना में अर्धनिमीलित भावुक नेत्रो से

१—मोतीचन्द्र के मतानुसार लावण्य है – लुनाई, कमनीयता, सलोनापन। इसीलिए स्त्री का एक नाम है ''सलोनी''। Modeled – सुगठित या विभक्तता (वपुर्विभक्तं नवयौवनेन। – कुमार० १।३२)। पार्वती का शरीर जो पहले बाल्यावस्था में Modeled नही था, वह नवयौवन आने पर सुगठित, लावण्य-युक्त हो गया और अंग-प्रत्यंगो के उभार स्पष्ट दिखलाई देने लगे।

अंग-प्रत्यंगों को उनके उचित प्रमाण से आकर्षक और प्रेम-भाव परक बनाता है तथा हाथ-पैर की मुद्राओं एवं उनके ठवन से लावण्य प्रदर्शित करता है।

लावण्य सुपात्र-पात्र, गुण पूर्ण में है, ऊर्जा, शुष्क भूमि पर वृष्टि लावण्य उत्पन्न करती है। — इसमें केवल अवस्था-भेद से लावण्य में विभिन्नता आती है। कालिदास ने यक्ष के लावण्य का वर्णन संयोग-वियोग दोनो ही अवस्थाओं में किया है। वियोगावस्था का वर्णन है — (१) **"कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः"** — (मेघ १।२) यहां पर क्षीण शरीर वाले यक्ष का वर्णन नहीं है, वरन् अवस्था-विशेष अर्थात् विरह के कारण क्षीण चन्द्रकला के समान यक्ष को कवि ने लावण्य-मय रूप दिया है। जैसे कलाकार शैलेन्द्र नाथ दे का एक प्रारंभिक रेखाचित्र मेघदूत चित्रावली का भारत कला भवन में है, जिसमें उन्होंने विरही यक्ष को रूप मे लावण्यहीन दिखाया है। उसे देखकर उनके गुरु अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने उसके पृष्ठ भाग पर लिखा है — "विरही यक्ष तो इसमें मलेरिया के रोगी के समान दिख रहा है। उसे ऐसा होना चाहिये, जैसे शुष्क वृक्ष पर वर्षा का जल पड़ने से वह पुनः हरा-भरा हो जाता है।" (२) संयोगावस्था में — जब यक्ष अपनी शाप की अवधि पूर्ण करके अलकापुरी लौटता है उस समय उसके प्रफुल्ल वदन पर अद्वितीय लावण्य आ जाता है। इस प्रकार यह सर्वथा दिखाई देता है कि लावण्य के प्रकार का भेद अवस्था और पात्र-भेद के अनुसार ही होता है।

प्राचीन कवियों ने, विशेष रूप से वैष्णव कवियों ने, बहुत प्रकार से उदाहरण देकर लावण्य का वर्णन किया है। जैसे — नवजलधर श्याम, विद्युत कान्ति का वर्णन राधा से, हास का लावण्य मंद मुस्कान में इत्यादि। किसी वैष्णव कवि ने वर्ण और लावण्य का समावेश एक ही छन्द मे किया है — **"कुवलय कन्दर कुसुम कलेवर, कालिम कान्ति कलोल"** — यहां लावण्य का कल्लोल दृश्यमान है। इसी प्रकार **"पंचम रागिणी रूपिणी रे"** — में सुर, लय का लावण्य मिल रहा है।

पहाड़ी तथा ईरानी शैली के चित्रों के संयोजन में लावण्य को अत्यन्त भावात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इनमे वृक्ष को पुरुष, एवं लता को स्त्री मानकर बड़ा सरस चित्रण किया है। जैसे — कभी वृक्ष के रूप में पुरुष सीधा खड़ा रहता है और लता के रूप में स्त्री उससे लिपटी रहती है। इसमे प्रेमी-प्रेमिका के लताबन्ध आलिंगन का लावण्यमय भाव है। भारत कला भवन में (चित्र — २२) "मनावन" शीर्षक एक ईरानी चित्र मे ऐसा चित्रण है जिसमें सरों के वृक्ष के समान नायिका एक ओर गर्दन झुकाकर सुन्दर भंगिमा मे सीधी खड़ी है और उसी के चरणों के समीप एक छोटे पुष्पित पौधे सदृश प्रेमी नायक बैठा, उसका हाथ पकड़कर मिन्नते करता हुआ अंकित है। जब तेज हवा चलती है तो सरो के वृक्ष की सीधी फुनगी एक ओर झुक जाती है और छोटा पौधा सीधा रहता है। इसी भंगिमा में उसका लावण्य प्रदर्शित होता है। चित्रकार ने उक्त दृश्य द्वारा प्रेमी नायक—नायिका के प्रतीक रूप में लावण्य को चित्रित किया है।

कालिदास ने कुमारसम्भव में भी वृक्ष—लता के रूपक द्वारा नायक—नायिका के लताबंध आलिंगन का वर्णन किया है . —

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ ३।३९ ॥

"पुष्पों के स्तवक जिनके स्तनो के समान थे और जो नवांकुर-रूपी अधरो से मनोहर हो उठी थीं — ऐसी लताओं-रूपी वधुओं ने भी अपने विनम्र भुज-बन्धनों को वृक्षो के गले में डाल दिया।" इसके सदृश एक सरस चित्र राधा-कृष्ण का पहाड़ी शैली का है। (चित्र—२३)।

कलात्मक अभिव्यक्ति में लावण्य शोभा को मन में बैठाता है। सुन्दर या शोभायुक्त वही होता है, जिसे देखकर चक्षुरिन्द्रिय और मन आनन्द का अनुभव करते हैं तथा दिन-प्रति-दिन उसकी ओर आकर्षित होते हैं। इसीलिए प्रेमीजन चित्र में लावण्य या कान्ति को विशेष रूप से खोजते हैं। लावण्य की व्याख्या शब्दों में नहीं की जा सकती। इसे नेत्रों से केवल देखा जा सकता है और मन से अनुभव किया जा सकता है।

लावण्य चित्रकला का एक गुण है। कलाकार इसे अत्यधिक पवित्र विचारों से, भाव से अपनी कृति में लाता है। कहा गया है — "The mind gives the idea, but hand imparts beauty." साहित्य में लावण्य के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं, जैसे — रूप, लावण्य, लुनाई, माधुर्य, चारुता, रमणीयता, कमनीयता, सलोनापन, सौंदर्य, सौकुमार्य आदि। शुक्रनीति (१०७) में कहा गया है — **"तद्रम्यं यत्रलग्नं हृदयस्यहृत्।"** — अर्थात् वही सुन्दर है जो हृदय (मन) में लगकर उसे हरण कर ले। यह रम्य वास्तव में लावण्य के लिए कहा है। विष्णुधर्मोत्तर में लावण्य के लिए मधुरत्वं शब्द का प्रयोग किया गया है जो चित्र का एक आवश्यक गुण माना गया है :

"स्थानप्रमाणभूलम्बो[1] (? म्भो) मधुरत्वं विभक्तता।
... ... गुणाश्चित्रस्य कीर्तिता." ॥ ४१।९॥

लावण्य में मधुरता और विभक्तता दोनों होनी चाहिये। माधुर्य, मधुरता या मिठास[2] के लिए उज्जवलनील-मणि (श्लोक १७) में कहा गया है —**"माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता।"** — जो सभी अवस्थाओं में, चेष्टाओं में सुन्दर हो, उसे माधुर्य कहते हैं। माधुर्य का लक्षण है **चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।** — जिस आह्लाद से हृदय द्रवीभूत हो जाता है उसे माधुर्य कहते हैं। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी में लावण्य को नवनीत के समान कहा गया है। —

तिष्ठन्ति यत्र लावण्य नवनीतैर्निर्मिता[3] ॥

हृदय के सुन्दर होने पर मधुर हास (मुस्कान) मुख पर आता है, उसी से मुखमंडल लावण्यमय हो जाता है। नाट्यदर्पण में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने लावण्य या शोभा को समझाने के लिए उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को भी बताया है। (१) **औज्ज्वल्यं यौवनादीनामथ शोभोपभोगतः (सूत्र २८३)। यौवनस्य आदिशब्दात् रूपलावण्यादीनां च पुरुषेणोपभुज्यमानानां यदौज्ज्वल्यं छायाविशेषः सा शोभा।** अर्थात् यौवन के रूप-लावण्यादि का पुरुष के द्वारा उपभोग प्रारंभ किये जाने पर जो उज्ज्वलता अथवा सौंदर्यातिशय चेहरे पर लक्षित होता है, उसको "शोभा" कहते है। (२) **सा कान्तिः पूर्णसम्भोगा दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः** (सूत्र २८४) — अनुरागातिशय के कारण पूर्ण विस्तार को प्राप्त हो जाने पर वह शोभा ही कान्ति कहलाती है और (३) कान्ति का भी विशेष विस्तार "दीप्ति" कहलाती है। उज्जवल-नीलमणि में "शोभा", "कान्ति" और "दीप्ति" को अनुभाव के अंतर्गत अयत्नज अलकार कहा गया है। — तत्र शोभा — **"सा शोभा रूपभोगाद्यैर्यत्स्यादङ्गविभूषणम्। अथ कान्तिः — शोभैव कान्तिराख्याता मन्मथाप्यायनोज्ज्वला।**

१—भूलम्ब।

२—मराठी भाषा में नमक के लिए संस्कृत साहित्य के प्रभाव से लावण्य के पर्यायवाची शब्द "माधुर्य" का ठेठ रूप "मीठ" प्रचलित है।

३—लावण्य के लिए बंगला में "ननीर-पुतुल" शब्द का प्रयोग करते है, अर्थात् नवनीत की पुतली या गुडिया, जो सर्वथा उचित है। नवनीत (मक्खन) जिस प्रकार चिकना, देखने में सुन्दर और खाने में सुस्वादु होता है, उसी प्रकार लावण्य में भी ये सभी गुण हैं।

अथदीप्तिः – "कान्तिरेव वयोभोगदेशकालगुणादिभिः ।
उद्दीपितातिविस्तारं प्राप्ता चेद्दीप्तिरुच्यते ।"

कुमारसंभव में पार्वती के बढ़ते अंगों के लावण्य की उपमा शुक्लपक्ष के चंद्रमा से दी गई है —

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ।। १।२५ ।।

साराश यह है कि यौवन के रूप-लावण्यादि की उज्ज्वलता की मन्द, मध्य और तीव्र अवस्थायें ही क्रमश शोभा, कान्ति और दीप्ति कहलाती है। इनको अक्षरश. अंकित करने मे कुशल कलाकार की तूलिका भी कंपित हो उठती है। फिर भी कागड़ा शैली के कलाकारो ने ऐसे चित्र अंकित किये है जिनमे से एक चित्र "कमलवन में खड़े राधा-कृष्ण के नयनमिलन" का है। इस चित्र में इसी लावण्य की चरमावस्था को कलाकार ने दिखाया है (चित्र २४)। लावण्य इतना सूक्ष्म भावात्मक है कि इसे चित्र में यथार्थ रूप से अंकित करने में ही कलाकार की योग्यता, क्षमता परिलक्षित होती है। इसीलिए कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल (६।१४) मे राजा दुष्यन्त द्वारा बनाये गये चित्र मे शकुन्तला के लावण्य को किञ्चित् ही अन्वित (अंकित किया हुआ) कहा है, —"**तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्**" ।

मेघदूत में यक्षिणी को अत्यन्त लावण्यमयी युवती के रूप मे वर्णित किया गया है —

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी ।
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ।। २।१९ ।।

इसमे लावण्यमयी युवती किसे कहेंगे; लावण्य के क्या-क्या लक्षण है, यह सब उपर्युक्त श्लोक में परिगणित किये गये हैं, — देह की छरहरी, उठते यौवन वाली, नुकीले दांतों वाली, पके कुंदरू से लाल अधर वाली, क्षीण कटि वाली, चकित हरिणी की चितवन वाली, गहरी नाभि-प्रदेश वाली, श्रोणीभार से चलने मे अलसाती हुई, कुचों के भार से कुछ झुकी हुई – ऐसी लावण्यमयी युवती काम को जागृत करती है। इस प्रकार की लावण्यमयी युवतियों के चित्र अजन्ता मे भी बहुत बने है।

इसमें "तन्वी श्यामा; मध्ये क्षामा", "चकितहरिणीप्रेक्षणा", "श्रोणीभाराद् अलसगमना", स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां" — ये विशेष रूप से लावण्य में वृद्धि करते है। लावण्यवृद्धि के लिए किसी प्रकार के बाह्य मंडन की आवश्यकता नही होती। इसीलिए कालिदास ने इसे कुमारसभव (१।३१) में — "**असंभृतं मण्डनमंगयष्टेः**" अर्थात् अयत्नसिद्ध सहज अलंकरण कहा है और अभिज्ञानशाकुतलं (१।१९), मे राजा दुष्यन्त कहते हैं कि यद्यपि इस शकुन्तला का कोमल शरीर वल्कल के योग्य नही है, फिर भी ये इसके शरीर को अलंकारो के समान ही सुशोभित कर रहे है — "**इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।।**" अतः जो वस्तु सुन्दर है, वह सर्वत्र सुन्दर है। सौंदर्य सर्वदा मनोज्ञ, रमणीय होता है। उसे किसी अभिविन्यसन अथवा प्रसाधन की आवश्यकता नही होती। वह स्वतः ही आभायुक्त दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार कुमारसंभव मे भी पार्वती के मुख-लावण्य का वर्णन कालिदास "मद्गुर" शब्द का प्रयोग करके कहते है कि पार्वती का मुख पहले सुसज्जित अलकों द्वारा जैसा सुन्दर

लगता था, वैसा ही सुन्दर जटाओ के साथ भी लग रहा था — "यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ॥" कुमार०, ॥५।९॥ सारांश यह है कि नैसर्गिक सुन्दरता मंडन की अपेक्षा नहीं करती।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अंक ७) के एक वाक्य "शकुन्तलावण्यम् आनय" --- से ज्ञान होता है कि कालिदास के समय मे खिलौनो को भी "लावण्य" — कहा जाता था। इसका तात्पर्य यह है कि शकुन्त पक्षी जितना सुन्दर होता है, उससे भी अधिक सौन्दर्य खिलौने मे होना चाहिये, तभी वह कलात्मक कृति हो सकता है।

साहित्यकार शब्दो मे लावण्य के यह सब उपर्युक्त वचन कह जाते है, किन्तु चित्रकार के लिए यह समस्या उठ खडी होती है कि वह इसे चित्र मे कैसे चित्रित करे? अजंता की अधिकाश नारी छवि लावण्यमयी दिखाई गई हैं। इसी प्रकार पुरुष मूर्तियो मे भी कुछ चित्र अत्यन्त लावण्ययुक्त, सुन्दर बन पडे है, जैसे — पद्म-पाणि बोधिसत्व। इसमे बिल्कुल अलंकार-विहीन उनका शरीर है, केवल कंठ में एक हार, शीशमुकुट, अधोवस्त्र है, सम्पूर्ण मुख से एक प्रकार की आभा प्रस्फुटित हो रही है। यही सौंदर्य का निखार कितना और कैसे दिखाया जाय, यही कलाकार को जानना चाहिये। वे सर्वांगीण लावण्य-सलोनापन, कमनीयता, सुकुमारता को चित्र में बिम्ब, प्रतीक, रग, रेखा आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करते है एवं आकृतियो को इस प्रकार ठीक-ठाक बैठाते है कि उसमें प्रभाव और रमणीयता रहे।

रमणीय, लावण्यमयी आकृति को देखकर उसको बारम्बार देखने की उत्सुकता, व्याकुलता सभी के मन में जाग्रत होती है और उस मूर्ति के दर्शन से उसकी स्मृति मन मे उत्पन्न होने लगती है। यही स्मृति ही रस है, जिसका परिलक्षण लावण्य है। लावण्य यहा पर appearance के अर्थ में है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् (५।२) में ऐसा कहा गया है कि रमणीय वस्तुओं को देखकर और मधुर शब्दो को सुनकर सुखी जनों एवं जन्तुओ में भी एक प्रकार की उत्सुकता, व्याकुलता (पर्युत्सुकी भाव) आ जाती है, जिसके फलस्वरूप वे उस वस्तु से प्रेम करने लगते हैं और बारबार उसे देखना चाहते है। कालिदास का यह विश्वास है कि सौन्दर्यानुभूति मे आत्मा की विकल दशाये सर्वदा विद्यमान रहा करती है – (१) आलम्बन के प्रत्यक्ष रहने पर और (२) आलम्बन के परोक्ष रहने पर। इसमे "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य" (अभि० शाकु० ५।२) – यह आलम्बन के प्रत्यक्ष रहने पर सौदर्यानुभूति से उद्भूत आत्मा की विकल दशा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है और विक्रमोर्वशीयम् नाटक के अन्तर्गत पुरूरवा की अधोलिखित उक्ति मे आलम्बन के परोक्ष रहने पर सौदर्यानुभूति की दूसरी दशा का दर्शन होता है –

त्वया बिना सोऽपि समुत्सुको भवेत
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः ॥–विक्रमो०।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि द्रष्टा या श्रोता जन्मजन्मांतर के उन सौहार्दो का, जो भावरूप मे मन में स्थिर हो गये है, बिना समझे बूझे ही स्मरण किया करता है।

सभी, सब समय स्मरण नही आते, परन्तु सौन्दर्याधायक वस्तु के साक्षात्कार से वे किसी पुरानी स्मृति को उभार देते हैं। इस उभरी हुई स्मृति को कालिदास "अबोधपूर्वा" (मुगल चित्रकार स्व० उस्ताद राम प्रसाद के शब्दों में "धुन"।) कहते है अर्थात् जिसकी याद में विशेष तत्वों का स्मरण नहीं रहता, केवल निर्विशेष स्मृति-मात्र रहती है। यह स्मृति लावण्य-दर्शन-जन्य है (वस्तुतः स्मृति ज्ञान-जन्य होती है।) नैयायिको की भाषा में इसे "प्रमृष्टतत्ताक स्मृति" कहा जायेगा। प्रमृष्टतत्ताक अर्थात् जिसमें से तत्तत् वस्तुओ की विशिष्ट चेतना मिट गई हो। पुराने लोग प्रमृष्टतत्ताक स्मृति के अंतस्तल मे मानव-चित्त स्थित गाम्भीर्य में वासना की स्थिति मानते है। मानव-चित्र के

आवेगों, संवेगों, उद्वेगों के रूप के रूप में यह आज भी नाम बदलकर स्वीकृत होता आ रहा है। आलंकारिकों ने इसी वासना-रूप में स्थित स्थायी भावों को रसास्वाद का मुख्य हेतु माना है।

तिलकमंजरी में वर्णन है कि लावण्य की विधि से चित्रपट संक्रान्त हो गया है – **"यस्य रूपलव एव लावण्य-विधिना चित्रपटसंक्रान्तः कृतार्थीकृतो दृष्टिपातप्रसादेन"**। लावण्य की विधि का जब चित्र में प्रयोग किया गया तब दर्शकों की दृष्टि उसे देखकर कृतार्थ हो गई। कलाकार की कलाकारिता को देखकर सब मुग्ध हो गये।

वास्तव में चित्र में छवि या मूर्ति में लावण्य की परिधि में विचित्र, विभिन्न रूप, प्रमाण, भाव-भंगिमा सब एक अपूर्व एकता को प्राप्त हुए है या नहीं, यही दर्शनीय विषय होता है। अस्थि-मांस से युक्त इस शरीर में केवल मांस या केवल अस्थि से रूप की लावण्ययुक्त सृष्टि नहीं हो सकती। लावण्य का चित्र में प्रमुख स्थान है किन्तु उसका आडम्बर सबसे कम होता है। लावण्य स्वयं शुद्ध, निस्पृह और संयत है, यह निर्विकार और निर्मल है। यह सच्चिदा-नन्द एवं सत्य, शिव, सुन्दर का प्रत्यक्ष रूप और सृष्टिकर्ता की प्रसन्नता का द्योतक है। अतएव उसका प्रभाव भी विशुद्ध, संयमित एवं चमत्कारिक होता है।

लावण्य-योजना के कौशल को जानना सरल नहीं है। लावण्य-योजना का भाव जब तक अपने मन में नहीं उत्पन्न होता तब तक यह कौशल बाहर प्रस्फुटित नहीं हो सकता। इसे स्वयंभू, सहजा (inborn) होना चाहिये, तभी कोई शिल्पी अपनी कृति में लावण्य को ला सकता है।

५ - सादृश्य

"सदृशस्य (सदृश्यस्य) भावः इति सादृश्यम्।"

भारतीय चित्र-विधान में सादृश्य एक प्रधान गुण माना गया है। सादृश्य, भाव, लावण्य एवं वर्णिकाभंग– ये चारों चित्रकार की चित्रकारिता की अपनी विशेषतायें हैं। इन्हे चित्रकार अपनी स्वानुभूति से बनाता है, किन्तु रूपभेद तथा प्रमाण कलाकार के अपने होते हुए भी शास्त्र-सम्मत अधिक है।

चित्रकार के मनरूपी भाव-राज्य में जब रूप पहुंच जाता है, तब "सादृश्य" तथा "उपमा" का प्रयोग हेर-फेरकर चलता है, जिसे अंग्रेजी में 'Likeness', similitude' कहते है। सादृश्य का सामान्य अर्थ है – अनुरूपता या समानता, कुछ अंशों में समानता और कुछ अंशों में भिन्नता। मल्लिनाथ "सादृश्य" का अर्थ लिखते है – **"वस्त्व-न्तरगतमाकारसाम्यं"** – वस्तुओं के अन्तर्गत आकार का साम्य या अनुरूपता। जैसे – प्रतिकृति चित्रों (छवि, शबीह, Portrait Painting) में आकार का साम्य रहता है। मल्लिनाथ के "आकारसाम्य" में वही अर्थ है जिसे मुगल चित्रकार "सूरत" (बाह्य आकार) और "सीरत" अर्थात् गुण (Character) कहते है। वस्तुतः चित्र काल्पनिक हो अथवा सत्य, उसे ऐसा होना चाहिये कि देखने वाला चित्रस्थ व्यक्ति को तुरन्त पहचान ले। प्राचीन ग्रन्थों में चित्र द्वारा उसके बिम्ब के पहचान लिए जाने की चर्चा प्रायः मिलती है।

कुछ विषय अथवा प्रसंग ऐसे भी होते है जिन्हे वास्तविक रूप में चित्रित करना सम्भव अथवा उचित नहीं होता। इनके केवल काल्पनिक चित्रण ही किये जा सकते है और उन्हें ही प्रामाणिक माना जाता है। देव-दैवियां तथा दैत्यों के चित्रण इसी वर्ग में आते है। कुछ रसों एवं दाम्पत्य जीवन तथा तंत्र से संबंधित चित्र भी काल्पनिक ही होते हैं।

एक का भाव जब दूसरे का उद्रेक कर रहा हो तभी सादृश्य होता है। रूप-रूप में समानता की अपेक्षा

सादृश्य के लिए भाव-भाव मे संबध अधिक प्रयोजनीय होता है। अतएव रघुवश (८।९२) 'सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियाया स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ।' में हम देखते है कि इन्दुमती के चित्र मे रूप (शबीह) की अपेक्षा भाव (प्रिया के रूप के समान चित्र) की प्रधानता है। अत हम कहते है कि इन्दुमती के रूप का सादृश्य उस चित्र मे है। चित्र मे बनी हुई इन्दुमती की छवि (शबीह) को अज साक्षात् इन्दुमती नही मान सकता। उसे चित्र मे अपनी प्रिया के भाव को ही मानना पड़ेगा।

"सिद्धान्त मुक्तावली" में प० विश्वनाथ कविराज के — **"तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वम्"** — मतानुसार एक वस्तु जब दूसरी वस्तु का भाव उत्पन्न करती है – दोनो की आकृति में भिन्नता होते हुए भी अगर एक जगह दोनो मे समानता है, तब उस जगह दोनो का अपना-अपना धर्म होता है। सादृश्य का काम है तद्वत् प्रतिरूप बनाकर, मूल रूप के भाव को दर्शक के मन में उत्पन्न कर देना। जैसे—राजा अज ने इन्दुमती के रूप का प्रतिरूप उस चित्र मे बना हुआ देखा। उसको देखकर अज के मन में इन्दुमती के रूप का भाव उत्पन्न हुआ, तद्गत प्रेम उद्भूत हुआ।

अवनीन्द्र नाथ टैगोर "सादृश्य" का अर्थ लिखते हैं :— Similitude, resemblance, equality of forms and ideas.

कुमारस्वामी के मतानुसार — सादृश्य, concomitance of formal and pictorial elements, conformity, consonation, "answering to", "in response"

सदृश, सदृशी —Like in appearance, sensibly resembling.

सारूप्य— Co-aspectuality, conformation, coordination, spondence, cf. सादृश्य।

"चित्रसूत्र" मे सादृश्यकरण को प्रधान कहा गया है।

दृष्टं सुसदृशं कार्यं सर्वेषामविशेषत ।
चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम् ।। ४२।४८ ।।

दृष्ट पदार्थ का चित्र तद्वत् बनाना चाहिये। चित्रकला में सादृश्यकरण, अर्थात् जिसका चित्र बनाना हो उसकी आकृति-प्रकृति को ठीक-ठीक उतार देना, प्रधान कार्य माना गया है। परन्तु जब हम इसे भारतीय चित्रकला की तुला पर बारीकी से तौलते है तब चित्र मे सादृश्य गौण दिखलाई पड़ता है, क्योंकि चित्रकार केवल यथार्थ का ही नही वरन् कल्पना का भी अपनी कृति में प्रयोग करता है, उसमें किंचित् लोक-सादृश्य रहता है। अजता के चित्र अधिकतर परंपरागत है, जैसे नेत्र कमल के समान, चरण कमल के समान आदि। अत. अजंता के चित्र आलकारिक है और योरोप आदि पाश्चात्य देश की चित्रकला मे **"दर्पणे प्रतिबिम्बवत् सादृश्यं"** की भाति सादृश्य और यथार्थता है। भारतीय श्रेष्ठ चित्र की मान्यता है – **"सश्वासमिवचित्रम्"** – श्वास लेता हुआ सजीव चित्र होना चाहिये। यह मोम के बने मॉडल के समान दर्पणवत् सादृश्य चित्र से अधिक उत्तम है।

विष्णुधर्मोत्तर काल (गुप्तकाल) में सत्य (वास्तविक) और काल्पनिक दोनो प्रकार के चित्र बनाये जाते थे, सत्य-चित्र के लिए आवश्यक था कि वह बिंब का तद्वत् प्रतिबिम्ब हो[1], यही उसकी विशेषता थी, जैसे – सादृश्य –

१—जैसे – "सश्वासमिव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम् ।" – जो चित्र सचल, सश्वास होता है अर्थात् जो सजीव प्रतीत होता है, यथा दर्पण मे प्रतिबिंब, वही शुभलक्षणयुक्त है। किन्तु सभी लोग इस मत को नहीं मानते। वे इसे पुनरुक्ति दोष मानते हैं। वे कहते हैं कि जो चित्र एक बार बन गया, उसे फिर से बनाने से क्या लाभ। शास्त्रकार कहते हैं :— "अपि श्रेयस्करं नृणां देवबिम्बम-लक्षणम् । सलक्षणं मर्त्यबिम्बं न हि श्रेयस्करं सदा ।।" – वि० ध० ।

चित्र अथवा प्रतिकृति (Portrait, शबीह)। काल्पनिक चित्र की सामग्री के लिए "चित्रसूत्र" के ४२ वें अध्याय मे अनेक बाते बतलाई गई है। जैसे – देव, मनुष्य, नाग, यक्ष, किन्नर आदि का प्रमाण कितना होना चाहिये, उनके अंग–प्रत्यंग, वेश–भूषा आदि कैसी हो, यह सब देखकर काल्पनिक चित्र बनाना चाहिये। देश–देश के लोगो को ऐसा बनाना चाहिये कि वे उस–उस देश के मालूम हो – **"देशे देशे नराः कार्या यथावत्तत्समुद्भवाः"** ॥ ४२।४९ ॥ – क्योकि चित्र मे सादृश्यकरण ही प्रधान है। नदी–देवताओ को हाथ मे पूर्णकुम्भ लिए हुए, वाहनो पर दिखाना चाहिये। समुद्र को हाथ मे रत्न का पात्र लिए हुए बनाना चाहिये। उनके ज्योतिमडल के स्थान पर पानी (–कांति एवं जल। यह संकेत सादृश्य है) अंकित करना चाहिये। यह कल्पना अति उत्कृष्ट है। "शतपथ ब्राह्मण" मे अनेक स्थानो पर जल के लिए "तेज" शब्द का प्रयोग किया गया है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शनो में भी जल को तेज कहा गया है। अत ज्योतिमडल के लिए पानी का अकन करना सर्वथा उचित है।

इसी प्रकार आकाश मे दिन का दृश्य हल्के रंग से, चिडियो के उडने तथा सूर्य की प्रभा से व्यक्त करना चाहिये। रात्रि का दृश्य तारक–पुंजो के द्वारा दिखलाना चाहिये। चादनी रात हो तो फूले हुए कुमुदो का भी अंकन करना चाहिये। पर्वतो में शिला–समूह, विशाल वृक्ष, झरने, सिंह–सर्पादि का अकन करना चाहिये। वन में अनेक प्रकार के वृक्ष, पक्षी तथा अन्य पशु दिखलाने चाहिये। नगर को देव–मदिर, राजप्रासाद, हाट और शोभन मार्ग से युक्त बनाना चाहिये।

इसी प्रकार "ऋतु–चित्रों" के लिए भी सूक्ष्म विवरण दिये गये है। वसत के चित्र मे वासन्ती फूलो से युक्त वृक्ष–लतादि, मधुपो का समूह, कूकती कोयलें और प्रहृष्ट नर–नारी होने चाहिये। ग्रीष्म के चित्र मे ग्रीष्म से क्लान्त मनुष्य, झीना सूती वस्त्र, छाया मे छिपे हुए खग–मृग, फले हुए आम्र–वृक्ष, कमल–सरोवर, नायिका अथवा सखी–सहेली के हाथ मे पंखा आदि होने चाहिये। ऐसा ही एक चित्र भागवत पुराण का मालवा शैली का है जिसमे चन्द्रमा तारांकित ग्रीष्म ऋतु की रात्रि मे द्वारिका मे कृष्ण की पखा–मुर्छेल झलती स्त्रियो का अंकन है (चित्र–२५)। वर्षा – कालीन चित्र मे जल से नम्र मेघ, इन्द्रधनुष, विद्युत् की कौंध, बक–पंक्ति, नृत्य करता मयूर और वृष्टि होनी चाहिये। इसके भी अनेक चित्र कलाकारो ने अंकित किये हैं, जिनमे से एक चित्र यहा प्रस्तुत है। इसमें श्रावण मास के मेघाच्छन्न आकाश में विद्युत् एवं उडती बक–पक्ति को देखते राधा–कृष्ण का सुंदर अंकन है (चित्र २६)। शरत्–चित्र का अकन स्वच्छ आकाश, पके हुए धान के खेत, हस और पद्म युक्त जलाशय, फूले कास आदि से होना चाहिये। शिशिर के चित्र में कौओ और हाथियों में हर्ष, किन्तु मनुष्यों मे शीत का त्रास, शीत–निवारण के लिए अग्नि का प्रयोग एवं दिशाओं को अत्यधिक कुहराच्छन्न होना चाहिये। हेमन्त के चित्र मे दिग्–दिगन्त में कुहरा, अत पुर मे नायक–नायिका का गर्म कपडे पहन कर बैठे रहना आदि अंकन होना चाहिये। ऋतु–चित्रो मे अन्य विशेषताये प्रकृति का निरीक्षण करके अंकित करनी चाहिये। "ऋतुसहार" तथा "कादम्बरी" मे ऋतुओं का अति सुन्दर वर्णन है और पहाड़ी शैली में बारहमासा चित्रण भी किया गया है, जिसका एक चित्र कार्तिक मास का यहा प्रस्तुत है (चित्र २७)।

उचित प्रमाण, उचित विभाग, माधुर्य, सादृश्य एव सजीवता, ये चित्रो के गुण है। जिस चित्र मे ऐसा जान पड़े कि चित्रस्थ मूर्ति मे प्राण स्पदित हो रहे है वही चित्र शुभ लक्षण–सम्पन्न है।—

> **सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम्।**
> **निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित्** ॥ — वि० ध०, ४३।२९ ॥

जो चित्रकार सोये हुए व्यक्ति में सुप्त–चेतना और मृत में उसका अभाव (मृतत्व) दिखलाने मे समर्थ होता है तथ

जिसके बनाये सादृश्य निशाने की तरह ठीक बैठते हैं (सर्वोचित), वही चित्रवित्, चित्रविद्याविरचि (चित्र का जानकार) है।

स्थान प्रमाणं भूलम्भो मधुरत्व विभक्तता।
सादृश्यं क्षयवृद्धी च गुणाष्टकमिद स्मृतम्॥ वि० ध०, ४३।१९॥

स्थान, प्रमाण, आधार, मधुरता (कोमलता), विभक्तता (अनुपात), सादृश्य (समानता), क्षय और वृद्धि (आवश्यकतानुसार घटाना और बढाना) – ये आठो चित्र के गुण कहे गये है।

साहित्य मे जैसे काव्य को शरीर या प्राण कहा गया है वैसे ही चित्रकला मे "सादृश्यकरण" को प्रधान कहा गया है। चित्रकला मे सौंदर्यबोध के अर्थ मे सादृश्य को लिया गया है। कुमारस्वामी इसकी परिभाषा करते हुए "The transformation of nature in Art" (पृ० १५) मे कहते है कि जिसमे भावना (कल्पना) और अनुभूति के ज्ञान का सारूप्य हो, उसे सादृश्य कहते है। –

Sādrśya as the ground (pradhāna) of painting may be compared to Sāhitya as the body (śarira) of poetry, consistently defined as the "consent of sound and meaning" (śabdārtha), and to sārūpya denoting the aspectual coordination of concept and percept essential to knowledge."

भामह ने काव्यालंकार, (१।१६) मे कहा है **"शब्दार्थो सहितौ काव्यम्"**; तथा रघुवश (१।१) मे कालिदास ने कहा है – **"वागर्थाविव सपृक्तौ"** – वाग (शब्द) और अर्थ के समान शिव-पार्वती एक मे संपृक्त है। उसी प्रकार रस और ध्वनि कला का शरीर है।

सादृश्य से मिलता-जुलता शब्द है "सारूप्य"। सारूप्य अर्थात् Co-aspectuality यह प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए प्रयोग किया जाता है। सादृश्य, सारूप्य, तदाकारता, अनुकृति, अनुरूप आदि अन्य स्थानो पर दो वस्तुओ के बीच सादृश्य (समानता) दिखलाने के लिए आता है। यही सारूप्य, ध्यान-योग मे साधारण्य और सायुज्य समाधि होने पर, ज्ञान ज्योति से उत्पन्न होता है।

सादृश्यकरण का केवल बाह्य रूप ही नही, वरन् पञ्चभूतो का आविर्भाव या व्यक्तीकरण भी चित्रो में प्रशस्त रूप से होना चाहिये। इस विचारधारा का समन्वय कौषीतकि उपनिषद् (३।८) के अतर्गत निहित है, जहा बोधगम्य अद्भुत् आकृतियों के भूताविशेषो का निर्देश किया गया है और उसे "भूतमात्रा" एवं 'प्रज्ञामात्रा' के नाम से सबोधित किया गया है। साथ ही यह भी निर्देश किया गया है कि वास्तव मे केवल विषय से ही रूप (विषय अथवा इन्द्रिय) की सिद्धि सभव नही है। इन्द्रिय से विषय की और विषय से इन्द्रिय की सत्ता मानी जाती है। यदि केवल विषय हो तो विषय से विषय का ज्ञान नही हो सकता अथवा यदि केवल इन्द्रिय रहे तो उससे भी इन्द्रिय का ज्ञान होना सभव नही है, अत: दोनो का – भूतमात्रा और प्रज्ञामात्रा का (विषय तथा इन्द्रिय का) – होना आवश्यक है। विषय और इन्द्रियो मे जो परस्पर भेद है वैसा प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रा मे भेद नही है, जैसे रथ की नेमि और अरो मे भेद नही है।

इसके अतिरिक्त जब यह कहा जाता है कि किसी चित्र मे अद्भुत् या निकटतम समानता विद्यमान है तब तत्सबधी शब्द, सदृशी एव सुसदृशी का प्रयोग किया जाता है। किन्तु यह कही भी निर्देश नही किया गया है कि कला

में अनुरूप सदृशता गुण का होना अवश्यम्भावी है। महाकवि भास विरचित स्वप्नवासवदत्ता[1] (अंक ६,१२) में "सदृशी", "अतिसदृशी" और "न सदृशी" शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसमे सदृशी का अर्थ सादृश्य है, अतिसदृशी मे अत्यधिक समानता है और न सदृशी अर्थात् चित्रकार कभी भी उस सुंदर रूप को बनाने मे समर्थ नही हो सकता। इसी प्रकार "रूपानुतुल्यता" शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है रूप की समानता। संसार में एक दूसरे की समानता (सादृश्य) दिखलाई पड़ती है।

मृच्छकटिक (४।१) में सदृशी और सुसदृशी का प्रयोग किया गया है —'**वसन्तसेना – चेटि मदनिके। अपि सुसदृशीयं चित्राकृतिरार्यचारुदत्तस्य।**' इसमे भी सदृशी का प्रयोग सादृश्य के अर्थ मे किया गया है। सदृशी-सादृश्यपूर्ण चित्र, यह पारिभाषिक शब्द है। सुसदृशी अर्थात् सुन्दरता से युक्त सादृश्य। इसे अत्यन्त सुन्दर अथवा आदर्श सौन्दर्य भी कह सकते है। इसी प्रकार नागानन्द मे सौसादृश्य[2] शब्द आया है। सुसदृश का भाव है सौसादृश्य – (**सुसदृशस्य भाव इति सौसादृश्यम्**)। सौसादृश्य अर्थात् बिल्कुल एक जैसा रूप।

इन प्रशंसात्मक शब्दो का जहा तक चित्रो से संबध है वह उसकी भाव ग्राहकता की प्रशसा करना है। प्रियदर्शिका मे कञ्चुकी वासवदत्ता की ओर देखकर कहती है — **सुसदृशी खल्वियं मम राजपुत्र्याः प्रियदर्शनायाः।** — अथात् यह तो हमारी राजकुमारी प्रियदर्शना से बहुत मिलती-जुलती है। अभी तक भिन्न-भिन्न पदार्थो में सादृश्य की गणना की गई है, किन्तु यहां पर व्यक्ति और चित्र मे सादृश्य मिलता है तथा सुसदृशी मे व्यक्ति (राजकुमारी) का सारूप्य बतलाया गया है। व्यक्ति और चित्र मे सादृश्य के वर्णन संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्राप्त होते है। जिनके कतिपय उदाहरण यहां प्रस्तुत है। —

महाभारत तथा भागवत मे उषा-अनिरुद्ध आख्यान में उषा को स्वप्न मे अपने भावी पति का दर्शन हुआ था। उसे जगत् मे खोजने के लिए उसकी सखियो ने उसे अनेक चित्रपट (शबीह-चित्र) दिखलाये। उसमें से एक चित्रपट पर अपने भावी पति का सादृश्य-चित्र या शबीह बनी हुई देखकर उसने उसे पहचान लिया।

प्राकृत की एक जैन कहानी 'तरंगवती' मे एक प्रसंग आया है कि — तरंगवती का नायक कही चला गया है, अत वह अपने घर मे चित्रो का प्रदर्शन करती है कि शायद उसके द्वारा उसका पता चल जाय। इसी प्रकार बिल्हणकृत कर्णसुन्दरी में नायक का अनुराग नायिका का सादृश्य-चित्र देखकर उत्पन्न होता है। बृहत्कथामजरी तथा कथासरित्सागर में सादृश्य-चित्रों के वर्णन भरे पडे है। कथासरित्सागर मे एक जगह शबीहो के चित्राधार (अल्बम) का उल्लेख हुआ है। मुगल काल मे भी ऐसे चित्राधारों का बहुत प्रचलन था। ये शबीह या प्रतिकृति सादृश्य-चित्र ही होते थे।

१—पद्मावती – (चित्रफलकं दृष्ट्वा आत्मगतम्) हम् ! अतिसदृशी खल्वियमार्याया आवन्तिकाया. । आर्यपुत्र ! सदृशी खल्वियमार्यायाः ?
राजा – न सदृशी। सैवेति मन्ये। भो. ! कष्टम्।
राजा – परस्परगता लोके दृश्यते रूपतुल्यता। – (स्वप्नवासवदत्ता, ६।१२)

२—सौसादृश्यम् — सर्वथा तुल्यरूपता – येन न ज्ञायते किं तावद् शिलातले तव प्रतिबिम्बं छाया सङ्क्रान्त पतिता, उत 'अथवा त्वं आलिखिता चित्रिता। किमयं तव मणिशिलातले प्रतिबिम्बः, अथवा चित्रमिदमिति निपुणं न ज्ञायते अत्र चित्रस्य बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनेन अतीवप्रकर्षं ताद्योत्यते। – (नागानन्द)।

इन उदाहरणो मे दो व्यक्तियो मे सादृश्य है। सदृश मे 'सु' उपसर्ग लगाकर सुसदृश शब्द बनाकर, स्त्री-वाचक 'ङीप्' प्रत्यय लगाकर 'सुसदृशी' शब्द निष्पन्न हुआ।

भवभूति ने उत्तररामचरित मे भित्तिचित्र पर पूरी रामायणी कथा के चित्र को अर्जुन नामक चित्रकार द्वारा अकित करने का वर्णन किया है। ये चित्र इतने तथ्यात्मक या सत्य प्रतीत होते थे कि राम ने एक बार सीता को यह कहकर सावधान किया कि — "अयि, चित्रमेतत्" — हे सीते ! यह तुम चित्र देख रही हो, जीवित दृश्य नही। इसमे चमत्कार सादृश्य है। ऐसे चित्रो के लिए विष्णुधर्मोत्तर मे "सत्यचित्र" की सज्ञा दी गई है। यह सत्यचित्र एक भावना थी। चित्रसूत्र मे सत्यचित्र का लक्षण बतलाया है ---

यत्किञ्चिल्लोकसादृश्य[1] चित्रं तत्सत्यमुच्यते ।। ४१।१ ।।

अर्थात् जिसमे किंचित्, थोडा-सा लोक मे सादृश्य हो, उसे सत्य-चित्र कहते है।

शिल्परत्न मे सादृश्य के लिए कहा गया है कि चित्र में सादृश्य ऐसे मान–परिमाण मे होना चाहिये जैसे स्वच्छ दर्पण पर प्रतिबिम्ब।—

सादृश्यं दृश्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ।
तच्चित्रमिति विख्यातं नालमाकारमात्रकम् ।।

इसी प्रकार मानसोल्लास (१।३।९३९) मे भी कहा गया है —

सादृश्यं लिख्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ।
तच्चित्रं विद्धमित्याहुर्विश्वकर्मादयो बुधाः ।।

किन्तु चित्रकार के लिए ऐसा सादृश्य दिखलाना अत्यन्त कठिन है। भारतीय कला का यह सादृश्य कैमरे की भाति सपूर्ण रूप से यथार्थ प्रतिकृति नही प्रस्तुत करता, वरन् उसमे कल्पना का भी समावेश होता है। विचारणीय है कि ऐसा सादृश्य चित्र या मूर्ति मे कहा तक सभव है। कालिदास ने रघुवश मे वर्णन किया है .

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ।। १६।१६ ।।

पद्मवनो से कमल तोडकर देते हाथियो के भित्ति चित्रो की सजीवता एवं अत्यधिक सादृश्य को देखकर, सिंहो को भ्रम हो गया और वे यथार्थ हाथी मानकर उस पर नखो से प्रहार करने लगे। इस वर्णन से सर्वथा सादृश्य रखता हुआ चित्र अजता की १७वी गुफा के छदन्त जातक मे मिलता है। इस चित्र की सजीवता को देखकर ऐसी भ्राति हो जाती है कि यह सत्य है अथवा अतीव सादृश्य से उत्पन्न भ्रांति या छलना है। इससे प्रतीत होता है कि निपुण चित्रकार इस तरह के "सत्य चित्र" अवश्य बनाते रहे होगे।

भारतीय चित्रकला का यह सादृश्य प्राकृतिक उपमानो से बहुत प्रभावित है जिसमें सत्य को शिव और सुन्दर के साथ अकित करने का आग्रह परिलक्षित होता है। ऐसे परम्परागत उपमान अब रूढ हो गये है। भारतीय कला मे शरीर-रचना के लिए निम्नलिखित उपमानों का व्यवहार होता है, जैसे—

१—यहाँ पर सादृश्य के स्थान पर "सदृशं" अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि तभी वाक्य पूरा होगा, अन्यथा सादृश्य कहने पर "दधत्" की आवश्यकता होगी।

कान – गिद्ध या पद्म या सीप। नाक – तिल-पुष्प, तोते की चोंच। नथुने – सेम का बीज। होठ – बिम्बफल। ठोड़ी – आम की गुठली। भौंहे – सुन्दरियों की धनुषाकार और राक्षसो की नीम की पत्ती की भाति[1]। गला – शख। कधे – हाथी का सिर। भुजा – हाथी की सूड। हाथो की उगलियां – सेम की फली या चपककली। धड – डमरू (नारी का)। कमर – सिंह की कमर। चेहरा – गाय का चेहरा तथा सात्विक भाव दिखलाने के लिए मुर्गी के अडे के समान चेहरा और देवियो का पान की पत्ती के आकार का भी चेहरा बनाते है। जघा – कदली-काण्ड (केले के वृक्ष के तने के समान) तथा हाथी की सूंड के समान। हाथ – पैर – कमल-दल अथवा कमल के नवीन पत्तें के समान। वक्ष – कपाट-वक्ष (कपाट के समान चौडा वक्षस्थल पुरुषो का)।

इसी प्रकार नेत्रों का सादृश्य या उपमा भी विभिन्न भावों को दिखलाने के लिए विभिन्न वस्तुओ से देते हैं। जैसे —

(१) सफरी मछली की आँखे चंचलता और अस्थिरता के लिए।
(२) खजन पक्षी की आँखें प्रसन्नता के लिए।
(३) हरिण की आँखे चंचलता, सरलता और निरपराधिता के लिए।
(४) कमल की आँखे सात्विक शान्ति व्यक्त करने के लिए।

कालिदास ने कुमारसम्भव (५।३५) में एक ही पंक्ति में नेत्रो के दो-दो उपमान दिये है —**"य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्स्वाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते"** ॥ – कमल और हरिण के समान नेत्र। इस प्रकार अंग-प्रत्यगो के अनेक उपमान सस्कृत साहित्य में बिखरे पड़े है जिनकी गणना करना अत्यन्त कठिन है। इन उपमाओ में रूप का सादृश्य तथा भाव का सादृश्य है।

चित्र मे जिसे सादृश्य कहते है उसी को काव्य मे "उपमा" की सज्ञा दी गई है। उपमा में आकृति का मान और प्रकृति का सम्मान – दोनों ही रखने हैं। महाकवि कालिदास और कवि शिरोमणि बाण ने इन उपमाओ का प्रयोग अपनी रचनाओ मे मुक्तकठ से किया है। कालिदास तो उपमा देने में अद्वितीय हैं, इसीलिए कहते है — **उपमा कालिदासस्य**। इनकी अनुपम उपमाओं का ही अनुसरण अन्य प्राचीन एव नवीन कवियो ने किया है। कालिदास रघुवश मे वर्णन करते है कि – स्वयंवर-मडप मे अन्य राजाओ को छोडकर, अज की ओर जाने वाली इन्दुमती राज-मार्ग पर, दीपशिखा सदृश है। वह जहा-जहा जाती है वहा-वहा प्रकाश होता है और पीछे अधकार होता जाता है। यहा राजाओ की खिन्नता की अभिव्यक्ति बड़े ही सुंदर ढग से उन्होने की है —

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिं वरा सा।
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

इसमे कालिदास ने मनोभाव का सादृश्य अति सुदर दिखलाया है।

चित्र के षडंग मे वर्णित सादृश्य, सदृश का लक्षणार्थ है और अभिधार्थ है सुसदृशी। जैसे — उपमा मे "मुखकमल" में कमल से मुख का साधर्म्य है परन्तु मुख तो कमल नही हो सकता। "मुखचन्द्र" में व्यतिरेक अलकार

१—नीम की पत्ती और भौंह का अनेक प्रकार से साम्य दीखता है। राक्षसो की भौहे मोटी, घनी तथा कांटेदार-सी होना, उनके बाल मोटे और कांटो–जैसे होना तथा उनमे भ्रूभंग का अभाव होना – सभी लक्षित होता है। इनका साम्य नीम की पत्ती में दीखता है, जिनका निरीक्षण कर कलाकार अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति का परिचय देता है।

है। चित्र में गोल चेहरे के लिए मुखचन्द्र का प्रयोग किया जाता है। अब सादृश्य सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर होता जा रहा है। अंधेरे मे रज्जु का सर्प से सादृश्य होने पर भ्रान्ति उत्पन्न होती है। इसी को वेदान्त दर्शन मे "चिदाभास" कहा गया है। "चिदाभास" का अर्थ है - चेतन न होते हुए भी चेतन की भांति प्रतीत होने वाला। यहा पर वही सादृश्य अति-सूक्ष्म, गहन हो गया है। "सुमदृशी" मे एक वस्तु से दूसरी वस्तु का साधर्म्य है। इसमें एक व्यक्ति का ही दूसरे व्यक्ति से सादृश्य है। अत यहा भी उससे मिलता-जुलता व्यक्ति ही आया, बिल्कुल एक जैसा वह व्यक्ति नही हो सकता, क्योंकि यह तो चित्र है, यह सर्वथा वास्तविक व्यक्ति या वस्तु नही हो सकती। सादृश्य दिखाते समय वस्तु के आकृति की अपेक्षा प्रकृति या स्वधर्म के पक्ष का सादृश्य दिखाना ही उत्तम है। वस्तुत: कलाकार परिचित वस्तु या दृश्य को नवीन ढग से एव नवीन वस्तु को चिरपरिचित रूप मे प्रस्तुत करता है और उसकी सफलता के कारण उसकी प्रशसा होती है।

कविता कवि के मनोभाव के सादृश्य को ग्रहण कर पाठक या श्रोता के मनोभाव को तत्सादृश्य बना देती है, चित्रकार भी यही कार्य अपने चित्र के माध्यम से करता है। इसीलिए कवि निर्भीक होकर मुखचन्द्र कह देता है। "मुखचन्द्र" की उपमा का सादृश्य रखे हुए भारत कला भवन मे पहाडी शैली का एक रोचक चित्र है जिसका शीर्षक "चकोर-प्रिया" है। इसमें एक चकोर नायिका के मुख मे चन्द्रत्व के गुण आह्लाद और सौंदर्य देखकर उसकी ओर आकृष्ट हो रहा है। चन्द्रमुखी नायिका को देखकर चकोर को चन्द्रमा की भ्रांति हो गई है (चित्र २८)।

चन्द्र और मुख में चित्रकार आकृति के सादृश्य के साथ ही, चन्द्रोदय मे होने वाले आह्लाद को भी मुस्कान आदि द्वारा दिखलाता है। वह प्रियमुखदर्शन करने पर प्रेमी के मनोभाव का सादृश्य ही दिखलाता है। अत कहना पडता है कि वही सादृश्य उत्तम है जो किसी एक रूप की व्यंजना को किसी दूसरे रूप के द्वारा व्यक्त करता है। मनो-भाव का सादृश्य ही उत्तम है। पंचदशी के "द्वैत–विवेक" मे वर्णन है :

मुषासिक्तं[1] यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा।
रूपादीन्व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्॥ २८॥

जैसे पिघले हुए तांबे को जब सांचे मे ढाल दिया जाता है तो वह सांचे के आकार का हो जाता है, वैसे ही रूपादि विषयो को व्याप्त करने वाला चित्त भी अवश्य ही, उन रूपादि के समान मनोमय दीखने लगता है।

कवि और चित्रकार प्रकृति की गोद में पनपते है, वे पुष्पो से, वृक्षों से वार्तालाप करते है, उसका निरीक्षण, पर्यवेक्षण कोमलता से करते है, तभी वे उसके मर्म को जान लेते है और वे प्रकृति के सहचर हो जाते है। वे सर्वप्रथम उसकी बाह्याकृति की ओर आकृष्ट होते हैं, पुन: धीरे-धीरे उसके अतर (मर्म) को पहचानने मे सफल होते है। जब "चरणकमल" कहा जाता है तो चित्रकार पहले उसकी चरण और कमल की आकृति को देखता है। वह देखता है कि कमल की पखुड़ी जिस प्रकार बीच मे से उठी हुई और दोनो ओर को झुकी हुई होती है उसी प्रकार पद–तल (तलवा) में बीच का भाग थोडा-सा ऊपर उठा हुआ है और एडी व पंजा नीचे तल को स्पर्श करता हुआ है, अर्थात् चपटा, सपाट पैर नही है। इसी प्रकार "करकमल" कहने से भी यही दिखलाई पडता है — हथेली का पूर्ण आकार कमल-पाटल के समान है और उसका मध्य भाग कुछ गहरा है। ये सब वास्तविक बातें प्रकृति से दूर रह कर आलो-चकगण नही जान पाते।

१—मूषासिक्त।

रघुवंश म वर्णित इन्दुमती के चित्र में मनोभाव रूप के और रूप, मनोभाव के छन्द या साचे मे पडकर, दोनो (छन्द साचे का, साचा छन्द का) का सादृश्य प्राप्त कर रहा है। कवि जब कमल से चरणो का सादृश्य (चरण-कमल) बता रहा है तब वह चरण और कमल की आकृति के सादृश्य को चूर्ण करके अपने मनोभाव को ही कमल की तरह रचना के छन्द मे अधिकार हमारे सामने उपस्थित कर रहा है, क्योकि केवल रूप–सादृश्य को लेकर चित्रित किया जाय तो रचना मनोभाव के सदृश किसी भी दशा मे नही होगी।

मेघ को मेघ कह देने मे मेघ का रूप-रग आदि स्पष्ट नही होता। किन्तु चित्रकार के चित्र मे और कवि की कविता मे, गीतकार के गीत मे ये मेघ रूप-रंग आदि के द्वारा विचित्र भाव से रूप या आकार पाते है। चित्र मे अगणित रेखाये होती है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्ण भेदादि जब मानसमूर्ति के सदृश अंकित करता है तभी यथार्थ सादृश्य होता है।

अजन्ता की गुफाओं मे अप्सराओ का चित्र जिन चित्रकारो ने बनाया है, उसमे अप्सराओ के दोनो पख न बनाकर पीछे की ओर मेघ बनाकर पक्षियों के पख का सादृश्य दिया है। चित्रकारो ने इस अप्सरा का नाम रखा है— "मेघ-चारिनी अप्सरा"।

सादृश्य मे उपमान और उपमेय का मिलाते समय कौन-सा रूप किसके साथ मिलने योग्य है अथवा अयोग्य है, इसे चित्रकार विचार कर लेता है तभी उसे मिलाता है। उसकी इस परख पर ही उत्तम अथवा अधम सादृश्य निर्भर करता है। जैसे — कमलपत्र पर एक बूंद जल दिखलाकर, चित्रकार पृथ्वीमाता का सादृश्य उपस्थित करता है। यह प्रतीक चित्र उत्तम सादृश्य का द्योतक है। स्थान, काल और पात्र के अनुसार उपमा मे परिवर्तन करते है। जैसे — कमलनयन, कम्बुकण्ठी, बिम्बाधर, "वरदन्त की पगति कुन्द-कली" – मे उत्तम सादृश्य है। यह सादृश्य अपरूप रूप–सृष्टि के समय देते हैं। मूली जैसे हाथी के दांत, सूप जैसे कान, ये सब सादृश्य राक्षसी, दानवी आदि ऐसे विभिन्न विरूप-चित्र मे देते हैं, जैसे – हयग्रीव आदि। यह "आकृतिगत सादृश्य" है।

भाव को जानने के लिए उपमा ही काम मे आती है। उत्तम लोगों के लिए उत्तम उपमा का प्रयोग करते है और अधम लोगो के लिए अधम उपमा। इसी प्रकार चलने की गति की उपमा देते है, जैसे — "अतिगजगामिनी", **"किवा पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव॥"** ३।५४॥ कुमारसम्भव के मदन-दहन नामक तृतीय सर्ग मे वर्णन है कि शिव जी ध्यान-मग्न तपस्यारत बैठे हुए है, उसी समय कामदेव अपने काम-शर तथा सखा वसत के साथ शिव जी के सम्मुख आते है। उसी समय पार्वती जी भी दो वनदेवियों के साथ वहा पर वसंत के पुष्पो अशोक, कर्णिकार, सिंदुवार आदि से सुसज्जित होकर आती है। उस समय वे स्तनो के भार से झुकी हुई, लाल वस्त्र धारण किये हुए ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों पुष्पो के गुच्छो से लदी हुई कोई चलती-फिरती लता हो।

सिगरिया गुफा में भी एक सुन्दरी का इससे मिलता-जुलता एक चित्र है। वह भी पार्वती के समान स्तनो के भार से कुछ झुकी हुई, कमल के पुष्पों से केशो को सुसज्जित किये, हाथो मे फूलो को लिए हुए अंकित की गई है। चलने की गति मे यह जो सादृश्य अंकित है वह भाव-भंगीगत सादृश्य है। विभिन्न आकार मे विरोध होना स्वाभाविक है। भावुक के नेत्रो मे पार्वती **'संचारिणी पल्लविनी लता'** के समान प्रतीत होती है किन्तु सामान्य लोगो को साधारण नारी के समान ही दिखती है। कवि एव चित्रकार भावुक होते है, अतः वे तद्वत सुन्दर उपमा देते है। अवस्था भेद, क्रिया-भेद, स्थान-काल-पात्र भेद से विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का विभिन्न भाव का सादृश्य होता है। सारांश यह है कि भाव का अनुरणन जो कुछ देता है वह उत्तम सादृश्य है और केवल आकृति या रूप का अनुकरण जो कुछ देता है वह अधम सादृश्य है।

अलंकार शास्त्र में स्मृति, भ्रान्ति और संदेह का प्रयोग साहित्य में मिलता चलता हुआ है। चित्र मे भी इनका प्रयोग मिलता है किन्तु शिल्पी अपनी ओर से इस प्रकार के भाव को बहुत महत्व नही देते। जैसे – "महाभारत" की कथा मे वर्णन है कि इन्द्रप्रस्थ मे स्फटिक की निर्मित एवं स्फटिक मण्डित भूमि ने दुर्योधन को भ्राति मे डाल दिया। वह स्थान-स्थान पर जड़े हुए स्फटिक निर्मित भित्ति को द्वार समझकर प्रवेश करने चला, तभी भित्ति से सिर टकरा जाने से क्रुद्ध होकर बैठ गया।- यह "निम्नतर '**भ्रातिमत् सदृशकरण**'" का उदाहरण है। इसमे प्रताड़ना या धोखा देना है।

जब किसी चित्र को देखने पर वास्तविक मनुष्य की भ्रान्ति होती है तब उसे चमत्कार सादृश्य कहा जाता है। इसी को उलट कर मनुष्य को देखकर जब कहते है कि "वाह! चेहरा ऐसा है जैसे चित्र!" तब वास्तविक मनुष्य को देखकर चित्र का भ्रम होता है। साथ ही नेत्र, पलक आदि के स्पन्दन को देखकर मन मे विस्मय और सदेह उत्पन्न होता है। अतत मनुष्य का निश्चय होता है। — यह दोनो प्रकार का सदेह सदृशकरण, निश्चयान्त सदेहालकार कहकर, भ्रान्तिमत् अलकार के स्तर पर रखा गया है।

सदेह, तुल्ययोगिता, सादृश्य इत्यादि मे उपमा ही प्रधान होती है। नैयायिक शुक्ति मे रजत की भ्राति करते है। दोनो मे साम्य है, शुक्ति मे रजत का गुण (चमक) है। उपमा एकदेशीय होती है उसी तरह सादृश्य भी सीमित क्षेत्र मे होता है, जैसे "कमलनयन" कहने मे नेत्र केवल कमल पुष्प के समान है, कमलगट्टे के समान नही। अत हम पाते है कि सादृश्य कही तो बाह्य आकार मे साम्य रखता है और कही प्रफुल्लता (गुण) के अर्थ मे। अत **सादृश्य में उपमा, गुण और शबीह यह तीनों ही अर्थ निहित है।**

साहित्यदर्पण मे संचारी भाव के अन्तर्गत "स्मृति" मे "सादृश्य" का निरूपण किया गया है। सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता – स्मृति के प्रमुख उद्बोधक है---**सादृश्यादृष्ट चिन्ताद्याः स्मृति-बीजस्य बोधकाः।**[1] इनमें स्मृति के (बीज रूप मे छिपे) प्रथम उद्बोधक सादृश्य से कल्पना का घनिष्ठ सबध है। मेघो के झीने चीनाशुक मे छिपे चाद को देखकर, अवगुठन की हुई अपनी प्रियतमा का स्मरण हो आना, सादृश्य से उद्बुद्ध स्मृति है और उसे काव्य मे योजित कर देना कल्पना का कौशल है। यहा पर उपमा के अतर्गत सादृश्य है। यहाँ सादृश्य का अर्थ शबीह नही है वरन् समान दिखलाई पडने के अर्थ मे है।

सादृश्य मे तीन प्रकार की श्रेणिया है—(१) घटनामूलक सादृश्य, (२) कल्पनामूलकसा दृश्य और (३) भावनामूलक सादृश्य। घटनामूलक सादृश्य में सत्य प्रतिरूप, पोर्ट्रेट पेंटिंग बनाते है। कल्पनामूलक सादृश्य मे यथार्थ प्रतिकृति (True copy) नही बनाते। कलाकार अपने मन से वास्तविक वस्तु के चित्रण मे कुछ कल्पना द्वारा सुदर रूप देता है, तब वह अद्भुत्-रूप-सृष्टि हो जाती है। भावनामूलक सादृश्य मे अतर्निहित गुप्त भाव, रूप और कल्पना द्वारा चित्र मे अभिव्यक्ति पाते है। इसमे भाव और रस ही प्रधान होते हैं। भाव के अनुसार ही वातावरण की सृष्टि करते है।

मेघदूत मे कालिदास कल्पनामूलकसादृश्य का अतीव सुन्दर वर्णन करते है। विरह मे रमणिया अपने मन-बहलाव के लिए अपने कान्त के चित्रलेखन मे व्यस्त होती है। यक्ष कहता है कि मेरी पत्नी भी विरह मे क्षीण हुई मेरी आकृति लिखती होगी। यक्षिणी के मन मे यह विश्वास दृढ है कि विरह में यक्ष की दशा अत्यन्त शोचनीय हो

१—सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषय ज्ञानमुच्यते॥—साहित्यदर्पण, ३।१६२।

गई है। इसलिए आठ महीने तक पति के दर्शन न पाने पर भी वह केवल मनोभाव की कल्पना से यक्ष के सादृश्य का अनुमान कर लेती है -

मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।

यक्ष-यक्षिणी का प्रेम चित्रादि-दर्शन और गुण-श्रवण से पूर्वानुराग की भांति उत्पन्न नहीं होता, वह सम्भोग-अवस्था में अत्यन्त प्रगाढ़ हो चुका है और विप्रकृष्ट दशा में "सादृश्य दर्शन", "प्रतिकृति-लेखन", स्वप्नादि द्वारा स्फुट होकर स्थायी भाव की पुष्टि कर रहा है। सम्भोग शृंगार में प्रियतम का दर्शन तुरन्त रति की पुष्टि करता है। वियोगावस्था में यक्ष ने जिन्हें साक्षाद्दर्शन का प्रतिनिधि बनाया है उन सादृश्य चित्रादि से भी वह तुरन्त रति का सुख अनुभव करना चाहता है। उसकी हार्दिक इच्छा यही है कि जहां भी पत्नी के दर्शन हों, चित्र में या स्वप्न में, सदृशवस्तु में या तदंगस्पृष्ट वस्तु में, सर्वत्र ही आलिंगन का अनुभव किया जाय।

वियोगावस्थासु प्रियजनसदृशानुभवनं ततश्चित्रकर्म स्वप्नसमये दर्शनमपि।
तदंगस्पृष्टानामुपनतवतां दर्शनमपि प्रतीकारोऽनंगव्यथितमनसां कोऽपि गदितः॥

विरह में सदृश वस्तुओं में यक्ष के नेत्र अपनी प्रिया की रूपराशि को खोजते-फिरते हैं, परन्तु उसका सादृश्य इस संसार में न मिलने से वह हताश हो जाता है। यथा --

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्,
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥ मेघ० २।४१।

प्रियगु लताओं में उस भामिनी के तनु की सुघराई है, चकित हरिणी के कटाक्षों में चंचल अपांगों की समता है चन्द्रमा के बिम्ब में मुख की उज्ज्वलता है, मयूरों के पिच्छ-भाग में केश-कलापों की छटा है और नदियों की चंचल तरंगों में भ्रू-विक्षेपों की बंकिम गति है। इस प्रकार उसके प्रत्येक अंग में वैभव की सुरक्षा के लिए प्रकृति में पृथक्-पृथक् स्थान कल्पित है। परन्तु एक स्थान में इन सौंदर्य-राशियों का समवाय कहीं देखने को नहीं मिलता। इसीलिए यक्ष की आलिंगन-कामना मन-की-मन में ही रह जाती है।

यक्षपत्नी को विधाता ने अलका की समस्त सुर-सुन्दरियों के आदि में रचा था। उसकी निर्माण-सामग्री में से ही कुछ अवशिष्ट भाग श्यामा, लता, चन्द्रमा, हरिणी और मयूरी के भाग्य में आ गया है। उसको एक बार रच-कर उसकी प्रतिकृति रचने की चेष्टा विधाता ने कभी नहीं की। यह "कल्पनामूलकसादृश्य" का अतीव सुन्दर उदाहरण है।

सादृश्य-कल्पना में कवि रूप-साम्य रखने वाले कुछ दूरवर्ती अप्रस्तुतों का बिम्बानुबिम्ब विधान करता है। इस प्रकार सादृश्य-कल्पना काव्य के वर्ण्य और अवर्ण्य या प्रस्तुत और अप्रस्तुत की कुछ उभयनिष्ठ विशेषताओं को ग्रहण कर चलती है। जैसे, निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने नीलोत्पल और खंजन को दमयन्ती के नेत्रों का बिम्बानु-बिम्ब अप्रस्तुत बनाकर सादृश्य-विधायिनी कल्पना से काम लिया है —

पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिपनुर्यमादाय विधिः क्वचित् तान्।
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चैः पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम्॥ नैषध०॥

सरलार्थ यह है कि विधाता नीलोत्पलों को शीतकाल में तथा खजनों को वर्षाकाल में कहीं इकट्ठा करके रखता है और प्रतिवर्ष उनसे सार निकालकर दमयन्ती के नेत्रों को पुष्ट करता है।

इसी प्रकार की सादृश्य-कल्पना अतिशय से समन्वित होकर "अतिशयोक्ति मूलक सादृश्य-कल्पना" बन जाती है। कल्पना कलाकार की मानसिक सृजन-शक्ति है। अतः कविता, चित्र एवं अन्य ललित कलाओं के प्रमुख तत्वों में रचना की दृष्टि से कल्पना सर्वोपरि स्थान रखती है। कल्पना ही वह तत्व है जिससे कवि या कलाकार को नूतन सृजन और अभिनव रूप-व्यापार विधान की शक्ति प्राप्त होती है।

दृश्य-कला और श्रव्य-कला के विभाजन को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि चित्रकार, मूर्तिकार तथा स्थापत्यकार के पास सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना की अधिकता रहती है, जब कि संगीतकार और कवियों के पास संवेग-संचार कल्पना की प्रधानता रहती है। सादृश्य-कल्पना एक ऐसी मानसिक सृष्टि है जिसमें सौंदर्य-बोध के साथ सम्मूर्त्तन की क्षमता और भावोद्बोधन का गुण रहता है। वस्तुतः भाव की झंकार ही उत्तम सादृश्य है।

६—वर्णिकाभङ्ग

रेखा च वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च।
विज्ञेया (य) मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु[1] भूषणम् ।। वि० ध०, ४१।१० ।।

विष्णुधर्मोत्तर में रेखा, वर्तना (छाया, उजाला), आभूषण और रंग (वर्ण) को चित्रकारी का भूषण कहा गया है। भूषण अर्थात् सजाना, Decorative treatment- जैसे मेघ, वृक्षादि को कलाकार अपनी शैली में कल्पना से अलंकृत करता है, adornment decoration.।

रेखा प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च[2] विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः ।। वि० ध०, ४१।११ ।।

बुद्धिमान् व्यक्ति या आचार्य रेखा आदि की प्रशंसा करते हैं और जो अज्ञानी हैं, कला को नहीं जानते, वे कलाकार के रंगों की चमत्कारिता को देखते हैं। यहाँ पर आचार्य (चित्राचार्य, कलाकार, कवि) को प्रमुखता दी गई है और विचक्षण (कोविद, आलोचक, connoisseur) की एक प्रकार से हंसी उड़ाई है कि वे तो वर्तना (परदाज) तक ही रह जाते हैं किन्तु आचार्य उनसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे रेखा की विशेषता को जानते हैं।

इतर जन (सामान्य व्यक्ति) रंगों की सम्पन्नता को पसंद करते हैं। रेखा, वर्तना, भूषण (Rich-decoration) और वर्णाढ्यता – ये चारों चित्र के गुण माने गये हैं। महाकवि भास विरचित दूतवाक्यम् में भी दुर्योधन वर्णाढ्यता (वर्ण, रंग) की प्रशंसा करता है — **अहो ! अस्य वर्णाढ्यता।**[3] वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका अर्थ किया है — इस चित्र के डहडहे रंग की कैसी शोभा है। कुमारस्वामी ने वर्णाढ्यता का अर्थ लिखा है "Richness

---

१—चित्रकर्मैव भूषणा।

२—विलक्षणा।

३—वर्णाढ्यता – वर्ण+आढ्यता। आढ्य से ही आजकल आढ़त शब्द बन गया है। आढ़त उसे कहते हैं जहाँ सेठ लोग थोक सामान खरीदते हैं। आढ्य का तात्पर्य अधिकता से है। वर्णाढ्यता-वर्ण की अधिकता, जिसमें बहुत प्रकार के रंगों का प्रयोग किया गया है।

of colour" । चित्र के षडंग के श्लोक में "वर्णिका भंग" अथवा "वर्णाढ्यता" को सबसे अंत में रखा गया है। अतः कुछ विद्वानों के विचार में यह सर्वप्रमुख और सबसे कठिन साधना है।

मूलतः वर्णिकाभंग में दो शब्द हैं - (१) वर्णिका एवं (२) भंग।

(१) वर्णिका चित्र या चित्र-शैली में व्यवहृत विशिष्ट वर्णों, रंगों का समवाय। यही चित्र को रूपभेद, प्रमाणादि से अलग करता है। जिसमें रंग हो वह चित्र है किन्तु रेखा-चित्र भी चित्र है क्योंकि काले-सफेद रंगों में ही सब रंग छिपे हुए हैं।

(२) भंग भंगिमा, ढंग, रीति। जैसे – दाक्षिणात्यभंगी, वर्णाढ्भंगी ("चतुर्भाणी" में)। भंगी अंगभंगी (Mode)।

"वर्णिका" है - Application of colour और "भंग" है — Fusion of colours.

वर्णिकाभंग का अर्थ है — भावानुसार चित्र में वर्णों का प्रयोग, Combination and harmony of colours, tonality (रंग के टोन से यह शब्द बना है), rendering of colour relations.

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार वर्णिकाभंग की परिभाषा–नाना वर्णों की सम्मिश्रण भंगिमा और भाव, वर्णवर्तिका की खींच-तान, अर्थात् ब्रश को दबाना, उठाना, कितनी जल्दी ब्रश को खींच लेना, आदि की भंगिमा। वे 'गोल्डेन जुबली वाल्यूम' (पृ० २१) में कहते हैं : –

"वर्णिका-भंग means colouring, delineation with brush and pigment, brush strokes, etc The knowledge of pigments and colour mixtures as well as the art of penmanship and brush strokes is the last and most difficult attainment of all"

वर्णज्ञान और वर्णिकाभंग षडंग–साधना की अधिक कठोर एवं चरम साधना है।

कुमारस्वामी "वर्ण" का अर्थ करते हैं — Colour, Sound, Scale, Palette; और वर्णिका-भंग – distribution of colour.

वर्णिका–भंग के संबंध में रायकृष्णदास का कथन है — रंगों का हिसाब। किसी चित्र में रंग बटकर लगाते अर्थात् एक–दूसरे से भिन्न होते हैं, किसी में मिलने–जुलते रंग लगते हैं, किसी में चुहचुहाते रंग लगते हैं और किसी में बुते हुए। किन्तु किसी अवस्था में विरोधी व बेजोड़ रंगों का प्रयोग न होने पाये कि उसकी वर्णमैत्री असंतुलित हो उठे। कलाकार को ऐसे दोष बचाने चाहिये और चित्र के विषयानुकूल रंग का यथोचित प्रयोग करना चाहिये।

वर्णिकाभंग कहने के साथ ही दो बाते तुरन्त ध्यान में आ जाती हैं — (१) रंग कैसे लगाते हैं, (२) रंग कहां–कहां लगाते हैं और उन रंगों का क्या अर्थ एवं प्रभाव होता है।

आलेख्य वस्तु का रेखांकन करके ही रंग-विधान किया जाता है। आधुनिक चित्रकारी की भाषा में इसे "टिपाई" (टीपना) कहते हैं; फिर उसमें अनावश्यक रेखाओं को छिपाने के लिए सफेदा[1] लगाया जाता है, जिसे

१—उच्चकोटि का सफेदा जस्ता को फूंककर बनाया जाता था। इस वैज्ञानिक युग में भी उत्तम पारदर्शी रंगों को "गद" (ओपेक अर्थात् रेखा को ढकने के लिए) करने के लिए जिंक आक्साइड का ही प्रयोग होता है।

मुगल चित्रकार "गदकारी" कहते है। गदकारी करके पुन रेखाओं मे ही चित्र के सारे ब्योरों को व्यक्त करते है, इस प्रक्रिया को "खुलाई"[1] (उन्मीलन) कहते है। रंग भरने वाले चित्रकार को "वर्णाट" कहा जाता था। मेदिनीकोश मे चित्रकार का पर्याय 'वर्णाट" शब्द भी है -- अर्थात् जो विविध रगों की मिलावट का जानकार हो। **नानार्थार्णव सक्षेप कोश में** "रंगाजीव" शब्द भी इसी अर्थ मे आया है (३१५,२०)। फारसी मे अलग अलग खाने मे रग भरने की प्रक्रिया को "रगामेजी" कहते है।

शुक्रनीति (४।१०७) मे कहा गया है— **पृथक् पृथक् क्रियाभिर्हि कलाभेदस्तु जायते** ।--क्रिया के भेद से नाना रूप की कलाये होती है। इसी प्रकार चित्र बनाने के लिए तूलिका चलाने की कला और रग आदि के प्रयोग करने का कलापूर्ण ढग जानना आवश्यक है। तूलिका एव रगो के व्यवहार का ढग, समय और उसकी आवश्यकता के के साथ-साथ बदलता रहता है। कुम्हार लोग बाल की तूलिका के अतिरिक्त अभी भी मूज की कूची का प्रयोग करते है। रग और उसके व्यवहार की रीति मे भी समय के साथ परिवर्तन हुआ है। आरम्भिक काल मे कोयला, गेरू खड़िया, रामरज आदि रंग (Mineral Colours) का प्रयोग होता था। पुन वनस्पति रंग तथा अन्य तैल मिश्रित एवं रोगनी आदि रगों के प्रयोग होने लगे। इसी प्रकार तूलिकाओं मे भी परिवर्तन हुए, पहले मूज की कूची, जिन्हे कूर्चक (कूचकर बनी हुई) कहा जाता था, फिर नारियल के ब्रश बनने थे। मुगल चित्रकार गाय के बछड़े के कान के बाल तथा ऊट, गिलहरी, बकरी आदि के बालों से ब्रश बनाते थे।

अवनी बाबू कहते है कि शिवजी ने पार्वती को वर्णमाला का परिचय कराते समय रूप के साथ ही रंग का भी परिचय कराया था, क्योंकि रूप-रग के अंदर सभी कुछ (समष्टि-रूप-रग) आ जाता है। उस समय महादेव जी पार्वती से कहते है --**वर्णज्ञानं यदा नास्ति किं तस्य जपपूजनैः** । यदि वर्ण (रग एव अक्षर) का ज्ञान नहीं उत्पन्न होता और वर्णिकाभग का – उस पतली-सी तूलिका की खीच-तान (कर्षकर्म)[2] पर अधिकार नहीं होता तो षडग की पांचों साधनायें रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य व्यर्थ हो जाती है। वर्ण चित्र का धर्म है, इससे उसकी अन्य कलाओं से भिन्नता प्रतीत होती है। यदि वर्ण और तूलिका के ज्ञान के बिना चित्रकार उनका अनन्य अनर्थक प्रयोग करते है, तो अनभ्यास के कारण कागज पर या तो बदरंग, भद्दे रग लगेंगे अथवा तूलिका से कागज पर रग लगाने मे भय से हाथ काप जायेगा। ऐसी परिस्थिति मे चित्रकार का उसकी तूलिका और रगों के प्रयोग पर अधिकार नही कहा जा सकता। इन रंग व तूलिका प्रकरणों की सफलता प्राप्ति के लिए कलाकार को साधना करनी पडती है।

१—टेक्नीक आफ मुगल पेंटिंग, मोतीचन्द्र तथा भारत की चित्रकला – रायकृष्णदास।

२—समरागणसूत्रधार मे चित्रकला के आठ अंग बतलाये गये है, जिनमे से पंचम अग को "कर्षकर्म" कहा गया है।— पचमं कर्षकर्म स्यात् षष्ठं स्याद् वर्तनाक्रम.। इसका पाठभेद है – "वर्ण-कर्म"। कर्षकर्म 'Attracting" और वर्ण-कर्म "Colouring" कुमारस्वामी कहते हैं—"The word Varnakarma would be quite intelligible, and in the right sequence; as to karṣa karma which could have been better understood in the third rather than the fifth place, It should be noted that sanskrit "Kriṣa", and its derivatives, like Hindi 'Khīnchanā' and English "draw", have the double sense of drawing in the sense of dragging, attracting and of delineating, so that while Varṇa Karma is probable, and perhaps more intelligible, Karṣa–Karma is by no means an impossible reading. —"JAOS, Volume 52, 1932, Coomarswami,"

Viṣṇudharmottara, Chapter 41, F N 7

परिलक्षित करना रह जायेगा और सब कुछ बिगड़ जायेगा। तूलिका के छोर से उन्नत आकृति देकर दिखाने के लिए हाथ की न जाने कितनी क्षिप्रता एवं स्पर्श की न जाने कितनी लघुता की आवश्यकता पड़ती है। वर्णिकाभंग के वर्ण परिचय में यही इसकी शिक्षा का सार है।

चित्रकार की खीची रेखा और खतकश (रेखाकार) की खीची रेखा में बहुत अंतर है, खतकश की रेखा निर्जीव होती है और चित्रकार की सजीव। चित्रकार के प्राणों का छन्द उसकी तूलिका की (Brush stroke) सीधी-टेढ़ी-बाकी अथवा गतिशील या स्थिर या छुटी या जुटी रेखा में रहता है। जैसे यदि किसी कन्या के मस्तक से चिबुक तक की एक रेखा को खीचना हो तो इसमें तूलिका के तीन प्रकार के भंग (Brush stroke) या भंगिमा अथवा स्पर्श का प्रयोग करना होगा। सिर की हड्डी मजबूत और कड़ी होती है, अत: वहा पर तूलिका को दृढता से या कड़ा करके ; कपोल कोमल होता, अत: वहा तूलिका को लुढ़का कर कोमलता से , और नातिदृढ़ चिबुक के पास कोमल–कठोर–मिश्रित रेखा को खीचते है। इसमे एक ही रेखा में कठोर, कोमल और अति कोमल, ये तीनो प्रकार आ गये है। सुविभक्तता में शरीर की सप्रमाण भंगिमा होती है, उसी प्रकार वर्णिका भग में रंगो की भंगिमा कहा कितना अधिक और कितना कम होना चाहिये, दिखाई देती है।

तूलिका मे रग कितना उठाया जाता, उसके छोर पर कितना रंग अथवा उसे कितना रूखा रखा जाय , रग–रजित तूलिका को कितने हल्के या भारी हाथ से कागज पर चलायें–(जैसे चित्र में उन्मीलन या फिनिशिंग करते समय जहा बारीक रेखा और बारीक अलकरण करना होता है वहा पर तूलिका को जल में बहुत जरा–सा भिगो कर, बहुत ही थोड़ा सा रग लगाकर रेखाकन करते हैं और यदि रंग अधिक हो जाता है तो उसे कम कर देते हैं। किन्तु जहा रग भरना अथवा सपाट साया देना रहता है वहा तूलिका में कुछ अधिक रग लिया जाता है।)–इसी के बारे में ज्ञान प्राप्त करना ही षडग के वर्णिकाभग की अन्तिम शिक्षा या चरम शिक्षा है। चित्र में मनोवाछित रग का यथोचित प्रयोग करना, अपने मन के अधकार को घना बनाना या मन के आलोक को उज्जवल करना करना अथवा मन में उत्पन्न षड्ऋतुओं की विचित्र छटा की अनुभूति को प्रकट करना ही वर्णिकाभंग का वर्णज्ञान है। इसे जानने के पश्चात् रग आदि शेष उपकरणों को जानना सरल है। वर्णिकाभंग की यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म है कि श्रेष्ठ, उत्तम कलागुरु से ही श्रद्धापूर्वक सीखी जा सकती है। इस वर्णिकाभंग की इन सूक्ष्मताओ के संबध मे किसी भी चित्रकला के ग्रंथों मे उल्लेख नही है।

"वर्ण" के दो अर्थ है—(१) रंग, (२) अक्षर। चित्रकला में वर्ण का अर्थ रग लेना ही समीचीन है। चित्र के सौंदर्य–विधान मे रग–परिज्ञान का स्थान महत्वपूर्ण है क्योकि रंग का प्रभाव परिस्थिति–भेद और व्यक्ति–भेद से बदलता रहता है। वर्ण–बोध पर अवस्था और मन.स्थिति का भी बहुत प्रभाव पड़ता है।

वर्णिकाभंग की सिद्धि वर्णो के सम्यक् विधान पर आधारित है। वर्ण (रंग) अनन्त हैं। उनका निर्माण और प्रयोग किस रूप में होना चाहिए, इस सबंध में अनेक ग्रथों में भिन्न–भिन्न मत है। रग के मुख्यत. दो भेद है—(१) शुद्ध वर्ण (Primary Colour), (२) मिश्र वर्ण (Mixed Colour)। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे "आहार्याभिनय" के प्रसग मे वर्ण (रग) सबंधी अनेक महत्वपूर्ण बातें बतलाई गई हैं और विष्णुधर्मोत्तर मे भी "वर्ण–विधान" सबंधी विवरण पर्याप्त मात्रा मे है। उसमें पांच प्रकार के वर्ण मुख्य माने गये है—

मूलरङ्गाः स्मृताः पञ्च श्वेतः पीतो विलोमतः।
कृष्णो नीलश्च राजेन्द्र शतशोऽन्तरतः स्मृताः॥ ४०।१६॥

(१) श्वेत, (२) पीत, (३) रक्त (लाल, जैसे काले का उल्टा सफेद होता है उसी प्रकार पीले का उल्टा (विलोम) लाल होता है ।), (४) कृष्ण और (५) नील । बाणभट्ट ने भी पाच प्रकार का प्रमुख रंग माना है—

(i) "प्रियङ्गुवनायमानं रोचनातिरक्त भक्तिभिः, नीलायमानं कृष्णागुरुपत्रभङ्गैः, लोहितायमानं कर्णपूराशोकपल्लवैः, धवलायमानं चन्दनरसविलेपनैः, हरितायमान श्रीशकुसुमाभरणैः ।" – (कादं०, अनु० १९०) यहाँ स्पष्ट ही पीत, नील, लोहित, धवल और हरित (या कृष्ण) – इन पाच शुद्ध वर्णो का उल्लेख आया है ।

(ii) "असित-पीत-हरित-पाटलाभिराखण्डल – चापानुकारिणीभिर्लेखाभिः कल्माषितशरीरम् ।" (कादं०, पृ० २३९) । – अर्थात् इन्द्रधनुष का अनुकरण करने वाली – काली, पीली, हरी, श्वेत और रक्त वर्ण की रेखाओं से उस इन्द्रायुध नामक घोड़े का सपूर्ण शरीर चित्रित था । इसमे भी पांच प्रकार के वर्णो का उल्लेख है । इन्हे ही नागानन्द मे "पञ्चरागिणो वर्णा" कहा गया है । किन्तु भरत मुनि ने अध्याय २१ मे चार ही प्रकार का मुख्य या स्वभावज वर्ण माना है —

सितो नीलश्च पीतश्च चतुर्थो रक्त एव च ।
एते स्वभावजा वर्णा ·· ··· ··· ··· ।
संयोगजा पुनस्त्वन्ये उपवर्णा भवन्ति हि ।।

(१) सित, (२) नील, (३) पीत और (४) रक्त । सफेद, नीला, पीला और लाल – ये चार स्वभावज वर्ण (Primary Colour) है । बिहारी ने भी चार स्वभावज वर्णो को मान कर बिहारी सतसई के इस दोहे में कहा गया है —

अधर धरत हरि के परत, ओठ-डीठि पट-ज्योति ।
हरित बांस की बांसुरी, इन्द्रधनुष रंग होत ।।

कालिदास ने भी चार प्रकार के शुद्ध वर्णो को माना है । चित्रो के लिए ये रंग प्रायः मिट्टी और रगीन पत्थर को कूटकर बनाये जाते थे । इन्हे "धातुराग" कहा जाता था । पीतासिता – रक्तसितैं सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् । (कुमार० १४।३१) । इन चारो रगो के मिश्रण से सैकडो प्रकार के उपवर्णों की सृष्टि होती है । रंगो का उचित रूप से संयोजन और चित्र मे उनका यथास्थान उपयुक्त प्रयोग – ये दोनों बाते चित्रकार की कुशलता पर निर्भर है । विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है —

पूर्व (१ वें) रङ्गविभागेन भावकल्पनया तथा ।
स्वबुद्ध्या कारयेद्रङ्गं शतशोऽथ सहस्रशः ।। ४०।१७ ।।

अपनी बुद्धि के अनुसार भाव की कल्पना तथा रंगो का मिश्रण कर सैकडो – हजारो प्रकार के रग बनावे । विष्णुधर्मोत्तर (३, २७।७–१५) की दृष्टि से उनकी सख्या की परिगणना नही की जा सकती ।

"रगविभाग" अर्थात् रंग बाटना । कई रगो के मिश्रण में उनके विभाग के अनुपात (कम या अधिक) को जानना आवश्यक होता है । "भावकल्पनया" – भाव में कल्पना होती है और रग से भाव का संबध है । मनोवैज्ञानिक विश्लेषण (Psycoanalysis) से रग की प्रवृत्ति का भी पता लगता है। भाव से चेहरे पर रंग प्रगट होता है । भरत ने भी भाव के अनुसार रग माना है, यह परम्परा है । कुछ सीमा तक भाव से रंगों का सबध अवश्य है, यह भरत के

मन मे था। तभी तो लाल और नीला रंग मन को बहुत आकर्षित करता है। अजंता मे लगभग २५ मिश्रित रंगो का प्रयोग दिखलाई पड़ता है किन्तु "विष्णुधर्मोत्तर" मे शतशः मिश्र वर्ण कहा गया है।

वर्णों के चतुर चितेरे बाणभट्ट ने तो मिश्र वर्णो का इतनी सूक्ष्मता से निरीक्षण करके उसका वर्णन कादम्बरी और हर्षचरित में किया है कि ऐसा वर्णन करने में आज भी कोई कवि समर्थ नही हुआ है। इन मिश्र वर्णो की तालिका परिशिष्ट मे दी गयी है। रंगो के भांति-भांति के इस मिश्रण को बाणभट्ट ने अपनी श्लेषात्मक शैली मे "वर्ण-सकर" कहा है (चित्रकर्मसु वर्णसंकरा. – काद०, अनुच्छेद २)।

नीले रग मे पीला मिलाकर तैयार किया हुआ हरा रंग उत्तम होता है, वह चाहे शुद्ध हो या श्वेतमिश्रित। रूपों के अनुसार उसमें किसी एक रंग की अधिकता की जा सकती है। उसमे श्वेत रंग की अधिकता या न्यूनता अथवा समता रहने से वह तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार उसमें एक-एक स्थायी रंग मिलाने से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। उससे दूर्वा के अंकुर के समान या किञ्चित् पीत या कठबेल की तरह हरित या मूंग की तरह श्याम (मुद्ग-श्यामा) वर्ण की छवियां चित्रित करनी चाहिये। नीले रंग मे सफेद-पीला रंग मिलाने से वह विरग (या बदरग) हो जाता है। तब उसके भी अनेक भेद होते है। मिश्रित रंग चाहे अधिक हो या न्यून या सम मात्रा में हो, उससे नीलकमल के समान तथा उड़द के रंग जैसी रमणीय छवियां औचित्य के निश्चय से अंकित करनी चाहिये। लाक्षा तथा श्वेत रंग अथवा लाक्षा तथा लोध्र मिलाये हुए लाल रग से जो छवि अंकित की जाती है, वह रक्त कमल की तरह ललाई लिए श्याम तथा सुन्दर होती है। वह रंग भी मिश्रण करने से अनेक प्रकार के रंगो को उत्पन्न करता है। वि० ध०, ४०।१७–२४॥

नाट्यशास्त्र (२१। ६० से ६५) में कहा गया है —

"सितपीतसमायोगः पाण्डुवर्ण इति स्मृतः। सितरक्तसमायोगः पद्मवर्ण इति स्मृतः।
सितनीलसमायोगः कापोतो नाम जायते। पीतनीलसमायोगात् हरितो नाम जायते॥

नीलरक्तसमायोगात् काषायो नाम जायते। रक्तपीतसमायोगात् गौर इत्यभिधीयते।
एते संयोगजावर्णाह्युपवर्णास्तथा परे। त्रिचतुर्वर्णसंयुक्ता बहवः परिकीर्तिताः॥

··· ··· · · ··· ··· ··· ··· ··· ···। दुर्बलस्य च भागौ द्वौनीलवर्णादृते भवेत्।
नीलस्यैको भवेद्भागश्चत्वारो अन्यस्य तु स्मृता। वर्णस्यतु बलीयस्त्वं नीलस्यैवं हि कीर्त्यते॥"

सफेद और पीले से पाण्डु वर्ण लाल और सफेद से पद्मवर्ण, नील और सफेद से कपोत वर्ण, पीले नीले से हरा, लाल और नीले से काषाय, पीले और लाल से गौर – इसके अतिरिक्त तीन चार वर्णो के मिलाने से बहुत से उपवर्ण बनते हैं। सबल वर्ण, अपेक्षाकृत दुर्बल वर्णों से दूने समझे जाते है, केवल नील वर्ण दूसरे वर्णो से चौगुना बलवान और सभी वर्णो से बली होता है, – इन सहज बातों को कण्ठस्थ और काम मे प्रयोग करके सीख लेने में अधिक समय नही लगता, किन्तु अपने हाथ को अपने वश में लाना ही कठिन बात है।

रंगों के सम्मिश्रण पर शिल्परत्न में भी विस्तार से विचार किया गया है :—सफेद और लाल रग के मिश्रण से गौर वर्ण, सफेद, काला और पीला रग बराबर मात्रा मे मिलाने से भूरा रंग, सफेद और काले रंग के समान मिश्रण मे गजवर्ण, लाल और पीला समान मात्रा मे मिलाने से बकुल फल रग (मौलश्री वर्ण), पीला रग एक भाग और

लाल रंग दो भाग मिलाने से पिंगल वर्ण; एक भाग काला, दो भाग पीला मिलने से अम्बु रंग, काले और पीले के समान मिश्रण से मनुष्य-शरीर वर्ण, हरताल और नीले रंग के मिश्रण से सुआपंखी रंग, लाख का रस हिंगुल मे मिलाने मे गहरा लाल, लाख के रस मे काला रंग मिलाने से जामुनी रंग, लाख के रस मे सफेद रंग मिलाने से जातिलिंग रंग, हिंगुल और लाख को समान भाग में मिलाने से केश-रंग अर्थात् बालो जैसे रंग तैयार हो जाते है।

अंग-रचना .—रंगो द्वारा पात्रों की आकृति आदि का परिवर्तन। नाट्यशास्त्र में अंगो की रचना तथा केश-विन्यास आदि की विभिन्न शैलियो का प्रतिपादन किया गया है। अंग-रचना देश, जाति और वय के अनुरूप होती है। ऐसा होने पर ही पात्रो का रूप निखरता है और वह स्वरूप, स्वभावादि का त्याग करके अनुकार्य पात्रों के स्वरूप और भाव को धारण कर प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। इस प्रसंग में भरत ने मूल रूप से चार प्रकार के स्वाभाविक वर्णो का तथा उनके मिश्रण से अगणित उपवर्णो के प्रादुर्भाव को बतलाया है। यह वर्ण-रचना और वर्तना-विधि इतनी महत्वपूर्ण है कि नाट्य-प्रयोग मे न केवल राम-सीता आदि पात्र, अतीत के मनुष्यो के अनुरूप वर्ण-रचना द्वारा अवतरण की कल्पना की जाती है अपितु प्रासाद, यान, विमान, पर्वत, दुर्ग और वेद भी प्राणी के रूप में रंगमंच पर अवतरित होते हैं। भारत कला भवन मे संगृहीत जयपुरी, रामचरितमानस चित्रावली (७), पृष्ठ ८ क पर चारों वेदों का मानवीकरण किया गया है। इस चित्र में ऊपर की ओर बायी ओर मनुष्य रूप में रक्त वर्ण ऋग्वेद खडा है। दाहिनी ओर श्वेत वर्ण शुक्ल यजुर्वेद खडा है। नीचे बायी ओर कृष्ण वर्ण अथर्ववेद खडा है और दाहिनी ओर श्यामवर्ण सामवेद खडा है। इन चारो वेदो के चार वर्ण है। इसका उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस के प्रारंभ में भी किया है। उत्तररामचरित मे गंगा, तमसा, मुरला और पृथ्वी देवी का अवतरण इसी रूप में होता है। यौगन्धरायण उदयन के उद्धार और वासवदत्ता के हरण के लिए इसी शैली में रूप-परिवर्तन कर उज्जयिनी मे प्रवेश करता है। इस प्रकार अंगवर्तना और अंग रचना की इस विशिष्ट शैली में नाट्यधर्मी द्वारा भौतिक निर्जीव पदार्थों को भी प्रयोगकाल मे गति-संचार और मानवीय रूप-सज्जा देकर प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु रूप-रंग की आभा ऐसी सजीव होती है कि वे हिमालय और गंगा की तरह प्रतीत होते है।

इस रूप-रंग परिवर्तन के लिए विभिन्न जाति, देशवासियों के वर्णों को जानना परमावश्यक है।—

विभिन्न जातियों और देशवासियो के वर्ण —राजाओं, देवो, दानवों और अन्य देशवासियो तथा विभिन्न जातियों के लिए विभिन्न वर्णो का विधान किया गया है। राजाओ के लिए पद्म और श्याम वर्ण, ऋषियो के लिए बदरी (बेर) का-सा काषायवर्ण, सुखीजन गौर, किरात बर्बर, आन्ध्र, द्रविड, काशी और कौशल, पुलिंद एव दक्षिणवासियों का असित (कृष्ण), शक, यवन, पल्लव, वाह्लीक और उत्तरवासी गौर, पांचाल, शौरसेन, मगध, उद्र, अंग, बंग और कलिंगवासी श्याम, ब्राह्मण, क्षत्रिय रक्त, देवता, यक्ष और अप्सरा गौर, इन्द्र. रुद्र, सूर्य, ब्रह्मा और कार्तिकेय स्वर्ण-वर्ण, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, वरुण, तारागण, समुद्र, हिमालय और गंगा आदि श्वेत और रक्तवर्णो के माध्यम से प्रस्तुत होते हैं, बुद्ध स्वर्णाभ और अग्नि पीतवर्ण के होते है। नर-नारायण, वासुकि श्याम वर्ण के; दैत्य, दानव, राक्षस. गुह्यक, पिशाच, जल और आकाश आदि श्यामवर्ण (गहरे नीले वर्ण) के होते है। यक्ष, गंधर्व. भूत, पिन्नाग (नाग), विद्याधर, पितर तथा वानर विभिन्न रंगों मे चित्रित करना चाहिये। रोगी, कुकर्मी, ग्रह-ग्रहीत, तपस्यारत और क्लेशाविष्टो का वर्ण कृष्ण (असित) होता है। विविध वर्णो और उपवर्णो के संयोग से पात्रों की विभिन्न अवस्था के अनुसार सुख-दुखात्मक भूमिका भी प्रस्तुत की जाती है।

अवनीन्द्र नाथ टैगोर भी "नाट्यशास्त्र" (२१।९२-११४) और "विष्णुधर्मोत्तर" (३।२७।१६-२६) की उपर्युक्त बातो का समर्थन करते हुए इस पर जोर देकर कहते है :—"Which colours will give emphasis

to forms and our ideas, and which of the colours will not, which scale of colours will elate and which will depress the spirit, which will speak of our sorrows and which will express our joy, which of the tones will reveal and which of them will conceal form and thought in a picture – such are the things one has to master before he can presume to be an artist in colours." A. N. Tagore, Golden Jubely Volume, p. 22. साराश यह है कि तूलिका, वर्ण और मन के सयोग से ही कोई चित्र–रचना हो सकती है।

रसानुरूप शरीर का वर्ण —चित्र एव नाट्य मे पात्र की मनोदशा (रसदशा) के अनुरूप ही उसकी अंग–रचना का वर्ण भी करने का विधान है। प्रत्येक रस के लिए पृथक् वर्ण का निर्धारण किया गया है। नाट्यशास्त्र (अध्याय–६) मे वर्णन है—

[1]श्यामो भवति श्रृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
[2]कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तितः ॥४२॥

गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव[3] भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥४३॥[4]

(१) श्याम रग—श्रृंगार रस के लिए

(२) श्वेत रंग—हास्य रस के लिए

(३) कपोत रग (धूसर या धुंधला आस्मानी रंग)—करुण रस के लिए

(४) रक्त रग—रौद्र रस के लिए

(५) गौर रग—वीररस के लिए

(६) कृष्ण रग—भयानक रस के लिए

(७) नील रग—वीभत्स रस के लिए

(८) पीत रग—अद्भुत रस के लिए।

महाकवि जयदेव विरचित प्रसन्नराघव के चतुर्थ अक मे वीर और शांत रस के रगों का अद्वितीय वर्णन है—

१—श्यामो भवेत्तु।

२—रक्तौ रौद्रो रस. प्रोक्त. कपोत. करुणस्तथा।

३—कृष्णाश्चापि।

४—नाट्य शास्त्र मे वर्ण के प्रसग मे प्रस्तुत कारिकाओं मे शात रस की चर्चा नही है। अभिनवगुप्त यहां एक भिन्न परम्परा का भी उल्लेख करते है, जिसके अनुसार पीतश्चैवादभुत स्मृत: के स्थान पर स्वच्छपीतौ शमाद्भुतौ पाठ है और इससे शम (शान्त) रस का रंग निर्मल सिद्ध होना है। यह शान्त को रसों में स्वीकार करने वालो का दृष्टिकोण है।

मौर्वी धनुस्तनुरियं च बिभर्ति मौञ्जीं,
बाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे, सितायाः ।
धीरोज्ज्वलः परशुरेष कमण्डलुश्च,
तद्वीरशान्तरसयोः किमयं विकारः ? ॥ १५ ॥
आर्य ! किं पुनरिदं ब्रह्मक्षत्रवर्णात्मकं चित्रमिव स्फुरति ?

यहा पर भगवान् भार्गव की वीरता और सौम्यता का द्योतक गौर, उज्जवल, निर्मल वर्ण है एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय वर्णात्मक रक्त वर्ण है ।

रगो का रस के सन्दर्भ मे कथन, उनकी पूजा के सबंध मे उनके ध्यान मे उपयोगी हो सकता है, अभिनवगुप्त यहा दूसरे व्याख्याकारो का मत प्रस्तुत करते है कि विभिन्न रसो की भूमिका मे पात्रों का मुख रगने मे इन उपर्युक्त रगो का उपयोग होता था । नाट्यकला के सदर्भ मे यह सुझाव असगत नही कहा जा सकता । चित्रकला के लिए भी ये सब परंपराये प्रतीकात्मक है, क्योकि पात्रो के गोरे या काले आदि रग बनाने से वे एक विशेष अर्थ के बोधक होते हे ।

नाट्यशास्त्र में कहा गया है—

वर्णानां तु विधिं ज्ञात्वा तथा प्रकृतिमेव च कुर्यादंगस्य रचनाम् ।

वर्ण की विधि और प्रकृति – अर्थात् कौन वर्ण आकृति को छिपाकर रखता है, कौन उसे चित्रित करता है – इसकी विधियो को एव कौन वर्ण आनन्दित करता है, कौन विषादित करता है, किससे वैराग्य का बोध होता है, कौन अनुराग सूचित करता है आदि वर्णो की प्रकृति समझकर उपयुक्त रंगों द्वारा अगो की रचना करनी चाहिये ।

नाट्यशास्त्र मे आहार्याभिनय (आहार्य नाट्य-प्रयोग की आधार-भूमि) के प्रसग मे पात्र की अवस्था के अनुरूप वेशभूषा तथा अगो के वर्ण-विन्यास आदि के द्वारा पात्रो को रंगमच पर प्रस्तुत करने का वर्णन है । भरत का यह विचार सर्वथा उचित है कि पात्र की नाना प्रकृतियो – (धीरोदात्त, उत्तम, मध्यम आदि तथा रति-शोकादि विभिन्न अवस्थाओ को नैपथ्य मे ही तदनुरूप वर्ण-रचना और वेश-रचना द्वारा प्रस्तुत किया जाता है । शोक मे मलिन वेश और शृंगार मे उज्जवल वेश से विभूषित हो पात्र रगमच पर अवतरित होते है तब आगिक और वाचिक अभिनयो के योग से रसोदय होता है ।

नानावस्था प्रकृतयः पूर्वं नैपथ्य साधिता ।
अंगादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्यत्नतः ॥ २१।२ ।

ठीक यही चीज चित्रकला मे भी लागू होती है । अत आहार्य अभिनय का नाट्य-प्रयोग में महत्व असाधारण है । जिस प्रकार चित्र–रचना का आधार फलक है उसी प्रकार समस्त अभिनय-प्रयोग-रूप चित्र के लिए आहार्याभिनय आधार भित्ति है । अभिनवगुप्त की दृष्टि से समस्त अभिनय-व्यापारो के प्रयोग के उपरान्त नेपथ्य विधि द्वारा प्रस्तुत पात्र के रूप-रग का आलोक विशेष रूप से प्रेक्षक के हृदय मे भासित होता रहता है ।

'तेन समस्ताभिनय प्रयोग चित्रस्यभित्तिस्थानीयमाहार्यम् । तथा च समस्ताभिनयव्युपरमेऽपि नेपथ्य–विशेष-दर्शनाद् विशेषोऽवसी यतएव' ।–अभिनव भारती । भरत की आहार्य-कल्पना से कालिदास, भारवि और भट्टि आदि पूर्णतया परिचित थे ।

आहार्य मे – भाव-परक रंग, जाति-परक देशवासियो के रंग, अवस्था-परक रंग और रसानुरूप वर्ण पर गभीरता से विचार किया गया है। तदनुरूप ही अग–रचना (रंगों द्वारा आकृति आदि का परिवर्तन) करते है। अजता के चित्रो मे भी पात्रो की प्रकृति के अनुरूप ही सर्वत्र उनके शरीर वस्त्रादि के रगों की रचना की गई है। जैसे – राजा आदि उच्च वर्ण के लोगो के शरीर को गौर, श्याम, उज्जवल आदि रगों से चित्रित किया गया है और दास-दासियो के शरीर और वस्त्र का वर्ण काला या भडकीला अथवा बहुत गहरा बनाया है और राक्षसादि के शरीर का वर्ण हरे रंग का भी चित्रित है। संस्कृत साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ नायिका पद्मिनी के शरीर का वर्ण चम्पक पुष्प के समान गौर होता है और वह शुभ्र वस्त्र, शुभ्र पुष्पादि से अनुराग रखती है। इसके विपरीत शखिनी नायिका रक्तवर्ण के वस्त्रादि से अनुराग रखती है। ये सभी रग एक विशेष अर्थ के बोधक होते है। —

मानव शरीर वास्तव मे हरे रंग का नही होता, किन्तु जंगल मे या जगल की हरियाली की आभा से उसके वर्ण मे हरीतिमा झलकने लगती है। कवि बिहारी का यह दोहा – **"मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय। जा तन की झांई परत स्याम हरित दुति होय ॥"** — (बिहारी सतसई) – भी इस तथ्य को इंगित करता है। अजंता मे चेहरई के प्रयोग में जाति-भावना का उतना स्थान नही है, वरन् तत्कालीन परम्परा और विश्वासो के आधार पर अनेक प्रकार की चेहरई प्रयुक्त हुई है, जैसे सिंदूरी, हरी, काली चेहरई। बोधिसत्व के विशेष रूप से पहली गुफा के चित्रो के पीछे, सर्वत्र पहाडी पृष्ठभूमि दृष्टिगोचर होती है, जिसमे अनेक प्रकार के यक्ष, किन्नर आदि उपदेवता गाते-बजाते है, मिथुन विहार करते है और सारा दृश्य वृक्षो की हरीतिमा से ढका हुआ है। पहली गुफा के प्रसिद्ध चित्र "मार-विजय" मे एक ओर सिंदूरी रग का ठिगना बौना आखे फाड-फाडकर बुद्ध को डराने का उपक्रम कर रहा है। यहाँ संभवत. दूसरो के दोष देखने की ओर चित्रकार का लक्ष्य है। एक ओर हरे रग का एक राक्षस निराशा का अवतार प्रतीत हो रहा है।

भरत द्वारा विभिन्न देशवासियो और जातियो के लिए जो पृथक्-पृथक् वर्ण-विधान किया गया है, उसके मूल मे तदनुरूप ही उन जनपदवासियो के रूप-रग की विद्यमानता भी है। यद्यपि पिछले हजारो वर्षो मे सस्कृतियों और विभिन्न जातियो के अन्तराल से जातियो तथा विभिन्न अचल-वासियो का शरीर-वर्ण भी परिवर्तित हुआ है, तथापि अभी भी भरत की कल्पना बहुत अश मे ठीक ही है। हिमालयवासियो की अंग-रचना गौर और किरात, बर्बर, आध्र आदि की कृष्ण है। भारतीय जातियों मे भी वर्णो का जो विधान किया गया है वह बहुत अश मे उपयुक्त और यथार्थ है। उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण प्राय: गौर वर्ण होते है और शूद्र श्याम वर्ण।

प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार रगों का सबंध विभिन्न सवेगो से होता है, जैसे – प्रकाश से आनन्द की भावना और अन्धकार से कारुणिक भावना का परिचय मिलता है। हरे रग से अवसाद, रुग्णता, क्लेशादि व्यक्त होता है, परन्तु सुखात्मक स्थितियो मे यही रंग शीतलता, वसन्त, ताजगी, प्रफुल्लता को व्यक्त करता है। इसी प्रकार लाल रंग उष्णता, वैभव-ऐश्वर्य का, बैंगनी पवित्रता का तथा शुभ्र वर्ण शुद्धता का प्रतीक है।

वण (रंग) का प्रकाश से घनिष्ठ सबंध है। इसीलिए रगीन दृश्य-विधान का प्रभाव नाटक मे पात्रो की रूपसज्जा पर पड़ता है। चित्रकला मे भी मिश्र-वर्णों मे यही बाते दिखलाई पड़ती है। जैसे — आधुनिक रगमच संयोजन मे "Spot-light" के सम्मुख हरे रंग की सज्जा का बहुत-सा प्रभाव नष्ट हो जाता है। सफेद जिस रंग के प्रकाश में होगा, उसी के रग को ग्रहण कर लेता है। नीले प्रकाश में लाल रग की रूपसज्जा काली हो जाती है। लाल प्रकाश लाल को चमका देता है, पीले प्रकाश मे लाल हल्का पीला हो जाता है तथा हरा इसे अधिक गहरा कर देता है। साधारण नीला रग लाल रोशनी मे काला प्रतीत होता है और इसी प्रकार नारंगी तथा पीला रग भी लाल प्रकाश

मे काला दिखलाई देता है। अनेक नीले रंग हरे रंग में हरे हो जाते है और नीले प्रकाश मे नीले ही रहते है। अत जहाँ पर जैसा प्रभाव दिखलाना उचित होता है वहाँ पर वैसा ही प्रकाश रग पर डालते है।

रग और रूप मे घनिष्ठ सबध है। यह प्रकृति का नियम है कि जहा रूप है वहाँ रग अवश्य होता है। एकरगा रूप, पचरंगा रूप, बदरंग रूप, रूप के अतिरिक्त रग है ही नहीं। चित्र मे उचित स्थान पर आवश्यक रंगों का विन्यास करना चाहिए। आकाश और समुद्र भाव-रूप के रग से बना हुआ है। भाव-रूप नेत्रों मे नही दिखलाई देता, किन्तु उनके रंग के रूप मे जल, स्थल और आकाश मे उनका बोध किया जाता है। चित्र रचना करने का कौशल ही यह है कि उपरोक्त भावो के रूप मे घुले हुए रंग को समझना और उसे चित्रपट पर प्रस्फुटित करना। नीला, लाल आदि रग यों ही लगा देने से चित्रकार या वर्णिक का काम नही चलता, वरन् जल दिखलाते समय पानसी नील (पानी जैसा नीला रंग), आकाश दिखलाते समय आकाशी नील, इसके अतिरिक्त आकाश अनेक वर्ण का होता है — प्रात - कालीन आकाश, सध्या-कालीन आकाश, रात्रि का और दिवसाकाश, षड्ऋतुओं का आकाश – इस प्रकार विभिन्न काल का आकाश विभिन्न वर्ण का होता है। इसे भली-भाति समझकर ही वातावरण के अनुकूल आकाश के रगो का चित्रण करते है। इनमे मिश्रित रगो का प्रयोग विशेष रूप से होता है। इसी प्रकार वृक्षो के पत्तो में भी दिन के प्रकाश और रात्रि के अधकार से पत्ते की हरीतिमा मे विकार उत्पन्न हो जाता है। धूप पडने पर हरे पत्तो का रग कुछ हल्का-सा मालूम होता है और रात्रि के अंधकार मे वही हरित वर्ण गाढा अथवा काला-सा हो जाता है। इस प्रकार धूप-छाया से रगो में बहुत अतर आ जाता है। अत रंग का काम भ्रान्ति उत्पन्न करना भी है।

कभी रग के आकर्षण से रूप और कभी रूप के आकर्षण से रग प्रकट हो जाता है। कभी-कभी रूप-रग के प्रकट न रहने पर भी ध्यान के द्वारा परमपुरुष का रूप–रंग दिखलाई देता है, इसे श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।१) मे कहा गया है – "**य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।**" अर्थात् – जो (अवर्ण–) रंग, रूप आदि से रहित होकर भी, छिपे हुए, अज्ञात प्रयोजन वाला होने के कारण विविध शक्तियों के संबध से सृष्टि के आदि मे अनेक रूप–रग धारण कर लेता है, किन्तु उससे चित्रलेखन कभी नही हो सकता।

विभिन्न वर्णो के द्वारा रूप प्रस्फुटित करने मे महाकवि बाणभट्ट अति निपुण थे। रंग का प्रचुर व्यवहार जैसा कादम्बरी की कथा में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र कही नही। कवि ने महाश्वेता का रूप–वर्णन किया है। वहा महाश्वेता नाम से ही यथेष्ट वर्णन हो सकता था, किन्तु कवि ने केवल एक महाश्वेता के गौर वर्ण को दिखलाने के लिए, अत्यन्त निपुणता से सहस्रो प्रकार के श्वेत वर्ण की अवतारणा की है। मानो श्वेत वर्ण का दल–का–दल उड रहा है और अलंकार की प्रतिमूर्ति महाश्वेता का रूप शुभ्रता से आप्लावित हो उठा है। इसी प्रकार सध्याराग को दिखलाने के लिए उन्होंने उपमाओं द्वारा पृष्ठ–के–पृष्ठ लिख डाले। –**अस्तं उपगते च भगवति सहस्रदीधित्ता परार्णव तटात् दुर्लसन्ति विद्रुमलतेव पाटला सध्या समदृश्यत।** – (श्लोक १०५)। इसी प्रकार प्रात काल का रंग–वर्णन शुरू हुआ – **एकदा तु प्रभातसंध्याराग लोहिते गगनतलकमलिनी मधुरक्त पक्षसंपुटे वृद्धहंसेव मन्दाकिनी पुलिनाद परजलनिधितलम् अवतरति चन्द्रमसि** – (श्लोक १०६)। – इत्यादि इतने प्रकार के रंगों की अवतारणा की है जिसकी सीमा नही। इसीलिए किसी ने कहा है – **वर्णोच्छिष्टं जगत्सर्वम** – अर्थात् महाकवि बाण के वर्णो (रंगो) का सारा जगत् उच्छिष्ट (जूठन) है। धर्मदास बाणभट्ट के सबध मे कहते हैं —

"रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी ? नहि–नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥"

धर्मदास बाण की रचना एव वाणी की प्रशंसा करते हुए कहते है कि स्वर, वर्ण (रग) पद सुन्दर है, रसभाव से

परिपूर्ण है, जगत् का मन हरने वाली है। तब किसी को तरुणी का भान होता है। वह पूछता है – "क्या वह तरुणी है ?" तब कवि कहते हैं, नहीं–नहीं, यह बाण की मधुर और शील वाणी है। – इसमें उन्होंने बाण के रंगों के चयन की भी प्रशंसा की है।

रंग चार प्रकार के होते हैं – (१) अमिश्र (Pure, Primary), (२) मिश्र (Mixed Secondary), (३) चिक्कण (Glossy), और (४) रूक्ष (Matt)। मिश्र–अमिश्र वर्णों के संबंध में ऊपर बहुत विचार हो चुका है। अब चिक्कण और रूक्ष या कडा–कठोर रंग भी देखना चाहिये। जल के फेन के समान सफेद, अभ्रक के समान सफेद, कसौटी एवं शालिग्राम–शिला के समान काला रंग चिक्कण होता है और यह प्रिय लगता है। इसके विपरीत रंग रूक्ष और अप्रिय होता है। गहन अंधकार से कडा रंग स्पष्ट प्रतीत होता है, कोमल श्यामल अंधकार हल्के काले अर्थात् चिकने रंग का बोध कराता है।[1]

पञ्चतंत्र में विष्णुशर्मा ने अपने चार मूर्ख शिष्यों को राजनीति का उपदेश देने के लिए "चित्रवर्ण" का बगुला पक्षी बनाया। कोई मेघवर्ण का, कोई श्वेत वर्ण का तथा कुछ को अन्य चित्रवर्णों का सम्मुख रख कर उसने शिक्षा दी। इससे वे शीघ्र ही उसे समझ गये। इसीलिए बालकों को रंगीन वस्तुओं मे वर्ण परिचय, अक्षरमाला का ज्ञान कराते है। रूप–रंग–रस के साथ मिल जाने से रचना सरस और शीघ्र बोधगम्य हो जाती है।

काला रंग शोक व निराशा का द्योतक है (इसका मटमैला रंग होता है), पीत, नील, रक्त – यह रंग परिणति, शक्ति, ऐश्वर्य आदि का बोधक होता है। हरा रंग तारुण्य, आशा आदि का बोधक, एवं शुभ्र वर्ण से शांत सुन्दर भाव का बोध होता है, जैसे – उषा की निर्मलता, सुचिता आदि। प्राचीन काल से ही इन सब रंगो का ज्ञान लोगों को था। यह सब विचित्र रूप–रंग को मिलाकर विश्व में जो मायाजाल फैला है उसके रहस्य का भेद करने के लिए ही वर्णिका–भंग की शिक्षा परमावश्यक है।

उज्जवलनीलमणि में रूपगोस्वामी ने "राग"[2] और "रंग" को एक करके देखा है। विभिन्न रंगो मे जो

१—प्रस्तुत वर्गीकरण अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने "बागेश्वरी शिल्प प्रबंधावली" मे किया है, किन्तु दिनकर कौशिक को यह वर्गीकरण मान्य नहीं। वे मिश्र एवं अमिश्र रंग को स्वीकार करते है, किंतु स्निग्ध (Glossy) और रूक्ष (Matt) को (Surface) का गुण मानते है। वे रूक्ष को "मैट" भी नहीं मानते। "मैट" को वर्षा कराने वाले सिलेटी (Grey) रंग के बादल को "मैट ग्रे" (एक नया शब्द) मानते है।

२—रूपगोस्वामी, उज्जवलनीलमणि, पृ० ३६३–३७०।
राग – यह द्वयर्थक धातु है – "रञ्ज रागे" दैवादिकोभयपदी धातु।
रूपगोस्वामी कहते है – नीलिमा रक्तिमा चेति रागोऽयं द्विविधो मत।
तत्र नीलिमा — नीलीश्यामाभवो रागो नीलिमा कथ्यते बुधै ॥ ११८ ॥
तत्र नीलीराग — व्ययसभावनाहीनो बहिर्नातिप्रकाशवान्।
स्वलग्नभावावरणो नीलीराग सतां मत ॥ ११९ ॥
यथावलोक्यते चैष चन्द्रावलिमुकुन्दयो ॥
अथ श्यामाराग — भीरुतौषधिसेकादिराद्यात्किंचित्प्रकाशभाक् ॥ १२१ ॥
यश्चिरेणैव साध्यः स्यात्स श्यामाराग उच्यते।
अथ रक्तिमा — राग कुसुम्भमञ्जिष्ठासम्भवो रक्तिमा मत ॥ १२३ ॥
तत्र कुसुम्भराग — कुसुम्भराग स ज्ञेयो यश्चित्ते सज्जति द्रुतम् ॥ १२४ ॥
अन्यरागच्छविव्यञ्जी शोभते च यथोचितम्।
अथ मञ्जिष्ठाराग —आहार्योऽनन्यसापेक्षो य कान्त्या वर्धते सदा।
भवेन्माञ्जिष्ठरागोऽसौ राधामाधवयोर्यथा ॥ १२७ ॥

अनुराग है उसका लक्षण पंडितों ने दिया है, जैसे – "नीलीराग" अर्थात् नील अनुराग (प्रगाढ़ प्रेम) – जिस प्रेम का रग नही बदलता अर्थात् स्थायी रहता है, जैसे – माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह, उसे नीलीराग कहते है। किन्तु "श्यामाराग" (Indigo) निश्चय ही औषधिविशेष (नील का पेड) है। यहां वर्ण–वृक्ष में खण्डश्लेष से "भीरुता" अन्वय नही होता, वरन् रति–पक्ष में इसका अन्वय होता है, इसीलिए शृगार रस का वर्ण "श्याम" कहा गया है।[1] "रक्तिम राग" दो प्रकार का होता है – (१) कुसुम्भराग, (२) मञ्जिष्ठाराग। बाह्य कपटप्रेम को, जिसका रंग थोड़े मे ही उड़ जाता है, कवियों ने "कुसुम्भराग" नाम दिया है। यह चित्त को शीघ्रता से आकर्षित करता है। इसी प्रकार "मञ्जिष्ठा राग" (गहरा पक्का लाल रग) उसे कहते है जो सदैव स्थिर रहता है, जिसमें अनुरक्ति हो या प्रगाढ प्रेम हो। उसकी छवि श्यामल आदि राग मे व्यंजित होती है। दर्शक की मन स्थिति के अनुसार मंजिष्ठा राग मे हल्का या गाढापन प्रतीत होता है। कुसुम्भराग के समान इसकी परिमित कांति नही होती। सबल, दुर्बल, कच्चा, पक्का आदि विभिन्न रग के विभिन्न वर्ग, शास्त्रो मे दिखाई देते है और यही चारो ओर प्रत्यक्ष दिखलाई देता है।

यहा पर राग का अर्थ "Tone" है। "Tone" के दो अर्थ हैं—(१) रग, (२) आन्तरिक भाव। भाव के बदलने के साथ ही चेहरे का रग भी बदल जाता है। नेत्र ही वर्णो को नहीं मिलाते, वरन् वर्णो को मन मिलाता है।

साराश यह है कि इस अध्याय के प्रारंभ मे यशोधर की "जयमंगला" टीका से जो "**रूपभेदाः प्रमाणानि...**" श्लोक उद्धृत किया गया है उसमे चित्र के छहो अगों का समावेश किया है। ये छहों अंग चित्रो में एक साथ होने पर भी, प्राय किसी चित्र मे कुछ अगो की प्रधानता होती है और कुछ का अभाव तथा कोई इनके विपरीत भी होते है। कोई रूपप्रधान, कोई प्रमाण सर्वस्व, कोई भाव-लावण्य युक्त, कोई सादृश्य युक्त और कोई वर्ण या वर्णिका-भंग युक्त होकर मनोहर होता हैं। चित्रकार रंग, रेखा, रूप, भाव आदि देकर चित्र-रचना मे रसोत्पत्ति और गतिशीलता लाने का प्रयास करता है। उसे आलंकारिकों ने "गतिचित्र" कहा है – अर्थात् गतिचित्र रूप या भाव, कोई वस्तु विशेष का अंग-विन्यास या रूप-संस्थान का अवलम्बन करके ही खडा नही रहता, किन्तु रेखा, रग और भाव को सामान्य रूप देकर कही रेखा-रग देकर और कही बिना दिये, खाली स्थान छोड़कर, रस की सजीवता प्राप्त होने की आशा करता है।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री अरविन्द ने अपने ग्रंथ "भारतीय सस्कृति के आधार" मे "षडग" के सबंध मे इस प्रकार उद्‌गार व्यक्त किये है – "भारतीय कलाकार की कला के छ अग "षडग", रंग और रेखा वाली समस्त कृति मे सामान्य रूप से पाये जाते है। वे आवश्यक मूलतत्व हैं और अपने मूलतत्वो मे महान् कलायें सर्वत्र एक-सी है। "रूपभेद" अर्थात् आकार-प्रकार में अन्तर, प्रमाण, अर्थात् अनुपात रेखा और सपूर्ण आकार की व्याख्या, योजना, सुसगति, "भाव", अर्थात रूप के द्वारा व्यक्त किया हुआ हृदयगत भाव या सौदर्यानुभूति, "लावण्य", अर्थात् सौन्दर्य-भावना की तुष्टि के लिए सौन्दर्य और आकर्षण की खोज, "सादृश्य", अर्थात् रूप और उसके संकेत का सत्य, "वर्णिकाभग" अर्थात् रगो का क्रम, सयोग और सामजस्य, ये प्रथम अग है। कला की प्रत्येक सफल कृति विश्लेषण करने पर इन्ही अगो मे परिणत हो जाती है। परन्तु इन अगों मे से प्रत्येक को जो मोड़ दिया जाता है वही शिल्प-

---

१—श्यामाराग, जैसे – "कोई भामिनी निजअभिसरण की प्रार्थना पति द्वारा किये जाने पर भय का बहाना करके अभिसरण नही करती, किंतु बाद में उत्कंठा वश स्वयं अभिसरण करती है।" – भयानक रस का वर्ण श्याम (कृष्ण) है, शृंगार का (रति–पक्ष) में भी कृष्ण (श्याम) वर्ण है।

पद्धति के लक्ष्य और प्रभाव के समस्त भेद को उत्पन्न करता है। वही अन्तर्दृष्टि इनके सयोजन के कार्य में सृजनशील हाथ का मार्गदर्शन करती है, उसका उद्गम एवं स्वरूप ही सफलता के आध्यात्मिक मूल्य के समस्त भेदो को उत्पन्न करता है। भारतीय चित्रकला का अनुपम स्वरूप एव विशिष्ट आकर्षण उस अद्भुत आतरिक, आध्यात्मिक मोड से उत्पन्न होता है जो भारतीय सस्कृति की व्यापक प्रतिभा ने कलात्मक परिकल्पना और पद्धति को प्रदान किया था।

सारांश यह है कि इन मनीषियो के मतानुसार चित्रित व्यक्ति, वस्तु, दृश्य अथवा प्रसंग मे उनके आकार-प्रकार, हाव-भाव तथा रूप-रग के मनोयोगपूर्वक समावेश से वास्तविकता और सजीवता का यथेष्ठ बोध कराने से ही चित्रकृति कलापूर्ण एवं नयनाभिराम होगी।

चित्रकला का विवेचन

आनन्द के अनुभव के लिए विश्वकर्ता ने सृष्टि की रचना की। वह स्वय रस से तृप्त है, कहीं से किसी प्रकार रस से न्यून नहीं है--"रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः" (अथर्व०, १०।८।४४)। एक अखंड, अनन्त रस-सृष्टि में सर्वत्र ओत-प्रोत है। उसके मधुर सरोवर मे रसानुभव के लिए प्राण सदैव उन्मुक रहता है। प्राण को रस अत्यन्त प्रिय है। रस की दुर्धर्ष धाराएँ जब प्रकट होती है प्राण तृप्त होता है।

श्री अथवा सौदर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन कला है। प्रत्येक कलात्मक रचना में सौदर्य रहता है। जिस सृष्टि मे श्री नही, वह रसहीन होती है। जहां रस नही, वहा प्राण भी नही रहता। जिस जगह रस, प्राण और श्री तीनों एकत्र रहते है वही कला रहती है। इसीलिए विष्णुधर्मोत्तर मे कहा गया है कि जो चित्र रस से हीन हो तथा चेतना-रहित हो, उसे गर्हित कहा जाता हे, और जो चित्र आधारयुक्त होता हुआ सुशोभित हो रहा हो, जो सजीव अथवा श्वास लेता हुआ-सा प्रतीत हो, वह शुभ-लक्षण-युक्त चित्र है –

स्थानहीनं गतरसं शून्यदृष्टिमलीमसम्।
चेतनारहितं यत्स्यात्तदशस्तं प्रकीर्तितम्॥
लसतीव च भूलम्भो श्लिष्यतीव तथा नृप।
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते॥
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्।—वि०ध०, ४३।२०–२१।

रस कला की आत्मा है। यह वह अध्यात्म गुण है जिसमे कृति का स्थायी मूल्य निहित होता है। इसे मौलिक, आवश्यक और अतर्क्य दिव्य गुण कहना चाहिए जो प्रत्येक उत्तम कलाकृति या काव्यकृति मे पाया जाता है। कलाकार या कवि रसानुभव द्वारा रचना करता है। रसानुभव के अनेक स्रोत है। रूप की शोभा, चरित्र और ज्ञान – ये रस-ग्रहण के द्वार है। कला, (नृत्य, नाट्य, संगीत, चित्र आदि) और साहित्य (काव्य आदि) भी रसानुभव का अत्यन्त प्रिय द्वार है। जिस युग को कला का प्रश्रय प्राप्त होता है वह युग रस से धन्य हो जाता है। कला की गोद मे परिपालित समाज को सृष्टि सबधी श्री, प्राण एव रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है और तभी उसकी समृद्धि होती है। इसी से इसकी संस्कृति का रूप निर्धारित होता है।

रस लोकोत्तर अनुभूति है। लौकिक अनुभूति से भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। रस भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। भरत मुनि ने रसोद्बोधन के लिए ही नाट्यशास्त्र मे लक्षण, गुण, दोष और अलकार आदि की परिकल्पना की है। नाट्य मे वाचिक अभिनय द्वारा रसोद्बोधन होता है। चित्र मे चित्र-दर्शन से रसोत्पत्ति होती है।

रस पर अति प्राचीनकाल से विचार-विमर्श होता आ रहा है। भट्टोद्भट्ट, भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार है। इनके अतिरिक्त काव्य-रसों पर मम्मट, पंडितराज जगन्ना

आदि आचार्यों ने बहुत विस्तार से विवेचन किया है। विष्णुधर्मोत्तर अध्याय ३०–३१ क्रमश रसाध्याय और भावाध्याय है। इनके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर, अध्याय ४३ मे शृगारादि रसो का वर्णन है और शिल्परत्न, (६४।१२, १११, १४३, १४६) मे चित्र के रस, भाव, क्रिया और व्यापार की विवेचना है। समरागणसूत्रधार, अध्याय ८२ के "रसदृष्टि लक्षण" मे ११ रस और १८ रसदृष्टियो का सुन्दर वर्णन है।

विष्णुधर्मोत्तर तथा काव्य-ग्रन्थो मे नौ रस कहे गये है। यद्यपि विष्णुधर्मोत्तर मे शात रस को स्वतत्र वर्ग मे रखा है। नाट्यशास्त्र मे भरतमुनि ने प्राय आठ रस ही माना है, शात-रस को वे अलग से रस नही मानते। इन नौ रसो के अवातर भेद भी है :–

शृंगार[1] हास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्तश्च नव चित्ररसाः स्मृताः ॥—वि०ध०, ४३।१॥

नौ रस	स्थायी भाव
(१) शृगार	रति (सभोग और विप्रलम्भ)
(२) हास्य	हास
(३) करुण	शोक
(४) वीर	उत्साह या शौर्य
(५) रौद्र	क्रोध
(६) भयानक	भय
(७) बीभत्स	जुगुप्सा
(८) अद्भुत	आश्चर्य, विस्मय, वैचित्र्य, असाधारण
(९) शान्त	निर्वेद

अभिलषितार्थचिंतामणि मे सोमेश्वर ने कहा है —

शृगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते।
भावचित्रं तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम् ॥

शृगारादि रसो से युक्त चित्र को "भाव–चित्र" कहते है। अजन्ता के चित्रो में विशेषत मार विजय (चित्र १९) चित्र मे नौ रसों एवं उनके प्रेम, हास, हर्ष, लज्जा, शोक, क्रोध, उत्साह, घृणा, भय, आश्चर्य, चिंता, विरक्ति, निस्संगता शांति आदि भावो को बडी कुशलता से दर्शाया गया है।

चित्र के द्वारा इन रसो और भावो की अभिव्यक्ति कैसे करनी चाहिये, इसका नियम "विष्णुधर्मोत्तर" में बतलाया गया है। चित्र मे रसानुभूति के लिए तदनुरूप अकन अथवा वातावरण की अभिव्यक्ति आवश्यक है। नव–रस के चित्रो की विशेषताओ के सबध मे विष्णुधर्मोत्तर (४३।२–१०) मे कहा गया है—

(१) शृगार रस के चित्र मे कान्ति, लावण्य, माधुर्य, सुन्दर वेशाभरण; (२) हास्य रस के चित्र मे बौने, कुबड़े, टेढ़े–मेढ़े अग और अद्भुत रूपवाले, व्यर्थ की चेष्टा और विचित्र हाव–भाव करते हुए व्यक्ति; (३)

१—सलिलं

करुण रस के चित्र में याचना, वियोग, शरणागत–त्याग, अपनी प्रिय वस्तु का त्याग या विक्रय, विपत्ति और सहानुभूति, (४) रौद्र चित्रों मे कठोरता, विकृति तथा क्रोध, शस्त्रो की सुसज्जा अथवा उनका प्रदर्शन, (५) वीर रस के चित्रों मे प्रतिज्ञा, शौर्य, औदार्य, उत्साह या गर्व का भाव, (६) भयानक चित्र मे दुष्ट, दुर्दर्शन या क्रूर अथवा उन्मत्त व्यक्तियो तथा हिंस्र और घातक प्राणी का अंकन, (७) वीभत्स चित्र मे श्मशान के समान निन्दित स्थल एवं वध–भूमि (युद्धस्थल) आदि का अकन, (८) अद्भुत रस के चित्र मे विनय, रोमाञ्च आदि अनेक भावो का विचित्र समवाय और (९) शात रस के चित्र मे सौम्य आकृति, ध्यान, धारणा और आसन से युक्त साधक तथा तपस्वी का अकन करना चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार गृह मे श्रृंगार, हास्य तथा शान्त रस के चित्र ही अकित करने चाहिये। युद्ध, श्मशान, दयनीय, मृत, दु.खी, कुत्सित, उत्कट रसों के तथा अमांगलिक वस्तुओं को कभी भी नही चित्रित करना चाहिए। राजभवन के देवालय या राजसभा में अन्य सभी रसो के चित्र भी बनाना चाहिये, किन्तु राजसभा के अतिरिक्त राजा के निजी घरो (वासगृहो, शयनकक्ष) मे वीभत्स, भयानक आदि ऐसे रसो के चित्र नही बनाने चाहिये।[1]

नाट्यशास्त्र मे इन रसो की उत्पत्ति, वर्ण देवता आदि का निरूपण भी किया गया है। नौ रसो मे से चार रस–शृगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स–उत्पत्ति के हेतु वाले होते है। शृगार से हास्य, रौद्र से करुण रस का आविर्भाव होता है और वीर से अद्भुत तथा वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।[2] शृगार का जो अनुकरण है वह हास्य कहा गया है और रौद्र का जो कर्म है वह करुण रस माना जाता है। वीर रस का जो कर्म है वह अद्भुत रस कहा जाता है और जहां वीभत्स का दर्शन होता है उसे भयानक समझना चाहिये। इन रसों के अतिरिक्त शांत रस को विष्णुधर्मोत्तर, अध्याय ३० में स्वतंत्र और अलग कहा गया है—**शान्तो रसः स्वतन्त्रोऽत्र पृथगैव व्यवस्थितः।** नाट्यशास्त्र, अध्याय ६ में कहा गया है कि इन रसो की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से होती है – तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

रसो के वर्ण :— नाट्यशास्त्र मे भरतमुनि ने रसो के वर्णो के सबध मे भी विचार किया है। वे कहते है कि शृगार रस का वर्ण श्याम और हास्य का शुक्ल वर्ण, करुण रस का कपोत वर्ण और रौद्र का रक्त वर्ण माना गया है। वीर रस का वर्ण गौर, भयानक रस का कृष्ण वर्ण, वीभत्स का नील वर्ण और अद्भुत रस का पीत वर्ण कहा गया है।[3] शात रस का मुक्ता के समान शुभ्र वर्ण कहा है। इससे विदित होता है कि सभी रसो के वर्ण अपनी-अपनी विशिष्टता रखते है।

१—श्रृंगारहास्यशान्त्याख्या लेखनीया गृहेषु ते।
परवेशा न कर्तव्या कदाचिदपि कस्यचित् ॥११॥
देववेश्मनि कर्तव्या रसा. सर्वे नृपालये।
राजवेश्मनि नौ कार्या राज्ञा वासगृहेषु ते ॥१२॥
सभावेश्मसु कर्तव्या राज्ञा सर्वरसा गृहे ॥१२½॥—वि० ध०, ४३।

२—शृगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस.।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥—ना० शा०, ६।३९॥

३—श्यामो भवति शृगार सितो हास्य. प्रकीर्तित।
कपोत करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥४२॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेय. कृष्णश्चैव भयानक।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतःस्मृत ॥—ना० शा०, ६।४२–४३॥

रसों के अधिष्ठातृ देवता :— इन सभी रसो के अपने-अपने विशिष्ट देवता भी है, ऐसा नाट्यशास्त्र (६।४४) मे वर्णन है – शृंगार रस के देवता विष्णु, हास्य रस के देवता रुद्रगण, रौद्र रस के देवता रुद्र तथा करुण रस के देवता यम है। वीभत्स रस के देवता महाकाल और भयानक रस के देवता काल-देव, वीर-रस के देवता इन्द्र तथा अद्भुत रस के देवता ब्रह्मा है।[1] विष्णुधर्मोत्तर, (अध्याय ३०) मे शात रस के देवता परमपुरुष परमात्मा को माना है। नाट्यशास्त्र मे आठ रस ही माने गए है इसीलिए नवें शात रस के देवता का भी उल्लेख उसमे नही है।

चित्रसूत्र भारतीय प्राचीन कला का रहस्य समझने के लिए परमावश्यक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रारंभ मे मार्कण्डेय मुनि कहते है—"**बिना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्**" (३।१।३)—अर्थात् नृत्त (नाट्य या नृत्य) शास्त्र के अभ्यास के बिना चित्रसूत्र का समझना अति कठिन है, क्योकि नाट्य पर चित्र आधारित है। प्राचीन आलोचकों ने रस को नाट्य, काव्य और चित्र मे एक समान माना है। नृत्य और नाट्य दोनो मे ही अभिनय एवं मुद्रा की प्रधानता रहती है और यही चित्र का भी प्राण है। नेत्र, अंगुली, चरण तथा अन्य अगो की भावमयी चेष्टाओं और भंगिमाओ से नाट्य और नृत्य को प्रस्तुत किया जाता है। चित्रकार का प्रधान कार्य भी इन्ही चेष्टाओ तथा भगिमाओ को उपयुक्त स्वरूप मे चित्र द्वारा प्रस्तुत करना है। वस्तुत "नृत्त" का अर्थ सुसस्कृत अभिनय है जिसे नाट्य और नृत्य दोनो के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। चित्र में इसे रेखाकन से अभिव्यक्त करते है। इसी कारण चित्रसूत्रकार ने भी उन्ही रसो का वर्णन किया है जिन्हे भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे और उनके उत्तरकालीन सैकडो अलंकार-शास्त्रियों ने अपने ग्रन्थो में वर्णित किया है। उन सभी ने उपर्युक्त शृंगार, हास्य आदि नौ रसों को तथा उनके वर्ण और देवता को स्वीकार किया है। इन्ही नौ रसो, वर्णो, देवताओं को चित्रसूत्रकार ने भी माना है। अत चित्र, नृत्य, नाट्य, काव्य, सगीत आदि सभी कलाओ का घनिष्ठ सबंध भी सर्वविदित है। इसीलिए जिस कसौटी से कवि-प्रतिभा की परीक्षा होती है उसी से चित्र आदि की भी होनी चाहिये। फिर भी, चित्र का स्थान काव्य से ऊंचा है। चित्र द्वारा जो वस्तु प्रत्यक्ष प्रस्तुत की जा सकती है वह शब्द द्वारा पूर्णत कभी व्यक्त नही हो सकती, किन्तु चित्र रेखाबद्ध काव्य-रस अवश्य है। अत रस के विषय में शताब्दियो मे जो चर्चा, वाद-विवाद चलते आ रहे है उनकी संक्षिप्त विवेचना यहा प्रस्तुत है।

काव्य की आत्मा 'रस" है — **रीतिरात्मा काव्यस्य** – (वामन, काव्यालकार)। 'विष्णुधर्मोत्तर' मे भी काव्य तथा सगीत, चित्र आदि का एक समान दृष्टिकोण से वर्णन हुआ है। इसमे काव्य की भांति ही सगीत के स्वरो और चित्र के रूप-रंगों से रसों का सबध स्थापित किया गया है। कला मे रस-परिपाक की एक परम्परागत विधा (रीति) रही है। चित्रकला में रूप और रग की विचित्रता मन पर जो अपना समन्वयात्मक प्रभाव छोडती है वही सौंदर्य है और इस सौदर्य की अनुभूति का नाम सौंदर्य-चेतना है। सौदर्य से जिस अनूठे आनन्द की प्राप्ति होती है उसे साहित्य मे "रस" कहा गया है।

रस के आदि प्रणेता और व्याख्याता भरत है। उन्होने रस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नाट्य के सदर्भ मे किया है। नि.सदेह रस का प्रेरणा–स्रोत वेद एव अन्य प्राचीन साहित्य रहा होगा, नाट्य के प्रधान चार तत्वों के अनुसधान के प्रसग मे अथर्ववेद से रस–तत्व के ग्रहण का उल्लेख भरत ने किया है – "**रसानाथर्वणादपि**" (ना०

१—शृंगारो विष्णुदैवत्यो हास्य प्रथमदैवत ।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्य करुणो यमदैवतः ।। ६।४४ ।।
वीभत्सस्य महाकाल कालदेवो भयानक ।
वीरो महेन्द्रदेव. स्याद्भुतो ब्रह्मदैवतः ।। ६।४५ ।।—ना० शा० ।

शा० १।१७)। रस आनन्द स्वरूप है ऐसा विवरण उपनिषदो मे भी मिलता है। रस के आनन्दात्मक होने के कारण ऋषियो ने परब्रह्म परमेश्वर का भी उल्लेख रस रूप मे किया है – **"रसो वै सः। रसं ह्येवायलब्ध्वा आनन्दी भवति।"** —(तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली–७)। आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से आनन्दमय ज्ञान–स्वरूप आत्मा का रस रूप में ही आस्वादन होता है। आत्मा आनन्द रूप है और रस भी आस्वाद्यता के कारण आनन्द स्वरूप है।[1] **"रसो ब्रह्म रसं"** – वह आत्मा "रस" है, इस ससार का साररूप आनंद है। रस रूप ब्रह्म को पाकर **"नेति–नेति"** के द्वारा ही *"अहं ब्रह्मास्मि"* (मै ब्रह्म हू) का बोध हो जाने पर वह साधक आनन्दी, अविच्छिन्न निरतिशय सुखवाला होता है – (तैत्तिरीयोपनिषद्, २।७)। प्रकृति–पुरुष रूपी नट–नटी के सान्निध्य एव लोकोत्तर सवेदना के महाभोग से महारस का उदय होता है, जो परमानन्द स्वरूप, विलक्षण, वैचित्र्यकारक और अनिर्वचनीय होता है।

रस का अर्थ :—संस्कृत साहित्य मे रस शब्द का बहुत महत्व है। रस का मूल अर्थ – **रस्यन्ते इति रसाः** – है, अर्थात् जिनका रसनेन्द्रिय द्वारा रसास्वादन किया जाय वे रस होते है। लोक–प्रचलित व्यवहार की दृष्टि से रस शब्द मधुर, कटु, अम्ल, तिक्त आदि षड्रस के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु मूल अर्थ से रस का साहित्यिक प्रयोग कुछ भिन्न है और माया तथा ब्रह्म की तरह दर्शन का गहन विषय हो गया है। नाट्यशास्त्र मे शृंगार, हास्य, करुण आदि नौ रसो मे प्रयुक्त होने वाले इस रस शब्द का क्या अभिप्राय है, इस शका का समाधान करते हुए भरत ने रस की आस्वाद्यता का विधान किया है।[2] इस विषय को स्पष्ट करते हुए भरत ने एक लौकिक उदाहरण इस प्रकार दिया है – ससार में नाना प्रकार के व्यजनो से सुसस्कृत अन्न का भोक्ता पुरुष रसो का आस्वादन करता है। इस अन्न-रस का आस्वादयिता सहृदय होता है क्योंकि अन्नरस का उसने आस्वादन किया है। विशेष रूप से कुशल व्यक्ति व्यजनो का स्वाद विशिष्टता के साथ ग्रहण करते है। इसी कारण उनको "सहृदय" कहते है। इसी प्रकार ऐसे दर्शक या प्रेक्षक जो अभिनय अथवा चित्र–दर्शन का रसास्वादन विशेष रूप से करते है उनको भी सहृदय कहते है।

दृश्य–काव्य जैसा रस–जनक होता है वैसा श्रव्य नही, क्योकि नाट्य होने मे उसमे साक्षात्कार कल्पना का आविर्भाव होता है। चित्रकला मे भी कल्पना का प्रत्यक्ष दर्शन होने से रसोदय तथा सवेदना अधिक शीघ्रता से होती है। साक्षात्कार मे जो आनन्द है वह परोक्ष में नही।

रसानन्द की तीन श्रेणिया :—रस को आस्वाद्यता का आनन्द ब्रह्मरस के तुल्य है। मुक्ति मार्ग के साधक भी आनन्द की प्रेरणा से प्रेरित होकर उस मार्ग पर प्रवृत्त होते है। मनुष्य की मूलवृत्ति ही आनन्दात्मक है। यद्यपि अपनी सुरुचि, सस्कार और प्रवृत्ति के अनुसार कोई (१) रसनाव्यापार के द्वारा उपलब्ध आनन्द की ओर प्रयत्नशील होते है, तो कोई (२) मानस-व्यापार द्वारा प्राप्य नाट्य-रस, काव्य-रस, चित्र-रस की ओर प्रवृत्त होते है और कोई (३) आत्ममुक्ति द्वारा प्राप्य ब्रह्मरस में निमग्न होते है। तीनो मे ही रसानन्द के आत्म-विसर्जन का भाव समान रूप से उपस्थित रहता है। विषयी, रसनाव्यापार द्वारा उपभोग काल में आत्मविस्मृत-सा हो जाता है। नाट्य–रस और चित्ररस के उदय काल में सहृदय व्यक्ति साधारणीकृत विभावादि के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है। यह तादात्म्य ही आत्मलीनता है जैसा कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् (६।२०) में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के चित्र को देखकर

१—"अस्मन्मते तु सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते"। — अभिनव भारती, भाग १, पृ० २९२।

२—रस इति क पदार्थ ? आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रस ? यथाहि नाना व्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसाना-स्वादयन्ति सुमनस. पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। – नाट्यशास्त्र, अध्याय ६।

प्रेम–विभोर हो जाते है और आत्मविस्मृति की दशा मे भ्रमर को अपनी प्रिया के अधरपान करने के कारण कमल कोष्ठ मे बन्दी कर देने का दण्ड देते है।

लोक मे रसनेन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान को आस्वादन कहते है। अन्नादि के आस्वादन में – (१) आत्मा, (२) रसना और (३) मन – इन तीनों को स्वीकार किया गया है। किन्तु रस के विषय मे केवल आस्वादन मात्र स्वीकृत है। इन दोनो में वैषम्य है। यहाँ आत्मा स्थानान्तरित होकर मन स्थानीय हो जाता है और मन रस-स्थानीय। अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ आस्वादन का व्यापार जिह्वा की अपेक्षा अधिक मानसिक माना गया है। वह मानस-व्यापार है। शृङ्गारादि रस के संबध मे आस्वादन व्यापार का प्रयोग पूर्णत. मानसिक या हृदयगत भावो के अर्थ मे ही माना जायगा। अन्नरस की भाति नाना प्रकार के विभाव, अनुभावादि रूप–भावो, अभिनयो द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्विक युक्त तैंतीस स्थायी भावों को सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते है और हर्ष आदि रस प्राप्त करते है। ये आस्वादयिता, सुमना, सहृदय, रसज्ञ कहे जाते हैं।[१]

रसज्ञ तीन प्रकार के होते हैं – (१) रसिक, (२) सहृदय और (३) विचक्षण या प्रमातृ। ये लोग चित्र मे भाव एव रस को देखते है और उस भाव अथवा रस का पारिभाषिक शब्दों में वर्णन करते है। रसज्ञ की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है :—

(१) रसिक — जिसमे रसास्वादन की योग्यता या क्षमता, लौकिक प्रतिभा हो। यह रसिकता सामान्यत: सभी व्यक्तियों में होती है।

(२) सहृदय :— जिसके हृदय में संवेग के अनुभूति की क्षमता हो और जो व्यक्ति दृष्ट वस्तु के रसास्वादन को विशिष्टता के साथ ग्रहण करके तन्मय हो जाता है, वह सहृदय है। अलौकिक प्रतिभाशाली हृदय वाले विशिष्टजन सहृदय होते है।

(३) विचक्षण —कलात्मक वस्तुओ मे सौंदर्य की अनुभूति और सराहना तथा कलाकृति को पहचानने का गुण जिसमें हो, वह कला की परख करने मे निष्णात व्यक्ति विचक्षण कहलाता है।

रसिक सामान्यत सभी जनसाधारण होते है जिसके लिए चित्रसूत्र में "इतरजन" (वर्णाढ्यमितरेजना) कहा है और—**रेखांप्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणा :**—मे आचार्य से तात्पर्य है चित्राचार्य, कलाकार। हृदय वाले तो सभी व्यक्ति होते है किन्तु सहृदय कौन है ? – जन-साधारण से विशिष्ट सहृदय होते है, भावुकता इनका विशेष गुण है। विचक्षण सहृदय होते है किन्तु वे कलाकार हों यह आवश्यक नहीं अत रसिक, सहृदय और विचक्षण सर्वथा भिन्न नही है अपितु एक दूसरे के पूरक है। विचक्षण वास्तविक कला-मर्मज्ञ होते है। अत: कला की परख करने मे उन्हे सर्वोच्च श्रेणी में रखा जाता है।

कला–आलोचक में ये सभी गुण होने चाहिए। सच्चा कला–पारखी, रसिक सहृदय या विचक्षण कला के सौंदर्य का देर तक दर्शन और अनुभव करता है एव उसके अमृत रस आनन्द का पान करता है। इस प्रकार कला–

१—(i) भावाभिनयसंबधात् स्थायिभावांस्तथाबुधः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृता ॥–ना० शा०, ६।३३।

(ii) जयदेव विरचित "चन्द्रालोक" के टीकाकार पयगुण वैद्यनाथ ने चित्र में रस के संबध में कहा है :—
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावित.।
आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायी भावो रस. स्मृत. ॥ ६।३ ॥ कार्ये=चित्रादि में।

सौंदर्य से मुग्ध हो जाने की जो मानसी शक्ति है उसे ही संवेग कहते हैं। भास विरचित दूतवाक्यम् (अंक ७) नाटक में दुर्योधन चित्रपट को देखकर "दर्शनीय" कहता है और उसके भाव, वर्ण आदि की प्रशसा करता है — 'अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः। अहो अस्यवर्णाढ्यता। अहो भावोपपन्नता। अहो युक्तलेखता। सुव्यक्तमालिखितोऽयं चित्रपट.।' अत उसे "विचक्षण" कहा जा सकता है।

रसज्ञता भी वस्तुत. एक दैवी उपहार है। रसिकों की विशेषता कही गयी है – **रसिकाः कामवञ्चिताः।** १०वीं शती के धुरंधर विद्वान् अभिनवगुप्त रसज्ञ की व्याख्या करते है —**"अधिकारीचात्र विमलप्रतिभाशालिहृदयः"** ।– विमल प्रतिभा जिसके हृदय में है वही रसास्वादन का अधिकारी है और यह दिव्य गुण पुण्यवान् व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। उनकी तुलना योगियों के साथ की गई है। वह पुन उनका विस्तार से इस प्रकार वर्णन करते है — **"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।"** तात्पर्य यह है कि रसज्ञता अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त होती है।

तन्मय (तत् + मय) अर्थात् उसी के समान होना। कलाकार को वक्तव्य विषय के साथ तन्मय होना पड़ता है तभी वह उत्तम कला की सृष्टि करता है। **"हृदयसंवादभाजः"** – मन या हृदय में जब कवि और श्रोता के हृदय का सवाद (बातचीत) होता है तभी श्रोता या दर्शक के हृदय मे तन्मय होने की योग्यता आती है। जैसे उप-निषद् मे कहा है– **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** – ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म के समान हो जाता है। सहृदय मे यही तन्मय भाव होता है। कवि, चित्रकार, मूर्तिकार या शिल्पी के हृदय में जो विशिष्ट भाव रहते हैं उसको वही अनुभव कर सकता है जो उसी प्रकार की अनुभूति अपने हृदय में रखता हो। कालिदास ने भी मेघदूत मे कहा —

"लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ।।" – पूर्वमेघ, २९।। उज्जयिनी की नवेलियों के नेत्रों के चंचल कटाक्षो का सुख यदि हे मेघ, तुमने नहीं लूटा तो समझ लेना कि तुम नेत्र मे वंचित हो गये हो। – नेत्र वस्तुतः सभी मानव को हैं फिर भी सहृदयहीनता के कारण उनके नेत्रों का होना व्यर्थ है।

कलाकार के चित्त मे जो व्याकुलता होती है, उसे रूप देने का प्रयत्न ही कला है। उसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार की व्याकुलता उसके चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी कृति सहृदय के हृदय में उत्पन्न कर सकती है। स्मरण रखना चाहिए कि रसज्ञता किसी भाव मे तन्मय होने की, लीन होने की शक्ति है। इस शक्ति का यदि अभाव हो तो रस की प्रतीति असंभव है, जैसे बधिर को संगीत–आस्वादन अशक्य है। संक्षेप मे प्राचीन साहित्यकारों का, विशेषकर अभिनवगुप्त और उनके बाद के आचार्यों का मन्तव्य है कि रसास्वादन सहृदय व्यक्ति का विशेष गुण है, ईश्वरदत्त प्रतिभा है। यह सभी व्यक्तियो में समान रूप से नही होती। जो लोग कला-पारखी होते है वे उसके पारिभाषिक शब्दो पर विचार करते है। कुमारस्वामी कहते हैं कि रसिक, सहृदय व्यक्ति चित्र मे भाव एव रस को देखते है। जो कला–पारखी होते है वे उसके रीति-नैपुण्य को देखते है। अज्ञानी, कलाकार की चमत्कारिता को ही देखते हैं और जो प्रेमी जन होते हैं वे कलाकृति में लावण्य या कांति को खोजते है, चित्रसूत्र (४१।११) मे भी कहा है **"रेखां प्रशंसन्त्याचार्या. .।"** इस प्रकार भारतीय कला सभी प्रकार के दर्शकों–जैसे पडित, भक्त, रसिक, आचार्य, अल्पबुद्धिजनो की मनोकामना पूर्ण करती है।

रसानुभव से जो आनन्द प्राप्त होता है उसकी तुलना हेमचन्द्रसूरि काव्यानुशासन के दूसरे अध्याय मे परब्रह्मास्वाद के साथ करते है – **परब्रह्मास्वादसोदरो निमीलितनयनैः कविसहृदयैः रस्यमानः स्वसंवेदनसिद्धो रसः।** –

यही रसास्वादन की परिसीमा है। विनोदी चित्रसूत्रकार ने "चित्रसूत्र" में चित्र के रसास्वादन की क्षमता किसमे कितनी है या उसकी कितनी गहराई तक पहुंच है, इस सम्बन्ध मे कहा है —

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरेजनाः॥—वि० ध०, ४१।११॥

अर्थात् आचार्य रेखाओ की प्रशंसा करते है, बुद्धिमान् व्यक्ति वर्तना को तथा स्त्रिया आभूषणों को देखने की इच्छा रखती है और अन्य लोग (इतर जन, जो सामान्य बुद्धि के होते है, वे) रंगो की सम्पन्नता पसद करते है।

कलाये सहृदय-हृदय-रजक होती है। सहृदय के चित्त को जो कविता या चित्र तन्मय कर दे, वही श्रेष्ठ काव्य या चित्र है और कविता तथा वनिता का अभेद संबंध सभी आचार्यो ने स्वीकार किया है —

सा कविता सा वनिता यस्याः श्रवणेन स्पर्शनेन च।
कविहृदयं पतिहृदयं सरलं तरलं च सत्वर भवति॥— कामसूत्र

यही कविता है वही वनिता है जिसके सुनने और स्पर्श करने से कवि का हृदय और पति का हृदय तुरन्त सरल और तरल बन जाए। कविता और वनिता की भाति कवि और कलाकार का अभिन्न सबंध पुरातन काल मे चला आ रहा है। कवि और चितेरे मे कोई अतर नही माना गया है। एक भावनाओं को शब्दों द्वारा उतारता है तो दूसरा रेखा-वृत्तियों द्वारा। कवि और चित्रकार दोनों सहृदय होते है। उनकी वही कृति सफल समझी जाती है जो सहृदय के चित्त को तन्मय कर सके। काव्य के उक्ति वैचित्र्य और सहृदय-रंजन ये दो गुण ऐसे है जो उसे कला की पंक्ति मे स्थान दिलाते है। काव्यकला, चित्रकला, संगीतकला आदि इन सभी कलाओ को कवि मम्मट ने काव्यप्रकाश (१।१) में "रस-रुचिरा" कहा है और ये "ह्लादैकमयी" आनन्द देने वाली होती है।

भाव और रस का संबंध :—मनुष्य का मन भावों का अगाध सागर है। भावो की समष्टि मे ही रसोदय होता है। प्रश्न है – भाव से रस की उत्पत्ति होती है अथवा रस से भाव की। इस संबध में भरत नाट्यशास्त्र में बहुत विस्तार से विवेचन किया गया है। उस विवेचन का सारांश है कि रस और भाव का संबंध बीज और वृक्ष के संबध की भाति है –

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता॥—ना०शा०, ६।३८॥

जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष मे पुष्प तथा फल होते हैं, इसी प्रकार समस्त रस मौलिक है और उनके द्वारा ही भावों की व्यवस्था होती है।

बीज रूप मे अर्थात् अरूप (abstract) रूप में रस होता है। रस (abstract idea) भाव-रूप है। रस बीज रूप (अरूप) है, उसी से भाव की उत्पत्ति होती है, जैसे बीज मे वृक्ष, फूल, पत्ती आदि (रूप) की उत्पत्ति होती है। अरूप को ही बीज-रूप कहा है। रस को हम नही देख सकते है किन्तु भाव को तो प्रत्यक्ष देखते है। रस-प्रेषण होने पर ही भाव उत्पन्न होता है। इससे प्रकट होता है कि रसास्वादन के लिए अधिकार की आवश्यकता है। किन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जिसके रसास्वादन पर यह रस की प्रतीति अवलम्बित है उस रसज्ञ का मुख्य लक्षण क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्राचीन साहित्यकारो ने – "रसज्ञता एक ईश्वरदत्त शक्ति है" – कहकर सतोष माना है। अनुभव से यह सिद्ध है कि रसज्ञ गोष्ठी में सामान्य वस्तुओ से लेकर प्रायः सभी विषयों में रुचि वैचित्र्य पाया

जाता है। किन्तु इसका उद्देश्य यह नहीं है कि कला का मानदंड वैयक्तिक रुचियों की भिन्नता पर अवलंबित है। कला की अनुभूति का घनिष्ठ सबंध हृदय मे है। इस कारण इसके लिए बिल्कुल ही निश्चित नियम तो नहीं बनाया जा सकता किन्तु इतना ही कहा जा सकता है कि – अनुभव, ज्ञान, अभ्यास, रुचिपरिशोधन से और रसास्वादन की नैसर्गिक प्रतिभा से जो कुछ प्रामाण्य ज्ञान होता है वही सुन्दर कला कही जा सकती है। इन सबका सार कालिदास की भाषा में इस प्रकार है––

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।। – अभि० शा०, अंक ५।

इस श्लोक का अवतरण करके अभिनवगुप्ताचार्य ठीक कहते है कि रसानन्द – अनिर्वाच्य, अलौकिक, देशादि भेदों से अलिप्त और अभिन्न है। यहाँ पर "पर्युत्सुक" और "अबोधपूर्व" शब्द बहुत सारगर्भित है। वस्तुत. उत्सुक या पर्युत्सुक होकर ही मन के द्वारा भाव को ग्रहण किया जा सकता है। जिसके मन में जिज्ञासा या ग्रहण करने की उत्सुकता ही नहीं होगी वह ग्रहण क्या करेगा? "अबोधपूर्व" – पूर्वजन्म में जैसे संस्कार होते हैं उसी के अनुसार द्वितीय जन्म में अचानक प्रसुप्त भाव जागृत हो जाते है, जैसे दुष्यंत के मन में शकुन्तला का प्रेम पूर्वजन्म से ही था जो अचानक ही सुन्दर वस्तु को देखकर उत्पन्न हो गया। यहाँ अबोधपूर्व का अर्थ है "जिसका बोध पहले न हुआ हो" इस सीधे शब्दार्थ से सर्वथा वैपरीत्य प्रतीत होता है।

कवि और कलाकार सर्वप्रथम अपने मानस में रस या भाव-विशेष की आराधना करते हैं और फिर उसे शब्द या रूप के द्वारा स्थूल या इन्द्रियग्राही माध्यम से व्यक्त करते हैं। सुन्दर कलाकृति से रसिक के मन मे भावो का उद्वेग होता है।

रस सुखात्मक या दुःखात्मक –– रस की सुखात्मकता या दु:खात्मकता भारतीय साहित्य-मनीषियो के लिए एक मौलिक चिन्तन का विषय रहा है। भरत से लेकर विश्वनाथ तक सब आचार्यों ने अपने विभिन्न मतमतांतरों का आकलन किया है। सामान्य रूप से रस तो आनन्दमूलक जीवन तत्व के रूप मे प्रचलित है। परन्तु साहित्य-विधा में सुचिन्तित विचारधारायें इस सबंध मे परस्पर विरोधी प्रतीत होती है। धनञ्जय, विश्वनाथ, मम्मट आदि आचार्यों ने नाट्य-रस की आनन्दमूलकता का प्रतिपादन किया है तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने "नाट्यदर्पण" में कुछ रसों को सुखात्मक और कुछ को दुःखात्मक अर्थात् रस को उभयात्मक माना है। उन्होंने माना है कि शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शात––ये पाच सुखात्मक रस है और करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक – ये चार दुःखात्मक रस है। आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को सुख-दुःखात्मक मानते हुए भी सामाजिक की दृष्टि से उसे हर्षफलपर्यवसायी रूप मे स्वीकार किया है। रस-सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भरत के श्लोकों और व्याख्याओ मे ही इस विचार विभिन्नता का प्रादुर्भाव हुआ है।

रस की सुख-दुःखात्मकता के सबध में "शिल्पकथा" (पृ० ३४) में नन्दलाल बोस का कथन है कि कलाकार हृदय-विदारक दृश्य भी अंकित करता है और मन को मुग्ध करने वाले विषयों के चित्र भी बनाता है। परन्तु दोनो ही प्रकार के अंकन की किसी भी वस्तु में लिप्त नहीं होता। शिल्पी, सुखदायी या दु:खदायी वातावरण से ऊपर उठकर, दोनो की मूल-सत्ता के आनन्द अथवा रस की मूर्ति या चित्र बनाता है। रस के पक्ष से सर्जन होने से

एवं रस में न पहुंचने से, इन दोनों अवस्थाओं में रचना विकल होती है – सुख में विकृत, दुःख में विकल। इसीलिए देखा जाता है कि साधक की जो धारा है वही शिल्पी की भी धारा है, दोनों अपने–अपने पथ पर चलकर सर्वगत एक विशुद्ध आनन्द प्राप्त करते हैं। कहा गया है – **"शिवं भूत्वा शिवम् एजेत्"** – अर्थात् शिव की आत्मा जब मन मे होती है तभी वह शिव हो जाता है और तब कलाकार तन्मय होकर चित्र–रचना कर सकता है।

छन्द .— पुराणो में इस विश्व की रचना को छन्दज सृष्टि कहा गया है। इसके मूल में एक विराट् छन्द, ताल, लय या मात्रा है। उसी छन्द से सौन्दर्य–तत्व के लिए आवश्यक सामजस्य और संपुजन, संतुलन एवं संगति का निर्धारण किया जाता है। अतएव भारतीय चित्रकला का आवश्यक अंग "तालमान" है। विश्व की प्रत्येक वस्तु "प्रमाण" से सुनियत है। यही प्रमाण या तालमान रूपाकृति में अभिव्यक्त किया जाता है। ये प्रमाण या तालमान चित्र के षडंग मे कहे गये है। कलाकार इसे ध्यान की शक्ति से चित्त मे उतारता है और फिर अंकन, आलेखन या वर्णन मे लाता है। सच्ची कला एक शाश्वत रूपसत्र है। उसका सौंदर्य कभी नष्ट नही होता। उसके लावण्य की ध्वनि मन मे बारम्बार आती है।

चित्र में छन्द और रस :— चित्र, काव्य, नाटकादि के प्राणस्वरूप रस के संबंध में कलागुरु आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठैगोर ने "भारत शिल्प के षडंग" मे अत्यल्प शब्दो मे ही इसका सार कह दिया है। उन्होने रस को छन्द कहा है – चित्र के प्राण का प्राण जो रस है वही छन्द है। जिसे चित्रकार के चित्त से, चित्र मे और चित्र से फिर दर्शक के चित्त मे प्रवाहित कर रहा है। **"रसो वै सः"!** रसना, रस का आस्वादन करना ही जिसका काम है उससे पूछो, वह कहेगी "रस रस ही है", बोलने कहने मे रसना कभी भी चैन नही लेती, लेकिन रस की बारी आने पर वह कहती है, "बस" छन्द की परिणति रस मे होती है, लेकिन रस की परिणति किसमें होती है? कहना पड़ेगा, इसलिए कहता हू "बस" मे या आसुओं की बूंदो में, इससे अधिक साफ तौर से रस को नही समझाया जा सकता है। यही रस है – ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि **स च न कार्यः नापि ज्ञाप्यः** (मम्मट – काव्य प्रकाश)। रस अपने को अनुभूत कराता है। तो क्या वह आकाश कुसुम की तरह काल्पनिक है? कदापि नही। रस हो रहा है। रस पा रहा हू। रस है यह देख रहा हूं, **पुर इव परिस्फुरन्** — मानो सामने है। हृदयमिव प्रविशन – मानो हृदय के अन्दर है। **सर्वांगीनमिवमालिंगन** — सर्वांग आलिंगन करके।

छन्द को कोशो मे कहा गया है – आह्लादयति इति — वह आह्लादित करता है, वह आह्लादिनी शक्ति है। वर्षाकालीन मेघ को देखकर रसोन्मत्त मयूर के सपूर्ण शरीर मे आनन्द–रस मणियों की ज्योति की भाति चमक उठता है। रस से वह पूर्णरूपेण रोमांचित होकर नाच उठता है और रस की यह पूर्णता उसके पखों के प्रकंपन से भी प्रकट होने लगती है। रस को देखा और सुना जा सकता है, अत उसे काल्पनिक नही कहा जा सकता। नये चित्र–विचित्र रग और भगिमा रस के श्रृंगार वेष हैं। **अयं श्रृंगारादिको रसः अलौकिकचमत्कारकारी** — वह अलौकिक चमत्कार करने वाला है। **अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत्** — उसके सामने कोई वस्तु स्थिर नहीं रहती। रस की धारा सबको उसमें बहा ले जाती है और सभी लोग उसमें अवगाहन करते है। विराट् प्लावन की तरह सबसे ऊपर, ब्रह्म-स्वादमिव अनुभावयन् – मानों बृहत् के आस्वाद से हमे भी उस प्रकाण्ड आस्वाद रस ने बड़ा कर दिया है। आदि स्रष्टा ने अपने सृजन मे सत्–चित्–आनन्द में चित् कला से प्राण रूपी रस लिया है।

प्रत्येक चित्र मे पांच संयोजक तत्व रहता है और सभी मिलकर चित्र को समग्रता प्रदान करते है – (१) चित्र–विषय; (२) रीति–नैपुण्य अर्थात् विधिविधान; (३ , विभिन्न अवयवो का यथास्थान सयोजन एवं नियोजन, (४) अवर्णनीय सूक्ष्म तत्व अर्थात् रस या प्राण का समावेश जो चित्र के संपूर्ण अगो को समाच्छन्न किये रहता है

और (५) उक्त सभी तत्व एवं अंकन का सविधि तथा कलापूर्ण निर्वाह और चित्र की पूर्णता। रस जब चित्र का सर्वस्व है, उसके प्राणों का प्राण है तो केवल प्राण–रसना को छोड़कर अन्य इन्द्रिया (आंख–कान आदि) चित्र या चित्रितव्य का आस्वादन नही कर पाती। अत प्राण, मन तथा हृदय से चित्र को देखना चाहिये, तभी सहृदय व्यक्ति उसका रसास्वादन कर सकते है।

चित्रकार के निकट छन्द–शक्ति का कार्य कभी इस प्रकार प्रकट होता है जैसे अन्दर से बाहर या मनोगत वस्तुरूप उसके द्वारा अनुरणित हो रहा हो। पर्वत को चित्रित करते समय पर्वत की दृढ़ता एवं स्थिरता को मन मे लाकर अर्थात् छन्द की स्थिति को ध्यान मे रखकर, चित्रकार चित्रित करता है और जब तरगभग बनाता है तब छन्द की गति को ध्यान मे रखकर चित्रित करता है।

चित्रकार की अन्तर्निहित उदयकामना या अभिव्यक्ति की वेदना छन्द के नियमो मे अपने को बाधकर अन्तर्बाह्य दो प्रकार से जब अपने को रसोदय मे परिणत करती है तब चित्र बनता है। शब्द–चित्र, सगीत, काव्य-चित्र–कविता, दृश्यचित्र – पट और मूर्ति आदि कोई भी सृजन की इस स्वाभाविक प्रक्रिया का अनुसरण किये बिना अभिव्यक्त हो ही नही सकते। छन्द चित्रकार के मन मे प्रकाश–वेदन और चित्र का प्रकाश, इन दोनों के बीच आनन्द–तरग की भाति है, इसीलिए कहा गया है – **छन्दयति इति छन्द** — क्योकि वे आनन्दित करते है। **"आच्छादयति इति छन्द"** — ऊषा के अन्दर जैसे उदय का अभिप्राय निहित रहता है उसी प्रकार छन्द के अन्दर से चित्रकार का मनोभिप्राय अपने को व्यक्त करता है। छन्द आनन्दकारी और आच्छादनकारी होता है। छन्द नदी के जल–तरगमाला की शोभा है। यही तरग, यही झंकार ही चित्रकार और कवि के हृदय मे झंकृत होती है। कवि तथा चित्रकार इसी तरंगित, झकृत रेखा एव शब्द के रूप में रस और रस को रूप प्रदान करता है।

इस छन्द की शक्ति का बोध करना या कराना ही छन्द-बोध है। **"छन्दस्तु नानाविधम्"** — छन्द बहुविध होते है। चित्र के षडंग – रूप, प्रमाण, भाव, लावण्यादि सभी में छन्द है। इस छन्दशक्ति को रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य और वर्णिकाभग के द्वारा उद्बोधित करना ही चित्र मे प्राण-प्रतिष्ठा करना है।

ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है कि शिल्पी या कलाकार शिल्पकला के माध्यम से अपने को छन्दोमय कर उठता है – **"छन्दोमयमात्मानं कुरुते"**। चित्रांकन आरम्भ करने के पूर्व वह निरतर साधना के बल से स्वयं को सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक छन्दोमय बना लेता है। इसी छन्दात्मकता से चित्र भी छन्द और प्राण-रूप हो जाता है। चित्र और काव्य के छन्द का संबंध लय, ध्वनि या झंकार, व्यञ्जना से होता है। इसी से वह रचना जीवन्त, प्राणवान हो जाती है।

संस्कृत साहित्य मे वैदिक छन्द गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती आदि है और लौकिक छन्द इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित इत्यादि है। मनमोहन घोष इन लौकिक छंदो को ईस्वी-पूर्व छठी सदी का मानते है। ये छन्द विभिन्न रसो को उद्दीप्त करते है। नाट्यशास्त्र (१६।११३–१२०, १२१, १२७, १२८) मे शृङ्गार रस के लिए "आर्या" जैसा मृदु वृत्त एवं वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसो में लघु अक्षराश्रित छन्द भावाभि-व्यक्ति के लिए सर्वथा उपयोगी होते हैं। परम्परा से भी "शिखरिणी" छद मनुष्य के प्रेम, आनन्द और उल्लास, "मन्दाक्रान्ता" प्रेमी की विरहोत्कण्ठा और "शार्दूलविक्रीडित" वीरता और ओजस्विता को रूपायित करने मे पूर्ण सक्षम माना जाता रहा है। भरत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि छन्द सरचना करते हुए उदार मधुर शब्द नाट्यार्थ को वैसे ही दीप्त करते हैं जैसे कमल-पुष्पो से सरोवर शोभित होता है।

चित्रकार प्रकृति के विभिन्न छन्दों को लेकर रूप को व्यजना प्रदान करता है। छन्द के कारण ही चित्र प्राणवान हो उठता है। रूप चाहे जैसा भी हो, उसमे प्राण-धर्म का समावेश ही कलाकार की साधना का विषय बनता है। प्राणहीन रूप कलाकार का लक्ष्य नही हो सकता। प्राण क्या है? शिल्पी जिसको प्राण कहता है उसके द्वारा लोक प्रचलित सकीर्ण अर्थ मे व्यवहृत प्राण शब्द का बोध नही होता। मृत्यु के अन्दर भी एक तरह का प्राण है। किसी मृत वस्तु को हम वास्तव मे मृत हुआ देख रहे है, परन्तु उसके अदर भी एक प्रकार का मरणधर्मी प्राण विद्यमान है। विकासोन्मुख अकुर को चित्र मे प्रस्फुटिन करने के लिए वास्तविक शिल्पी उन पल्लवो के ऊपर एक विशेष प्रकार के छद का आरोपण करता है। झडकर गिरे हुए विशीर्ण, शुष्क पल्लवो के रूप को दर्शाने के लिए एक दूसरे प्रकार के छद का आरोपण करना होगा, यद्यपि इनमे एक जीवन का छद है और दूसरे मे मृत्यु का। फिर भी शिल्पी के लिए वे दोनो ही अपने-अपने स्थान पर आराध्य है और दोनों में ही प्राण-धर्म विद्यमान है।

उत्तररामचरित (अक १) मे इसी प्राण या सजीवता की ओर भवभूति ने सकेत किया है। अर्जुन नामक चित्रकार द्वारा बनाये गये चित्रवीथी में अकित विभिन्न रसो के चित्रो का दर्शन जब सीता कर रही थी तब उसमे पंचवटी मे हुए शूर्पणखा विवाद के दृश्य को देखकर वह वियोग-भयत्रस्त हो जाती है। वह चित्र इतना सजीव, प्राणवन्त बना था कि देखने से प्रत्यक्ष घटना होती हुई जान पड रही थी। तब राम – "**अयि चित्रमेतत्**" – यह चित्र है सत्य घटना नही, कहकर उनको समाहित करते हैं। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अक ६) मे भी शकुन्तला के चित्र को दुष्यन्त सजीव मान लेते है और चित्रित भ्रमर से कहते है —

"बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदर बन्धनस्थम्" ॥ ६।२० ॥

यदि तुमने मेरी प्रिया का बिम्बाधर स्पर्श किया तो तुझे कमलोदर में बंद कर दूंगा। प्रेम-रस मे पगे दुष्यन्त को यह भी ध्यान न रहा कि यह चित्र है, सत्य नही।

चित्र अपने-आप में एक स्थिर पदार्थ है। परन्तु जब वह रसयुक्त बनता है तो भाव-परम्परा को दीर्घकाल तक उत्पन्न करता रहता है, ठीक उसी भाति जैसे वीणा के तार को हल्का-सा आघात देने से देर तक अनुरणन, झकार होती रहती है। यही ध्वनि-परम्परा है। परन्तु वीणा का अनुरणन श्रव्यध्वनि-परम्परा है और चित्र या मूर्ति का अनुरणन मानसिक भाव–परम्परा है। इसीलिए अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अक ६) मे दुष्यन्त कहते हैं – **रेखया किञ्चिदन्वितम्** – अर्थात् शकुन्तला के इस चित्र मे रेखा–द्वारा उसका लावण्य और मानसिक भाव बहुत कम उतर सके है। मन का अनुरणन या छन्द इसमें अभिव्यक्ति नही हुआ है। इसी से यह अधूरा प्रतीत हो रहा है। इसी मानसिक भाव-परम्परा के उत्पन्न करने की क्षमता को "अन्वय" कहा जाता है और उस प्रक्रिया को "अन्वयन"।

कुमारस्वामी अजन्ता और सिगरिया के भित्तिचित्रो की रेखा के सबध मे कहते हुए उसकी रेखाओ की छदात्मकता को ही महत्व देते है – "The long flowing line and the sense of rhythmic movements are noteworthy. There is a freedom of drawings and grace of line" और यही रेखा की विशेषता आसाम मे "ताई-अहोम" की पेंटिग मे भी है।

ध्वनि और रस — ध्वनि की उत्पत्ति काव्य में शब्द और अर्थ से होती है तथा चित्र मे "रेखा एव वर्ण" द्वारा। शब्द और अर्थ के समग्र बाह्य रूपों और विच्छित्तियों को अतिशयित करके प्राधान्यत स्फुरित होने वाला वह प्रतीयमान अर्थ अलकार शास्त्रज्ञो को उसी प्रकार बाह्य तत्वो से पृथक् लगा जिस प्रकार अंगनाओं में उनका लावण्य उनके अगसस्थान से अभिव्यग्य होकर अंग से व्यतिरिक्त (अतिशय भिन्न) होता है। लावण्य के संबंध मे यह श्लोक प्रसिद्ध है—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ।।—उज्ज्वलनीलमणि

मुक्ता मे जो कान्ति या आभा तरलता-सी झलकती है वही झलक अगो मे लावण्य कहलाती है। ध्वनिकार लिखते हैं —

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।। ध्वन्या०, पृ० ४७।

महाकवियो की वाणियो मे वह प्रतीयमान कुछ और ही है जो वह प्रसिद्ध अवयवो से अतिरिक्त रूप में अगनाओ मे लावण्य की भांति भासित होता है।

केवल यही नही, वरन् ध्वन्यालोक (३।३७) मे कहा है—"**मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि । प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्**" – अर्थात् स्त्रियो की लज्जा की भांति, उस प्रतीयमान अर्थ की छाया महाकवियों की अलकार-सम्पन्न वाणियो का मुख्य भूषण है। लावण्य मे आकर्षण और स्वारस्य है। ध्वन्यालोककार इस प्रतीयमान अर्थ के तीन भेद करते है—(१) वस्तुध्वनि, (२) अलंकारध्वनि और (३) रसध्वनि। इनमे "वस्तु" और "अलंकार" ध्वनि शब्दाभिधेय होने के कारण लौकिक है किन्तु "रसध्वनि" अलौकिक है क्योकि वह स्वशब्दवाच्य है। इस प्रकार रस एक ध्वनि है। ध्वन्यालोक (१।५) में आनन्दवर्धनाचार्य ने जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकार किया है वह मुख्यतः रस ही है – **काव्यस्यात्मा स एवार्थ.** । अभिनवगुप्त इस काव्य की आत्मा का अर्थ "रसध्वनि" ही मानते है क्योकि रस ही वस्तुत आत्मा है। वस्तुध्वनि और अलकार-ध्वनि सर्वथा रस के प्रति पर्यवसित होती है। अतः वे वाच्य से उत्कृष्ट है। इस अभिप्राय से सामान्य रूप से कहा गया है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है। इसीलिए प्राचीनकाल में क्रौञ्च-पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक के ध्वनित होने से आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि के मुख से निसृत शब्द श्लोक (काव्य) बन गया। रस व्यजना है, वाच्य से उसका सस्पर्श नही होता, इसी कारण वह अलौकिक भी है।

ध्वनि या व्यंजना –– भारतीय कवियो ने ध्वनि या व्यजना (suggestion) को ही काव्य की आत्मा माना है। सबसे उत्तम ध्वनि अथवा व्यंजना "रस" होता है। पुष्प मे जैसे सौरभ होता है उसी प्रकार चित्र मे व्यजना निहित होती है। व्यजना को चित्र मे प्रच्छन्न करके दिखाते है। रूप, भाव-भंगिमा, प्रमाणादि सब कुछ होने पर भी यदि व्यजना का अभाव है तो वह चित्र सौरभहीन पुष्प-माला के समान है। ऐसे व्यजना-विहीन चित्र श्रेष्ठ नही कहे जाते।

ध्वनिवादी आचार्य रस को व्यंग्यार्थ मानते है। ध्वनि कहने से व्यजना का बोध होता है। सीधी-सादी भाषा में उसे "प्राण-स्पदन" कहा जा सकता है, क्योकि प्राण के साथ ही व्यजना होती है। यदि चित्र मे प्राण नही तो व्यजना भी नही होगी। चित्र मे व्यंग्य या ध्वनि. नये-नये भाव-रसों को उत्पन्न करके ऊबने से बचाती है। रूप की ओट में भाव-भंगिमा के इगित को अवगुंठित रूप मे प्रकट करना ही व्यग्य का काम है। भाव की व्यंजना या गूढ भाव को हम केवल मन से अनुभव कर सकते है।

आलंकारिकों ने अनेक प्रकार की ध्वनि कही है, जैसे—अलंकार-ध्वनि, अर्थ-ध्वनि, रस-ध्वनि आदि। रस-ध्वनि में ही कवि का चरम उत्कर्ष प्रत्यक्षीभूत होता है। उत्कृष्ट चित्र मे भी उसी प्रकार रेखा, रग, रूप और प्रतीक मे ध्वनि या छन्द होता है और इन सब (रेखा, रग, रूप, प्रतीक) का समुदाय एक अखंड ध्वनि, छन्द या प्राणस्पन्दन होता है। इसीलिए टाल्स्टाय "ह्वाट इज आर्ट" (पृ० १२३) मे कहते है कि अपने में भावो की क्रिया,

रेखा, रंग, ध्वनि या शब्द द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करना कि उसे देखने या सुनने वाले में भी वही भाव जाग जायें, कला है। जहां रेखा जीवन्त होती है वहीं वह ध्वनित हो उठती है। रेखा प्राच्य चित्रों का प्राण है। किन्तु पुनरुत्थान काल और उसी शैली के आधुनिक पाश्चात्य चित्रों में रेखा का महत्व गौण है। वहां "प्रकाश और छाया" को ही चित्र का प्राण माना गया है।

रेखा :— भारतीय चित्रकला का प्राण रेखा है। विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है—**रेखां प्रशन्सन्त्याचार्या**— आचार्यों ने रेखा की प्रशंसा की है। भारतीय चित्रांकन परम्परा की अन्य शैलियों के, जैसे फारसी (पर्शियन), चीनी तथा जापानी, चित्रकारों ने भी चित्रांकन में रेखा को बहुत महत्त्व दिया है, किन्तु इनमें और भारतीय चित्रकारों की रेखा में बहुत अन्तर है। जिस चित्रांकन में रूप-भंगिमा और भाव-संपर्क में शिल्पी की चेतना अभिव्यक्त नहीं होती वह चित्र केवल अलंकरण मात्र ही रह जाता है। उसमें शिल्पी के मन का भाव-अभिनिवेश नहीं रहता है। रेखा में दृढ़ता के साथ ही मन संयोग भी होना चाहिए।

प्राणस्पन्दन के विचार से चित्र में रेखा को तीन श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं :— (१) निर्जीव, (२) निपुण और (३) प्राणस्पन्दित या जीवन्त रेखा। वस्तुत दक्ष चित्रकार इन सभी प्रकार की रेखाओं को एक बार में खींच सकता है। रेखा शिथिल और गतिविहीन होती है और द्रुतप्रसृत स्पन्दनयुक्त रेखा में ओज होता है। जिस भाव को मन ग्रहण करता है उस मन की एकाग्रता को तूलिका अपनी रेखा में अभिव्यक्त करती है। इन गतिशील रेखाओं के माध्यम से रचना में उभार एवं उनमें कोमलता, कठोरता, करुणा आदि विविध भावों की अभिव्यक्ति होती है।

विद्धशालभंजिका में राजा किसी नायिका की रेखा निपुणता के संबंध में कहते हैं :—

अहो वपुःश्रीर्लिखितुर्जनस्य स्वाकारसंवादि यदत्र चित्रम्।
इदं च पौरन्ध्रमवैमि कर्म रेखानिवेशोऽत्र यदेकवारः ॥ १।३५ ॥

राजा—अहो! कैसा शरीर-सौंदर्य है। यह चित्र तो ऐसा बन पड़ा है मानो चित्रकार ने अपना ही रूप चित्रित कर दिया है। मैं समझता हूँ कि यह काम किसी सुगृहिणी का है। उसका इतना अधिक अभ्यास है कि रेखाओं को केवल एक बार ही खींच देने से चित्र पूरा हो गया, दुबारा उसे ठीक करने के लिए रेखायें नहीं खींचनी पड़ीं।— इसमें उसकी रेखाकर्म की निपुणता परिलक्षित होती है। वस्तुत. यह Romantic idea है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति देखने में सुन्दर हो वही सुन्दर चित्र-रचना कर सकता है। विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है कि रेखाओं द्वारा चित्र में, जो चित्रकार सोये हुए को सुप्त और मृतक और मृत के समान दिखाता है, वही चित्रवेत्ता है।—

सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम्।
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित् ॥ ४३।२९ ॥

चित्र की रेखाओं में एक नैसर्गिक अंतर्भूत प्रवाह और गति होनी चाहिये। जिन चित्रों की रेखाओं में हृत् तंत्री के तारों की-सी झंकार नहीं होती, उन चित्रों में रस नहीं होता, अथवा प्रेक्षक में रसज्ञता का अभाव होता है।

काव्य में जिस प्रकार शब्द और अभिधेय अर्थ गौण विषय माना जाता है तथा ध्वनि ही प्रधान होती है, जैसे "**त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्**" में विरहावस्था में स्मृति की ध्वनि झंकृत हो रही है, उसी प्रकार भारतीय चित्रकार रेखा द्वारा उद्भूत छन्द को ही चित्र में प्राधान्य देते हैं। सुप्रसिद्ध चित्रकार नन्दलाल बोस ने कहा है :—

"The first rhythm that the subject creates in the mind of the artist in the first rush of feelings is called the inner rhythm of the subject This inner rhythm determines the form in

which the feeling will have to be represented. In the composition there is always a line which in one eloquent sweep announces the existence of this inner rhythm. The first stirring to life of a composition can be felt from this line. This one line gives the picture all the unity and significance it needs.

From this original line depicting the inner rhythm flow other lines that cover the entire ground to create a harmonious whole. The aim of these secondary lines is to support the original feeling of inner rhythm, to supplement it and to ramify it into various channels. These secondary lines, setting up, as they do, a very rich contrast, create such a variety of rhythm that one can feel the vibrance of the inner rhythm in every part of the picture."—(Linear Works of Nandalal Bose, P. 59).

चित्रकला मे छन्द का अभिप्राय रेखाओ की पुष्टगतिशीलता एव अकन के अनुरूप समुचित रगों का संतुलित प्रयोग और उन सबका आपस में सामञ्जस्य है। रेखाओ में ओज, सजीवता, लावण्य और माधुर्य होना चाहिये। इसीलिए विष्णुधर्मोत्तर मे कहा गया है —

हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते।
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम् ॥ ४३।२१ ॥

जिस चित्र में प्राण–स्पंदित होता हुआ–सा प्रतीत होता है वह चित्र शुभ लक्षण वाला होता है। विषय और विषयी की एकात्मकता एवं एकांत तन्मयता के बिना इस प्रकार की प्राण–स्पंदित जीवन्त रेखा खींचना संभव नही। चित्रित करने के पहले ही रेखा, शिल्पी के कल्पना–लोक में जन्म लेती है और वह उसी को प्रत्यक्ष कर देता है।

वर्ण .— रग का उचित सामञ्जस्य ही चित्र का वर्ण–छन्द है। विष्णुधर्मोत्तर (४२।७०) के अनुसार संध्या दिखलाने के लिए पश्चिम क्षितिज पर लालिमा तथा द्विजों को सध्योपासन आदि नियमों से युक्त करके दिखलाना चाहिये। वर्ण की प्रकृति को समझकर, वर्ण–मिश्रण के ज्ञान द्वारा चित्र मे उसका उचित स्थान पर प्रयोग करना चाहिये। वर्ण केवल रजित ही नही करता, वरन् वर्ण चित्र को वर्णित या छदित भी करता है। केवल फूलों को ही नहीं, उसके सौरभ को भी, केवल सूर्य की किरणो के रग को ही नही, उसके उत्ताप को भी प्रकट करता है। ऊषा–संध्या, दिवा–रात्रि के अपने विशेष वर्ण है जिनका चित्र में समावेश अथवा प्रयोग नितान्त आवश्यक है। रंजित चित्र को वर्ण ही रजक, आह्लादनीय, छन्दोमय बनाता है।

रूप – रूप मे प्रमाण या तालमान के द्वारा ही छन्दात्मकता और प्राण आता है। रूप और प्राण यही दोनो चित्र के आदि और अत हैं। प्राण अभिव्यक्ति पाने के लिए रूप की कामना करता है। केवल रूप अथवा प्राण से ही चित्र नही बनता। रूप और प्राण दोनो के योग से ही चित्र बनता है और इसी मे समस्त चराचर का अकन रहता है। तुच्छ या उच्च, अनित्य या नित्य, सबके अन्दर अनुस्यूत "एक" की एकता का ही अनुभव करना और प्रकट करना ही शिल्पी की साधना एव सिद्धि है। वही परब्रह्म "एक" (**एकोऽहं द्वितीयो नास्ति**) है। रूप में शिल्पी माया को "एक" के बीच विचित्र छद को देखता है। इसीलिए चित्रकार देवताओं के चित्र और सामान्य मानव जीवन के चित्र बनाने में समान आनन्द प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कलाकार नंदलाल बोस "शिल्पकथा" (पृ० ३८) मे इसी छन्द के विषय में कहते है .—

'मन की परिणति के साथ-साथ अब रूप को ही मुख्य नही समझता। उनमें से प्रत्येक को एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न छन्द और मूर्ति के रूप में देखता हूँ। समग्र ससार, अन्दर और बाहर के सभी रूप जिस जीवन से निकलते हैं और जिस जीवन मे स्पन्दमान है[1] सत्ता के उसी जीवन-छद को सभी रूपो में ढूंढता हूँ, चाहे वह साधारण हो या असाधारण। अर्थात् पहले देवता के रूप मे ही देखता था, अब मनुष्य, वृक्ष और पहाड़ में देखने की चेष्टा करता हूँ।' इसी को ईशावास्योपनिषद् के प्रथम श्लोक मे कहा गया है – **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्** – ससार के अन्दर जो कुछ भी है उसे परमेश्वर का निवास-स्थान समझना चाहिये और जहा कही आकर्षण, उल्लास है वही सृष्टि की मूल छंदोधारा है।

"विष्णुधर्मोत्तर" में भी समस्त चराचर – जलचर, नभचर, भूचर तथा प्रकृति आदि सभी – का अकन चित्र मे करने का निर्देश है और कहा है कि इन सभी चित्रो को शृङ्गारादि रस-युक्त बनाना चाहिये :—

रसभावाश्च कर्तव्या यथापूर्वमुदाहृताः। – वि० ध० ४२।८१॥

रसो और भावो का, जो पहले बताये गये है, अनुभूतिपूर्ण चित्रण करना चाहिये।

शुष्कं वर्तनया यस्तु[2] चित्रं तम्मध्यमं स्मृतम्।[3]
शुष्कार्द्रमधमं प्रोक्त चार्द्रमेव[4] तथोत्तमम्॥ –वि० ध०, ४२।८२॥

जो चित्र अंकन में शुष्क या नीरस प्रतीत हो वह मध्यम कोटि का चित्र कहा गया है। जो चित्र कुछ शुष्क और कुछ आर्द्र (रस-युक्त) प्रतीत हो वह अधम कोटि का तथा जो आर्द्र या सरस प्रतीत हो वह उत्तम कोटि का चित्र माना गया है।

विष्णुधर्मोत्तर (४२।८४) मे कहा गया है कि चतुर चित्रकार द्वारा अंकित, इन्द्रिय (करण), कान्ति, विलास, रस आदि से युक्त चित्र मनोरथ को पूर्ण करने वाला होता है।—

इति विचक्षणबुद्धिविकल्पितै करणकान्ति[5] विलासरसादिभि।
लिखितमीक्षणलोचनमादराद्भवति चित्रमभीप्सितकामदम्॥

प्रतीक और अभिप्राय :— कुशल चित्रकार चित्र मे इनका प्रयोग अद्वितीय रूप मे करता है। आधुनिक पाश्चात्य आलोचक इनको क्रमश. "Symbolism" और "motif" कहते है। यह प्रतीक अथवा उपलक्षणात्मकता भारतीय कला का प्राण है। ऐसे चित्रो का शीर्षक देने की आवश्यकता नही होती। ये चित्र "स्वशब्दवाच्य" होते हैं अर्थात् चित्र के वातावरण से जो ध्वनि निकलती है वही उसका शीर्षक कह देती है। आधुनिक चित्रकला मे भी ऐसे प्रतीकात्मक वातावरण या रंगों का प्रयोग करते है जो स्वयं अपना शीर्षक ध्वनित कर देते हैं। कालिदास ने मेघदूत (१।३०) में नदियों के प्रतीक रूप में नायिकाओं का ही शब्द-चित्र निम्नप्रकार से खींचा है :

१—यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति नि सृतम्। – कठो० २।३।२॥
२—वस्तु।
३—स्मृता।
४—चाद्रमेव।
५—करणकीर्तिः–।

वीचीक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणाया–
संसर्पन्त्या. स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।।

कुशल चित्रकार चित्र में जगत् को दिखलाने के लिए कमल-पत्र पर जल की बूंद दिखलाता है। यह एक अभिप्राय या मोटिफ है। कुछ प्रतीकात्मक चित्र इस प्रकार भी बनाये जाते है जिनसे विभिन्न स्वभाव, व्यवहार आदि परिलक्षित होते है। इन प्रकार का प्रतीकात्मक चित्र बनाने के लिए चित्रकार का अतिनिपुण होना अनिवार्य है, अन्यथा अकन दोषपूर्ण होगा।

विष्णुधर्मोत्तर (अध्याय ४२) रूपनिर्माण प्रकरण में आकाश, पर्वत, वन, नगर, संध्या, रात्रि, प्रात काल, रणक्षेत्र, मार्ग, द्यूत आदि का चित्रण सामान्य रूप से वातावरण द्वारा उसके प्रतीक (चिन्ह) को अभिव्यक्त करने का विधान है। मार्ग को अभिव्यक्त करने के लिए ऊटों के काफिले, रात्रि दिखलाने के लिए चन्द्रमा, तारे, कुमुदिनी तथा चोर को चोरी करते हुए एवं रात्रि के गहन अंधकार मे अभिसारिका नायिका को अपने प्रेमी से निर्दिष्ट स्थान मे मिलने जाती हुई दिखलाना चाहिये।

मेघदूत (२।२०) मे कालिदास कहते हैं — **द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा ।।** – यक्ष मेघ से यक्षिणी के घर की पहचान बतलाते हुए कहता है कि उसके गृह के द्वार पर शख और पद्म का अकन किया हुआ है। ये अंकन मागलिक समझे जाते हैं। याजदानी, अजन्ता गुफा १७ (फलक ४७ डी) मे शंख को श्वेतपद्म के ऊपर चित्रित किया गया है (चित्र–५)। शख और पद्म विष्णु का आयुध होने से उनका एक अभिप्राय या मोटिफ है। विष्णु सबका मंगल या कल्याण करने वाले हैं अतः जिस गृह मे ये अभिप्राय बने होते हैं उस गृह का विष्णु मगल करते है।

भारतीय कला मे सुन्दर वस्तुओ का बाह्य रूप एव उनका आन्तरिक अर्थ, दोनो पक्ष इष्ट थे। अर्थ के बिना कला रिक्त और तुच्छ है। इसीलिए कालिदास ने कहा है – "**वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।**" – (रघु० १।१) वाक् और अर्थ का सपृक्त या मिला हुआ रूप श्रेष्ठ है। उसमे वाक् कला और काव्य का बाह्य रूप है। अर्थ उसकी भीतरी व्याख्या है। शिव और पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप की भाति वाक् और अर्थ भी उभयनिष्ठ हैं। कलाकार या शिल्पी और विचक्षण को इन दोनो (वाक् और अर्थ) पक्षो में समान रुचि लेना चाहिये। भारतीय रसशास्त्र का यह परिपूर्ण सिद्धात शब्दमय और अर्थमय दोनों पक्षो को लिए हुए है।

कला का उद्देश्य जीवन के लिए है। वह उद्देश्यहीन साधना नही है। दिव्यावदान (पृ० २२१) में भी यही भाव प्रकट किया गया है कि कला के अभिप्राय शोभा एव जीवन-रक्षा दोनों के लिए होते है :—

"**सुदर्शननगरे एकोनद्वारसहस्रं देवाना (रूपाणि) आरक्षार्थम् इत्यर्थं शोभनार्थम् ।**"

विष्णुधर्मोत्तर में भी कहा गया है :—

निधिशृङ्गान्वृषान्नाजन्निधि[1]हस्तान्मतङ्गजान् ।
निधी[2]न्विद्याधरान्[3] राजनृषयो गरुडस्तथा ।। ४३।१८।।

१—हस्तान्नतागजान् ।
२—न्विद्याधरा ।
३—राजनृषीन्गरुडमेव च ।

हनुमांश्च[1] सुमङ्गल्या ये च लोके प्रकीर्तिताः ।
लिखितव्या महाराज गृहेषु सततं नृणाम् ।। ४३।१६ ।।

गृह मे निधिश्रृंग, निधि धारण किये हुए श्रेष्ठ हाथी, निधि (नौ निधियाँ), विद्याधर, ऋषि (या सिद्ध), गरुड, हनूमान (चौड़े हनु वाले), सुमंगला (शुभ लक्षणो अथवा मागलिक वस्तुओं से युक्त स्त्री) इत्यादि लोकमागलिक पदार्थों को सदा चित्रित करना चाहिये । ये सब अभिप्राय (मोटिफ) गुप्तकाल में अत्यधिक प्रचलित थे ।

विष्णुधर्मोत्तर के इस श्लोक (४३।१५–१६) के अर्थ मे मागलिक चिन्हों के संबंध में विद्वानो में बहुत विचार वैमत्य है । मोतीचन्द्र ने "प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बुलेटिन" (१९६४–६६, नं० ९) में "निधिश्रृंग" (Corncopia) पर एक लेख लिखा है – "ए – स्टडी इन सिम्बोलिज्म ।" इनमे वे पहले उपर्युक्त श्लोक का अर्थ स्टेला क्रैमरिश एवं प्रियबाला शाह का देते है, पुन अपना अर्थ देते है :—

स्टेला क्रैमरिश ने उपर्युक्त श्लोक का अनुवाद (वि० ध०, तृ० भा०, पृ० ६०–६१) किया है— "... bulls with the horns (immersed) in the sea and (men) with their hands sticking out of the sea (whilst their) body is bent (under water) . (oh) great king, the Vidyadhars, the nine gems, sages, Garud, Hanuman, all those who are celebrated as auspicious on the earth, should always be painted in the residential houses of men."

Unfortunately, the translation hardly gives any sense. Dr. Priyabala Shah's explanation hardly improves the matter. She explains :—"All those things which are regarded as auspicious by people such as bulls with Nidhi horns, elephants with Nidhi trunks, (nine) Nidhi's Vidyadhars, sages, Garud and Hanuman should generally be shown in them "

(Vishnu. pp. 135–136)

I have translated the couplets as follows : - "O King, in the residences of man should always be painted the 'treasure horns, (Nidhi-Shringan) of the bulls, the 'treasure handles' (Nidhihastan) made of elephant tusks (Matangajan), the Nidhis, the Vidyadhars, the Rshis, Siddhas, Garud, the wide-jawed one (mask) (Hanuman), the auspicious women (Sumangalah) and other auspicious symbols famous all over the world "

Vishnudharmottara-Bulletin of the Prince of Wales Museum. Bombay, No. 7, 1959–1962, p. 8.

The Vishnudharmottara therefore leaves no doubt that in the Gupta period to which probably the text belongs, Nidhishring represented by the bull horn and the elephant tusk was a well recognised motif associated with good luck and fortune.

शिवराममूर्ति ने भी "चित्रसूत्र" में उपर्युक्त श्लोक का अर्थ मोतीचंद्र के समान ही माना है । "निधिश्रृंग" (Corncopia) के संबंध में मोतीचन्द्र कहते है कि गुप्तकालीन सम्राट् समुद्रगुप्त का सुवर्ण का एक सिक्का प्राप्त हुआ है जिसमें देवी संभवत: लक्ष्मी बायें हाथ में श्रृंग (या श्रृंगी, जो बैल के सीग से बाजा बनाया जाता था और यह

१—हनूमतं च मंगल्या ।

शिव का एक प्रतीक भी है) लिए हैं और उसमे से निधिया निकलती हुई अंकित है (चित्र–२९)। यह सुवर्ण सिक्का भारत कला भवन मे सुरक्षित है।

''शृंग'' यह बहुत प्राचीन मगल प्रतीक है। इसके सबध में वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय कला (पृ० ३४६) मे लिखते है —ऋद्धिशृग जिसे शक देवी आरडक्मो और लक्ष्मी के प्रतिमा-लक्षण में ग्रहण किया गया। अथर्ववेद मे वधू की शोभायात्रा के प्रसग में हाथ मे श्रृग लिए हुए व्यक्तियो के चलने का उल्लेख है — **हस्ते श्रंगाणि बिभ्रतः**। राम के अभिषेक के प्रसंग में ''कुरग शृंग'' का उल्लेख है (अयोध्या० १६–२३)। सुग्रीव के अभिषेक के समय ऋषभशृग का वर्णन है (किष्किन्धा० २६–२४) महाभारत, कर्णपर्व मे हाथियो के दात, गैंडे के सीग और बैलो के सीग का उल्लेख है जिनमे जल भरकर (तोयपूर्ण ! शृंग को मांगलिक–कृत्यो के काम में लाया जाता था। इन्हें मणि–शुक्तियों से सजाया जाता था जिससे वे भद्र चिन्हो के रूप में और भी अच्छे लगे। आरडक्मो नना देवी का ही शक भाषागत रूप था और कुषाण मुद्राओ पर उसके हाथ में ऋद्धिश्रंग या विषाण दिखाया जाता था। भारत कला भवन में कुषाण कालीन राजा मसरा का एक सुवर्ण सिक्के पर ऐसे ही ऋद्धिश्रंग का अंकन भी हे, जो आगे चलकर कुछ लक्ष्मी मूर्तियों मे भी अंकित किया गया है। सभवतः इसी 'ऋद्धिशृग'' को ही गुप्तकाल मे 'निधिशृंग'' कहा जाने लगा हो।

शास्त्रों में कुबेर की नौ निधियां कही गयी है – पद्म, महापद्म, शख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुद नील और खर्व। विष्णुधर्मोत्तर (४२।५५) में कहा गया है कि निधियों का चिन्ह घडा दिखाया जाये। उनमे भी शख नामक निधि का चिन्ह शंख; पद्म नामक निधि का चिन्ह कमल और अन्य निधियों के चिन्ह उन्ही के अनुरूप दिखाये जाये – ''निधिहस्तात्'' – जिसके हाथ मे निधि हो अर्थात् कुबेर, क्योकि कुबेर की मूर्तियां हाथ में रत्न, धन की थैली लिए हुए अंकित की जाती है। यह थैली नेवले के आकार की होने के कारण नकुली कही जाती है। ये धन-पति कहे गये है। इनके अतिरिक्त कल्पवृक्ष और कल्पलता से निकलती निधियो के समान, वनदेवता की कल्पना भी हाथो मे निधिया लिए हुए की गई है। वनदेवता का मानवीकरण किया गया है। वनदेवता का वर्णन कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् (४।५) मे भी किया है। शकुन्तला जब पतिगृह मे जा रही थी तब उसके शृगार के लिए वनदेवता ने वस्त्राभूषण तथा प्रसाधन सामग्रियां प्रदान की थी।

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै–
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥

किसी वृक्ष ने चन्द्रमा के समान श्वेत मागलिक रेशमी वस्त्र दिया, किसी वृक्ष ने चरणों को रंगने के लिए महावर दिया और वन-देवताओं ने वृक्षो की शाखाओ मे से मणिबन्ध तक निकले हुए अपने कोमल पल्लवों के समान सुदर हाथो से ये बहुत से आभूषण भेट किए है।

अमरावती मे भी कल्पवृक्ष का ऐसा अकन मिला है जिसमें वनदेवता एक हाथ में वस्त्र तथा दूसरे मे धन लिए हुए अंकित है। इसी प्रकार दूसरी शती ईसापूर्व मे शुंगकालीन भरहुत के एक पैनेल में कल्पवृक्ष मे से वनदेवता हाथ मे कमडल एवं पात्र (कटोरा) लिए है तथा उनके पीछे कल्पलता से निकलते वस्त्राभूषणादि (चित्र ३०) एवं बोध गया मे वृक्षदेवता कमडलु तथा थाल में निधि प्रदान करते अंकित किये गये है। हाथो में निधि लिए वनदेवता मोटिफ संभवतः उस समय बहुत प्रचलित था।

अनेक प्राचीन उपदेवताओं का सबंध महान् देवो के साथ कल्पित करके उन्हे लोकधर्म की पूजा मान्यता मे स्वीकार किया गया। ये कुछ देवता इस प्रकार थे— विद्याधर, सुपर्ण (गरुड़), गधर्व, किन्नर आदि। इनमे से विद्याधर और गरुड का अकन घर मे मगल के लिए करने का निर्देश विष्णुधर्मोत्तर मे किया गया है। गरुड़ और विद्याधर को अर्धदेव माना गया है। महाभारत, आदिपर्व मे सुपर्णाख्यान मे विनता और कद्रू की कथा है। विनता का पुत्र गरुड है। गरुड को ज्योति और अमृत का प्रतीक माना गया है। गरुड को विष्णु के वाहन के रूप मे पूजा जाना है। भागवत मे सृष्टि के विराट छन्द को गरुड कहा गया है—"**छन्दोमयेग गरुडेन समुह्यमानः**"। हनुमान अर्थात् लबी या बड़ी ठुड्डी (हनु) वाले, सभवतः हनुमान की यह प्रारभिक कल्पना थी। सुमंगली मे मंगल का पर्याय ऋग्वेद मे भद्र है और सब प्रकार के मंगलों की अधिष्ठात्री वधू को "सुमगली" कहा गया है।

इसी प्रकार के अनेक मागलिक प्रतीक – जैसे पशु-पक्षी (हाथी, घोडा, गरुड आदि), मानव (मुनि, अष्टकन्याये आदि), उप-देव (विद्याधर, सुपर्ण आदि) लता-वनस्पति (कल्पवृक्ष, पद्म आदि), अचेतन पदार्थ (शंख, पूर्णघट, नकुली, थैली), अष्टनिधिमाला, शृंग आदि), शस्त्रास्त्र (चक्र, त्रिशूल, गदा आदि), स्वस्तिक, श्रीवत्स, श्रीचक्र आदि अभिप्राय और प्रतीक, जो मूर्तियो की रूप कल्पना या प्रतिमा-लक्षणो मे स्वीकृत किये गये थे, चित्र मे भी प्रयोग किये जाते थे। इन सभी देवताओं और भौतिक जगत् के पदार्थों का उल्लेख वैदिक साहित्य मे ब्रह्म की शक्ति के रूप मे अनेक प्रकार से किया गया है। वे लोक और मानव के लिए मंगलकारी है।

वैदिक युग मे सर्वोत्तम मंगल-प्रतीक पूर्णघट या भद्रकलश था (ऋ० ३।३२।१५)। प्रत्येक घर मे पूर्ण-घटधारिणी स्त्री के मागलिक चिह्न की प्रतिष्ठा की जाती थी (अथर्व० ३।१२।८), इसी से वधू को सुमगली कहा जाता था। काल क्रम से इस प्रकार के मगलात्मक मूर्त रूपो और भावो की सख्या में अतिशय वृद्धि हुई और उन सबके लिए यज्ञ मे "**मांगलिकेभ्यः स्वाहा**" इस आहुति का विधान किया गया (अथर्व० १९।२३।२८)। धार्मिक विचार और कर्मकाण्डीय विधि के रूप मे मगल प्रतीक समाज के हर स्तर पर व्याप्त हो गये और इनकी परम्परा आज तक चली आ रही है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण, इन सभी धर्मों मे उन्हे स्वीकृत किया गया है। ये मागलिक चिह्न अनेक देव-देवियो के साथ जुड़ गये, जैसे – लक्ष्मी के साथ कमल, हाथी, पूर्णघट आदि। विष्णु के साथ शख (ऐश्वर्य), चक्र (सगठन), गदा (वीरता), पद्म (वैराग्य) का प्रतीक है। "हरिवश" मे अष्टोत्तरशत (१०८) मगल प्रतीको की सूची है। हर्षचरित मे अष्टमगलमाला का उल्लेख है। साची स्तूप के उत्तरी तोरण-द्वार के एक स्तम्भ पर दोनो ओर मागलिक चिह्नों से युक्त दो मालाये बनी है, जिनमे एक मे ग्यारह और दूसरे में तेरह मागलिक प्रतीक बने है। साची स्तूप के दक्षिण तोरण-द्वार पर भी स्त्रियों को कठ मे इस प्रकार की मागलिक माला पहने दिखाया गया है और मिथुन मूर्तियो को भी उसे हाथ मे लिए अंकित किया गया है।

ये मागल्य चिह्न शोभनार्थ एव आरक्षार्थ होते है। शोभा या सौदर्य का उद्देश्य स्पष्ट है। आरक्षा का तात्पर्य है अमगल या अशुभ से मुक्ति। भारतीय सौदर्यशास्त्र के अनुसार शून्य या रिक्त स्थान मे असुरो का वास हो जाता है, किन्तु यदि गृहादि आवास या देवगृह मे मागलिक चिह्न लिखे जाये तो देवी श्री और रक्षा उस स्थान में अवतीर्ण होती है। ये प्रतीक ईश्वर की विभूतियों के कलात्मक रूप है। उदाहरणार्थ गजचिह्न इन्द्र के श्वेत ऐरावत का द्योतक है जिसका सबंध मेघ से भी है। **अश्व उच्चैःश्रवा** – अश्व का प्रतीक है जो समुद्रमथन मे उत्पन्न हुआ था और स्वर्गलोक का मागलिक पशु है। सूर्य ही वह विराट् अश्व है जो काल या सवत्सर के रूप मे सबके जीवन मे प्रविष्ट है। इस प्रकार भारतीय कला के सुन्दर अभिप्राय धर्म और सस्कृति की पृष्ठभूमि मे सार्थक है।

बाणभट्ट ने "हर्षचरित" में लिखा है कि रानी विलासवती के प्रसूतिगृह की भित्तियों को पत्रलताओं की मांगलिक आकृतियों से भर दिया गया था, जिन पर दृष्टि डालने से रानी के नेत्रों को सुख मिलता था और जिनके द्वारा आसुरी शून्यता से उसकी रक्षा होती थी। गुप्तकालीन कला, शिल्प, चित्र और स्थापत्य इस प्रकार के अलंकरणों से भरे पड़े हैं। भरहुत के वेदिका-स्तम्भों तथा अजन्ता, बाघ आदि गुफाओं के भित्तिचित्रों एवं छतों के आलेखनों में कल्पवल्लियों का अंकन है जिनमें नाना प्रकार के आभूषण, पुष्प, फल, पक्षी आदि चित्रित हैं। मध्यकालीन वास्तु में भी इन कल्पवल्लियों का अंकन मांगल्य के प्रतीक के रूप में था।

चित्रों में प्रेम-प्रतीक --- पहाड़ी चित्रकारों ने अनेक प्रतीकों को प्रेम और सौंदर्य के माध्यम से भी लिया है। उन चित्रकारों ने शृंगारिक दबी हुई यौन आकांक्षाओं तथा भावनाओं को चित्रों में स्वच्छंदता से प्रतीकों द्वारा साकार रूप दिया है। कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय में इन भावनाओं को प्रश्रय मिल गया। अतः नारी के प्रतीक रूप में राधा और पुरुष-रूप में कृष्ण का चित्रांकन किया जाने लगा। इस शैली में भावना भौतिक तथ्य के संसर्ग पर आधारित है। कांगड़ा शैली के अधिकांश चित्रों में पशु-पक्षियों, नदियों, वृक्षों-लताओं-पुष्पों का प्रयोग भी प्रेमियों के मनोवेगों के उद्दीपन हेतु प्रतीकात्मक ढंग से किया है। लता-वल्लरी का वृक्ष के चारों ओर लिपटना स्त्री-पुरुष के संसर्ग की ओर संकेत करता है। पहाड़ी तथा ईरानी शैली के चित्रों में ऐसे सरस भाव का चित्रण प्रायः देखने को मिलता है। कामसूत्र के अनुसार यह स्त्री-पुरुष के "लताबन्ध" आलिंगन का प्रतीक है। नाट्यशास्त्र (१।२।९१) में भी कहा गया है कि नाट्यमंडप में लताबंध युग्ममानव का चित्रांकन करना चाहिये। पहाड़ी चित्रों में राधा-कृष्ण या प्रेमी युगल भुजबन्धनों में बंधे दिखाये गये हैं और निकट ही वृक्ष पर लता लिपटी दिखायी गयी है। कालिदास ने "कुमार-संभव" में शिव-पार्वती की काम-क्रीड़ा के प्रसंग को लता--वृक्ष के प्रतीक द्वारा इसी लताबंध आलिंगन को अभिव्यक्त किया है। ..

> **पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।**
> **लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥**

अर्थात् -- पुष्पों के स्तबक (गुच्छे) जिनके स्तनों के समान थे और जो नवांकुर रूपी अधरों से मनोहर हो उठी थीं, ऐसी लताओं रूपी वधुओं ने भी अपने विनम्र भुजबन्धनों को वृक्षों के गले में डाल दिया।

प्राचीन काल से लेकर आजतक विश्व में वृक्ष उर्वरता एवं प्रजनन का प्रतीक माना गया है। वृक्ष को पुरुष मानकर केले के वृक्ष से आलिंगन करती नायिकाओं का चित्रण पहाड़ी चित्रकारों का प्रिय विषय रहा है, जो 'कदली-परिरम्भ' शीर्षक से प्रसिद्ध है (चित्र--३१)। इसी प्रकार अभिसारिका नायिकाओं का चित्रण भी इन कलाकारों ने बहुत किया है। कृष्णाभिसारिका नायिका रात्रि के गहन अंधकार में अपने प्रेमी से मिलने जाती है। मार्ग में पहाड़, सर्प, डाकिनी और आकाश में विद्युत् कौंधती, बरसात की उमड़ती नदी, वृक्षों पर लता चढ़ी, (चित्र--३) कलाकार प्रायः अंकित करता है। ये सभी प्रतीकात्मक हैं। सामान्य व्यक्ति तो इन सबको मार्ग की बाधाओं के रूप में लेगा, जबकि चतुर चित्रकार इन्हें रति के प्रतीकों के रूप में अंकित कर रहा है। मनोविज्ञान में कामोत्तेजना के चढ़ाव-उतार को पहाड़ के रूप में ही मानते हैं। बरसात की उमड़ती नदी, फुहारा, आतिशबाजी आदि हृदय के प्रतीक हैं। स्वप्न में पहाड़, सर्प, विद्युत् कौंधना-रति के द्योतक है। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन चित्रकारों और कवियों ने जिन वस्तुओं को शृंगारिक प्रतीकों के रूप में उपयोग किया है, उन्हें ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी यौन-प्रतीकों के रूप में मानते हैं।

पुष्पों मे विशेषत कमल का चित्रण प्रेमानंद-विस्फोट का परिचायक है। इन चित्रकारों ने अनेक पशु-पक्षियों को भी प्रेम-प्रतीक माना है और प्रेमी युगलों की संयोगावस्था मे ये भी प्रायः संयुक्त दर्शाये गये हैं (चित्र–३३)। इनमें भी मानवीय संवेदनायें आरोपित की गई है, जैसे – कपोत-युगल अनन्य प्रेम-प्रतीक, खंजन उन्मुक्त मन का प्रतीक, पपीहा मतन मन का प्रतीक, तोता-मैना कामोद्दीपन के प्रतीक, सारस एव चकवा-चकवी समर्पित प्रेम-प्रतीक, और आनद एव विरह-प्रतीक, कौआ विशुना प्रेमियों के आगमन का संदेशवाहक प्रतीक, मृग तृषित मन का प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार अनेक मरम प्रतीकों का चित्रण इन चित्रकारों ने किया है।

भारतीय चित्रकला के सर्वलोकप्रिय प्रतीक – कमल, हंस और हाथी : –कला में इनका बहुश प्रयोग किया गया है। कमल, हंस तथा हाथी – ये तीनों प्रतीक अनेक देवी-देवताओं के साथ संयुक्त दिखाई देते हैं। इन प्रतीकों में भारतीय कला-चेतना और भाव-कल्पना केन्द्रित है, उन्हीं के सहारे आवश्यक उद्बोधन मिलता है। इन तीनो प्रतीको का चित्रण अजन्ता के चित्रो मे बहुतायत से हुआ है और एक–से–एक नवीन अलंकरण इनके द्वारा बनाये गये है। इनका संबंध जल से है और जल ही सृष्टि का आदि तत्व है। कमल की उत्पत्ति जल मे ही है, हाथी का सम्पर्क जल और स्थल से रहता है तथा हंस जल, थल और आकाश तीनो मे विचरण करता है। हाथी और हंस कमल से सम्पर्क रखते है। हंस और कमल का परस्पर संपर्क स्त्रीत्व की कोमलता को व्यंजित करता है और हाथी तथा कमल का पुरुष की शक्ति-सामर्थ्य को।

भारतीय कला में कमल से उत्पन्न कमला वैष्णव कला की प्रतीक हैं और उसकी समस्त रूप-कल्पना का आधार कमल है। कमला या पद्मा देवी के लिए पद्म-संभवा, पद्मवर्णा, पद्माक्षी, पद्मिनी, पद्मऊरु, पुष्करिणी, पद्ममालिनी इत्यादि नाम इसी की पुष्टि करते हैं। लक्ष्मी या कमला विष्णु की पत्नी है, और कमल अपने प्रतीक रूप मे विष्णु के चार आयुधो मे एक है।

संस्कृत, हिन्दी अथवा अन्य भाषा के साहित्यों में सुन्दरी के मुखश्री तथा हाथ–पैरों की उपमा बराबर कमल से दी गई है। उसकी भुजाओं को कमल–नाल के रूप मे देखा गया है। पहाड़ी चित्रों मे कमल–सरोवर के किनारे जब राधा–कृष्ण को देखा जाता है तो वे कमल और उसके पत्र के रूप मे समस्त प्रकृति की छटा के अवयव ही प्रतीत होते हैं। नेत्रों की सुंदरता के लिए तो सबसे सहज किन्तु समर्थ एवं अचूक उपमान कमल (कमलनयन) है। यही शाश्वत शान्ति का प्रतीक है, जैसे अजंता का चित्र पद्मपाणि बोधिसत्व (चित्र १८)।

भारतीय कला और संस्कृति का दूसरा महत्वपूर्ण प्रतीक हाथी है जो शक्ति और वैभव का प्रतीक है। गजराज इसी अर्थ का बोधक है। हाथी के बिना राजाओं के ऐश्वर्य एव श्री की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। अजंता में हाथी पर सवार राजाओं का चित्रण अनेक चित्रों मे है। युद्धों में भी इसकी भूमिका महत्वपूर्ण थी। ऋग्वेद के 'इन्द्रसूक्त'' में इन्द्र के वाहन ऐरावत हाथी के स्थान पर इन्द्र की तुलना हाथी से की गई है। गजवदन गणेश का तो सिर ही हाथी का है। गणेश विघ्न–विनाशक हैं, इसीलिए हाथी को रक्षक के रूप में मान्यता मिली है। इन्द्र का हाथी ऐरावत माना गया है जो समुद्र–मंथन से मिले चौदह रत्नों मे से था, ऐरावत स्वर्ग के ऐश्वर्य की विशिष्ट वस्तु मानी गई है। भारतीय जन–मानस में आज भी आकाश–गंगा इन्द्र के ऐरावत हाथी के पथ के रूप मे रूढ़ है। कालि-दास को भी रामगिरि से मेघों का टकराना गज की वप्रक्रीडा प्रतीत हुई थी —

> **आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम् ।**
> **वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥** – मेघ०, १।२ ॥

मस्ती मे भर जाने पर हाथी अपने मस्तक की टक्कर से मिट्टी के टीले को ढहाने का खेल करते हैं, उसे "वप्रक्रीडा" कहते है। इसी प्रकार हाथियो की "जलकेलि" भी बहुत प्रसिद्ध है। अजता के छदन्तजातक तथा छत पर बने चित्रों में भी हाथियो की जलकेलि का सुंदर अकन है। हाथी को जल का प्रतीक माना गया है। हाथी से सबद्ध "मार्तंगलीला" में ऐसी मान्यता है कि दिशाओ रूपी आठ-आठ दिग्गज हाथी-हथिनिया आकाशरूपी चादर को अपने पैरो से दबाये है।

हाथी को लेकर गुजराती कृष्ण-काव्य में "नारी-कुञ्जर" का रोचक वर्णन आया है। कृष्ण ने वन-कुञ्जों में गोपियों के साथ खेलते हुए राधा से कहा कि उन्हें सवारी के लिए हाथी चाहिये। राधा ने तत्परता दिखाई और सखियों को इकट्ठा कर हाथी का रूप बना लिया। चार सखियां हाथी की टांगें बनी, एक सखी सूड बनी, एक कुम्भ, एक ने पीठिका का रूप लिया और अन्य सखियो ने मिलकर हाथी के रूप को पूरा कर डाला। इसी प्रकार के नारी-कुञ्जर के कुछ चित्र राजस्थानी, पहाडी, जैन शैली तथा उडीसा मे भी बने है। "हय-नारी" का एक अति सुन्दर चित्र "रूपलेखा" (वाल्यूम २३, नबर १-२, १९५२, पृ० १८) मे भी प्रकाशित हुआ है जिसमे छः नारियों ने मिलकर घोड़े की आकृति बनायी है और उस पर कृष्ण सवारी किये बैठे अकित है। कुछ राजस्थानी चित्रों मे पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष को भी सम्मिलित करके नारी-कुञ्जर बनाया गया है। इस प्रकार समस्त भारतीय साहित्य मे हाथी अनेक प्रसगों मे आया है। हस का जल, स्थल और आकाश तीनो से घनिष्ठ सबंध है। कमल के साथ हाथी और हस दोनो का सबध है। रघुवंश (१६।१६) मे वर्णन है कि – **"चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः"** – हथिनिया कमलनाल तोड़कर हाथियो को दे रही है। अजन्ता के छछन्त जातक में हथिनियां कमल-वन में से कमल तोड कर देती हुई अंकित है–लेडी हेरिंघम, अजन्ता, फलक २१ (२३)। इसी प्रकार कालिदास का प्रिय-पक्षी हंस कमल-दण्ड को अपनी चोंच से तोड़कर आकाश मार्ग का अपना पाथेय बनाकर उड़ते हुए मेघदूत मे वर्णित है :—

आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः ।
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ १।११ ॥

बिल्कुल ऐसा ही चित्रण अजता की छत के अलंकरण में हुआ है (याजदानी, अजंता, फलक ४७) तथा बंगाल स्कूल के प्रमुख चित्रकार शैलेन्द्र नाथ दे ने भी इसका अतिसुंदर चित्रण "मेघदूत चित्रावली" मे किया है। हंस और हाथी दोनों ही कमल को तोडते है, एक बल और सामर्थ्य का परिचय देता है तो दूसरा लावण्य, लालित्य का। भारतीय चित्रकार दोनों ही के व्यवहार के प्रति सचेत हैं। बाणभट्ट हर्षचरित (पृ० २६) में सध्या-वर्णन करते हुए राजहंस की मनोहर गतिविधियों का वर्णन करते है :—

दिवसावसानताम्यत्तामरसमधुरमधुसपीतिप्रीते सुषुप्सति मृदुमृणालकाण्डकण्डूयनकुण्डलितकंधरे धुतपक्षराजिवीजितराजीवसरसि राजहंसयूथे ।

राजहंसों का समूह बंद होते हुए कमलों के मधुर मकरद का सहपान करने मे छक कर, गर्दन को कुण्डलित करके कोमल मृणालो द्वारा शरीर खुजलाते हुए, पखों को फडफडा कर पद्मसरोवरों को हवा देते हुए ऊघ रहा था। इसमें बाण ने हस के अत्यधिक ललित रूप का वर्णन किया है। अजता के अनेक आलेखनों में इस प्रकार के हंस से विविध अलंकरण बने हैं।

हंस, सरस्वती तथा ब्रह्मा का वाहन है और यह उसके गुण, शक्ति एव सामर्थ्य के अनुरूप है क्योकि विद्या

की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हैं, आदि वेदज्ञ ब्रह्मा हैं और वह स्वयं नीर–क्षीर–विवेकी है। अतः इन तीनों का ताल–मेल बहुत अच्छा बैठता है। हंस की संगीतमयता उसका विशिष्ट गुण है। उसका श्वेत वर्ण, शालीनतापूर्ण ग्रीवा–भंग और गंभीर मुद्रा सभी कुछ मिलाकर वह ज्ञान का अत्यन्त सार्थक प्रतीक बनता है। काव्यों तथा नाटको में नायिका की ललित मंथर गति की तुलना हंस से की गई है :—

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता। — विक्रमो०, ४।३४।

अर्थात् हे हंस, तुम मेरी उस प्रियतमा उर्वशी को मुझे लौटा दो जिसकी गति को तुमने चुरा लिया है।–इस प्रकार राजा पुरूरवा उर्वशी की सुन्दर गति की उपमा हंस से देते है। इन प्रतीकों के अनेक अर्थ हो सकते है।

अलंकरण या अलंकार :— भारतीय कला अलंकरण–प्रधान है। यहां के कलाकारों ने सौंदर्य–विधान के लिए कला में अनेक प्रकार के अलंकरणों का प्रयोग किया है जैसे देवों के मूर्त–रूप कला के शरीर हैं तो भांति–भांति के अभिप्राय या अलंकरण उस शरीर के बाह्य मंडन हैं। इस अलंकरण के बिना कला सम्भ्रान्त नहीं बनती। ये अलंकरण या साज–सज्जा के अभिप्राय तीन प्रकार के हैं – (१) रेखाकृति प्रधान, (२) पत्र–वल्लरी प्रधान और (३) ईहामृग या कल्पनाप्रसूत पशु–पक्षियों की आलंकारिक आकृतियां। इन अभिप्रायों के मूल रूप जगत् के वास्तविक दृश्य से लिए गये है। किन्तु कलाकारों ने अपनी कल्पना–शक्ति से उन्हें अनेक रूपों में विकसित किया है। कहीं गौण आकृति के रूप में, तो कहीं प्रधान–प्रतिमा को चारों ओर से सुसज्जित करने के लिए और कहीं रिक्त स्थानों को रूपाकृति से भर देने के लिए अलंकरणों का विधान किया गया है। उनका उद्देश्य कला में सौंदर्य की अभिवृद्धि है, किन्तु शोभा के अतिरिक्त इनके दो उद्देश्य और भी हैं–(१) मंगल के लिए तथा (२) विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए।

गुप्तयुग में पत्रलता की सरल और कठिन आकृतियां बनाने की बहुत प्रथा थी। पत्र और पुष्प के संभारों से कला का शरीर श्री–सम्पन्न होता है। लता-वल्लरियों, वृक्ष-वनस्पतियों ने कला के स्वरूप को अनेक प्रकार से संवारने मे सहायता दी है। उनके सुन्दर नमूने अजंता की छतों, स्तम्भों आदि स्थानों पर बने अलंकरण और सारनाथ के धमेख स्तूप के आच्छादन–शिलापट्टों आदि पर सुरक्षित है। इनमे एक मूल से उठकर लताओं की शाखा-प्रतिशाखायें विभिन्न प्रकार के कुण्डलित रूप धारण करती हुई कहीं–से–कहीं जा मिलती हैं। वल्लरियों का वह बिखरा हुआ किन्तु संश्लिष्ट रूप नेत्रों को अत्यन्त प्रिय लगता है। पत्रलता के इन भांति–भांति की आकृतियों ने गुप्तकला को नवीन रमणीयता प्रदान की है। पत्रावली, पत्रलता, पत्रांगुलि, पल्लवभंग रचना आदि शब्द गुप्तकाल की परिभाषा मे पत्रों की कटावदार बेलों के लिए प्रयुक्त हुए है (अंग्रेजी–फोलिएटेड स्क्रोल)। दिगम्बर भित्तियों और शिलापट्टों को परिधान धारण कराने के लिए कलाकारों के पास इन पत्रलताओं का अद्वितीय साधन था। इसका मूल भाव यही था कि प्रकृति की जो विराट् प्राणात्मक रचना–पद्धति है उसी के अंग–प्रत्यंग पशु–पक्षी, वृक्षलता, फल–फूल, यक्ष, वामन, कुब्जक, मनुष्यादि हैं, और इन सभी का चित्रण अजंता के आलेखनों (डिजाइन) मे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सच्चा मानव वही है जो इन सब में रुचि लेता है। कुषाण काल की कला ईहामृग अर्थात् पशुओं की विकट आकृतियों से भरी हुई है जिनसे प्रतीत होता है कि शकों को ऐसे टेढ़े–मेढ़े–ऐंठे हुए शरीर वाले पशुओं के अलंकरण मे विशेष रुचि थी। संभवतः तत्कालीन भारतीय कलाकारों ने ऐसे सांकेतिक आलेखनों को विशेष उद्देश्य से महत्व दिया था।

गुप्तकाल मे मानव–जीवन के साथ जैसा प्रकृति का सान्निध्य था, उसी की छाया कला में पायी जाती है। पुष्पों और वृक्षादि के साथ शालभंजिका, अशोक–दोहद, बकुल–दोहद (चित्र १०) जल–केलि इत्यादि उद्यान–

सलिल-क्रीड़ाओं में रत नारी-जीवन का अभिराम विनोद-अलंकरण तत्कालीन चित्रकला के अवशिष्ट उदाहरण की अपेक्षा मूर्तिकला और स्थापत्य कला में अधिक विकसित हुआ है। इसी प्रकार हथिनियो की वप्रक्रीड़ा, शुक-सारिकाओं की केलि, भवन-मयूरों का नर्तन, साहित्य और कला में समान भाव से अपनाया गया है। प्रकृति से विरहित होकर प्राचीन भारतीय कला मानों जीवन के लिए छटपटाने लगती है। सांची, भरहुत, मथुरा और अजन्ता में शुग, कुषाण तथा गुप्त युगो की भारतीय कला प्रकृति को साथ लेकर ही जीवित रही एवं मनुष्य को जीवन का सदेश देती रही। इस प्रकार कला की सामग्री से साहित्य का और साहित्य के आधार से कला की सामग्री का अध्ययन ही कला एवं साहित्य दोनों के लिए परस्पर उपयोगी है।

अलंकार :—कला और साहित्य समान रूप से समाज की भावनाओं को प्रतिबिंबित करते है। अतः हमारे चित्रों मे इनका बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण अंश प्रतिबिम्बित हुआ है। भामह, उद्भट आदि अलंकारवादियों ने काव्य के प्राणभूत रस को अलंकार में ही अन्तर्भुक्त कर लिया है, किन्तु ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार अलंकारों की सार्थकता अलकार की शोभा बढ़ाने में है। जब उनका सन्निवेश काव्य मे रसादि के तात्पर्य से होगा तभी वे अलंकार भी कहलायेंगे।[1] रसिक कवि के समक्ष अलंकार स्वतः आने लगते हैं और जब अलकार रसभावादि के तात्पर्य से शून्य होकर कवि द्वारा निबद्ध किया जाता है तब वह चित्र काव्य का विषय होता है —

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकार निबन्धो य. स चित्र विषयो मतः॥—ध्वन्यालोक, पृ० ५२८।

इसका सारांश है कि अलंकार कवि-निष्ठ है और रस सहृदय-निष्ठ। दण्डी, वामन और महिमभट्ट की दृष्टि में सौंदर्य मात्र अलकार है[2], वह शब्द, अर्थ या अभिव्यक्ति शैली का ही सौंदर्य क्यों न हो। कवि के लिए अनुभूति या वस्तु ही नहीं, उस अनुभूति को अभिव्यंजना प्रदान करने वाली शैली का भी महत्व है जिससे उक्त अनुभूति प्रभावशाली और प्रीतिकार हो। यह क्षमता अलकार के व्यापक विधान से आती है। यह कविता को सर्वजन-हृदय-सवेद्य सहज सुन्दर रूप देती है। अलकार रमणी के आभूषणों के समान बाह्य शोभाधायक अग हैं। रत्नहारों से सुन्दर रमणी के सुकुमार अंग सौंदर्य-मण्डित होते है, तदनुरूप लक्षण-विभूषित काव्य या नाट्य-शरीर के अग-प्रत्यगो को अलंकार और भी दीप्त करते हैं।

नाटकों में काव्य के अलंकार से कुछ भिन्न नायिकाओ के अलकार होते हैं जिनका वर्णन भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है और उनका दिग्दर्शन कालिदास की शकुन्तला, शूद्रक की वसंतसेना, हर्ष की रत्नावली इत्यादि नायिकाओं में हुआ है।

नायिकाओं के अलंकार :—भरत निरूपित इन अलंकारों के द्वारा नारियों के विविध भावों और सुकुमार भाव-भंगिमा आदि का प्रेषण भी होता है और अनिर्वचनीय सौंदर्य का सृजन भी।—

अलंकारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेयाः भावरसाश्रयाः।
यौवनेऽभ्यधिकाः स्त्रीणां विकाराः वक्त्रगात्रजाः॥ ना०शा०, २२।४।

१—रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥ – ध्वन्यालोक, पृ० २०८।

२—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (दण्डी)। सौन्दर्यमलंकारः (वामन)। चारुत्वमलंकारः (महिम भट्ट)।

ये अलकार भाव–रस के आधार होते है। सात्विक भाव मनुष्य मात्र के मन मे सवेदन के रूप मे व्याप्त है। परन्तु वह देहाश्रित है, देह के माध्यम से उन सात्विक भावो की अभिव्यक्ति होती है। इन सात्विक भावो के दर्शन उत्तम स्त्री–पुरुषों मे होते है। स्त्रियो की उत्तमता के दर्शन अगों मे सुकुमारता और लालित्य, मन मे कोमलता एवं प्राणो मे मधुरता और रसमयता के रूप मे होते है। परन्तु पुरुष की उत्तमता तो उसकी वीरता, दृढ़ता, उदात्तता और साहस मे निहित है। स्त्री और पुरुष की शरीर–रचना तथा मनः–प्रकृति दोनो ही भिन्न–भिन्न है। स्त्री की जीवन–प्रकृति के अनु रूप ही भरत ने उन बीस अलंकारो की परिकल्पना की है जो उसके अन्तर और बाह्य को सौंदर्य, सुकुमारता, सलज्जता, पवित्रता तथा स्नेहशीलता की उज्जवलता से विभासित करते रहते है। ये अलकार केवल शरीर की शोभा ही नही वरन् प्राणो का मधुर गुजन एव नारी के शील का परिष्कृत परिनिष्ठित रूप भी है।

नायिकाओं के ये अलकार यौवन वयस् मे अधिक विकसित हो जाते है। इन अलंकारो की तीन श्रेणिया हैं–(१) आगिक (भाव, हाव, हेला), (२) स्वभावज (ये दस है – लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित, विहृत) और (३) अयत्नज (शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य) । इन अलंकारो का प्रदर्शन जब चित्रकला मे नायक–नायिकाओ के शरीर और मुख पर करते है तब वह चित्रण सरस, सुन्दर होता है। नायिका–भेद वाले चित्रों से लक्षण-ग्रथो के आधार पर एक पूरी चित्रमाला ही बन जाती है। इनका चित्रण पहाड़ी चित्रकला में बहुत हुआ हैं, यद्यपि अजता मे भी इन अलकारो का चित्रण अनेक चित्रो मे दिखलाई देता है। दूसरी ओर उपमा, रूपक, सादृश्य, अनुप्रास आदि काव्यालकारों को नायिका–भेद के समान किसी चित्रमाला के रूप मे अकित करने की प्रवृत्ति या परम्परा कम पायी जाती है। किसी काव्य मे जैसे अलकारो का प्रसंगानुकूल प्रयोग होता है उसी प्रकार चित्रो में भी होता है।

भरत ने चार अलंकारों की विवेचना की है – उपमा, रूपक, दीपक और यमक। इनमे यमक शब्दालकार है शेष तीनो अर्थालकार है। उपमा अलंकार कालिदास की प्राञ्जल सवेदनशील अभिव्यक्ति शैली का आधार रहा है। इसीलिए कहा है – **"उपमा कालिदासस्य"**। भरत के अतिरिक्त अन्य आचार्यो ने अलकार के सैकडो भेद किये है, जिनमे से कुछ चित्रकला मे भी आये हैं।

भारतीय कला की प्रवृत्ति अक्षरशः यथार्थवाद की ओर नहीं रही। कलाकार आलेख्य को अपनी भावनाओं के अनुसार सदैव देखता–परखता और अंकित करता आया है। साथ ही हमारी परम्परा मे अभिधामूलक की अपेक्षा लक्षणा और व्यजनामूलक कृतियो को श्रेष्ठ माना गया है। भारतीय चित्रकला और पाश्चात्य चित्रकला के दृष्टिकोण मे यही भेद है।

चित्रों की भाषा में अलंकार का रूप तनिक परिवर्तित हो जाता है, कारण कुछ अलकार रेखाओ की शक्ति के बाहर जान पड़ते है। चित्रकला मे शब्दालकारों की अपेक्षा अर्थालकार का रूप अधिक स्पष्ट है। फिर भी काव्य की पंक्तियों में नाद–सौंदर्य के लिए कभी पाद का आरम्भ, कभी अन्त और कभी चारो पादो की आवृत्ति होने पर यमक होता है (ना० शा०, १६।५९–८६)। कालिदास ने रघुवश के नवम् सर्ग मे अपनी यमक-प्रियता का परिचय दिया है। उनका अनुसरण करते हुए भारवि और माघ ने यमक-प्रयोग मे अपनी विदग्धता प्रगट की है। रीतिकालीन हिन्दी कवियों के लिए नाद–सौदर्य और चमत्कारप्रियता की दृष्टि से यमक अत्यन्त लोकप्रिय अलकार बना रहा। भरत के इस यमक अलंकार का ही विभेद अनुप्रास अलंकार के रूप में अन्य आचार्यो ने किया है।

अनुप्रास अलंकार : – वामन ने 'काव्यालकारसूत्रवृत्ति (४।१।९) में कहा है – **अनुल्बणो वर्णाऽनुप्रासः**

श्रेयान् । – अर्थात् मधुर (उग्रता रहित, लचकदार लता) और स्निग्ध (अनुग्र, कोमल, पुष्पो वाली) वर्णो अनुप्रास अच्छा होता है ।

चित्रकला मे बॉर्डर इत्यादि पर बेलों को बनाने के लिए कोमल पुष्पो और लचकदार लताओं को चु अधिक अच्छा होता है, क्योंकि इससे लताओ या बेलों मे अधिक सुन्दरता और लयात्मकता आती है ।

साहित्य मे अनुप्रासों के प्रतिनिधि चित्र बेलों में मिलते है जहां प्रत्येक पुष्प की आवृत्ति निश्चित अंत बाद होती है । सम्भवत काव्य के अनुप्रास की मूल "बेल" ही हों, उसी के समानान्तर अनुप्रासों की सृष्टि हुई हो उदाहरणार्थ —

> वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधरा शक्रसङ्काशकाशा.
> काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगता श्रीनदीहंस हंसा. ।
> साभाऽम्भोदमुक्तः स्फुरदमलरुचिर्मेदिनी चन्द्रचन्द्र –
> श्चन्द्राङ्कः शारदस्ते जयकृदुपगतो विद्विषां कालकालः ॥

इस श्लोक में जिस प्रकार पादो की आवृत्ति हुई है उसी प्रकार बेलो मे भी उनकी आवृत्ति पशु–पक्षियो अथवा के युगल अथवा ऐसे ही आवर्तन के रूप में होती है, यथा —

आकृति ३–अनुप्रास अलकार सादृश दो–दो पदों की आवृत्ति

दूसरे प्रकार के साहित्यिक अनुप्रास का प्रतिरूप बेलो की बूटिया है, जिनका चित्रों में समान अन्तर प्रयोग होता है । जैसे :—

> कुवलयदलश्यामा मेघा विहाय दिवं गताः
> कुवलयदलश्यामो निद्रां विमुञ्चति केशवः ।
> कुवलयदलश्यामा श्यामा लताऽद्य विजृम्भते
> कुवलयदलश्यामं चन्द्रो नभ. प्रतिगाहते ॥

यह समस्त पादादि, अनुप्रास का उदाहरण है, क्योंकि यहां चारों पादो के आदि में "कुवलयदलश्याम" की आवृत्ति हुई । इसमें जिस प्रकार एक ही पाद की बारंबार एक समान आवृत्ति हुई है उसी प्रकार इन बेलों मे आवृत्ति होती है, देखिये :—

आकृति ४—अनुप्रास सदृश बेलों की समानांतर बूटिय

अनुप्रास अलंकार के समान ही यमक अलंकार का भी मुक्त-प्रयोग पाया ज
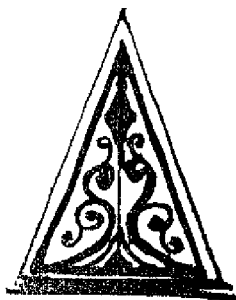
आकृति ५—यमक सदृश आवृत्ति

इनके अतिरिक्त अजंता मे गोलाई में बने हुए कमल के अलंकरण में भी ऐ
ाथ ही, वृत्त मे भी उसके चार बराबर के खंडों में से प्रत्येक के एक ही प
थवा चौमुखे दीप के समान की जाती है। देखिये —

आकृति ६—यमक सदृश आवृत्ति

बेल की गति छन्दों का स्थान ग्रहण करती है जिस प्रकार रघुवंश (९।३५
कैसल्यं सल्यैरिव पाणिभि ॥ —इसमे यमक और अनुप्रास दोनों ही

लयै ' मे अनुप्रास है । साहित्य मे विषय के अनुरूप जिस प्रकार छन्दों का विचार किया जाता है उसं
अनुरूप बेल बनायी जाती है । कहीं गोमूत्रिका रेखा का प्रयोग ठीक होता है; कही दोहरी गोमूत्रि
ुकती इत्यादि का । अनुप्रास का एक अन्य भेद भी ज्ञातव्य है, यथा :—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ।।

ी रत्नमाला में रत्न क्रम से पिरोये रहते है, उसी प्रकार यह अनुप्रास है । चित्रों में भी ऐसा ही अलकर
ा मे मिलता है, देखिये —

आकृति ७–दोहरी गोमूत्रिका रेखा

आकृति ८–इकहरी गोमूत्रिका रेर

गोमूत्रिका रेखा अनेक प्रकार की होती है, यथा :—

लुढ़कती गोमूत्रिका रेखा ।

लहरदार गोमूत्रिका रेखा ।

कगूरेदार गोमूत्रिका रेखा ।

आकृति ९–लुढकती गोमूत्रिका रेखा, लहरदार गोमूत्रिका रेखा, कंगूरेदार गो

इसी प्रकार अनुप्रास के भेद तो अल्प है, किन्तु बेलो के प्रकार असंख्य हैं ।

अर्थालंकार :– चित्र-शैली की भाषा मे अर्थालकारों का रूप कुछ परिवर्तित हो जाता है,
कारों को उक्ति-वैचित्र्य के कारण रेखा-बद्ध करना अत्यन्त कठिन है । काव्य मे बहुप्रचलित "उपम
ा ही है । चित्रकार को अपनी रेखाओ की भाषा मे कोई भी ऐसा शब्द नही मिलता जिससे वह वाच
नो का प्रयोग कर सके । अतः चित्रकार अपने उद्देश्य को उपमान और उपमेय के संपुञ्जन को –
रा व्यक्त करना है जिसमे रूपक से भेद करना कठिन होता है ।

उपमा का संबंध चित्रकला में "सादृश्य" से है किन्तु सादृश्य और उपमान में अन्तर है । का
र उपमान बिल्कुल भिन्न होते है, परन्तु चित्रकला में सादृश्य मे दो भिन्न पदार्थों मे थोड़ी सी समान
दृश्य को विष्णुधर्मोत्तर मे प्रधान कहा गया है – **चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानम्** । – चित्रकला के षडगो मे
एक अंग है । काव्य में जिस प्रकार उपमा अलंकार प्रमुख है उसी प्रकार चित्रकला मे सादृश्य प्रधान
,खं कमलमिव" यह कवि कहता है, इसी को चित्रकार चित्र में दिखलाता है कि कमल के समान

प्रमुदित मुख वाली सुन्दरी नायिका कमल-सरोवर के किनारे खड़ी कमलों की शोभा का दर्शन कर रही है, अथवा हाथ में कमल लिए हुए है जो उसके मोहक मुख की समानता परिलक्षित करता है। इसी प्रकार चित्र में जहां उपमेय है वहां उपमान भी कहीं-न-कहीं दिखाई देता है। असादृश्य से उपमा नष्ट हो जाती है।

रूपक अलंकार मे कवि उपमान के साथ उपमेय के गुणों का सादृश्य होने से उपमेय मे उपमान के अभेदत्व को दिखलाता है, जैसे – "मुखचन्द्र"। किन्तु चित्रकार नायिका के मुख को चन्द्रमा के समान कुछ गोल बना कर ही, नेत्रादि सुन्दर करके दिखला सकता है। 'मृगनयनी' में वह नायिका के नेत्रों को मृग के नेत्रों के समान बनाता है और निकट ही मृग को भी दिखलाता है – "तवाक्षि सादृश्यमिव प्रयुञ्जते" – (कुमारसम्भव, ५।३५)। राजा रविवर्मा ने "शकुन्तला" का चित्रांकन करने में इसी परंपरा को अपनाया। यह उत्प्रेक्षा अलंकार का उदाहरण है।

इसी प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में कोई कवि नदी के रूपक द्वारा नायिका का वर्णन करता है, यथा,–

लावण्यसिन्धुरपरैव हि काचनेयं, यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

(नदी के किनारे किसी युवती को देखकर किसी युवक की उक्ति है) – यह नयी कौन-सी लावण्य की नदी दृष्टिगोचर हो रही है जिसमे चन्द्रमा के साथ-साथ कमल तैर रहे है, जिसमे हाथी की गण्डस्थली (नायिका का नितम्ब) उभर रही है एवं कुछ और ही प्रकार के "कदलीकाण्ड" (जघनस्थल) तथा "मृणालदण्ड" (बाहु, हाथ) देखे जा रहे है।

इस अलंकार में अप्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा करने से इसे अप्रस्तुत प्रशंसा कहते है। वस्तुतः इसमे सादृश्य ही है। चित्रकला में भी हाथ को मृणालदण्ड (कमलनाल के समान) और जघन को कदलीकाण्ड (केले के खंभे के समान सुडौल और चिकना) दिखाते है। इसी प्रकार कर-कमल, कर-पल्लव, पद-पंकज, कम्बु-ग्रीवा, चपक-अगुली, बिम्बाधर, अधर-किसलय, कपाट-वक्ष, कमलनयन, मीनाक्षी इत्यादि उपमेयोपमान परम्परा से चित्रकला मे भी प्रयुक्त होते है।

भारतीय कलाकार विषय को अपने दृष्टिकोण के अनुसार अधिक अंकित करते थे, उसके बाह्य स्वरूप के अनुसार कम, अर्थात् वह अपने अंकन में अलंकारो का प्रयोग करता था। इन अलंकारों मे कुछ तो मीन-नेत्र, कदलीकाण्ड, मृणालदण्ड आदि उपमायें रूढ़ सी होकर परम्परा बन गयी, कुछ शैली-विशेष का लक्षण बन गयी और कुछ चित्रकारों द्वारा स्वतंत्र रूप से अपनी रुचि के अनुसार प्रयुक्त की गयीं। अजंता से लेकर राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली तक के चित्रों में यह रूढ़ परम्परा विशेष रूप से दिखलाई देती है, और अजन्ता मे चित्रित नायिकाओं को निम्न श्लोकों से मिलाने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरौष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां।—उत्तरमेघ, १९।

तथा—**अधरः किसलयरागः विटपानुकारिणौ बाहू।**
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सनद्धम्॥ पूर्वमेघ, २०॥

अपभ्रंश काल में उनमे अतिशयोक्ति हो गई थी, यथा उदर का इतना कृश होना कि कटि का पता ही न चले। कहीं-कहीं तो "शिखिनी की गर्दन के समान कटि" का प्रयोग भी किया गया है।

कभी-कभी कलाकार चित्रो मे उपमेय और उपमान को अलग-अलग करके भी अकित करता है, जैसे "करकमल"। इसको बतलाने के लिए कलाकार नायिका के हाथ मे कमल दिखलाता है। परम्परा से रूढ़ उपमानो को चित्र में अंकित करने के संबध मे मुगल चित्रकार उस्ताद रामप्रसाद कहते थे कि राक्षसो की भौहे नीम की पत्ती की भांति बनानी चाहिये। – इस सादृश्य मे अत्यन्त मार्मिक सूझ है और धीरे-धीरे मुगल शैली मे यही परम्परा बन गई।

नीम की पत्ती और भौह् का अनेक प्रकार से साम्य दीखता है। इसमे राक्षस की भौहें मोटी, घनी तथा काटेदार होना, उनके बाल मोटे और काटो जैसे कड़े होना तथा उनमे भ्रूभंग का अभाव होना – सभी लक्षित होता है। इनका साम्य नीम की पत्ती में दीखता है, जिनका निरीक्षण कर कलाकार अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचय देता है और एक सुन्दर परम्परा का निर्माण करता है।

दुर्योधन के सभा भवन मे जल को स्थल और स्थल को जल के समान दिखलाये जाने का उल्लेख महाभारत मे मिलता है। यह स्पष्टतः भ्रान्तिमद् अलकार का उदाहरण है। इसी प्रकार भारत कला भवन में भी पहाड़ी शैली के चित्रकार भोलाराम द्वारा अकित एक चित्र है जिसमें भ्रांति अलकार का प्रयोग मिलता है – एक चकोर नायिका के मुख पर चन्द्रत्व के गुण देखकर, भ्रमवश उसकी ओर आकृष्ट होकर उसका दुपट्टा खीच रहा है (चित्र २८)। इसी भाव के अनुरूप एक कवित्त भी चित्र के शीर्ष पर लिखा है—

"बाग बिलोकन कों अबला निकसी मुषचंद दिषावत हि ॥
लषि संग च (कोर) (चल्यो मुष देष) त सब्द कठोर सुनावत हि ॥
उझकी झझकी फिरकी सि फिरी चहु आसहि (पासहि) धावत हि ॥
(क)वि भोलाराम चली हटिके दुपटा पट चोट बचावत हि ॥ संवत् १८५२।"

एक दूसरा अलकार जो चित्रकला में प्रयुक्त होता दीखता है, तुल्ययोगिता है। चित्रो में मुख्य घटना के अनुसार या उसके समानान्तर पृष्ठिका आदि को प्रस्तुत करना ही इस अलंकार का लक्षण है। वस्तुत चित्रकला में उपमा और उसके जैसे साधर्मभूलक अलकारो को शुद्धरूप मे प्रगट करना है। इस प्रकार के चित्रो में नायक-नायिका की चेष्टाओ के अनुरूप पशु-पक्षियो की चेष्टाओं एव लता-वृक्षादि के भी अकन किये जाते है। जैसे नायक-नायिका प्रेम करते तो पशु-पक्षी भी प्रेम करते अकित करते है और लतायें भी वृक्षों का आलिंगन किये पुष्पित दिखाई जाती है – (चित्र २३)। अत ऐसे चित्रो मे वातावरण की ही प्रधानता रहती है।

अलंकार का धर्म है अलकृत करना – "**अलंकृतीनां अलंकारः**"। चित्र मे उपर्युक्त काव्यालंकारों के अतिरिक्त आभूषण और वस्त्र से भी घनिष्ठ संबंध है। इसका कार्य आच्छादन और शोभा वृद्धि के साथ दूसरों को आकर्षित करना भी है। सपूर्ण अलंकारो का उद्देश्य है आलेखन के दोषो को छिपाकर, उसे सुन्दर अथवा भव्य रूप में प्रगट करना। जिन चित्रो मे इन वस्त्राभूषणो का उचित प्रयोग होता है वे देखने मे सुन्दर तथा रुचिकर होते है। चित्र के गुणों मे भूषण (आभूषण) को भी एक गुणभूषण कहा गया है।

श्रृंगार रस के चित्र मे नायक-नायिका के वस्त्रादि तथा आभूषण निपुणता पूर्वक सजाये जाने चाहिये— **विदग्धवेशाभरणं श्रृंगारे तु रसे भवेत्।** – (वि०ध०, ४३।२), क्योकि वही आकर्षण का बाह्य उपकरण है। विष्णुधर्मोत्तर (४२।४९) मे कहा गया है कि यह वेशाभरण देशानुसार करना चाहिये। नगर तथा जनपद के श्रेष्ठ लोगो को शुभ्र वस्त्रों से विभूषित तथा विनम्र, सुशील दिखलाना चाहिये, देवताओ को मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर और अंगद

से विभूषित करना चाहिये। वे मांगलिक पुष्पों की माला पहने हों तथा मेखला तथा पैरों के आभूषणों से युक्त हों। यज्ञोपवीत तथा मस्तक के आभूषण भी धारण किये हों। कमर का सुन्दर वस्त्र, जानुभाग से नीचे लटकता हो, देवताओं के वस्त्र मनोहर हों। – (वि०ध०, ३८।८–१०)।

ऋषियों के चित्र जटा-जूट बाँधे हुए, काले मृग के चर्मों तथा उत्तरीय वस्त्रों से सुशोभित हों। देवता तथा गन्धर्वों के चित्र मे मुकुट हों। ब्राह्मणों को ब्रह्मतेज से सम्पन्न तथा श्वेत वस्त्रधारी के रूप में अंकित करें। मन्त्रियो, ज्योतिषियों तथा पुरोहितों को समस्त अलंकारों से अत्यन्त सुसज्जित करना चाहिये। इन्हें मुकुट न देकर पगड़ी पहनाना चाहिये। विद्याधरों को सपत्नीक तथा माला, अलंकार और खड्ग धारण किये हुए बनाना चाहिये। अश्वमुख वाले किन्नरों को समस्त अलंकारों से विभूषित, गीत-वाद्य-यंत्रों से सम्पन्न अंकित करना चाहिये। यक्षों को अलंकारों से सुसज्जित करना चाहिये। वेश्याओं का वेश उच्छृंखल तथा शृंगारी हो। कुलीन और लज्जावती स्त्रियों का वेश शांत और अलंकारों से सम्पन्न हो। विधवा नारियों के वस्त्र श्वेत, एवं आभूषण-विहीन हों। गजारोहियों को आभूषण से युक्त, वणिक् के सिर पगड़ी आदि से बंधे हों। गायकों, नर्तकों तथा बाजा बजाने वालों का वेश भड़कीला होना चाहिये और वे सभी अपने-अपने भूषणों से विभूषित हों। विष्णुधर्मोत्तर के अध्याय ४२ में इस प्रकार अलंकार का विस्तृत निर्देश है।

चित्र के गुण-दोष :—काव्य-शास्त्र में जैसे गुण, दोष, अलंकार और रस प्रधान विषय है उसी प्रकार "चित्रसूत्र" में भी चित्र के गुण, दोष, भूषण और रस को प्रधान विषय माना गया है। यहा उसकी विवेचना प्रस्तुत है।

विष्णुधर्मोत्तर (४१।९) मे चित्र के आठ गुण कहे गये है —

स्थानप्रमाणभूलम्बो[1] **(?म्भो) मधुरत्वं विभक्तता।**
सादृश्यं क्षयवृद्धी[2]**च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिताः॥**

स्थान का तात्पर्य ऋज्वागत, साचीकृत आदि ९ स्थान से है। प्रमाण—चित्र का मानदण्ड (माप) तथा अनुपात, भूलम्ब—ब्रह्मसूत्र रेखा (जो बिलकुल मध्य मे लम्बवत् खींची जाती है), मधुरत्व से माधुर्य—चित्र की मनोज्ञता का बोध होता है। विभक्तता—बिलगाव; सादृश्य—यथार्थवादी अथवा सत्य-चित्रों का परम गुण है, क्षयवृद्धि—घटाव–बढाव या दूरी–निकटता दिखाना (Forshortning)। ये चित्र के आठ गुण कहे गये है। अत चित्र मे इन गुणो का होना परमावश्यक है। इन गुणो से युक्त सश्वास (Pulseting) सजीव–सा चित्र शुभलक्षण युक्त होता है—**सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्** ॥ (वि० ध०, ४३।२२)।

सादृश्य के लिए चित्रसूत्र में कहा है—**चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम्।** तथा शिल्परत्न में कहा है—**सादृश्यं दृश्यते यत्तुदर्पणे प्रतिबिम्बवत्।** अर्थात् चित्र में सादृश्य ऐसा होना चाहिये जैसे स्वच्छ दर्पण मे प्रतिबिम्ब, किन्तु कुछ अंशों में भिन्नता भी होनी चाहिये – **किञ्चिल्लोकसादृश्यम्।** जिस प्रकार नाटक मे अभिनेता यथार्थ पात्र का केवल अभिनय करता है, यथार्थ पात्र से थोडा-सा सादृश्य रखता है, उसी प्रकार चित्र मे भी थोडा-सा लोक का सादृश्य रहता है, पूर्ण सादृश्य नही। हयशीर्ष पंचरात्र मे कहा है – **अभिरूपाच्च बिम्बानां देवा सादृश्यमिच्छन्ति।** –

१—भूलम्बं।
२—पक्षवृद्धीश्च।

देवताओं का रूप तो ज्ञात नहीं है अत उसका अभिरूप अर्थात् दूसरा रूप खोजना होगा। यह अभिरूप ही सादृश्य मे होता है।

माधुर्य को चित्र मे लावण्य, सुकुमारता से दिखलाते है। इस श्लोक (४१।९) को ही और स्पष्ट रूप से श्लोक ४१।१० मे विष्णुधर्मोत्तरकार कहते है ,—

रेखा च वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च।
विज्ञेया (?यं) मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ॥४१।१०॥

इस श्लोक मे चित्र के चार तत्वों को बताया गया है – रेखा, वर्तना, भूषण एवं वर्ण। रेखा अर्थात् आकृति में रेखा की छन्दात्मकता। वर्तना अर्थात् छाया-प्रकाश दिखलाना (Shading) या वर्ण-लगाना अथवा तूलिका द्वारा वर्ण-विन्यास की निपुणता। वर्ण अर्थात् रंग, यह चित्र में वर्ण-संयोजन मे प्रधानता रखता है। भूषण को कैसे चित्रित करेंगे यह इससे स्पष्ट नही होता, किन्तु यथार्थ अर्थ है – स्त्रियोभूषणम् – नायिकाओ के लज्जा आदि भूषण, (नाट्यशास्त्र मे नायिकाओं के २० अलकार कहे गये है) और दूसरा अर्थ है अलकरण, सजाना। चित्र की शोभा या सौंदर्य वृद्धि- यह वस्त्राभूषण द्वारा, चित्रकर्म द्वारा, बार्डर आदि बनाकर सजाना इत्यादि अनेक प्रकार से करते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर (४१।११) मे बतलाया है कि चित्र के इन चारो तत्वो की प्रशसा विभिन्न वर्गों के लोग कैसे करते है। आचार्य लोग रेखा की और विचक्षण व्यक्ति वर्तना या तूलिका–कर्म द्वारा भावाभिव्यक्ति की प्रशंसा करते हैं। स्त्रियां भूषण, सजावट या सौंदर्य को पसंद करती है और इतरजन अर्थात् जनसाधारण रगों की सम्पन्नता को पसंद करते है। यह जानकर जो लोग चित्र को ऐसा आकर्षक बनाते है जिसके प्रति सबका चित्त आकृष्ट हो वही सर्वोत्तम चित्र है। —

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः॥ – वि० ध०, ४१।११।

चित्रसूत्र (४१।७–८–१३) मे चित्र–दोष कहे गये है '—

दौर्बल्य बिंदुरेखात्वमविभक्तत्वमेव च॥ ७॥
बृहद्[1]गण्डौष्ठनेत्रत्वं[2] संविरुद्धत्वमेव च।
मानवाकारता चेति चित्रदोषाः प्रकीर्तिताः॥ ८॥
दुरासन दुरानीतं पिपासा चान्यचित्तता।
एते चित्रविनाशस्य हेतवः परिकीर्तिताः॥ ४१।१३॥

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' गुप्तकाल मे लिखा गया है। उस समय एक शैली रेखा प्रधान (Linearism) थी और दूसरी शैली दण्डात्मक (Plasticity or Tubular)। यह दोनो शैली समानांतर चल रही थी। रेखा-प्रधान शैली मे अंग-प्रत्यंग (हाथ, पैर, होठ, नेत्र आदि) अतीव सुन्दर, सुकोमल बनाने मे रेखाओं की प्रमुखता थी। दूसरी

१—बृहदण्डौ – यह पाठ स्टेला क्रैमरिश, कुमारस्वामी ने माना है, किन्तु प्रियबाला शाह ने वि० ध०, भाग ३, पृ० १२८ मे "बृहद्गण्ड" पाठ माना है। बृहत्गण्ड-बृहत्कपोल। बृहदण्ड = बृहत् अण्ड, यह अर्थ करने पर इसकी संगति चित्राकन में नही बैठती।

२—नेत्रत्वमविरुद्ध–।

शैली (Plasticity) मे हाथ-पैर-चेहरा आदि की निर्जीव सलाका अथवा दण्ड की भाँति बनाते थे। फिर भी ऐसे अकन मे सजीवता और भाव की अभिव्यंजना होती थी। यह दुर्बल शैली सीधी सादी होने के कारण लोकप्रिय रही और इसकी परम्परा लोक मे आज भी विद्यमान है। इस कलाशैली की चित्र-रचना में दोष भी होता था जैसा "दौर्बल्यविन्दुरेखात्वम्" मे कहा गया है।

(१) दौर्बल्य मे क्षीणता अथवा शिथिलता का तात्पर्य है, (२) बिन्दुरेखात्व मे बिन्दु युक्त टूटी रेखाओ का अभिप्राय है, (३) अविभक्तत्वम्–पार्थक्य अर्थात् अंग-प्रत्यंगों की विभक्तता का अभाव, अंग-प्रत्यंग की अव्यक्त सपाट आकृति, (४) बृहद्गण्ड–बड़ा कपोल, (५) बृहदोष्ठ–बड़ा ओष्ठ अर्थात् लम्बा लटकता हुआ ओष्ठ, (६) बृहन्नेत्रत्वम्–बड़ी-बड़ी विकराल, डरावनी आंखे, (७) असम्बद्धत्वम्–यथार्थता मे विपरीत, बहुत बड़ाकर बनाना अर्थात् उचित प्रमाण का न होना, वास्तविकता–रहित अंकन, (८) मानवाकृतिता–देव, सिद्ध, गन्धर्वादि को भी मानवाकृति में अंकित करना, चित्र-दोष है। विष्णुधर्मोत्तर (४३।१८) मे स्थूल रेखा, वर्ण-व्यतिक्रम, स्थान-रसहीन, शून्यदृष्टि, चेतना रहित को भी चित्र-दोष माना गया है।

"दौर्बल्यबिंदुरेखात्वम्" का अर्थ कुछ लोगों ने बिन्दु, पतन आदि को अंकित किये हैं उनकी दुर्बलता भी माना है। अंकन में अलंकरण के निमित्त बिंदु तथा रेखाओं का समावेश भी आवश्यक है, और इनका प्रयोग प्राय साया–उजाला के न्यूनाधिक प्रदर्शन के लिए भी होता है। चित्र में ऐसे बिन्दु और रेखा को दुर्बल माना जाता है जिनसे इष्ट प्रभाव न व्यक्त हो। बिन्दु और रेखा के दूर अथवा पास सघटन या विभाजन, गूढ़ अथवा क्षीण, कोमल या स्थूल यथोचित न होने से अकन मे विरूपता आ जाती है। अत ऐसी रेखाएं और बिन्दु दोषपूर्ण माने गए है।

चित्र में सुन्दर रेखा खींचना बहुत बड़ा गुण है। रेखा तो सभी खींचते हैं, जो चित्रकार सुन्दर, सीधी, सपाट, सजीव रेखा खींच लेता है वह वास्तव में प्रशंसनीय है। स्थान के अनुसार स्थूल या सूक्ष्म रेखा खींचनी चाहिये। अनभ्यास, हाथ के कंपन आदि से जहां इसका अभाव रहता है और रेखा स्थान–स्थान पर टूटी हुई अथवा निर्जीव होती है वहा पर रेखा का दौर्बल्य दोष है।

नन्दलाल बोस ने हिन्दी "विश्व भारती पत्रिका" की प्रथम संख्या में "शिल्पी रवीन्द्रनाथ" शीर्षक से उनकी चित्रकला पर एक लेख लिखा था। उस लेख में नन्दबाबू ने दिखलाया है कि सभी जीव–जन्तु की रीढ़ की हड्डी की रेखा को देखकर ही उक्त जीव–जन्तु को जाना जा सकता है, यथा —

आकृति १०–रीढ़ की हड्डी की रेखाओं से जीव जन्तु—बैल, गाय, सिंह की पहचान

इस प्रधान रेखा को बनाने में यदि असावधानी हुई, रेखा मे उसका ठीक आकार दिखलाने मे यदि कलाकार सफल नही हुआ तो वहीं पर रेखा का दुर्बलता दोष उत्पन्न हो जाता है। इन प्रधान रेखाओं के आकारानुसार सीधी–टेढ़ी, मोटी-पतली या गोलाई लिए हुए होना ही पुष्ट और सबल, सुन्दर रेखा का गुण है। अंकन में जब रेखा के कारण विकार आ जाता है तब वही दोष होता है।

अतिरिक्त अलंकृत आलेखन (Ornamental design) में भी "बिन्दु-रेखत्व" होता है, यथा —

आकृति ११–(अ) आलेखन में बिंदु रेखत्व गुण (ब) रेखत्व दोष

न्दु और रेखाओं का प्रयोग अजंता की छतों, स्तम्भों इत्यादि पर बने आलेखनों में बहुत है।

भक्तत्वम् :—समविभक्तांग का विपरीत है अविभक्तांग या अविभक्तता। अंग-प्रत्यंग के बिलगाव का गों का अत्यधिक सटा होना, चित्रदोष है। चित्र में सभी अंग-प्रत्यंग स्पष्ट-स्पष्ट दिखलाना चाहिये, ग, स्कन्ध प्रदेश, वक्षस्थल, कटि, नितम्ब, ऊरु, हाथ-पैर के जोड़ आदि। विभक्त का अर्थ है, model- ढला हुआ। इस विभक्तता को चित्र में वर्तना (Shading) द्वारा दिखाते हैं। इसका अभाव होने से क्तता-दोष आ जाता है।

द्गण्ड, बृहद्ओष्ठ, बृहन्नेत्र, संविरुद्धत्व और मानवाकारता अर्थात् देवताओं का आकार मानवीय होने ते हैं। सविरुद्धत्वम् – चित्र में सभी अंग समप्रमाण बनाना चाहिये। कोई अंग बहुत बड़ा या बहुत ा चाहिये। बृहद्गण्ड – एक ओर का कपोल अधिक बड़ा और फूला हुआ रहता है तथा दूसरी ओर आ (अजन्ता, याजदानी, भाग २, फलक ३८, ३०)। इसे रायकृष्णदास ने "इण्डो-पर्शियन" पेंटिंग ा है।

ओष्ठ—अजंता के भित्तिचित्रों में स्त्रियों के अंकन में प्रायः ऐसे ओष्ठ बनाये गये हैं। किन्तु गुप्तकाल ओष्ठ बहुत ही सुडौल, सुन्दर मिलते हैं अतः लंबे ओष्ठ को उस काल के सौंदर्य का प्रतीक मानना अहिच्छत्रा की एक मृण्मय मूर्ति में भी अधरोष्ठ नीचे बहुत लम्बा लटकता हुआ अंकित है। इसके ण अग्रवाल ने उपमा दी है—घोड़े के समान लटकते होंठ (हर्षचरित में), वाराह के समान लटकते । – एक सांस्कृतिक अध्ययन), रुचक ओष्ठ अर्थात् अशर्फी बिखेरते होंठ (चतुर्भाणी, टीका)।

नेत्र—अर्थात् पूरी खुली हुई क्रूरकर्मी राक्षसादि की भयानक आंखें। चित्र में भयानक नेत्र नहीं बनाना ए अजंता के चित्रों में अधिकतर अर्धनिमीलित सुन्दर नेत्रों का चित्रण मिलता है। अपभ्रंश कालीन राजस्थानी शैली के चित्रों में बड़े नेत्र चेहरे से बाहर निकले हुए हैं। रायकृष्णदास ने इसके लिए ा नेत्र की उपमा दी है। साराश यह कि यहां पर बृहत् शब्द को महत्व दिया गया है और प्रमाण से बृहत् अंग बनाना दोष है। अजंता में ये सब चित्रदोष चौथी, पांचवीं शती की बनी हुई गुफाओं के हीं हैं' किन्तु इसके बाद की छठी, सातवीं शती में बनी गुफाओं के चित्रों में ये सब दोष स्पष्ट हैं।

दुरासनं दुरानीतं[1] पिपासा चान्यचित्तता ।
एते चित्रविनाशस्य हेतव परिकीर्तिता ।। वि०ध०, ४१।१३।।

विष्णुधर्मोत्तर के उपर्युक्त श्लोक में भी चित्रदोष को बतलाते हुए कहा गया है कि—बुरा या कष्टदायक आसन, बिना इच्छा के बलपूर्वक खींचकर लाना अथवा अनिच्छा होने पर भी किसी विवशतावश चित्र-रचना में जबरदस्ती मन को लगाना, प्यास, अन्यचित्तता अर्थात् दूसरे कार्यों मे चित्त की आसक्ति ये सब चित्र-विनाश के कारण कहे गये है। क्षुधा पिपासा और अन्यचित्तता चित्रकार के शारीरिक एवं मानसिक कष्ट के कारण है जिनसे व्याकुल तथा अस्थिर चित्त से सफल चित्र रचना नही हो सकती। अन्यचित्तता के लिए मालविकाग्निमित्र (२।२) मे शब्द है "शिथिल-समाधि"। मनुष्य जिन ललित रूपो की रचना करने का प्रयास करता है वे सब अच्छे ही नही बनते क्योकि सदैव वह पूर्णत समाहित होकर, एकाग्रचित्त हो रचना नही करता। पूर्ण समाधि, एकाग्र मन के बिना सुन्दर की रचना नही हो सकती। इसीलिए अग्निमित्र कहता है –

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम् ।
सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ।। – माल०, २।२।।

मालविका के चित्र को देखने पर अग्निमित्र को शका थी कि चित्रकार ने इसके चित्र मे अधिक कान्ति चित्रित कर दी है किन्तु जब उसने साक्षात् मालविका को देखा तो वह चित्र की अपेक्षा अधिक कान्तिमयी दिखलाई दी, तब राजा ने यह समझा कि जिस चित्रकार ने यह चित्र बनाया था उसकी समाधि शिथिल हो गई थी। कदाचित् रजोगुण या तमोगुण के कारण दृष्टि म्लान होने से ऐसा हुआ होगा।

इन सब विवेचनाओं का साराश है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण शास्त्रीय शैली मे लिखा गया है। इसमे जो भी उल्लेख हैं सटीक और सुन्दर है। जो चित्र-दोष बताये गये है वे आलोचनात्मक हैं। विष्णुधर्मोत्तरकार को ये सब दोष ज्ञात थे, अत उन्होंने वृहद्गण्ड आदि परंपरा की हंसी उड़ाई है। यह परपरा प्रचलित लोक-शैली में थी। छठी, सातवी सदी मे बने अजंता के चित्रों मे ये दोष धीरे-धीरे आने लगे और यही दोष अपभ्रंश शैली में विकसित होकर उसके प्रमुख अवयव बन गये। वस्तुत अजंता की कला सर्वोच्च है।

1—कुमारस्वामी के मतानुसार 'दुरानीत' के स्थान पर 'दुरानत' होना चाहिये। दुर+अनतं=दुरानतं। अर्थात् अविनम्र, अविनीत। यह दोष है। चित्रकार को विनम्र होना चाहिये।

—जे० ए० ओ० एस०, वाल्यूम ५२, १९३२, विष्णुधर्मोत्तर, अध्याय ४१ पर टीका।

६

कला का सौन्दर्यबोध

कला की अभिव्यक्ति में कई प्रक्रियाये हैं जिनके द्वारा स्थूल सौंदर्य का एक सूक्ष्म रूप उपस्थित होता है। यह सौंदर्य भावना के स्तर पर बहुत कुछ काल्पनिक होता है, यद्यपि उसका आधार स्थूल जगत् होता है। जब हम कहते है – **"कवि अनुहरतिच्छाया"** – जिसका सामान्य अर्थ है एक कवि दूसरे कवि की रचना को अपने शब्दो में ढालता है। परन्तु यही प्रक्रिया स्थूल सौदर्य को काल्पनिक सौंदर्य मे अभिव्यक्त करने में भी होती है। अत स्थूल सौदर्य की एक छाया-सी काल्पनिक जगत् में उपस्थित होती है। वह कहाँ तक नाम–रूप से सबद्ध अथवा परे है, कहना कठिन है। उदाहरण के लिए वात्सल्य को लें। कवि इसकी अभिव्यक्ति करते समय अपनी मा के नाम, रूप और व्यवहार से प्रभावित होता है। पाठक, श्रोता या दर्शक अर्थात् सहृदय के लिए वात्सल्य के सदर्भ में स्वयं अपनी माँ का नाम, रूप और व्यवहार उपस्थित होता है। अत. दोनो के बीच उसी भाव-जगत् का एक अमूर्त बिम्ब है जो उसकी कड़ी का काम करता है। परन्तु भाव-जगत् का आधार या मूल स्थूल जगत् ही है।

कला और सौन्दर्य का नित्य सहचर संबध रहा है। सौदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति मे सौंदर्य नही उसे कला के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। स्रष्टा या कलाकार की सौदर्यमयी सर्जना का नाम ही कला है। कला में सौन्दर्य-दर्शन या सत्यानुभूति को सौदर्यबोध कहा गया है।

सम्पूर्ण विश्व का विराट् रूप देखकर विचार और भावो की जो एक तीव्रता मन में जागृत होती है उसका एक ही आधार होता है और वह है सौंदर्य। सौदर्य संपूर्ण जड-चेतन जगत् मे विद्यमान है। इस सौंदर्य का अनुभव सृष्टि का प्रत्येक प्राणी करता है। सौंदर्य की अनुभूति में इन्द्रिया (नेत्र, श्रोत, नासिका, जिह्वा और त्वचा) तथा मानसिक सम्पर्क सहायक होते है। विभिन्न इद्रियो की सहायता से चेतन जगत्, प्राणी सौन्दर्य का उपभोग करता है। संपूर्ण विश्व का सचालन इसी सौदर्य की प्रेरणा से होता है। इन्द्रिया सौदर्य का ही साक्षात्कार करने को नित्य उद्यत रहती है। चेतन प्राणियो मे यही सौदर्य विभिन्न काल और अवस्थाओ मे भिन्न-भिन्न भावनाओं को प्रादुर्भूत करता है। प्रेम, आनन्द, हर्ष, उल्लास, रस, प्रकाश, दीप्ति, लावण्य, चारुता आदि इसी सौंदर्य के रूप है।

वैदिक साहित्य में "श्री" और "सौन्दर्य" वाची शब्दो की बहुलता है। यद्यपि उस युग के मानव-शिल्प की सुन्दर कृतियां अब उपलब्ध नही है तथापि श्री और सौदर्य वाची ये शब्द उस युग की सौदर्य-निष्ठा का सकेत करते है। रण्व सदृक् (रमणीय दर्शनवाली), रण्वा, रण्या, रोचमाना, सूनरी,[1] सुरूपा, सुपेशा, सुभासा, सुभगा, सुरुचा, सुवमना, सुसकाशा, सुशिल्पा, मुदृशीकरूपा, सदृशीकसदृक्, सुप्रतीक, श्रीर (श्री सपन्न), चद्रवर्णा, चित्र, वाम, शुभ, ललाम, आदि शतश: शब्द वैदिक सौंदर्य शास्त्र की साक्षी देते है। उस युग में सौदर्य और वैभव की अधिष्ठात्री देवी श्री और लक्ष्मी को यजमान की पत्नी के रूप मे कल्पना की गयी थी एव दिशा-विदिशाओ मे सर्वत्र रमणीयता के दर्शन की भावना इस रूप मे अभिव्यक्त हुई है—

१—कुछ विद्वानों ने "सूनरी" से सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति मानी है। सु-नरी अर्थात् सुन्दर स्त्री। ऋग्वेद के "उषा" सूक्त मे सुन्दर युवती उषा के लिए कहा गया है।

"आशामाशां रण्यां नः कृणोतु ।"

व्यक्तिगत सौदर्य का यह भाव आगे चलकर देवी श्री लक्ष्मी के रूप में प्रकट हुआ और श्री लक्ष्मी भारतीय कला में सौदर्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति मानी जाने लगी[1]। द्यावापृथिवी के गम्भीर अंतराल में जो क्षण-क्षण अनन्त देव-सृष्टि हो रही है उसके सौदर्य की कोई सीमा नही है। सर्वत्र सौदर्य के सहस्रों स्रोत फूट रहे हैं। अगणित स्थानों में सौदर्य के उछलते हुए निर्झर झर रहे हैं। सूर्य-चन्द्र, दिवस-रजनी, उषा-सन्ध्या – इन सबमें अवर्णनीय अक्षय और अनत शोभा, सौदर्य है। ऋग्वेद के "उषा" सूक्त में वर्णन है ––

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासा ।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ ।। १।११३।७ ।।

शश्वत् पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी ।
अथो व्युच्छादुत्तरां अनु द्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः ।। १।११२।१३ ।।

प्रातः काल हिरण्य के समान रमणीय दर्शन वाली देवी उषा मर्त्य प्रजाओं के लिए अमृत का दान करती हुई हिरण्य-रथ मे बैठकर जब आकाश में सचरण करती है तब कौन सहृदय व्यक्ति उसकी श्री में गद्गद् नही हो जाता। उसका सौदर्य कभी क्षीण नही होता। पुरानी उषा चिर-यौवना, नित्य युवती के समान आज भी श्री और सौदर्य में अलंकृत हो संचरण करती हुई सबको आनद प्रदान करती है।

इन सब नैसर्गिक सौदर्य से वैदिक जन स्फूर्ति ग्रहण करता था। देव-शिल्प के प्रति इस अगाध भक्ति और अनुराग का पात्र वैदिक मानव जीवन में भी सर्वत्र श्री और सौंदर्य देखने का अन्वेषी बन गया था। कालातर मे इसी से भारतीय कला को निरंतर उज्जीवित करने वाला प्राणतत्व रस और सौंदर्य मिलता रहा। भारतीय कला में सूर्य-प्रकाश जैसी उज्जवल निर्मलता पाई जाती है, श्वेत कुन्द की धवलता और चन्द्र-ज्योत्सना के निर्मल विकास सदृश उल्लास तथा आन्तरिक प्रसन्नता भरा भाव प्रकट होता है। मनोभाव को अधिकतम सौदर्य के साथ मूर्त रूप में प्रगट करना ही कला है। सच्ची कला के सौदर्य और लावण्य की अनुभूति बारम्बार मन मे होती है। जिससे मन मुग्ध हो जाता है। मुग्ध हो जाने की जो मानसी शक्ति है उसे सवेग या 'Aesthetic Shoke' कहते हैं।

सौंदर्य का पर्याय बन कर "ईस्थेटिक" शब्द प्रचलित हो गया है। सौंदर्य-सबंधी विचार के लिए सौंदर्य-शास्त्र, सौदर्यविज्ञान, नन्दनशास्त्र, नन्दनतत्व आदि शब्द भी प्रचलित हुए हैं, किन्तु सौदर्यशास्त्र के सच्चे स्वरूप और नाम-निर्देश को अच्छी तरह समझने के लिए "ईस्थेटिक्स" शब्द पर विचार करना आवश्यक है। कुछ विद्वानो ने माना है कि ईस्थेटिक्स शब्द ग्रीक भाषा से लिया गया है, जिसका मूल रूप है – 'atouko's'। यही ग्रीक शब्द बाद में "Aesthesis" बना, जिसका अर्थ है – ऐन्द्रिक सुख की चेतना। तदनन्तर इस "Aesthesis" से "Aesthetics" शब्द बनकर पाश्चात्य साहित्य मे प्रचलित हुआ।

ईस्थेटिक का अर्थ प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है, जैसे – बाउमगार्तेन ने इसका प्रयोग "सवेदनशील ऐन्द्रिय-बोध के शास्त्र" के अर्थ में किया। हीगेल ने "द फिलासफी आफ फाइन आर्ट" मे

१—श्री अथवा सुन्दर और सौदर्यवाची वैदिक शब्दो को लेकर ओल्डेनबर्ग ने "रूपम्" संख्या ३२, सन् १९२८ में एक सुन्दर लेख लिखा है। कुमारस्वामी ने भी वैदिक दृष्टि से भारतीय कला के मनन की अत्यधिक सामग्री अपने लेखों में प्रस्तुत की है।

ईस्थेटिक्स का अर्थ "ललित कलाओं के दर्शन के" अर्थ में किया है। तदनन्तर, इसका सामान्य प्रयोग काव्य अथवा प्रकृति का सौदर्यबोध के अर्थ मे होने लगा। आधुनिक काल में इसका प्रयोग सौन्दर्यानुभूति अर्थात् ललित कलाओं के तत्वो का सैद्धान्तिक निरूपण और उसके आधार पर कलाकृतियों का मूल्यांकन के अर्थ में हो रहा है।

इन्साइक्लोपीडिया बिटानिका (भाग ११, पृ० २१६) में "ईस्थेटिक्स" उस शास्त्र को कहा गया है जो ऐन्द्रियबोध से प्राप्त सौंदर्य-भावना के मनोमय आनन्द का विश्लेषण करता है। के० एम० रामस्वामी शास्त्री ने माना है—"Aesthetics is the science of beauty as expressed in Art." सौंदर्यशास्त्र कला मे अभिव्यक्त सौदर्य का विज्ञान है। के० सी० पाण्डेय ने "कम्परेटिव एस्थेटिक्स" में क्रोचे और हीगेल के मत का समर्थन करते हुए यह धारणा व्यक्त की है कि सौदर्यशास्त्र ललित-कलाओं का विज्ञान (क्रोचे का मत) और दर्शन (हीगेल का मत) है।

सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत दो बातें विचारणीय हैं—(१) ऐन्द्रिय बोधो या प्रत्यक्षो में प्रायः चाक्षुष और श्रावण प्रत्यक्षों की प्रमुखता रही है. (२) सौदर्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रधानत तीन प्रकार के सौंदर्य पर विचार किया जाता है – ऐन्द्रिय सौन्दर्य, विधानगत सौदर्य और अभिव्यक्तिगत सौदर्य। सौदर्यशास्त्र के शेष प्रकार भी ईस्थेटिक्स के अन्तर्गत विवेचित होते रहे है, किन्तु प्रधानता उक्त तीन प्रकारो को ही मिलती रही है। यहां प्रथम अर्थ-विकास के अनुसार ईस्थेटिक्स वह शास्त्र है, जिसका सबध कला और प्रकृति में व्याप्त समग्र सुन्दर और उदात्त से है। इसी अर्थ में ईस्थेटिक्स का प्रयोग विशेषरूप से जर्मनी, फ्रास, इगलैंड, इटली, हालैड इत्यादि देशो मे हुआ है। लैंगर ने "फीलिंग एण्ड फार्म" (पृ० १३–१४) मे सौदर्यशास्त्र की चर्चा करते हुए एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि सौदर्य-शास्त्र का संबध अभिव्यक्ति (Expression) से है अथवा चेतना (Consciousness), अनुभूति या प्रभाव (Impression) से ? – कलाकार की दृष्टि से, रचना-पक्ष की दृष्टि से कला का अध्ययन अभिव्यक्ति का अध्ययन है और पाठक या सहृदय की दृष्टि से अथवा भावना की दृष्टि से कला का अध्ययन प्रभाव का अध्ययन है। अतः लैंगर ने कला-दर्शन की दृष्टि से भावना अर्थात् प्रभाव-पक्ष को महत्व दिया है तथा उसके विवेचन-विश्लेषण को ही सौंदर्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य विषय माना है। कुछ विद्वानों ने इसे दर्शन और मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में माना है जो पूर्णरूपेण सगत नही प्रतीत होता। वस्तुत सौंदर्यशास्त्र की व्यापकता और अर्थ को समझने में तभी भ्रान्ति होती है, जब सौदर्यशास्त्र को तत्वदर्शन (Metaphysics) और मनोविज्ञान के साथ मिला दिया जाता है। अतः सौंदर्यशास्त्र को तत्वदर्शन के साथ तिल-तैलवत् नहीं मिलाना चाहिए।

सौदर्यशास्त्र केवल पाश्चात्य देशो में ही विकसित नहीं हुआ, वरन् भारत मे भी इसकी स्पष्ट परम्परा है। भारतीय सौदर्यशास्त्र मे मम्मट द्वारा रचित "काव्यप्रकाश" मे प्रतिपादित आनन्द और रस की धारणा – **'सकल-प्रयोजन-मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्'** – अथवा अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित काव्य-तत्वो के बीच "चारुत्वप्रतीति" की धारणा इसी सौदर्यशास्त्र मे आती है। चित्रकला में भी यही चारुत्व या चारुता प्रधान होती है। जो चित्र देखने मे सुन्दर प्रतीत हो वही चारु-चित्र है। ऐसे सम्य दृष्टिकोण से देखने पर भारतीय सौदर्यशास्त्र के अन्तर्गत क्षेमेन्द्र के "औचित्य-सिद्धान्त" को विशेष महत्व दिया जा सकता है, क्योंकि यह औचित्य सिद्धान्त काव्य की तरह अन्य ललित कलाओ पर भी सामान्य रूप से लागू होता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र की "औचित्य विचारचर्चा" विचारणीय है। इनके अतिरिक्त अन्य विचारकों ने भी औचित्य के रूप और प्रकार का विश्लेषण किया है। जैसे भोज ने औचित्य के निम्नलिखित प्रकारों का निरूपण किया है :– (१) विषयौचित्य, (२) वाच्यौचित्य, (३) देशौचित्य, (४) समयौचित्य, (५) वक्तृविषयौचित्य और (६) अर्थौचित्य। आशय यह है कि रस-सिद्धान्त से भी बढ़कर औचित्य-विचार ही भारतीय सौदर्यशास्त्र का वह आधार-सूत्र है जो काव्य, संगीत, चित्र,

मूर्ति आदि सभी ललित कलाओं पर समान रूप से लागू होकर सबका सर्वमान्य मानक प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भारतवर्ष के विचारकों का एक वर्ग सौदर्यशास्त्र को काव्यशास्त्र, अलकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र का पर्याय मानता है किन्तु दूसरे वर्ग के लिए ऐसा मानना अनुचित है, क्योंकि सौदर्यशास्त्र सभी ललितकलाओं का शास्त्र है। अतः सौदर्यशास्त्र कलाशास्त्र है और ''ईस्थेटिक क्वालिटी'' कलात्मक गुण है।

भारतीय सौदर्यशास्त्र के अनुसार कला और काव्य के चार तत्व माने गये है – (१) रस, (२) अर्थ या व्यंजना, (३) छद और (४) शब्द (काव्य के लिए) या रूप (कला के लिए)। साहित्य और कलाओं का मूल सिद्धान्त रसोत्पत्ति कराना है। इसी को चित्रसूत्र (२।१–१२) में भी कहा गया है कि सभी कलायें चित्र, नाट्य (वृत्त, नृत्य), वाद्य, गीत, साहित्य (गद्य-पद्य) छन्द आदि एक दूसरे पर आश्रित है। केवल इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम में भिन्नता है। आलंकारिकों ने माना है कि अभिधा मे काव्य सुन्दर नही होता। सौन्दर्य व्यञ्जना में होता है, जैसे – **प्राची-मूले तनुमिव आसन्न प्रकाशताम्** – में नायिका विरह-दुःख में करवटे बदलती हुई चन्द्रकला के समान सुन्दर प्रतीत हो रही है।

सौदर्यशास्त्र चित्र, सगीत, भास्कर्य आदि सभी ललित कलाओं में व्यक्त चारुत्व और नैपुण्य को अपनी विषयसीमा में स्वीकारता है जिस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे ''Beauty'', ' Excelens'', ''Sublime'', इत्यादि का उल्लेख है जो शब्द-भेद से सौदर्य का ही अध्ययन है। उसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रों में सौदर्य – चारुता, चमत्कार, शोभा इत्यादि पर गहन चिन्तन किया गया है। उदाहरणार्थ – आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त ''**चारुत्वहेतु**'' या ''**सन्निवेशचारुणः**'' अथवा ''**रचना प्रपंचचारुणः**'', अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त ''**रसावेशवैशद्य सौन्दर्यकाव्य-निर्माणमत्वम्**'', ''**अपितु सुन्दरीभूतः**'' और दण्डी, भोज तथा अप्पयदीक्षित द्वारा प्रयुक्त 'शोभा' को देखा जा सकता है।

सौन्दर्यानुभूति या सौन्दर्यबोध के जो भी स्तर अथवा आलम्बन रहे हों, मनुष्य पर सुन्दर की प्रतिक्रिया होती रहती है। सुन्दर की अभिव्यक्ति या सौंदर्य का विकास कला का उद्देश्य है। कला इसलिए सुन्दर या आकर्षक नहीं है कि वह प्रकृति की प्रतिकृति है, अपितु वह कलाकार की अभिव्यक्ति मे सौदर्यग्राह्यता के कारण कला है। यह सौंदर्यग्राह्यता केवल वस्तुगत सौन्दर्य का ही परिणाम नही, वरन् कलाकार की सौदर्यानुभूति या सौदर्यबोध को अपनी प्रतिभा द्वारा स्थायित्व (Stability) प्रदान करने के सफल प्रयास मे भी है।

ललितकला (चारुकला) की तरह उपयोगी कलाओं (शिल्पकला, कारुकला) में भी सौदर्यबोध का बहुत महत्व है। वस्तुतः प्रत्येक कला कलाकार की मनःस्थिति अथवा आत्मानुभूति का एक आन्तरिक अग है और उसका संबंध अभिव्यक्ति से है। कलाओ में आवश्यक उपादानो के प्रस्तुत रहने पर उन्हे सामञ्जस्य, सगठन और आकारिक अनुपात मे नयनाभिराम रूप देने के लिए कलाकार को अपने सौदर्यबोध, शिल्प-रुचि कलानुभूति एवं उन सबके प्रकट करने की क्षमता का प्रयोग करना पडता है।

सौन्दर्य अथवा चारुता के सबंध मे विभिन्न ग्रंथो मे विचारको और कलाकारो ने विभिन्न मत दिये है। तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रथम अनुवाक मे ब्रह्म के लिए कहा गया है – ''**रसो वै सः**'' – (वह ब्रह्म ही रस है) – यह सुन्दर का परिपूर्ण आदर्श है। ब्रह्म पूर्ण है – **ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते** – इसी पूर्ण तक सब लोग पहुंचना चाहते हैं। यही परिपूर्ण परम सुन्दर है। ईश्वर के तीन रूप – ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी एक दूसरे से अधिक देदीप्यमान है, जिनके सौंदर्य एवं दीप्ति की तुलना सूर्य से भी नही की जा सकती। यही दीप्ति या प्रकाश, चमक, सौदर्य की पूर्णता है। तात्पर्य यह है कि सभी वस्तुये पूर्णता की चरम सीमा पर पहुंचने के लिए रहती हैं

कुछ विद्वान् कहते है – **तद् रम्यं लग्नं यत्र च हियस्य हृत् ।** – जिसमे जिसका हृदय (मन) लग जाय, हरण कर ले, अर्थात् चित्ताकर्षक हो, वही सुन्दर है। सुंदर की यह व्याख्या अतियथार्थ है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो सपूर्ण जगत् सौदर्य से प्रादुर्भूत हुआ ज्ञात होगा, चराचर सृष्टि मे प्रत्येक पदार्थ में सौदर्य का विलक्षण वैभव बिखरा दिखाई देता है। नित्य वस्तु ही सुन्दर है। यह सौदर्य रुचि, भावना एवं वृत्तियों के अनुसार अनन्त रूपो मे सपूर्ण जड-चेतन के भीतर और बाहर स्थित है। अनन्तात्मा ने जड-चेतन पदार्थ सौदर्य से अनुप्राणित करके उत्पन्न किये है। लता, वनस्पति, सूर्य, चन्द्र, तारे, मनुष्य पशु-पक्षी, रंग, सभी में विश्वात्मा का सौदर्य निहित है। कलाकार अपनी कला मे इसी सौदर्य की प्रतिष्ठा करता है। अव्यक्त सौंदर्य का व्यक्तीकरण ही कला है। भाव-रूप में अव्यक्त हमारी सौदर्य-चेतना और भावना को कला अपने द्वारा स्थूल रूप में प्रकट करा देती है।

सौन्दर्य के सबंध मे हजारी प्रसाद द्विवेदी "कालिदास की लालित्य-योजना" में कहते है – कि सौदर्य विषय-निष्ठ धारणा है। हम किसी विषय को इसलिए सुन्दर समझते है कि उससे हमारा कुछ मतलब है। हम उसमे अपनी तृप्ति के लिए आवश्यक तत्व पाने के कारण उसमे रुचि लेने लगते है। अन्य लोग कहते है कि ऐसी बात नहीं है। सुन्दर माना जाने वाला पदार्थ हमें इसलिए आन्दोलित, चालित और हिल्लोलित करता है कि सुन्दर वस्तु मे कुछ शक्ति या धर्म है जो ऐसा करने मे स्वय समर्थ है। सौदर्य विषय-निष्ठ धर्म है। कुछ विचारक इसे उभय निष्ठ धर्म मानते है। द्रष्टव्य वस्तु मे सौदर्य एक ऐसी शक्ति या ऐसा धर्म है जो द्रष्टा को आन्दोलित और हिल्लोलित कर सकता है तथा द्रष्टा में भी ऐसी शक्ति है, ऐसा एक सवेदन तत्व है, जो द्रष्टव्य के सौदर्य से चालित और हिल्लोलित होने की योग्यता देता है। वस्तुत. ग्रहीता और ग्रहीतव्य के अन्तरतम का आकर्षण ही वह लीला है जो अनादि शिव-तत्व के शाश्वत लीला-विलास की व्यष्टि-निष्ठ अभिव्यक्ति है।

यदि यह उभय-निष्ठ आकर्षण न होता तो प्रत्येक वस्तु हर व्यक्ति को समान भाव से प्रभावित करती। सहृदय व्यक्ति इस सौदर्य का दर्शन करते है। सहृदय व्यक्ति वे है जिनका चित्त उस दिशा में उन्मुख होता है जो कलाकार या कवि के विशिष्ट अनुभूति वाले सर्जक चित्त के साथ ताल मिलाकर चलने की स्थिति मे होते है। ऐसे चित्त को सात्विक भावनिष्ठ चित्त कहते है। जो वस्तु समष्टि मानवचित्त को सुन्दर लगती है वही सुन्दर है। कुछ थोड़े मे व्यक्तियो को यदि सुन्दर न लगे तो मानना होगा कि वे समष्टि-चित्त से विच्छिन्न होने के कारण विकृत हैं। फलितार्थ यह हुआ कि समष्टि-चित्र मे अनुकूल भावान्दोलन उत्पन्न करने वाला तत्व ही सौदर्य है। व्यक्ति उसके प्रतिकूल जाने पर विकृत माना जाता है, अनुकूल जाने पर प्रकृत।

सौदर्य के ग्रहण मे अत करण के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष का योग भी आवश्यक है। अत करण के योग की आवश्यकता दो अवस्थाओ में है – एक सौदर्य की प्रत्यक्षावस्था मे, दूसरी उसकी स्मृति में। पहली अवस्था मे अन्यमनस्क होने की दशा मे – चित्त कही और लगे रहने के कारण सौदर्य के अवलोकन मे मन नहीं रमता है। दूसरी अवस्था अर्थात् स्मृति दशा में अन्त.करण का योग इसलिए चाहिए कि इसमें सौंदर्य का वास्तविक आलम्बन अन्तर्निहित रहता है। इस द्वितीयावस्था की उद्भूति प्रथमावस्था मे ही निहित है।

सौन्दर्य अपरिमित है और अभिव्यक्ति परिमित होती है। कालिदास ने सौदर्यशास्त्र की इस गहनता के गूढ भाव को अत्यल्प शब्दो में कह दिया है – **"तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्"** – (अभि० शाकुं०, ६।१४)। लावण्य, अपरिमित सौंदर्य को रेखा द्वारा चित्र में किञ्चिद् ही दिखाया जा सकता है। कोई भी कलाकार लावण्य को संपूर्ण रूप में नहीं अभिव्यक्त कर सकता।

सौंदर्य स्वत: प्रकट होता है। उसका आलोक इतना व्यापक होता है कि वह छिपाया नहीं जा सकता। अंधेरे में रखा हीरा अपने आलोक से गोचर होता है, वस्त्र मे लिपटी कस्तूरी अपनी सुगन्धि को बाहर प्रसृत करती है। इसी प्रकार पवित्र भावो वाला हृदय अपने चेहरे पर एक पावन सौंदर्य, आलोक, आकर्षण एव प्रभाव व्यक्त करता है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ मे गुप्त या सुप्त सौदर्य को कलाकार ही अभिव्यक्ति देता है। जिस प्रकार सूक्तियो के सुन्दर, मधुर शब्दों से सुन्दर भावाभिव्यक्ति द्वारा हृदय आनन्दित हो जाता है उसी प्रकार कला मे अमूर्त सौदर्य को मूर्तिमान करके आनन्दानुभूति कराना कला है। कला मे सौदर्य और आनन्द समान रूप से प्रतिष्ठित होते है।

सुन्दर – असुन्दर के सबध में कहा गया है – "भिन्न रुचिर्हि लोक:"। कौन वस्तु सुन्दर है या असुन्दर – यह द्रष्टा की रुचि पर निर्भर करता है। सुन्दर असुन्दर या सुरूप-कुरूप यह दोनों आवश्यक है क्योंकि यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। स्थूल और काल्पनिक जगत् यह दोनो द्वन्द्वात्मक कहे गये हैं। सुन्दर-असुन्दर की परख व्यक्ति के रुचि-परिवेश पर निर्भर करती है जो संगति, वातावरण और अभ्यास के द्वारा ही आती है।

व्यक्ति के संवेग (Imotion) मूलत: दो प्रकार के होते हैं – भावात्मक सवेग (Positive emotions) और अभावात्मक सवेग (Negative emotions)। भावात्मक सवेग मे उद्दीपन के प्रति स्वीकृति का भाव अर्थात् आकर्षण और प्रेम रहता है तथा अभावात्मक सवेग में उद्दीपन के प्रति अस्वीकृति का भाव अर्थात् विकर्षण होता है। यह स्पष्ट है कि सौन्दर्यानुभूति का संबध मुख्यत हमारे भावात्मक संवेगों से, मन की भावनाओ से रहता है। किन्तु यह निश्चित नही है कि किसी एक वस्तु के प्रति सभी व्यक्तियों का समान भावात्मक संवेग जगे। अत. इस दृष्टि से यह भी सिद्ध होता है कि सुन्दर-असुन्दर का निर्णय व्यक्ति-सापेक्ष होता है। रुचि-वैचित्र्य और रुचि-वैशिष्ट्य के अनुसार उसके मानस-पटल पर रूप-विशेष का सुन्दर अथवा असुंदर प्रभाव पड़ता है। रीतिकालीन कवि बिहारी ने भी यही माना है कि रुचि-भेद से सुन्दर-असुन्दर दिखाई देता है :—

"समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोई।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होई॥"

जो वस्तु एक भाव-स्थिति मे किसी को कुरूप या असुन्दर मालूम होती है वही दूसरी भाव-स्थिति में सुन्दर प्रतीत होने लगती है। सुन्दर वस्तुओं की ऐन्द्रिय संवेदना प्रिय होती है और असुन्दर एव कुरूप की ऐन्द्रिय सवेदना अप्रिय होती हैं। सौदर्य और प्रियता का अन्योन्याश्रय संबंध है। जहा ऐन्द्रिय संवेदना अथवा रूप–योजना प्रियता के अनुरूप होती है वहां यही प्रियता सौंदर्य भावना का उद्गम बन जाती है और हम प्रिय को सुन्दर कहने लगते हैं। मनुष्य का अन्तर और बाह्य दोनों सुन्दर होने से अधिक आकर्षण होता है। प्रत्येक कार्य को सुचारु ढंग से सपादित करने से वह सुन्दर प्रतीत होता है।

सभी कलाओं का अतिम लक्ष्य वस्तुत रस की आनन्दानुभूति कराना ही है और यह रस कलाकार या कवि की सहृदयता के अनुसार ढल जाता है। मानवीय भावनाओ और संवेदनाओं को कलाकार अपने अनुभव से अंकित करता है जैसे प्रतीक आदि। सभी चित्र क्षणिक हैं, क्योंकि उस दृश्य चित्र मे क्षणिक क्रिया का अकन रहता है। इसी क्षणिक क्रिया के अंकन से दर्शक के चित्त में संवेदना उत्पन्न होती है। इसी को रस का साधारणीकरण कहते हैं।

सुन्दर और कुरूप एक दूसरे के मूल्यों एव सीमाओ का निर्धारण करते हैं। सभवत. इसीलिए वाल्मीकि ने रामायण में राम के सौंदर्य को अधिक प्रमायुक्त एवं शूर्पणखा की कुरूपता को अधिक विकर्षण बनाने के लिए सौंदर्य

और कुरूपता का समानान्तर वर्णन किया है। वस्तुतः कलाकार के लिए रूप-विरूप सब एक है। तभी वह विरूप का तथा वीभत्स आदि रसों का भी अंकन कला में करता है।—

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी। विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेश ताम्रमूर्धजा।
प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा। तरुणं दारुणं वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी॥

सारांश यह है कि कुरूपता के प्रति शिथिलता हमारी सौंदर्य-चेतना के लिए अशोभन है और कुरूपता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हमारी सौंदर्य-चेतना के लिए शुभकर है।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर के मतानुसार कला के लिए रीतिनीति, चक्षु-संयोग, मन की उड़ान, आत्म-विस्मृति यह सब जिसमें रहता है वह सुन्दर कला होती है। नित्य या अमूर्त वस्तु ने विभिन्न भावों के बीच जब सौंदर्य का अधिष्ठान होता है तब मनोरसना रसास्वाद का अनुभव करती है, यही सुखद, सुपरिमित, सुश्रृंखलित सुन्दर होता है। बाहर सौंदर्य का अबाध स्रोत है। सुन्दर-असुन्दर को समझने का उत्कृष्ट उपाय स्वयं खोजने से मिलेगा। कबीर कहते हैं :—

आंख न मूदूं कान न रूंधू, काया क़ष्ट न धारूं।
खुले नयन में हंस हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं॥

जो हंसता हुआ है वह सब देखने में सुन्दर है। जिसके मन में हंसी नहीं है उसका नेत्र और चेहरा भी सुन्दर नहीं होता।

सारांश यह है कि कोई भी रूप सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा निश्चित रूपेण सुन्दरतम नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि कोई एक वस्तु सबको सुन्दर प्रतीत हो। संतुलन सौंदर्य का एक महत्वपूर्ण तत्व है किन्तु सौंदर्य की सृष्टि संतुलन के बिना भी संभव है। संगति (Harmony) सौंदर्य के लिए वांछनीय है, यह आवश्यक नहीं, किन्तु संगतिपूर्ण वस्तु का निर्णय व्यक्तिगत रुचि की बात है। सौंदर्य-विधान में रंग-परिज्ञान का महत्व-पूर्ण स्थान है, क्योंकि रंग का प्रभाव परिस्थिति-भेद से बदलता रहता है। वर्ण-बोध पर अवस्था और मनःस्थिति का भी प्रभाव पड़ता है।

चित्र में आकृति के प्रत्येक अंगोपांग को समुचित ढंग से चित्रित करने से, समानरूपता के कारण सुरुचि और कलागत सौंदर्य उत्पन्न होता है सौंदर्योत्कर्ष के लिए चित्र में रंगों का संयोजन उसकी सुव्यवस्था का परिचायक है। सुरुचि या सौंदर्य के समावेश के लिए चित्र में विविधता का होना भी आवश्यक है। चित्र में यह विविधता कभी परस्पर विरोधी तत्वों के समावेश से उत्पन्न होती है। चित्र में छाया–प्रकाश एवं गौरवर्ण के मुख पर श्यामल अलकें – ये विरोधी भाव सौंदर्य के ही पोषक हैं। सौंदर्योत्कर्ष के लिए चित्र में रेखा–रंग–आकृति और भाव, इन सबका ऐसा संयोजन होना चाहिये कि वे एक दूसरे के उत्कर्ष को व्यक्त करें, यही संगति है। चित्रकला में इनका वही स्थान है जो संगीत में लय तथा वादन में गति का है। इनके अतिरिक्त भी संयम, कोमलता आदि अनेक सौंदर्यपोषक गुण हैं। इसीलिए चित्रकर्म सम्बन्धी प्राचीन ग्रंथों में विभिन्न आकृतियों के लिए समुचित वातावरण और यथोचित रसभाव की सृष्टि का विशेष विधान किया गया है।

कलाकार, कवि या शिल्पी की प्रेरणा का एक ही आधार है सौंदर्य। इसीलिए अजंता में राजा और भिक्षुक दोनों का ही चित्र समान रूप से सुन्दर अंकित किया गया है तथा मानव के साथ प्रकृति के सभी जड़-चेतन पदार्थों का अंकन भी उसी सुन्दरता से किया गया है। कलाकार की भांति कवि भी अपनी कविता में आकाश, मेघ, चन्द्र,

सूर्य, नदी, वन, उपवन, ऋतु, पुष्प, पल्लव, पर्वत, निर्झर, विहग आदि प्राकृतिक वस्तुओं का चित्रण करके पाठक में सौंदर्यानुभूति जगाकर उसको रस-विभोर कर देता है। सौंदर्यबोध के द्वारा कलाकार रसबोध और तत्त्वबोध, दोनों को प्राप्त करता है।

प्राणी की सौंदर्य-चेतना, मुख्यतः उसकी शरीर-रचना और इंद्रियों के प्रकार पर आधारित होती है। "शुक्रनीति" (४।२०२) के अनुसार कला के लिए यौवन का सौंदर्य ही सुन्दर है वार्द्धक्य नहीं। इसीलिए कालिदास यौवन सपन्न सुन्दरी का आदर्श प्रस्तुत करते हैं —

तन्वीश्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां,
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥—उत्तरमेघ, २२॥

अजंता एवं उसके पूर्व युग से ही सुन्दरी का यही आदर्श सौंदर्य चला आ रहा है। मुगलों से अंग्रेजों के समय तक आते-आते इस सौंदर्य के आदर्श में भी बहुत परिवर्तन हो गया क्योंकि रुचि बदलती है तो आदर्श भी बदल जाता है।

उज्जवलनीलमणि में सौंदर्य की परिभाषा देते हुए रूपगोस्वामी कहते हैं —

अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः संनिवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टसंधिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते[1] ॥२९॥[2]

यथोचित प्रमाण में सब अंग होने से सुन्दर होता है। यह सौंदर्य रूप में रहता है और जब इस रूप में माधुर्य आ जाता है तब वह अनिर्वाच्य हो जाता है—"रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते"॥ (उज्जवल० – ३४)। यही सौंदर्य निखार को प्राप्त करके "लावण्य" नाम से अभिव्यक्त किया गया है जो चित्रकला के षडंगों में प्रधान माना गया है। नारी की कमनीय मूर्ति के बिना कला ही नहीं, विश्व का समस्त विधान भी अविकसित एवं अपूर्ण रहता है। नारी का सौंदर्य, लावण्य कला का स्थायी भाव है। वह रस बनकर कला में ओतप्रोत हुआ है और अपने अस्तित्व से कला को दर्शनीय बनाता है।

चित्र में सौन्दर्य-सृष्टि के द्वारा रस को आत्मसात् करने का प्रयत्न भारतीय जीवन-पद्धति की विशेषता रही है। इस विश्व में अध्यात्म-सौंदर्य, नीति-सौंदर्य और भौतिक-सौन्दर्य, तीनों की वास्तविक सत्ता है। जहा इन तीनों में से किसी एक सौंदर्य को भी हम देखते है तो हमारा मन आनन्द से ओत-प्रोत हो उठता है। इस पच भौतिक शरीर के पीछे जो दिव्य आत्म-ज्योति है वह जब अपने तीव्र, तेज से प्लावित होती है तब मनुष्य का मन आनन्द में निमग्न हो जाता है। इसी प्रकार विश्व के भौतिक उपकरणों को (जिनके अन्तर्गत मनुष्य शरीर भी है) सुसस्कृत और सुन्दर बनाकर हम आनन्द की प्राप्ति कर सकते है। इस मार्ग से रस के स्रोत तक पहुँचने की साधना कला की

१—पाठभेद – मुदीर्यते।

२—टीका – अङ्गानां बाह्वादीनां प्रत्यङ्गानां प्रगण्डप्रकोष्ठमणिबन्धादीनां यथोचितं स्थौल्यकार्श्यवर्तुलत्वादिकं यत्रयत्र यद्यदुचितं भवति तदनतिक्रम्य संनिवेशः सुश्लिष्टः यथोचित मांसलत्वेनेक्ष्यमाणः सधीना कफोण्यादीनां बन्धो यस्मिन् सः॥२९॥—उज्जवलनीलमणि, पृ० २२४।

साधना है। ब्रह्मा की समस्त सृष्टि में अनन्त सौंदर्य छिपा हुआ है। चतुर कलाकार जिस पाषाण-खण्ड को अपने कौशल से स्पर्श कर देता है वह सौंदर्य का प्रतीक बन जाता है। यही अगणित सुन्दर प्रतीकों की रचना मनुष्य की कलात्मक साधना का उदाहरण है। सुन्दर चित्र या रमणीय शिल्प-कृति उस अनंत और सर्वत्र व्याप्त सुन्दरता का मोहक प्रतीक है जिसकी ओर हमारा मन स्वत आकर्षित होता रहता है। भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की परिभाषा मे यही रूपशाली तत्व श्री के नाम से कहा गया है।

महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है कि रूप की सच्ची उपासना मन को मलिन करने की अपेक्षा उसे और निखारती है—

"यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।।"—कुमार० ५।३६।।

हे पार्वती, सच बात तो यह है कि रूप-सौंदर्य पाप-वृत्ति को बढ़ाने के लिए नहीं, वरन् पापों के कल्मष को धोकर, पाप की ज्वालाओं को शांत करके मन की रस-ग्राहिणी सूक्ष्मवृत्तियों को और अधिक चैतन्ययुक्त एवं आनन्दमय बनाने के लिए होता है। **"न रूपं पापवृत्तये"** यही परिभाषा कला और जीवन के योग की सच्ची स्थिति को बताती है, जो रूप पापवृत्ति को उकसाता है वह जड़त्व की उपज है, वह तामसिक है। उसमें सत्वोद्रेक की शक्ति नहीं होती। इसलिए वह सुन्दर नहीं कहा जा सकता, भले ही वह व्यक्तिगत इच्छा-पूर्ति का साधन हो। कालिदास की दृष्टि मे एकमात्र प्रकृति की, विश्वात्मा की मूल सर्जनेच्छा के समान ही कलाकार की वृत्ति होती है। वे व्यक्तिगत इच्छा की अपेक्षा समष्टि-व्यापिनी इच्छा को विशिष्ट रूप मानते है। समष्टि इच्छा चेतन धर्म है। जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है वही "सुन्दर" है।

महाकवि माघ रमणीयता या सुन्दरता के संबंध मे कहते हैं—

क्षणे क्षणेयन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।। शिशु०, ४।१७।

जो प्रतिक्षण नवीन ज्ञात होता है, वही रमणीयता का स्वरूप है।—कालिदास ने भी यही कहा है—**"क्षणे क्षणे यन्नवतां विधत्ते तदेव रूपं रमणीयतायाः।"**—संभवतः रमणीयता मे नवीनता के लिए यह कहावत प्रचलित रही होगी। वस्तुत रमणीयता मे नवीनता का ही दूसरा नाम अभिरुचि है। मानव-मन विचारों के उच्च शिखर पर रहते हुए भी नवीन संवेदनाओं की खोज में नीचे उतर आया करता है। प्रत्येक प्राणी के भाव निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं। और मनुष्य तो स्वभाव से ही परिवर्तन, नवीनता, सुन्दरता-प्रिय है। "योगवाशिष्ठ और उसके सिद्धांत" मे बी० एल० आत्रेय का कथन है :—

"यथा प्राप्तिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा।
न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नानुभूतवान् ।।" (६।४४।२)

जैसे पहले क्षण किसी सुन्दर वस्तु की प्राप्ति से तृप्ति होती है वैसी तृप्ति, प्राप्त होने के दूसरे क्षण मे नहीं मिलती—ऐसा किसने अनुभव नहीं किया है।

"मालविकाग्निमित्र" (२।२) में अग्निमित्र मालविका के सौन्दर्य मे प्रतिक्षण नवीनता देखता है। चित्रकार, जिसने मालविका का चित्र बनाया था, शिथिल समाधि हो जाता है क्योंकि मालविका का सौन्दर्य कान्तिविसवाद था। चित्र की तुलना में मालविका अधिक कान्तिमयी थी। उसका सौंदर्य प्रतिक्षण नवीन दिखलाई पड़ रहा था। एक क्षण पूर्व देखे हुए सौंदर्य को जब तक चित्रकार चित्रपट पर अंकित करता, तब तक उसका सौंदर्य पुनः परिवर्तित हो

जाता, कुछ नवीनता आ जाती, जिससे वह उसके पूर्वक्षण में देते हुए सौन्दर्य को पुनः न देख सकने के कारण पूरा न कर सकता था। दूसरी बात यह है कि रजोगुण के कारण मालविका के सौंदर्यासक्त होने में उसका मन पूर्ण समाधिस्थ नही हो पाता, और पूर्ण समाधि के बिना सुन्दर की रचना नही हो सकती। मानव मन में मनेग के कारण क्रियायें प्रतिक्षण परिवर्तित हुआ करती है। पहले उत्सुकता जागती है, तदुपरान्त प्राप्ति की तृष्णा का जागरण होता है, तत्पश्चात् समाधि-भग होती है। कवि बिहारी ने भी इसी सौन्दर्य को चित्रित करने मे चित्रकार की असफलता दिखलाई है —

> **लिखन बैठि जाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।**
> **भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥ ३४७ ॥**–बिहारी सतसई।

चेतन जगत् में स्त्री–सौन्दर्य चेतना का अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति केन्द्र है। पुरुष की दृष्टि मे स्त्री-सौंदर्य परम सुन्दर का अति रमणीय प्रतीक है। अनुभव के अनन्तर उस रूप के दर्शन से आध्यात्मिक आनन्द और कला का विकास होता है, उसमें लालसा नही रहती। इसीलिए कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त के मुख से कहलाते है —

> **चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।**
> **स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ २।९ ॥**

ब्रह्मा ने सबसे पहले शकुन्तला के रूप की मानस कल्पना की होगी। उस समय ब्रह्मा के चित्त में सौन्दर्य का उफान रहा होगा। उन्होंने अपने चित्त को पूर्ण सत्वस्थ या समाहित किया होगा और तब नवीन अनूठे स्त्री–रत्न की रचना करके प्राण डाल दिया होगा, क्योंकि एक ओर तो उस शकुन्तला का मनोहर रूप दिखलाई पडता है और दूसरी ओर विधाता का अपार अभिव्यक्ति का सामर्थ्य उसकी विभुता।

यही कालिदास का कलाकृति के विषय में निश्चित मत है। वे विधाता को भी मनुष्य की भाति एक कलाकार मानते है। भारतीय कला मे सौंदर्य को शील और संयम के देवोपम आदर्श द्वारा लोक के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। शिव तथा प्रज्ञा प्राप्त बुद्ध की सत्ता मणि-दीप की तरह कला के प्रासाद को आलोकित करती है। सुन्दर से सुन्दर भौतिक रूप स्वच्छंदता से कला के माध्यम से प्रकट होता रहा, किन्तु कलाकार और रसिक दोनो के मन मे यह नियति धारणा थी कि जीवन मे उस सुन्दरता को प्राप्त करने का मार्ग मार–विजयी बुद्ध आदर्शों मे था, न कि मार के विकट रूपधारी प्रलोभनो मे। वहां पर अशिव का नाश, और शिव का उद्बोधन या स्थापन उद्देश्य था। धर्म द्वारा पोषित होने का परिणाम विशेष रूप से भारतीय कला पर पडा। सुन्दरतम शरीर और मुखाकृति की यथा-वत् चित्रित करके आनन्द की सृष्टि भारतीय कला को मान्य न हुई। कलाकार की दृष्टि में भौतिक शारीरिक सौंदर्य के साथ स्त्री की पूर्ण सफलता तभी संभव हो सकती है, जब वह मानस-सौदर्य की ओर हमारा पथ-प्रदर्शन करने मे सहायक हो। अजन्ता की कला के सर्वातिशायी केन्द्र "बुद्ध" थे। इसीलिए वहा की कला मे अलकृत रमणीय-आकृति, सम्राट और सम्राज्ञी केवल अपने रूप–सौंदर्य के कारण उतने आकर्षक नही बने जितने धार्मिक जीवन से।

अजता की कला मे त्रिलोकी संपुञ्जन किया गया है, अर्थात् तीनों लोक मे जितने भी चराचर प्राणी हैं उन सबके लिए उस कला में द्वार खुला है। इन सभी का चित्रण सुन्दर, मनमोहक रूप मे हुआ है। उसकी रसोर्मियो का आवाहन रूप–सौन्दर्य के एक-एक अकन और चित्रण पर ही आश्रित नही है वरन् उसका श्रेय बुद्धरूपी अमित सौंदर्यमय चन्द्रमडल को है जिसके द्वारा भावों का यह विशाल मंदिर प्रकाशित है। अजंता की कला मे सुन्दर प्रति-कृति के द्वारा भावगम्य आदर्श-लोक को चित्रित किया गया है। बाहरी रूप-विधान पर भाव की यह प्रधानता समस्त भारतीय कला की विशेषता है।

भारतीय कलाकार और कला-पारखी रसिक, दोनो ही सौंदर्य के पुजारी है। सौंदर्य के समवाय सबंध से उत्पन्न कांति विशेष को कलाकार उच्चतर सौंदर्य के हाथों में समर्पित कर देता है और रसिक उस सौदर्य का पान करता है। यह उच्चतर सौंदर्य मानसी-सृष्टि का अगभूत है। शारीरिक, सौदर्य भौतिक जगत् की अन्य वस्तुओ की तरह परिमित, जडीभूत और अल्प होता है, मानसी सृष्टि का सौदर्य जिसमें भाव और आदर्शो की प्रधानता है, अपरिमित, बहुविध और महत्व के भाव मे युक्त होता है जैसे शारीरिक सौंदर्य विशेष रूप से यौवनावस्था मे ही रहता है। यौवन या तरुणाई सभी अगो मे निखार उत्पन्न कर देती है किन्तु नेत्रो मे तो एक विशेष प्रगल्भता, चचलता आ जाती है। –"विद्धशालभंजिका" (पृ० ४९) में राजा कहते है '—

"विधत्ते सोल्लेखं कतरदिह नाडं तरुणिमा।
तथापि प्रागल्भ्यं किमपि चतुर लोचनयुगे॥"

महाकवि कालिदास ने नारी-सौन्दर्य को महिमा-मडित देखा है। इसका मुख्य कारण उनकी निसर्ग-सौदर्य-दर्शिनी दृष्टि है। भारतीय धर्म मे देवी–देवताओ के किशोर–रूप का ध्यान करने का विधान है — **"वयः कैशोरकं ध्यायेत्"**। क्योकि इसी अवस्था मे शरीर और मन मे आद्याशक्ति, विधाता की आदि इच्छा शक्ति का श्रेष्ठ विलास अपनी चरम सीमा पर आ जाता है। शोभा का प्राण यौवन माना गया है। यौवन मे शरीराकृति में मधुरता, मनोज्ञता रमणीयता आती है। पुरुषों मे तेज ही उनका सौदर्य है तो स्त्रियों में लावण्य, लालित्य, मधुरता आदि। शकुंतला निसर्ग सुन्दरी है। उसकी समस्त अवस्थाओ मे, चेष्टाओ की रमणियता, मधुरता है। अत: कालिदास कहते है कि ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मधुर आकृतियो का मंडन न बन जाय। कमल का पुष्प शैवाल-जाल मे होते हुए भी रमणीय बना रहता है, चन्द्रमा का कलंक भी उसकी शोभा–विस्तार करता रहता है और शकुन्तला वल्कल वेष्टिता होकर और भी मनोज्ञा बन गई थी —

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम् ॥–अभि० शाकुं०, २।२९॥

शकुन्तला का सुकोमल सुन्दर शरीर वल्कल धारण करने योग्य न होने पर भी, वल्कल वस्त्र उसके शरीर को अलकारो के समान सुशोभित कर रहे थे। वस्तुत: सुन्दर शरीराकृति पर सभी कुछ शोभा देने लगता है। सौदर्य पर मंडन अनावश्यक है। शकुन्तला का शरीर स्वत सुन्दर था, उसका मन भी वैसा ही पवित्र था। पवित्र मन मे सुन्दर भाव एव सुन्दर आदर्शों का उदय होता है। इन्हीं के सम्मिश्रण से उसका शरीर यौवन मे और भी निखर उठा। भौतिक सौन्दर्य शब्द-सौन्दर्य की तरह है और मानस-सौदर्य अर्थगत सौदर्य की भाति होता है। शब्द और अर्थ दोनो ही काव्य के पूर्ण चमत्कार और रसानुभव के लिए आवश्यक है तथा चित्र मे रूप और भाव या अर्थ की व्यजना। कला मे बाह्य-रूप का भाव के साथ समन्वय जिस युग मे हुआ वही कला के विकास का स्वर्ण-युग था। निस्सन्देह गुप्तकाल मे भारतीय कला मे यह सौदर्य सर्वोत्तम रूप में पाया जाता है।

राजानक रूय्यक ने "सहृदय–हृदय–लीला" ग्रन्थ मे लिखा है कि इसी यौवनावस्था मे अगों में सौष्ठव और विपुलीभाव आता है तथा उनका पारस्परिक विभेद स्पष्ट होता है। कालिदास ने इस अवस्था को अंग-यष्टि का असभृत मंडन अर्थात् बिना साज-श्रृगार का, अयत्न-सिद्ध सहज अलंकरण, बिना मदिरा के ही मदमत्त बना देने वाला सहज मादक गुण, और प्रेम के देवता कामदेव का बिना पुष्प का बाण, सहज सिद्ध अभिलाष हेतु अस्त्र कहा है—

"असंभृत मंडनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे॥" कुमार० १।३१॥

ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व-स्रष्टा विधाता संपूर्ण सौंदर्य को एक स्थान पर देखना चाहते थे, अत उन्होंने पार्वती का सुन्दर रूप निर्माण करने के लिए निपुण मानव कलाकार की भांति सामग्री का संग्रह किया। उनकी प्रकृति का उन्हें अध्ययन करना पड़ा। कहां किसे रखना उचित होगा, इसका विचार करना पड़ा, अभ्यास-निपुण चित्त से प्रयत्न करना पड़ा और तब वह सुन्दर रूप बन सका—

"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौंदर्य दिदृक्षयेव" ॥ कुमार०, १।४९।

आधुनिक सौंदर्य-शास्त्री प्रकृति के सौंदर्य और मानव कलाकृति सौंदर्य मे जितना अंतर करते है, कालिदास को उतना मान्य नही है। पार्वती के बाल्यकाल के चतुरस्र, समविभक्त शरीर को नवयौवन ने ऊंचा-नीचा करके विभक्त बना दिया, उभार ला दिया।—

"उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिभिन्नमिवारविन्दम।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥"—कुमार०, १।३२।

कालिदास दो उपमानों का प्रयोग करते है—एक विधाता की सृष्टि प्रकृति मे लिया गया है और दूसरा मानव-कलाकार की सृष्टि से। विधाता जब कमल-कलिका में विभेद या उभार लाना चाहते हैं तो सूर्य-किरणों की सहायता से ऐसा करते हैं और कमल-पुष्प रूप-वर्ण तथा गन्ध से प्रस्फुटित हो जाता है। उसी प्रकार मानव कलाकार जब चित्र में उभार उत्पन्न करना चाहता है तो तूलिका की सहायता लेकर, विभक्तता, सौंदर्य, लावण्य लाता है। विधाता और मानव की ऐसी कलाकृति को समान धरातल पर उपमा द्वारा रखने मे कालिदास को रंचमात्र भी नहीं संकोच हुआ।

इस श्लोक में चतुरस्र शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। यह विष्णुधर्मोत्तर के "चित्रसूत्र" में बतलाए गये वैणिक चित्र की याद दिलाता है। रेखाओं से बने हुए ये चित्र केवल रेखाकन या आकृति मात्र होते थे—

"चतुरस्रं सुसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणाकृतिम्।
प्रमाणं (? ण) स्थानलम्बाढ्यं वैणिकं तन्निगद्यते॥" वि०ध०, ४१।३।

अर्थात् जो चित्र सुडौल एवं परिपूर्ण हो, न लंबा हो न उत्कट आकृति वाला हो और आधार एवं प्रमाण से युक्त हो, उसे "वैणिक" कहते है। "चतुरस्र, जिसमें न दीर्घता का भान हो न उच्च-नीच का, ऐसे रेखाकन वाले चित्रों में "उन्मीलन या खुलाई" अथवा "उभार लाना" चतुर चित्रकार की निपुण तूलिका का ही काम है।

"विष्णुधर्मोत्तर" (४१।४) मे कहा गया है—

"दृढोपचितसर्वांगं वर्तुलं नचनोल्वणम्।
चित्रं तन्नागरं ज्ञेयं स्वल्पमाल्यविभूषणम्॥४१।४॥
चित्रमिश्रं समाख्यातं॥४१।५॥

अर्थात् जिसके सभी अंग दृढ़ एवं पुष्ट हो और जो न गोल हो न उत्कट, उसे "नागर" चित्र कहते है। स्वल्प मालाओं एवं आभूषणों से युक्त चित्र "मिश्र" कहलाता है। चित्र में जिस प्रकार सुन्दर शरीर पर स्वल्प आभूषण उसके रूप

को और भी निखार देता है, उसी प्रकार नवयौवन आने पर उभरे वक्षस्थल पर झूमते हुए कण्ठहार, श्रोणिबिंब को मंडित करती हुई काञ्ची–मेखला, हंस–ध्वनि युक्त नूपुर, स्तनांशुक, कंकण–वलय आदि उनकी शरीर शोभा मे अभिवृद्धि करते है। साथ ही अपांग–विलास, मदिरालस–नयनापांग आदि नवयौवन मे तो सहज आभूषण हैं ही। प्रेम का देवता काम इस नवयौवनशाली शरीर में अनेक प्रकार से सौंदर्य–वृद्धि करता है, यथा :—

"नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनंगो बहुधा स्थितोऽद्य ॥"—ऋतुसंहार, ६।१२।

अर्थात्–मदिरालस नयनों मे वह काम चंचल, गण्डस्थल मे पाण्डुवर्ण, वक्षस्थल में कठिन, कटि–प्रदेश में क्षीण, जघनस्थल मे स्थूल बनकर स्त्रियों के शरीर मे नानाभाव से स्थित है।

कालिदास इसीलिए नवयौवन को महत्त्व देते है। इसी अवस्था में चिन्मयी धारा का विकास होता है। वृक्षों और लताओं में जैसे फूल खिलते है, वैसे ही पुरुष और स्त्री में यौवन खिलता है। शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त के मुख से कवि ने यौवन को पुष्प के समान कहलाया है—

"अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ॥—१।२०।

रूप, वर्ण, कान्ति के संपूर्ण उद्भेद पुष्प में भी होते है। अंगराग, उपलेपन और आभरण शोभा मे निखार लाते है। किन्तु केवल रूप और यौवन अपने आप मे पर्याप्त नही है, प्रेम भी होना परमावश्यक है। जो रूप पापवृत्ति की ओर उन्मुख करता है वह रूप वस्तुत रूप नही है। कालिदास का यह सिद्धांत है कि प्रिय के प्रति सौभाग्य उत्पन्न करना ही रूप-सौंदर्य का वास्तविक फल है—

"प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता" —(कुमार० ५।१)।

राजानक रुय्यक ने दस शोभा-विधायक धर्मों से प्रथम को रूप और अंतिम को सौभाग्य कहा है। "सुभग" उस व्यक्ति को कहते है जिसके अन्दर स्वाभाविक रूप से ही वह रंजक गुण होता है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते है, जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर। ऐसे सुभग व्यक्ति के आन्तरिक वशीकरण धर्म को "सौभाग्य" कहते है। कालिदास ने "मेघदूत" (१।३१) मे **"सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती"** – मे इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ मे किया है। रूप बाह्य आकर्षण है और सौभाग्य की कामना आन्तरिक। सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ हैवेल ने "दि आइडियल्स आफ इंडियन आर्ट" (पृ० २४–२५) मे भी सपूर्ण भारतीय कला में इसी आन्तरिक सौंदर्य को माना है। वे कहते है—

"Beauty is inherent in spirit, not in matter,"

"Beauty belongs to the human mind; there is neither ugliness nor beauty in matter alone, and for an art–student to devote himself wholly to studying form and matter with the idea of extracting beauty therefrom, is as vain as cutting open a drum to see where the sound comes from."

सौन्दर्य की सफलता तभी है जब वह प्रियतम को मुग्ध कर सके। इसीलिए कालिदास "कुमारसम्भव" (५।१) मे कहते हैं – **"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥"** जब पार्वती के बाह्य रूप से

शिव आकृष्ट नहीं हुए, तब पार्वती अपने रूप की निन्दा करने लगी, —"व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।" —क्योंकि उनका बाह्य सौंदर्य प्रिय को मुग्ध न कर सका । अतः वे कठिन तपस्या के द्वारा आन्तरिक सौंदर्य से प्रिय को आकृष्ट कर लेती है । यह आन्तरिक वशीकरण धर्म ही रूप का फल है । कालिदास ने मंगल-निरपेक्ष यौन आकर्षण की निन्दा की है । जो सूक्ष्मदर्शी होता है उसे तपस्या के मानसिक उदात्त भाव में जो सौंदर्य दिखता है वह इससे कहीं अधिक आह्लाद जनक होता है ।

कुछ लोग अंगराग, आभरण, मंडन-द्रव्य जैसे मांगल्य वेश अपनी सीमाओं के प्रति सचेत रहने के कारण धारण करते हैं और कुछ लोग अशुभ से रक्षा के लिए । कुछ लोग समृद्धि प्रदर्शन के लिए उनका प्रयोग करते हैं । वहां काम और लोभ हेतु होते हैं ।—

"विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।" (कुमार० ५।७६) ।

शिव-पार्वती ये मंगल आभरण पहने अथवा न पहने, उनको इनकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि दोनों में ही आन्तरिक सौंदर्य व्याप्त है । वे विश्वमूर्ति हैं ।

कालिदास की सूक्ष्म दृष्टि केवल बाह्य सौंदर्य की ही उपासिका नहीं थी । उन्होंने अपने पात्रों में अपनी सौंदर्यप्रियता का जो मानदण्ड स्थिर किया है उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि वे क्या भीतर, क्या बाहर, क्या सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति सभी अवस्थाओं में अक्षुण्ण रहने वाले अगाध सौंदर्य के प्रेमी थे । निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में फैली हुई प्रकृति सुन्दरी की स्वर्गीय सुषमा को वे मानव सौंदर्य में प्रतिमूर्त देखते थे । वे केवल नारी के अंगों में ही सौंदर्य के द्रष्टा नहीं थे, संसार में सर्वत्र व्याप्त सौंदर्य को देखकर ही वे सन्तुष्ट होते थे । मानव-शरीर अथवा नारी के अंगों का सौंदर्य ही उनका प्रिय वर्ण्य विषय नहीं था, वन, उद्यान, पर्वत, नदी, सरोवर, गिरि-गह्वर, वन्य-जीव-जन्तु आदि की सुन्दरता को भी उन्होंने वहीं महत्व दिया है । नारी को वे केवल उपभोग की वस्तु नहीं मानते थे । उनका मत था कि वह गृहिणी, सचिव, सखी है और समस्त ललित कलाओं में निष्णात, गृह-स्वामिनी है । नारी के अंगों का सौंदर्य ही उसके लिए गौरव और सौंदर्य की वस्तु नहीं है, उसका हृदय एवं शील सदाचरण भी उसी के योग्य होना चाहिये । कालिदास के प्रेम की परिणति केवल उद्दाम काम-लालसा की क्षणिक तृप्ति मात्र नहीं थी, उनके पात्रों में अपने प्रेम की रक्षा के लिए समस्त जीवन का उत्सर्ग कर देने की निष्ठा भी विद्यमान है । कालिदास सौंदर्य को प्रेम में तथा प्रेम को जीवन-समर्पण में सफल मानते थे । उनके सौंदर्य और प्रेम का आदर्श बहुत उच्च था । वे प्रकृति को प्रेम का पूरक मानते थे । उनकी दृष्टि में मानवीय सौंदर्य का मापदण्ड प्राकृतिक सौंदर्य ही था । उनकी पार्वती, इन्दुमती, शकुन्तला, मालविका, उर्वशी आदि नायिकाओं के अंग-प्रत्यंगों की शोभा प्राकृतिक उपादानों से बिल्कुल मिलती-जुलती है ।

सौंदर्य को देखने के लिए वैसी ही सुन्दर अन्तर्दृष्टि होनी चाहिये, तभी कोई सुन्दर वस्तु के दर्शन, प्रकृति में सौंदर्य-दर्शन कर सकता है । जब चक्षुरिन्द्रिय के साथ आत्ममन संयोग होता है तभी किसी वस्तु का दर्शन होता है । कवि कालिदास ने यही अन्तर्दृष्टि दुष्यन्त को शकुन्तला का रूप दिखलाने के लिए दी है—

"अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्" । —अभि०शाकु०, २।१० ।

किन्तु राजा के विदूषक की इन्द्रिय परायण दृष्टि अत्यन्त स्थूल थी । विश्राम करते समय राजा के द्वारा, आश्रम की शोभा शकुन्तला के सौंदर्य का वर्णन सुनकर भी वह विदूषक खजूर और इमली की उपमा राजा को देता है—"विदूषक.

(विहस्य) यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्न-परिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।" – जैसे कोई मीठा खजूर का फल खाते–खाते ऊब जाय और इमली खाने के लिए टूट पड़े उसी प्रकार अन्त पुर की एक–से–एक बढ़कर सुन्दरी रानियो को विस्मृत कर आप इसके लिए प्रार्थी हो रहे है। तब राजा दुष्यन्त विदूषक से कहते है कि – **"माधव्य अनवाप्तचक्षु.फलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्"** । – माधव्य ! तुम्हे अपने नेत्रो के होने का फल नहीं मिला. क्योकि तुम अरसिक हो, इसीलिए तुम दर्शनीय वस्तु शकुन्तला के रूप को नही देख सके। "चक्षु:फल" मे रस की लौकिक स्थिति है और कला मे अलौकिक स्थिति।

"रघुवंश" मे अज और इन्दुमती जब विवाह के पश्चात् राजमार्ग से जा रहे थे तो उनके दर्शन के लिए नगर–वधुयें लोलुप हो गई। खिड़की तथा झरोखों में से वे रमणिया रघु–पुत्र कुमार अज के रूप को अपनी दृष्टि से पान करती हुई – सी देख रही थी। उनका ध्यान किसी अन्य ओर नहीं जा रहा था। जैसे उनकी इन्द्रियो की गति-विधि उनके नेत्रो में ही पूर्णरूप से प्रविष्ट हो गई हो।—

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ ७।१२ ॥

इसी प्रकार संस्कृत साहित्य में जहा-जहा सौंदर्य का सरस वर्णन है वहां-वहा **"नेत्रभि: पीयमाना, श्रोत्रभि: पीयमाना, पिबन्तीव च पश्यन्ती"** —इत्यादि वचनो के द्वारा सौंदर्य की अतिशयता को दिखलाया गया है। वस्तुत: नेत्र और श्रोत्र का विषय पान करना नहीं है, वरन् नेत्रो का विषय सुन्दर वस्तु का दर्शन है एवं श्रोत्र का सरस गान, वाणी आदि का श्रवण। सृष्टि मे प्रकट या लुप्त रूप से सौंदर्य को देखने की सरस दृष्टि जिसे प्राप्त होती है वही वास्तव में सुन्दर रूप को देख सकता है। यह दृष्टि जिस शिल्पी या कवि को प्राप्त होती है वही सुन्दर रूप का स्रष्टा होता है और विधाता का समकक्षी। वही रसिक छककर सौंदर्य-रस पान करते है।

भारतीय कला-चिंतन मे सौंदर्य और आनन्द सहगामी हैं। जहां सौंदर्य है, वहा आनन्द अवश्य रहता है। इसलिए सौंदर्य-भावन में स्वाभाविक एकाग्रता होती है। उसमें किसी प्रकार की मानसिक चंचलता अथवा विघ्न नही रहता है। सभवत इसी कारण पंचपगेश शास्त्री ने सौंदर्यानुभूति को अभिनवगुप्त के शब्दों में **"वीतविघ्ना प्रतीति:"** कहा है।[1] सौंदर्य की ऐसी प्रतीति मे सात प्रकार के विघ्न माने गये है—

(१) प्रतिपत्तावयोग्यता सभावना विरह. (अर्थ न समझ पाने की अयोग्यता)।

(२) स्वगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेश. (देश और काल की आत्मगत सीमाये)।

(३) परगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेश: (देश और काल की वस्तुगत सीमायें)।

(४) निज सुखादि विवशी भाव: (अपने सुखादि भावो से ही ग्रस्त)।

(५) प्रतीत्युपाय वेकल्य स्फुटत्वाभाव: (उचित अनुभूति पैदा करने के लिए आवश्यक उद्दीपन का अभाव)।

(६) अप्रधानता और

(७) संशययोग।

१—पंचपगेश शास्त्री, "फिलासफी आव एस्थेटिक प्लेजर," तथा के० सी० पाण्डेय ने भी इन पर "कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स" मे विचार किया है।

"वीतविघ्ना प्रतीति." को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "अन्तस्सत्ता की तदाकारपरिणति" के रूप मे स्वीकार किया है। सौन्दर्यानुभूति का विवेचन करते हुए उन्होने लिखा है कि कुछ रूप-रग की वस्तुयें ऐसी होती हैं जो हमारे मन मे आते ही थोडी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते है। हमारी अन्त सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। सौदर्यानुभूति के संबध मे कालिदास ने विकलता (उन्मुकता), पर्युत्सुकीभाव का प्रश्न उठाया है। सौदर्यशास्त्र के आधुनिक विचारक एफ० डब्ल्यु रकस्टन्ल भी इस सौदर्यानुभूति मे विकलता के सबध मे कहते है कि सौदर्यानुभूति की अवस्था बाह्य प्रभावो के कारण आत्मा की विकल दशा होती है। कालिदास का विश्वास है कि सौदर्यानुभूति में सर्वदा आलम्बन के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रहने पर आत्मा की विकलता का अश विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ प्रथम स्थिति को निम्न पक्तियो मे देखा जा सकता है —

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् ।
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ॥
अभिनवमधुलोलुपो...विस्मृतो स्येनां कथम् । (अभि० ५।१) ।

सुन्दर संगीत को सुनकर, उसमें निहित प्रेम के उलाहना भरे शब्दों को श्रवण करके राजा को, पूर्व काल में किये गये अपने प्रेम का स्मरण हो आता है। और तब वह कहता है — "रमणीय वस्तुओं को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर लोग सब प्रकार से सुखी होने पर भी जब उदास या व्याकुल हो जाते है तब यही समझना चाहिये कि उनके मन में पूर्व जन्म के प्रेमियो के विद्यमान सस्कार जाग उठे है।" — सभी हर समय स्मरण नहीं आते, परन्तु रमणीय वस्तु के साक्षात्कार से वे किसी पुरानी स्मृति को उभार देते हैं। और, दूसरी स्थिति "विक्रमोर्वशीयम्" में पुरूरवा की इस उक्ति मे है —

"त्वया बिना सोऽपि समुत्सुको भवेत्
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः ॥"

इतना ही नहीं, कालिदास की यह भी मान्यता है कि सौंदर्य वस्तु मे है, द्रष्टा के मन मे नहीं। अतः जो वस्तु सुन्दर है वह सदैव सुन्दर है और सौंदर्य सर्वदा मनोज्ञ, रमणीय तथा सुन्दर होता है[1], उसे किसी प्रसाधन की आवश्यकता नही होती। इसीलिए उन्हे रुक्ष वल्कल मे सिमटी कोमलागी पार्वती, सीता, शकुन्तला अच्छी लगती है और शैवाल मे लिपटी कमलिनी भी आकर्षक (कुमार०, ५।९) प्रतीत होती है। कालिदास यौवन-सौंदर्य के श्रृगारी कवि है किन्तु उनका श्रृगार (सौंदर्य, प्रसाधन एव प्रेम) तपोवन के निगूढ़ वर्चस्व मे पनपा है। "अभिज्ञान" शाकुन्तल मे तपस्या को सुन्दर कहा है। सुन्दर के साथ जब दु.ख मिल जाता है और तपस्या के साथ सुन्दर परिपक्व होता है तभी वह सौंदर्य निखरता है।

१—हिन्दी के कुछ रीतिकालीन कवियो की यह धारणा है कि सुन्दर वस्तु अपने अघट सौंदर्य के कारण सौदर्य-द्रष्टा के लिए हर क्षण नवीन होती जाती है। मुसकान की मिठाई खाने वाले मतिराम इस तथ्य को व्यक्त करते है —
"ज्यों ज्यो निहारिए नेरे ह्वे नैननि, त्यो त्यों खरी निकरे सी निकाई"।
मतिराम ही नही, बिसासी सुजान से छले गये घनानन्द की भी यही उक्ति हैं —
रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारिये।
त्यों इन आँखिनि बानि अनोखी अघानि कहू नहिं आन तिहारिये।

साहित्य मे सौंदर्य या सौकुमार्य तीन प्रकार का मिलता है – (१) उत्तम सौकुमार्य, (२) मध्यम सौकुमार्य और (३) अधम सौकुमार्य। उत्तम सुकुमारी, जो पुष्प के स्पर्श को भी नही सह सकती। मध्यम सौकुमार्य, जो कुछ कष्ट सह सके और अधम सौकुमार्य, जो अत्यधिक सहनशील हो। पार्वती उत्तम सुकुमारी नही है क्योकि वे तप करती है, मौजी आदि धारण करती है। वे शिव के प्रेम में एक निष्ठ थी। इसी एकनिष्ठा (sincerity) मे सौंदर्य छिपा हुआ है।

बुद्धघोष ने बहुत काल पूर्व यह उद्भावना की थी कि चित्त का सौंदर्य-संबधी सहज ज्ञान ही कला मे अभिव्यक्त होता है, बिम्ब, प्रतीक, रग इत्यादि उपादान उस सहज ज्ञान के व्यक्तीकरण में केवल माध्यम का काम करते है। बुद्धघोष के समान ही हेमचन्द्र, भट्टतोत आदि विद्वानो का मन्तव्य है कि सौदर्य-विधान या कला बाह्य न होकर आन्तरिक है और उसका नित्य सबध सहज ज्ञान की सृजनात्मक चेतना के साथ निर्भर है। देश और काल के आधार पर सौदर्य के मूल्य (value) बदलते रहते है।

भारतीय दृष्टि के अनुसार सौदर्य सर्वदा अन्तरग है। शकर अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जब हमारी बुद्धि निष्काम होगी तभी हमे सौदर्य बोध होगा, क्योकि उस समय हमारी दृष्टि वस्तुओ के नाम-रूप पर, बाहरी बनावट पर नहीं पडती, प्रत्युत् उस परब्रह्म पर पडती है जिसमे ये सब नाम-रूप कल्पित है और जो हमारा अपना स्वरूप है। सौदर्य के अंतरग होने के कारण सौदर्यानुभूति और सौंदर्याभिव्यक्ति का संबध सप्रज्ञात समाधि से है। सप्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत सवितर्क योग, सविचार योग और आनन्दयोग की अवस्था मे सौदर्यानुभूति होती है तथा संप्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था–अस्मिता योग–मे सौंदर्याभिव्यक्ति। इस प्रकार सौदर्य से उत्पन्न आनन्द निष्काम आनन्द है और सौंदर्य-बोध ऋतम्भरा प्रज्ञा से सबंधित है। भारतीय कला मे सौदर्य को प्राय रहस्यमय माना गया है।

कुछ विद्वानो ने परिमाण, मात्रा अथवा आकृति विस्तार के भेद से सौदर्य की पांच अवस्थाओं को स्वीकार किया है और उनमें उदात्त को सर्वोत्तम माना है। वे पांच अवस्थायें है – (१) रंजक (pretty) (२) लावण्यमय (Graceful), (३) सुन्दर (Beautiful), (४) कमाल, अति शोभायमान, अद्भुत् चमत्कार (excelent) और (५) उदात्त या भव्य (sublime)। सुन्दर और भव्य को गीता मे "श्रीमत्" और "ऊर्जित" शब्दो से व्यक्त किया गया है। यद्यपि ये दोनो एक दूसरे से भिन्न रूप हैं तथापि इनका समन्वय इनके अधिष्ठानभूत परमात्मा मे होता है। परमात्मा की विभूति-रूप कवि की प्रतिभा मे भी यह सामान्य रूप से विद्यमान रहता है। कला-शास्त्र मे श्रीमत् का उदाहरण वंशीधर कृष्ण है और ऊर्जित का ऊर्जस्वी मुद्रा से नृत्य करने वाले नटराज। उदात्त अतीन्द्रिय होता है इसलिए क्षणिक होता है। शेष अवस्थाये इन्द्रियग्राह्य है, इनमें रागात्मकता होती है। कलाकार अपनी असामान्य अभिव्यक्ति का कमाल या अद्भुत चमत्कार दिखाकर उदात्त का सृजन कर सकता है। उदात्त सौदर्य का चरम रूप है।

आनन्दकुमार स्वामी ने सौदर्यानुभूति या काव्य मे रसानुभूति को प्रज्ञानघन आनन्दमयी अवस्था के रूप मे स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त की मान्यता है कि सौदर्यानन्द को ब्रह्मानन्द नही कहा जा सकता, क्योकि सौदर्यानन्द ब्रह्मानन्द की तुलना मे निम्न स्थिति का होता है। यदि सौंदर्यानन्द ब्रह्मानन्द की कोटि का हो जाय तो कलाकार प्रज्ञा की स्थिरता के कारण कला–सृजन में असमर्थ हो जायगा। निष्कर्ष यह है कि सौदर्यानुभूति जब सृजन की ओर सक्रिय होती है तब वह कलानुभूति बन जाती है और यह अनुभूति अनिर्वचनीय रस से होती है।

उपसंहार

चित्रकला आदिकाल से आज तक निरन्तर मानव को आकर्षित करती रही है और संस्कृत साहित्य विश्व के जनमानस को चित्रकला से परिचित कराया गया है। भारतीय चित्रकला के मूलस्रोत इन्हीं सस्कृत साहित्यो मे उपलब्ध होते है। इनके अध्ययन, विवेचन से विभिन्न कालो में भारतीय कला, धर्म, समाज और सस्कृति का ज्ञान होता है। भारतीय इतिहास एवं संस्कृत साहित्यों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि जब-जब देश में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक उथल-पुथल हुए तब-तब साहित्य एवं कला मे भी परिवर्तन आया। फलतः विभिन्न शासकों के प्रश्रय मे भिन्न-भिन्न कला-शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। इन परिवर्तित सामाजिक रूपो को शब्दो मे साहित्यकार ने तथा रंग एवं तूलिका द्वारा चित्रकार ने उन्हें रूप प्रदान करके प्रतिबिम्बित किया है। इसीलिए साहित्य एवं चित्रकला को समाज का दर्पण कहा गया है।

वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल के संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन मे चित्रकला के सूक्ष्म सिद्धांत अवांतर स्रोतो से प्राप्त होते हैं। उस युग के कोई भी शिल्पशास्त्रीय ग्रंथ उपलब्ध नही हैं। फिर भी उनमें प्रकारांतर से चित्रकला के संकेत हैं। शिल्पशास्त्रीय ग्रंथों के अभाव मे तत्कालीन चित्रकला पर पूर्ण प्रकाश डालना संभव नहीं। इस संदर्भ में प्राप्त कुछ साहित्यिक प्रमाण सूचित करते हैं कि उस काल मे चित्रमूर्ति निर्माण करना अस्वर्ग्य माना जाता था। वैदिक ऋषि कला को बाह्य रूप एवं उपकरणों की ओर विशेष ध्यान न देकर, उन प्रतीकों एव लक्षणों की कल्पना करते रहे जिनका गूढ अर्थ होता था और उनका आश्रय लेकर उत्तर काल की कला प्रस्फुटित हुई। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथो मे चित्रकला के प्रत्येक आयामो पर विशद विवरण प्राप्त होता है।

चित्र शब्द का प्रयोग चित्रकला के संदर्भ में वैदिक काल के बहुत बाद प्रारंभ हुआ। चित्रकला को चित्रकर्म एवं आलेख्य भी कहा गया है। वेदों एव उपनिषदों मे "कला" शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त किया गया है। आज भी कला शब्द की व्याख्या अनेक विद्वानो ने अनेक प्रकार से की है। अतएव उसकी कोई एक परिभाषा नही निर्धारित हो सकी है। वैदिक काल मे सामान्यतः 'शिल्प' शब्द कला के सदर्भ में कौशल, उद्योगधधे, स्थापत्य, अलकरणादि अर्थो मे किया गया है। उस समय भारतीय समाज मे कला और शिल्प (Art & Craft) में कठोर विभेद नही था जैसा आजकल ललित कला एव स्थूल शिल्प या उद्योग-धंधों में भेद किया जा रहा है तथा बगाल मे तो आज भी इसके लिए चारुशिल्प और कारुशिल्प शब्द प्रचलित है। गुप्तयुग मे यह भेद लोगो की दृष्टि मे आ गया था। पाणिनि-अष्टाध्यायी एवं कौटिल्य-अर्थशास्त्र मे शिल्प व्यापक शब्द था जो चारुशिल्प और कारुशिल्प दोनो भेदो के लिए प्रयुक्त होता था। वहां संगीतकार को भी शिल्पी कहा गया है। पालि साहित्य मे भी यही स्थिति थी। प्रत्येक शिल्पी का सवर्धन विशेष श्रेणियों द्वारा किया जाता था। ये श्रेणीगत समुदाय ही कालातर में जाति–रूप में परिणत हो गये। शनैः शनैः ललित कलाओं का पद ऊंचा उठता गया। गुप्तकाल मे सर्वप्रथम कालिदास ने रघुवंश में ललित कला शब्द (ललितेकलाविधौ) का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्तकाल तक समाज में ललितकला एवं स्थूल शिल्प या उपयोगी कला मे भेद ज्ञात हो चुका था। कामसूत्र, शुक्रनीति, ललितविस्तर, प्रबन्ध कोशादि ग्रंथो में कलाओं की विभिन्न तालिका दी है जिसमें कला और शिल्प दोनो सम्मिलित है। उसमे ललितकला, उपयोगी कला, क्रीड़ा, दैनिक व्यवहार के क्रिया-कलाप आदि जो भी किये जाते थे उन सभी को सुन्दर ढंग से करने को कला कहा है। उसमे ललित कला और उपयोगी कला का विभाजन नहीं किया गया है। ललित कला के लिए आजकल "फाइन

आर्ट'' तथा शिल्पकला के लिए ''क्राफ्ट'' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। यद्यपि अब ललित कला का भी विभेद ''दृश्यकला'' एव ''श्रव्यकला'' मे किया गया है। काव्य, नृत्य, नाट्यादि श्रव्यकलायें 'परफार्मिंग आर्ट' है और चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि कलायें 'दृश्यकलाये' 'विज़ुअल आर्ट' है। कुम्भकारी एवं वस्त्रादि हस्तशिल्प को भी आजकल दृश्यकलाओ के अतर्गत माना जाने लगा है।

किसी चित्र को देखते समय चार बाते ध्यान जाती है— चित्र, चित्रकार, दर्शक और दर्शक के हृदय पर उस चित्र का प्रभाव। इन्ही बातो को ध्यान मे रखकर कोई चित्र बनाया जाता है। चित्रकला का वस्तुत सर्वप्रथम उल्लेख वाल्मीकि रामायण मे प्राप्त होता है। उसमें भित्ति के अतिरिक्त वस्त्र, काष्ठ, धातु पर भी चित्रकारी किये जाने का उल्लेख है। गुप्त युग मे चर्म पर भी चित्रकारी करने का उल्लेख चित्रसूत्र मे प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त महाभारत, भास के नाटको, कालिदास आदि के ग्रंथो मे भी चित्रकला के बहुत महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते है।

सस्कृत साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि चित्रकला की उत्पत्ति का मूलस्रोत प्रकृति है। मानव प्रकृति के मध्य रहता है। प्राकृतिक सौंदर्य मानव हृदय एव मन को प्रभावित करके सुकोमल भावो की अवधारणा कराते है जिससे विशेषत सहृदय कवि, सगीतकार, चित्रकार आदि शब्दो, स्वरो, रग-तूलिकाओ द्वारा सरस सुन्दर रूप प्रदान करते है। वही उनकी कला कहलाती है। वैदिक ग्रथो से यह साक्ष्य मिलता है कि ऋषि-मुनियो ने प्रकृति के मध्य साधना करते-करते नवीन ज्ञान ज्योति प्राप्त की थी। चित्रकारो ने भी प्रकृति से ही सुन्दरतम रूप-रगो को ग्रहण किया है। क्षण-क्षण नवीन रूप धारण करने वाली प्रकृति का सर्वोत्तम रूप साधक को आकाश मे सचरण करने वाली चिरयौवना हिरण्यमयी सुरूपा उषा मे परिलक्षित हुआ है, जिसका एक नाम ''चित्रा'' (सुदर या विचित्र वर्ण वाली) भी है और जिससे सहृदय कवि, चित्रकार आदि सदैव प्रेरणा ग्रहण करते हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र में भी यही स्वीकारोक्ति परिलक्षित होती है। उसमें चित्रकला को प्रारभ करने का श्रेय स्वय नारायण को है जिन्होने पृथ्वी पर लावण्यमयी नारी उर्वशी अप्सरा का सर्वप्रथम चित्राकन किया। पृथ्वी पर सरस आम्रशाखा (टहनी) रूपी लेखनी से रूपसी नारी उर्वशी की चित्राकन उन्होंने विश्व के मंगल की कामना से किया। तदनन्तर उन्होंने शुभ लक्षणो से युक्त उस चित्रकला को, कर्म से कभी च्युत न होने वाले विश्वकर्मा को सौंप दिया। आज भी पृथ्वी (उर्वी) को जननी के रूप में उर्वरा शक्ति से युक्त सबका कल्याण करने वाली माना जाता है।

चित्रसूत्र मे नृत्त (नृत्य, नाट्य) से चित्रकला की उत्पत्ति भी मानी गई है और इसमें त्रैलोक्य की अनुकृति करने का निर्देश है। उसमे कहा है कि चित्र, नृत्य, सगीत और साहित्य ये सभी कलायें क्रमश. अन्योन्याश्रित है एव ईश्वर को आत्मसमर्पण के उद्देश्य से की जाती है। भारतीय चित्रकार योगी के सदृश अपनी कला में आत्म-विस्मृत होकर, प्रकृति के सत्य रूप को, कल्याणकारी एव सुदर रूप (सत्य, शिव, सुदर) की रचना चित्र मे करता है और अतत वह ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करता है। भक्तिभाव, पवित्रता से बनाया गया ''ध्यानपट'' या चित्रपट धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उद्देश्य से बनाया जाता है और उससे सबका कल्याण होता है। अत चित्रकला का मुख्य उद्देश्य सबका मगल करना है। इस प्रकार समस्त सस्कृत साहित्य एव भारतीय चित्रकला के विकास का मूल हेतु भद्रात्मक है और उसका प्रेरणा स्रोत धार्मिक है।

वैदिक साहित्य मे ब्रह्म द्वारा रचित सपूर्ण सृष्टि को कला कहा गया है। विश्व के सभी विविध रूप किसी मूल रूप के अनुसार उत्पन्न हुए है। वही मूलभूत प्रतिरूप अनेक रूप धारण करता है। वस्तुत: चित्रकार या शिल्पी रचना की आकांक्षा से जब ध्यान करता है तब उसके समक्ष सर्वरूप समाविष्ट रहते हैं। उसका प्रज्ञान या मन जब उनमें से किसी एक रूप को पकड़ लेता है तब वही रूप स्फुट होकर चित्र मे अभिव्यक्त हो जाता है, शेष रूप हट
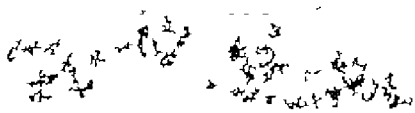
जाते है। उस रूप के प्रतिरूप की जितनी सफल अभिव्यक्ति होगी, उतनी ही श्रेष्ठ चित्र रचना वह मानी जायेगी। प्रतिरूप की सबसे अधिक अभिव्यक्ति प्रतीको द्वारा की जा सकती है। प्रतीक ही अमूर्त का सत्य रूप है। प्राचीन काल से चले आ रहे समाज व्यापी यही दार्शनिक विचार आज भी अच्छे चित्रों मे देखने को मिलते है।

संस्कृत साहित्य में वर्णित चित्रकला इसी प्रकार के आध्यात्मिक विचारो को लेकर निरंतर आगे बढ़ती गई और उसमें नवीन प्रतिमान जुड़ते गये। शनै शनै. कला को ब्रह्मानन्दसहोदर माना जाने लगा। अतएव रसबोध से छदात्मकता आने से कला मे प्राण–संचार, रमणीय रूप–कल्पना द्वारा सौदर्यबोध, छायातप द्वारा चित्रकला की वर्तनाविधि, कला के लक्षणों एवं चिन्हों की अर्थवत्ता का विकास, यज्ञ–वेदियो की रेखाकृतियो से तथा तंत्र–सिद्धि के यंत्रों द्वारा रेखाकृतियों का विकास, क्रमश. मानवादि जड़चेतन का अकन भी किया जाने लगा। विभिन्न युगो में मानवो के परिवर्तनशील सौन्दर्य प्रतिमानों को भी भारतीय चित्रकारो ने सूक्ष्मता से अनुशीलन करके आदर्श रूप मे प्रस्तुत किया है। देश एवं नगर के विकास के साथ कलाओं का भी विकास हुआ जो आगे चलकर कालगत विभिन्न स्थानीय शैलियो के रूप में विकसित हुई। चित्रकला के देशव्यापी प्रसार के साथ ही शिल्पशास्त्रो की आवश्यकता का अनुभव भी तत्कालीन शासकों ने किया, जिसके फलस्वरूप गुप्तकाल मे विष्णुधर्मोत्तरपुराण की अत्यत सारगर्भित रचना हुई। तत्पश्चात् बारहवी शती के लगभग से शिल्पशास्त्रों की बाढ़–सी आ गई और मानसोल्लास, समरागणसूत्रधार, शिल्परत्न, शिवतत्व रत्नाकर, शुक्रनीति आदि महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई जिसके आधार को आदर्श मानकर तत्कालीन कलाकारो ने चित्ररचना की। इनके अतिरिक्त लौकिक सस्कृत ग्रथो मे भी चित्रकला की अनेक बहुमूल्य सामग्रियां प्राप्त होती हैं जिनसे चित्रकला के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। ऐसे ग्रंथो मे प्रमुख रामायण, महाभारत, पुराण, अष्टाध्यायी, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा भास, कालिदास, बाणभट्ट भवभूति, धनपाल आदि के ग्रंथ प्रमुख हैं। इनके अध्ययन मे आध्यात्मिक विचारो के अतिरिक्त चित्रकला के कुछ अन्य प्रयोजन भी ज्ञात होते हैं जैसे – देव–पूजा, ऐतिहासिक घटनाओं का संरक्षण, जीवन की घटनाओ का संरक्षण, मृत व्यक्तियो की आकृति का सरक्षण, श्रृंगारिक रसो का उद्दीपन, प्रेमाभिव्यक्ति, पति–पत्नी का चुनाव एव विवाह, मनोरंजन, जीविका का साधन, सत्कर्म की ओर अग्रसर करना, गृह–अलकरणादि। इसके अतिरिक्त अभिचार या तन्त्रोक्त विशेष अनुष्ठान, जैसे– मारण, मोहन, उच्चाटन, टोना-टोटका आदि के लिए भी चित्रकला का उपयोग किया जाता था।

प्राचीनकाल मे ही चित्रकला के लिए चित्रपट और तूलिका नागरिकों की जीवन-संगिनी सदृश थी। भाव-तरंग उठते ही वे चित्रपट पर चित्रांकन प्रारंभ कर देते थे। लोगों में चित्रकला का ज्ञान होना आवश्यक गुण माना जाता था इसीलिए उसका व्यापक प्रचार भी था। चित्रशाला के लिए अनेक शब्द प्रचलित थे, जैसे–चित्रवीथी, चित्रवत-सद्म, चित्रशालिका, (चित्रालय, चित्रागार, चित्रगृह, चित्रसारी), अभिलिखित वीथिका. आलेख्यगृह। ये चित्रशालायें कई स्थानों मे होती थी – देवालयों, राज्यवेश्मो. नाट्यशालाओ, महाभवनों एव सामान्य गृहो में। यहाँ प्राय. भित्तिचित्र, पटचित्र और फलकचित्र होते थे। सार्वजनिक स्थलो यथा देवालयो एवं राजसभाओं मे सभी नौ रसो के चित्रों का अंकन किया जाता था, किंतु महलों, गृहों मे उत्कट रसो के दृश्य जैसे—युद्ध. श्मशान, मृत्यु आदि का अकन करने का निषेध किया गया है क्योकि वे अमगलकारी है। गृहो मे, राजप्रासादों एवं महाभवनों में जहां चित्रशालायें होती थीं, वह पति-पत्नी के आवास का विशेष स्थान समझा जाता था। महाभवनो के अत पुर में, धवलगृह के ऊपरी तल्ले में वासभवन और शयनकक्ष मे, स्नानागार तथा धारागृह (फौव्वारा युक्त स्नानागार, यन्त्रचित्रशाला-गृह) मे एवं राजप्रासादों की वाटिका मे अतिथियो के ठहराये जाने वाले स्थान मे चित्रशालायें होती थी। कुछ चित्रशालाओ मे इतने सजीव और तथ्यात्मक चित्र भी बनाये जाते थे कि अनेक बार उसे देखकर सत्य होने का भ्रम

हो जाता था। भविष्यद्रष्टा ऋषि मनि[illegible] भविष्य की घटनाओं का [illegible] कर देते थी जो सत्य घटित होती थी।

वास्तु पुरुष के शमन के लिए चित्रशाला बनायी जाती थी। [illegible] बनाने का प्रयोजन सौंदर्य वृद्धि, मनोरंजन एवं मंगलकामना भी था। गुप्तयुग के [illegible] में [illegible] बनाने की व्यापक प्रथा थी, उन्हें पत्रभंग, पत्रावली पत्रलता, पत्रांगुलि आदि कहा जाता था। [illegible] में कल्पलता या कल्पवल्ली कहा जाने लगा। पत्रलताओं का अंकन अशुभ और अनिष्ट के निवारण के लिए तथा रक्षा के लिए किया जाता था। भित्ति के अतिरिक्त मानव एवं पशुओं के शरीर पर शोभा के लिए भी [illegible] अलंकरण बनाया जाता था, जिसकी प्रथा आज तक विद्यमान है। यह अलंकरण वासभवन की भित्ति पर प्रायः [illegible], हाथी आदि पशुओं के शरीर पर खनिज रंगों से मानव शरीर पर चंदन, केसर, कुंकुम, गोरोचना से किया जाता था। [illegible] आदि लोक कलाओं में भी यह अलंकरण बनाया जाता है।

वासभवन में कामदेव पट रखे जाते थे। [illegible] प्रकार लक्ष्मीपट और [illegible] पट भी घरों में मंगल की भावना से रखे एवं पूजे जाते थे। वासभवन के द्वार के दोनों ओर सूर्य, चन्द्र, [illegible], [illegible] शंख-पद्म आदि शुभ प्रतीकों का अंकन किया जाता था, [illegible] अंकन आज भी लोक कलाओं में है। मंदिरों के द्वार के दोनों ओर के स्तंभों पर अलंकरणों में मिथुन मूर्तियाँ रक्षार्थ और मंगल के लिए बनायी जाती थीं। वासभवन की चित्रशाला-भित्तियों पर विश्व के समग्र विविध विषयों के चित्र [illegible] बनाये जाते थे, जिन्हें बाणभट्ट ने "[illegible]विश्वरूपा-चित्रभित्ति" कहा है। इसका प्रत्यक्ष दर्शन अजंता के भित्तिचित्रों में होता है। [illegible] की भांति उस समय भी भारत का व्यापार-सूत्र एवं विद्या के संबंध देश-विदेशों में दूर-दूर फैले थे। इसलिए तत्कालीन नागरिक अनेक देशों की भाषायें एवं लिपियां (सर्वलिपिज्ञान) सीखते थे और देश-देशान्तर में भ्रमण करते थे। [illegible] अजंता के चित्रों में भी मध्य एशियाई, चीनी, ईरानी, यूनानी, अबीसीनियन आदि लोगों के चित्रण देखने को मिलते हैं, उनके रूप-रंग, वेश-भूषा इत्यादि का भी पता लगता है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य के [illegible] एवं इन ऐतिहासिक चित्रों के तुलनात्मक-अध्ययन द्वारा उसकी पुष्टि होती है और तत्कालीन समाज, धर्म, दर्शन, राजनैतिक स्थिति आदि का ज्ञान होता है।

गुप्तकाल में हंस-चिह्नित-दुकूल पहनने की भी व्यापक प्रथा थी। उसका चित्रण अजंता में मिलता है और कालिदास, बाणभट्ट के तथा पालि ग्रन्थों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। [illegible] में छपाई किये हंस-चिह्नित अलंकृत दुकूल तथा धोती विशिष्ट अवसरों पर पहनना शुभ माना जाता था।

संस्कृत साहित्य में ऐसे उल्लेखों का बाहुल्य है जिनमें चित्रकर्म में निपुण सुसंस्कृत रुचि के व्यक्ति या नायक-नायिका मन बहलाने के लिए एक दूसरे का चित्र देखते और अंकित करते थे तथा कभी-कभी उस पर तत्संबंधी श्लोक भी लिख देते थे। ये चित्र विशेषतः प्रतिकृति, सादृश्यचित्र, प्रतिबिम्बचित्र, प्रतिच्छन्दकचित्र, विद्धचित्र, छवि-चित्र, रूपालेख्य आदि कहलाते थे और उसके लिए फारसी में शबीहचित्र एवं अंग्रेजी में "पोर्ट्रेट" शब्द प्रचलित है। ये चित्र संयोग-वियोग दोनों अवस्थाओं में बनाये जाते थे। विरह में दो प्रकार के चित्रोल्लेख साहित्य में मिलते हैं—प्रत्यक्ष दर्शन के पूर्व काल्पनिक चित्र और प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् स्मृति-चित्र। विरहावस्था में स्मृति-चित्र बनाने का वर्णन कालिदास ने मेघदूत, अभिज्ञानशाकुंतल आदि ग्रन्थों में अति-सुन्दर किया है और इसी परंपरा में आगे के कवियों ने भी विरह-वर्णन किया है। विरह में प्रिय का प्रतिकृति चित्र देखकर अश्रु, स्वेद, रोमांचादि विभावों का उत्पन्न होना; प्रेम, क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों का उदय होना, चित्रलिखित के समान देखना, पिबन्तीव च पश्यन्ति उक्ति के

समान चित्रदर्शन से अतिशय प्रेमाभिव्यक्ति करना, हृदय रुपी पट्टिका पर संकल्परूपी तूलिका से नायक-नायिका के चित्राकन करने का वर्णन, चित्रपट देखकर पूर्वजन्म के सस्कारो की स्मृति का वर्णन कवियो मे रूढ हो गया था। प्राचीनकाल मे ज्येष्ठ व्यक्तियों की मृत्यु के उपरांत, उन्हे देवतुल्य मानकर, उन पूर्वजो का चित्र या मूर्ति बनाकर देवकुलिक मे पूजा जाता था, यह परपरा आज भी विद्यमान है।

दोहद वर्णन भी कवियो में अतिप्रचलित था, जिसे वृक्षो का आलिंगन किये नारियो द्वारा अकित किया जाता है। इसका वर्णन कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति, श्रीहर्ष, राजशेखर आदि कवियो ने किया है और शुग, कुषाण, गुप्तकालीन मूर्तियो मे "शालभजिका" के नाम से विद्वानो ने अभिहित किया है। अठारहवीं शती के पहाडी चित्रो मे भी यह बहुत प्रचलित था जिसे "कदलीपरिरंभ" कहा जाता है।

सस्कृत साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वाल्मीकि, कालिदास, बाणभट्टादि सातवी शती तक के कवियों ने चित्रकला का वर्णन स्वानुभूति मे किया है। विरह आदि वर्णन उनके स्वाभाविक, नैसर्गिक प्रतीत होते है। ये वर्णन ही आगे के कवियो की रचनाओं मे परंपरा बनकर रूढ हो गये है। विरह-दुःख मे स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, रोमांचादि सात्विक भावो के उत्पन्न होने से चित्राकन करने मे बहुत विलब से समर्थ होने का वर्णन अनेक कवियो ने किया है। ऐसी ही रूढ़िवादिता अनेक वर्णनों में तथा सातवी शती के अजता-चित्रो मे भी है जो स्पष्टतः ह्रास के लक्षण हैं। अजंता के भित्तिचित्र प्रायः पहली-दूसरी शती से सातवी शती तक बराबर निर्मित किये गये जिनमे आध्र-सातवाहन, इक्ष्वाकु तथा गुप्त-वाकाटक सम्राटों का योगदान रहा। इनमे सर्वाधिक चित्र गुप्तकाल में बनाये गये। उस समय साहित्य, चित्रकला तथा अन्य सभी कलायें चरमोत्कर्ष पर थी। भित्तिचित्रो मे भारतीय शैली मुख्यत सकेत प्रधान हो गई थी, जो जीवन के अनेकानेक पहलुओ का स्पर्श करती हुई समग्रता का परिचय देती है। इसमे सपूर्ण भारतीय समाज का सौंदर्यबोध प्रतिबिम्बित है। आलकारिक एवं परंपरागत होते हुए भी इसका लक्ष्य सूक्ष्म मानव-सवेदनाओ को प्रकट करना था। इनमें श्रृंगारादि नौ रसो की, उनको भाव-विभावो को नेत्र, भ्रूभग, हस्त-पाद मुद्राओं द्वारा चित्रकारो ने अतिकुशलता से अभिव्यक्त किया है। इन चित्रो तथा तत्कालीन संस्कृत साहित्यो एव समाज मे अत्यधिक साम्य परिलक्षित होता है। गुप्तकाल के पतन के साथ ही चित्रकला एवं साहित्य मे भी पतन आना प्रारभ हो गया। गुप्तकाल में बौद्ध जातक कथाओ पर भी अजंता मे चित्रांकन किये गये।

चित्रकला की तकनीक के सबंध में भी सस्कृत साहित्य मे विशद् विवरण प्राप्त होते है। चित्र कई माध्यमो पर बनाये जाते थे जैसे – भित्तिचित्र, पटचित्र, फलकचित्र (काष्ठफलक, हाथीदात फलक)। प्राचीन काल के भित्तिचित्र अनेक स्थानों पर अभी भी शेष हैं जैसे – अजता, बाघ, सित्तनवासल, सिगरिया आदि के चित्र। चित्रसूत्र आदि शिल्पशास्त्रो मे इन भित्तिचित्रों के निर्माण करने की भूमिबधन विधिया भी बतलाई गई है जिससे चित्र शत-सहस्र वर्षो तक सुरक्षित रहते है। इसके लिए भित्ति तैयार करने की कई विधिया बतलाई है, जैसे गोमयमृत्तिका और इष्टकाचूर्ण आदि से निर्मित भित्ति को चित्रोपयोगी बनाकर उस पर चित्राकन करने का विधान है। इसमे स्थायित्व लाने के लिए वज्रलेप का मिश्रण किया जाता था। एव बृहत्सहिता, मानसोल्लास मे वज्रलेप बनाने की कई विधिया लिखी है। ये विधियां अति श्रमसाध्य थी। इनसे कुछ सरल विधियां भी बारहवी शती के लगभग अधिक प्रचलित हुई जिसमें चूने के मिश्रण का प्रयोग किया गया इसे सुधाबन्धन, सुधाकर्म या सुधालेप कहा गया है और आधुनिक काल मे यह स्टको के समतुल्य है। यद्यपि यह विधि बारहवी शती से पूर्व भी प्रचलित थी जैसे – सित्तनवासल गुफा मे। राजस्थान, ग्वालियर, झासी, काशी आदि के महलों में भी बाद में सुधाकर्म युक्त चित्र बनाये गये। शिल्पशास्त्रो एव् विनयपिटक (३।३६) मे इन्हे "लेप्यचित्र" भी कहा गया है। यह चूने से लिपि-पुती भित्ति पर बने चित्रो वे

लिए प्रयुक्त किया गया है। प्राचीन पटचित्र एवं फलक चित्र अधिकांश नष्ट हो गये हैं। धीरे-धीरे भित्तिचित्रों की अपेक्षा सरल माध्यम वस्त्र एवं काष्ठफलकों पर चित्रांकन करना विशेष प्रचलित हो गया। सामान्य सुसंस्कृत व्यक्ति इन्हीं पट और फलकों पर चित्रांकन करते थे। कपड़े पर बनाये हुए लंबे चित्रपटों को कुंडलित करके सुरक्षार्थ रेशमी खोल में रखा जाता था।

चित्रांकन के लिए संस्कृत साहित्य में वर्तिका, तूलिका, लेखनी, कूर्चिका, कूर्चक आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसके विविध प्रकार एवं विविध प्रयोग-विधि भी वर्णित है। प्रायः खनिज रंगों का प्रयोग चित्रों में किया जाता था, जिसे धातुराग तथा मनःशिलाराग कहा जाता था। इन खनिज रंगों में स्थायित्व लाने के लिए वज्रलेप मिलाया जाता था। ये खनिज शुद्धवर्ण पांच प्रकार के थे — नील, पीत, लोहित, शुक्ल और कृष्ण। इनका मिश्रण करके अनेक रंगतें बनाई जाती थीं। इन मिश्रित वर्णों का सर्वप्रथम वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है और इनकी पराकाष्ठा बाणभट्ट के ग्रंथों में देखने को मिलती है। चित्र के रेखांकन के लिए पहली प्रक्रिया आजकल टिपाई कहलाती है जिसे प्राचीन काल में "आकार-जनिकारेखा" कहा जाता था। यह प्रायः गेरू और काले रंग (चारकोल) से की जाती थी। तत्पश्चात् तूलिका से रेखांकित चित्र में रंग भरा जाता था और वर्तना-विधि द्वारा उभार दिखाकर, उन्मीलन (खुलाई) किया जाता था।

चित्रांकन की इस प्रक्रिया में जिन उपकरणों एवं विधि-विधानों का प्रयोग किया जाता था उनका विवरण संस्कृत में रचित शिल्पशास्त्रों में मिलता है। भाषा की दुरूहता तथा चित्रकला के प्रायोगिक विधि-विधानों के ज्ञान के अभाव में उनको समझने में अनेक विद्वानों ने त्रुटियां की हैं अथवा उन्हें भ्रांतियां उत्पन्न हो गई हैं। इसका एक कारण और भी है कि प्रायः शिल्पकार तकनीकी बारीकियों एवं गुर को शास्त्रकारों को स्पष्ट नहीं बतलाते थे, अतएव शास्त्रकारों ने उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया है जिससे आधुनिक विद्वानों को उसे समझने में पग-पग पर कठिनाइयां आयी हैं। ऐसे कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण एवं पुनर्मूल्यांकन करने का यथासम्भव इस ग्रन्थ में प्रयास किया गया है। चित्रांकन करने की अनेक विधियां होने के कारण ही चित्रसूत्रकार ने अंत में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यहां चित्र-कला का सामान्य परिचय दिया गया है। इस संबंध में विस्तारपूर्वक कहना तो सैकड़ों वर्षों में भी संभव नहीं है।

चित्र-निर्माण करने के लिए विभिन्न प्रायोगिक विधियों एवं सैद्धांतिक पहलुओं पर भी इसमें विचार किया गया है जिसे भारतीय चित्रकला के षडंग कहा जाता है, वे क्रमशः रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य और वर्णिकाभंग हैं। इनके यथोचित समायोग से चित्र रमणीय बनता है। ये भारतीय चित्रकला के मेरुदण्ड हैं। इनका उल्लेख स्पष्टतः ग्यारहवीं-बारहवीं शती में यशोधर पंडित ने कामसूत्र की टीका में चौंसठ कलाओं के अंतर्गत आलेख्य के प्रसंग में किया है, और उन्होंने लिखा है कि समाज में अतिप्रचलित इन चित्र के षडंगों को उन्होंने प्राचीन कवियों के ग्रन्थों से संकलित किया है। वैदिक साहित्य में इन षडंगों का विवरण नहीं प्राप्त होता, किंतु नाट्यशास्त्र में नाट्या-भिनय के लिए रसानुरूप विभिन्न पात्रों के रूप-रंग (मुखराग), भाव, वर्णादि पर गंभीर विचार किया गया है। भास के दूतवाक्यं नाटक में **"द्रौपदीकेशांबराकर्षण चित्रपट"** को देखकर चित्र के गुणों का विश्लेषण करते हुए दुर्योधन के यह हृदयोद्गार होते हैं — **"अहो अस्य वर्णाढ्यता, अहो भावोपपन्नता, अहो युक्तलेखता"** -जिसमें इसी षडंग के अंगों का वर्णन है। वस्तुतः रेखा, वर्ण और भाव ये ही तीनों अच्छे चित्र के प्राण होते हैं। उस चित्रपट को पारखी दृष्टि से देखकर कृष्ण संक्षेप में उसे 'दर्शनीय' कहकर उसके गुणों की प्रशंसा करते हैं। यह उल्लेख इस बात का साक्षी है कि दूसरी-तीसरी शती के लगभग तक समाज में चित्रकला के षडंगों का व्यापक प्रचार हो चुका था और लोग अच्छे-बुरे चित्रों की परख करने लगे थे। गुप्तकाल तक इनका प्रचार और भी बढ़ गया, जिसका दिग्दर्शन कालि-

रासादि की रचनाओं में चित्र के प्रसंग में उल्लेख प्राप्त होता है। इसी काल में रचित विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र में भी षडंगों का विस्तृत वर्णन है जो चित्रकार की उत्कृष्ट चित्र रचना के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करते हैं। चित्र के इन्हीं छहों अंगों को यशोधर ने कामसूत्र की टीका में लिपिबद्ध किया है। इन षडंगों का विश्लेषण बीसवीं शती के कला-आलोचकों में अग्रणी अवनीन्द्रनाथ टैगोर, कुमारस्वामी आदि ने किया है।

चित्रकार स्वनिर्मित चित्रों को लोगों के सम्मुख प्रदर्शित करते थे जिससे दर्शक उनके चित्रों की आलोचना करें। इसका सर्वोत्तम उदाहरण कुन्दमाला, अभिज्ञान शाकुन्तल, तिलकमंजरी आदि ग्रन्थों में मिलता है। कला विचक्षण व्यक्ति चित्र के रूपाकार, [illegible], वर्णसंयोजन, भावाभिव्यक्ति, रसबोध, सौंदर्यबोध आदि के आधार पर उसके गुण-दोषों का वर्णन करते थे। अजंता में गुप्तकाल के अंतिम काल में निर्मित चित्रों में चित्रदोष दिखलाई देते हैं। चित्रसूत्र में भी चित्र के गुण-दोषों का वर्णन है जिसमें कलाकार दोषों को दूरकर चित्र में गुणों का समावेश करे। दोषयुक्त प्रमाणहीन चित्रों का निर्माण करने में उसका जो दुष्परिणाम होता है वह भी बतलाया गया है।

चित्र का सर्वोत्तम गुण प्राण या जीवनस्पंदन, रस और भाव है जिसके संबंध में रस के आदि प्रणेता भरत ने नाट्यशास्त्र में विस्तृत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। भरत ने अथर्ववेद से रस-तत्व के ग्रहण करने का उल्लेख किया है। मम्मट, विश्वनाथ, वामन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भी रस-भाव तथा उसकी आनन्दमूलकता का प्रतिपादन किया है, उनको चित्रकला के संदर्भ में इस ग्रन्थ में विश्लेषित किया गया है। वस्तुतः रस, भाव, छंद, ध्वनि या व्यञ्जना—ये सब चित्र में अन्तर्निहित रहकर चित्र को सजीव और आकर्षक बनाते हैं। इनके अतिरिक्त चित्र में भूषण या अलंकरण भी गुण है। इसे प्रायः वस्त्रों, बार्डरों आदि में आलंकारिक डिजाइनों के प्रयोगों द्वारा चित्रों में बाह्य शोभा की अभिवृद्धि की जाती है। इसके अतिरिक्त साहित्य के अलंकारों जैसे— यमक, अनुप्रास आदि अलंकारों से भी इन आलंकारिक डिजाइनों का साम्य दिखाया गया है जो नवीन प्रयास है। काव्यों में नायिकाओं के लज्जा आदि चौदह अलंकारों का भी वर्णन है जिसके समावेश से चित्र में अतिरिक्त शोभावृद्धि होती है।

संस्कृत साहित्य के उल्लेखों के समग्र अध्ययन से तत्कालीन चित्रकारों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का भी ज्ञान होता है। चित्रकला समाज के सभी वर्गों के लोगों के मनोरंजन का प्रबल साधन थी। सभी सुसभ्य नागरिकों के लिए ललित कलाओं में प्रधान चित्रकला का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था, किंतु उन सभी को निपुण चित्रकार (मास्टर आर्टिस्ट) नहीं कहा जा सकता। चित्रकार के लिए चित्रकार, शिल्पी, वर्णाट, रूपदक्ष, रंगाजीव शब्द भी प्रचलित था। चित्र के जानकार को चित्रविद् और चित्रकला की शिक्षा देने वाले गुरू को चित्राचार्य तथा चित्रविद्योपाध्याय कहा जाता था। निपुण चित्रकारों द्वारा निर्मित चित्र राजा-महाराजाओं द्वारा प्रशंसित एवं पुरस्कृत होते थे और उनका यश देश-देशांतर में फैलता था, प्रियजन की प्रीति प्राप्त होती थी, मनोरथ पूर्ण होता था। उन्हे समारोहों मे दूर-दूर से चित्रांकन के लिए बुलाया जाता था। ये व्यावसायिक चित्रकार चित्रांकन मे धनोपार्जन करके अपनी जीविका चलाते थे और अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। प्रतिकूल परिस्थिति में भी सुखपूर्वक जीवन-यापन करते थे। चित्रकार केवल यश की कामना से ही चित्र नहीं बनाते थे वरन् धार्मिक भावना से श्रद्धा-भक्ति से ओतप्रोत होकर भी देवी-देवताओं के चित्र अंकित करते थे। कुछ चित्रकार चित्रपट पर यमराज और यमपुरी का भयानक चित्र अंकित करके लोगों को भयभीत करके, सत्कर्म करने को प्रेरित करते थे।

प्राचीनकाल में चित्रों पर नाम लिखने की परंपरा नहीं थी, इसीलिए उन प्राचीन चित्रकारों के नाम नहीं प्राप्त होते। फिर भी संस्कृत साहित्य के मथन करने पर दो निपुण चित्रकारों का नामोल्लेख प्राप्त होता है — उत्तर रामचरित (अंक १) में प्रथमतम से अग्नि शुद्धयात्मक रामायणी कथा को चित्रित करने वाले अर्जुन नामक चित्रकार

तथा तिलकमंजरी मे व्यक्ति-चित्रण मे निपुण गंधर्वक नामक चित्रकार। इन दोनो ग्रन्थो के प्रसगों को पढने से यह आभास होता है कि सभवतः ये व्यावसायिक चित्रकार थे और अत्यन्त सजीव यथार्थ चित्रण करने मे निपुणता के कारण उनकी अत्यधिक प्रसिद्धि थी। इसीलिए कवि उनका नामोल्लेख करने का लोभ सवरण न कर सके।

उच्च कुल की महिलाये भी बहुधा कला-प्रवीणा होती थी। महाभारत तथा भागवत पुराण मे बाणासुर की कन्या उषा की अनगिणी सखी चित्रलेखा, जो सर्वप्रथम नारी-चित्रकर्त्री है, उनका नामोल्लेख इसका साक्षी है। महिलाये अपने घरो मे वृहत् चित्र-प्रदर्शनी का भी आयोजन करती थी और चित्रकला प्रतियोगिताओ मे अपना कौशल दिखलाती थी। प्राचीन काल मे चित्रविद्या की इतनी व्यापक प्रथा थी कि परिव्राजिका स्त्रिया, ग्राम्य स्त्रिया तथा निम्न वर्ग की स्त्रिया भी इस कला मे अतिनिपुण होती थी और चित्रकला के गुणों की उन्हे परख थी। कलाओ का ज्ञान रखने वाले नर-नारी सुसस्कृत समझे जाते थे। वे मनोविनोद के लिए प्रायः प्रतिकृति चित्र (शबीह) अधिक बनाते थे। वार-वनिताये भी कला मे निपुणता प्राप्त करके, विदुषी कहलाने की अभिलाषा से चित्रकर्म मे शौक से प्रवृत्त होती थीं, किंतु प्रेमी-प्रेमिका का चित्र मनोविनोद के लिए बनाना उन्हे वर्जित था।

नगरो के मध्य मंदिरों मे सार्वजनिक चित्रशाला, राजसभाओं में राजकीय चित्रशाला, नाट्यशालाओं मे नाट्य-चित्रशाला, अतःपुर के वासभवन में पति-पत्नियो की निजी चित्रशाला, व्यक्तिगत चित्रकारो की निजी चित्र-शालाये होती थी, जिनकी भित्तियों पर विभिन्न रगों एव विषयो के चित्र अकित किये जाते थे, किंतु वासभवनो मे केवल शृगार, हास्य एवं शान्त रसो का चित्राकन किया जाता था। भित्तिचित्रो से सुसज्जित राजदरबारों में चित्रकारो की सभा होती थी। वहा चित्रकारो के नवीन चित्रों का रसास्वादन बड़ी तन्मयता से लोग करते थे और उनकी कला-कुशलता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। राजा-महाराजा चित्रकारो का सम्मान करते थे। उन्हे सामन्तो के समान जीविकोपार्जन के लिए जागीर भी दी जाती थी। चित्रकार राजाओं की निधि-सदृश होते थे, जिसका उदाहरण मुगल दरबार में भी मिलता है। सुसंस्कृत गृहों के अंतःपुर में शयनकक्ष स्वत एक चित्रशाला होती थी जिसमे पति-पत्नी तरग उठने पर प्रायः श्रृंगारिक चित्राकन करते थे। सुसभ्य नागरिक चित्रफलक पर चित्र का अभ्यास करते थे। वे एक पेटिका मे रग, तूलिका आदि चित्रोपकरण रखते थे तथा प्रेमी-प्रेमिका उपहार में इसे देते भी थे। किंतु दान मे चित्र को देना वर्जित था।

चित्र-निर्माण स्वतत्र एव सुविकसित नगर-व्यवसाय भी था। नगर-व्यवसायियों की तालिका मे चित्रकारो की भी गणना की गई है। चित्रकारी करने के लिए जातिगत बधन नही था। इस व्यवसाय की देखरेख के लिए पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। शिल्पियों की आजीविका का प्रबन्ध नगरो तथा गांवों से आने वाली आय द्वारा किया जाता था। चित्रकार कारीगरो का सरक्षण करना तथा उनके व्यवसाय का प्रबध करना पदाधिकारियो का कार्य था। यदि कोई व्यक्ति इन्हें प्रताडित करता, कार्य या आमदनी में विघ्न डालता तो ये अधिकारी उसे कठिन अर्थदण्ड देते थे और कारीगर के हाथ काटने या शारीरिक क्षति पहुंचाने वाले व्यक्ति को मृत्युदड दिया जाता था। चित्रकारों को उनके पारिश्रमिक के रूप में शुल्क दिया जाता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में यह भी कहा है कि शिल्पी लोग ईमानदार नही होते।

चित्रकला की शिक्षा प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओ को चित्रविद्योपाध्याय इस कला की शिक्षा देते थे। चित्रकला–शिक्षा दो प्रकार से दी जाती थी – (१) गुरु–शिष्य परपरा गुरुकुलविधि से और (२) वंश–परपरागत कला – शिक्षा। चित्रकला व्यवसाय के अधिक प्रचार के कारण नगरों में कभी–कभी व्यावसायिक शिक्षा देने वाले

आचार्य भी रहते थे। इन आचार्यो की प्रयोगशाला मे नवागन्तुक विद्यार्थी अपने मित्रों से परामर्श करके, मनोवाछित शिल्प मे प्रवीणता प्राप्त करने के लिए आता था। विद्यार्थी को आचार्य निःशुल्क शिक्षा देते थे। वे उसे पुत्रवत् मान-कर भोजन–वस्त्रादि की व्यवस्था भी करते थे। विद्यार्थी से गृह–परिचर्या कराने वाला आचार्य तथा शिक्षा समाप्ति के पूर्व ही आचार्य के गृह से लौट आने वाला विद्यार्थी – दोनो ही समाज मे घृणा से देखे जाते थे। कला शिक्षा पूर्ण करके, गुरु की अनुमति लेने के उपरांत घर लौटने वाला विद्यार्थी कला–विशेषज्ञ माना जाता था। वश–परपरागत व्यावसायिक कला–शिक्षा भी बहुत उच्चकोटि की थी। पिता की व्यावसायिक कला का अनुमरण बाल्यकाल से ही पुत्र करता था। उसी वातावरण मे रहने के कारण वह सरलता से, निरंतर अभ्यास करके उस कला को सीख लेता था।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा शुक्रनीति के साक्ष्यो से प्रतीत होता है कि शास्त्रकार चित्रकारो, शिल्पियो को अपनी मुट्ठी में रखते थे। वे निर्दिष्ट करते है कि शिल्पियो को शिल्प शास्त्र के नियमानुसार ही चित्र या मूर्ति बनाना चाहिये, अन्यथा रीति से बनाये गये दोष पूर्ण चित्रो से चित्रकार का विनाश हो जायेगा। देवताओ की दृष्टि ऊपर, नीचे, तिरछी, न्यून, क्रुद्ध तथा क्षीण या लंबे–चौडे उदर वाली, फैले मुह वाली, इत्यादि प्रमाणहीन चित्र–मूर्ति बनाने से चित्रकार की मृत्यु, पत्नी–पुत्र–शोक, परिवार का विनाश, धननाश, देश–समाज पर विपत्ति एवं नाश होगा। ऐसा कहकर वे कलाकारो को भयभीत करके रखते थे जिससे कलाकार शास्त्रोक्त विधि से ही चित्र–मूर्ति बनायें और उनसे उन नियमो का ज्ञान ग्रहण करे। शुक्रनीति में यह भी निर्देश है कि क्षणिक चित्रों–मूर्तियों मे शास्त्रोक्त प्रमाण लक्षणादि का अभाव होने से दोष नही होता, किंतु चिरकालिक चित्र मूर्ति में शास्त्रोक्त नियमों का पालन करना आवश्यक है। चित्रसूत्रकार का कथन है कि शास्त्रोक्त नियमानुसार चित्र बनाने से चित्रकार, समाज, देश सभी का कल्याण होता है। जिस घर मे इसकी प्रतिष्ठा की जाती है, वहा मंगल होता है तथा सभी कलाओं मे श्रेष्ठ यह चित्रकला धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्रदान करती है।

परिशिष्ट (क)
चित्रोत्पत्ति संबंधी कथायें

चित्रोत्पत्ति सबधी तीन कथाये परम्परागत चली आ रही है – (१) विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नर-नारायण की, (२) चित्रलक्षण मे नग्नजित् की और (३) महाभारत तथा भागवत पुराण में उषा-अनिरुद्ध की कथा।

(१) विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अध्याय ३५ मे चित्रोत्पत्ति के विषय मे एक आख्यान है जिसके अनुसार इस भौतिक या लौकिक आवश्यकता के लिए चित्रकला का आविष्कार हुआ। मार्कण्डेय मुनि का कथन है कि चित्रसूत्र (चित्रकला या चित्र-निर्माण के नियम और प्रकार) का निर्णय स्वयं नारायण ने किया। कथा है कि नर तथा नारायण नाम के दो ऋषि बदरिकाश्रम मे तपश्चर्या कर रहे थे। अप्सराये आश्रम में विचरण कर रही थी। नारायण मुनि को उनके मनोगत भावो को समझने में देर न लगी। उन सुर-सुन्दरियो को वंचना देने के लिए महामुनि नारायण ने अति सुगधित सहकार (आम, जो अत्यन्त कामोत्तेजक माना जाता है) की सरस लकड़ी लेकर, उससे पृथ्वी पर एक अति लावण्यमयी उत्तम स्त्री का चित्र बनाया जो अप्सराओं में भी श्रेष्ठ दिखाई पडने लगी और जिसे देखकर वे सभी अप्सराये लज्जित होकर स्वर्ग लौट गईं। नारायण मुनि के द्वारा रची गई इस अप्सरा का नाम उर्वशी (उर्व्या अर्थात् भूमि पर उरेही, उत्कीर्ण अथवा अकित) पडा, जो अप्सराओ मे सर्वसुन्दरी प्रसिद्ध हुई। नारायण मुनि ने चित्राकन के इस अद्भुत कार्य के अतिरिक्त चित्रकला के शुभाशुभ लक्षणो से युक्त चित्र-शास्त्र का निर्माण एव विवेचन कर उसे अच्युत (कर्म से च्युत न होने वाले) विश्वकर्मा को सुपुर्द कर दिया कि वे इस विद्या को आगे बढावें। इस नर–नारायण की कथा मे नारायण द्वारा प्रथम चित्राकन एव शास्त्र–विवेचन संबंधी ५वीं शती की गुप्त–कालीन एक मूर्ति देवगढ़ (जिला–झासी) के दशावतार मदिर की पश्चिमी भित्ति पर है (चित्र–३२)।

उक्त पौराणिक कथा दो बातो की ओर सकेत करती है, (१) चित्र बनाने के लिए उसका शास्त्र (चित्र-सूत्र) उक्त आरम्भिक चित्र पर आधारित है और (२) यह देव–स्थपति विश्वकर्मा को सिखाया गया। इससे यह सिद्ध होता है कि स्थपति को भी चित्रकला का अभ्यास करना पड़ता था। अतः चित्रकला का सबंध स्थापत्य कला और मूर्तिकला से भी है। प्राचीन मानव सभ्यता मे स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला का पारस्परिक संबंध एक था किंतु बाद मे ये तीनो कलाये विभक्त की गईं।

(२) चित्र की लौकिक उत्पत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख नग्नजित् के "चित्रलक्षण" के एक कथानक मे मिलता है जिसमे ब्रह्मा ने भयजित् नामक राजा से ब्राह्मण-पुत्र के जीवन–दान के प्रसंग में कहा कि – "यदि तुम इस लडके को पुनरुज्जीवित ही करना चाहते हो तो इसका एक चित्र खीचो और मै उसमें प्राण डाल देता हूँ। राजा ने वैसा ही किया और वह पुत्र जीवित हो उठा। पुन· ब्रह्मा ने राजा से कहा – तुम मेरी कृपा से इस ब्राह्मण बालक का चित्र बना सके। यह वास्तव मे ससार की प्रथम चित्र–रचना है। अब तुम देवस्थपति विश्वकर्मा महाराज के पास जाओ और चित्रविद्या की शिक्षा लो।

(३) नारी चित्रकर्तृ द्वारा चित्रकला की उत्पत्ति का उल्लेख सर्वप्रथम "महाभारत" में उषा-अनिरुद्ध के आख्यान मे प्राप्त होता है। बाणासुर नामक विद्याधर की उषा नाम की एक परमसुन्दरी कन्या थी। विवाह से पूर्व ही एक अनदेखे, अनसुने अनिरुद्ध नामक पुरुष से उसका स्वप्न मे मिलन हुआ, उषा उस स्वप्न वाले पुरुष का बारम्बार स्मरण कर बहुत विकल हुई।

बाणासुर का कुम्भाण्ड नामक मन्त्री था और उसकी चित्रलेखा नाम की कन्या उषा की सखी थी। चित्रलेखा ने उषा की मनोदशा देखकर उसका कारण उससे जाना और उसका दुःख दूर करने का वचन दिया तथा कहा कि तुम्हारा स्वप्न मे मिला हुआ पति त्रिलोकी मे होना चाहिये। मैं चित्र अंकित करती हूं, तू स्वप्न में देखे हुए अपने प्राणप्रिय को मुझे बता दे, फिर उसका पाना दुर्लभ नहीं। यह कह चित्रलेखा ने चित्र अंकित करना प्रारम्भ किया और देव, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्यादि का एक-एक करके व्यक्ति-चित्र बनाया। अनिरुद्ध का चित्र देखते ही उषा लज्जा से सिर नीचा कर, प्रेम से ओत-प्रोत, मन-ही-मन खिल उठी। चित्रलेखा ने उषा के मनोभावों को देखकर, स्वप्न-दृष्ट पुरुष के उस चित्र को श्रीकृष्ण का पौत्र, प्रद्युम्न का पुत्र अनिरुद्ध जानकर, उसका उषा मे मिलन कराया।

उपर्युक्त आख्यानों से प्रतीत होता है कि लौकिक आवश्यकता ही चित्रोत्पत्ति का आधार है तथा उसमें सभी नभचर, जलचर, थलचर प्राणी चित्र के मुख्य विषय हैं, एवं उसमें भी मानवाकृति का स्थान सर्वप्रमुख है।

परिशिष्ट (ख)
रूप शब्द के विविध अर्थ

संस्कृत साहित्य में "रूप" शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ और व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं, जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त भी बहुत सी व्याख्यायें है जिन्हें नीचे उद्धृत किया जा रहा है —

(१) नाट्यदर्पण (१।५३।७८) में कहा है कि – नाटक के अन्तर्गत आने वाली गर्भसन्धि का दूसरा भेद "रूप" है। उसमे रूप का लक्षण करते हुए रामचन्द्र गुणचन्द्र कहते है – **"रूपं नानार्थसंशयः"** – अनेक प्रकार के अर्थों का सशय (वर्णन करना) "रूप" कहलाता है।

"नानारूपाणामर्थानां संशयो नवधारणं रूपमिव रूपम्। अनियतो ह्याकारो रूपमुच्यते।" – अनेक प्रकार के अर्थों का संशय अर्थात् किसी एक अर्थ का निश्चय न कर सकना रूप के समान अनियताकार होने से वह रूप कहलाता है। अनियत आकार को "रूप" कहा जाता है। जैसे – **कृत्यारावणे रामो जटायुषमप्रत्यभिजानन्नाह।...**

गिरिरयममरेन्द्रेणाद्य निर्लूनपक्षः
कृतरिपुरसुरेशैः शातितो वैनतेयः
अपरमिह मनो मे नः पितुः प्राणभूतः
किमुत बत स एष व्यपेतायुर्जटायुः इति।

अर्थात्–जैसे–कृत्यारावण में (रावण द्वारा मारे गये) जटायु को न पहचान सकने पर राम कहते है —

क्या आज देवराज इन्द्र ने इस पर्वत के पख काट डाले है ? अथवा दैत्यो के राजा ने वैर के कारण गरुड़ को काट डाला है। मेरे मन मे एक और बात भी आती है कि ये हमारे पिता के प्राणभूत घनिष्ट मित्र मृत जटायु है।

इसमे मृत जटायु को देखकर नाना प्रकार के अर्थों का सशय दिखलाया गया है, इसलिए यह "रूप" नामक अंग का उदाहरण है। कुछ लोग **"रूपं वितर्कवद् वाक्यम्"** – वितर्क युक्त वाक्य "रूप" है यह लक्षण रूप का करते हैं। अन्य कुछ लोग कहते है – **"चित्रार्थं रूपकं वचः"** अर्थात् विचित्र अर्थ वाला "रूप" कहलाता है, यह "रूप" का लक्षण बतलाते है। जैसे – वेणीसहार नाटक के पंचम अक में सुन्दर के संग्राम का विचित्र रूप से वर्णन है। यह रूप नामक अंग का उदाहरण है।

(२) यशोधर "कामसूत्र" की टीका में रूप की व्याख्या करते हैं – **"रूपं संस्थानं वर्णश्च"** – अर्थात् संस्थान और वर्ण को रूप कहते है।

(३) हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन मे छपाई किये वस्त्रों का उल्लेख किया गया है। इसमे दो प्रकार के वस्त्रों का वर्णन है। एक तो जिन पर फूल-पत्तियो के काम की छपाई आडी लहरियों के रूप में छापी जाती थी। सफेद या रंगीन जमीन पर फूल–पत्ती की आकृतियो वाले ठप्पो को आड़े या टेढ़े ढग से छेवकर छपाई की जाती है। इसी से फूल-पत्तियों का जंगला कपड़े पर बन जाता है। इसके लिए बाण ने – **"कुटिलक्रमरूपक्रियमाणपल्लवपरभाग"** इस पद का प्रयोग किया है। इसमें चार शब्द पारिभाषिक है – कुटिल-क्रम, रूप, पल्लव और परभाग। यहा रूप का अर्थ ठप्पों से बनाई जाने वाली रेखाकृतियों या डिजाइनो से है। इसे अब भी "रेख की छपाई" या "पहली छपाई"

कहते हैं। आकृति युक्त ठप्पे के लिए प्राचीन पारिभाषिक शब्द "रूप" है। पाणिनि सूत्र **"रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्"** (५।२।१२०) में आकृतियुक्त ठप्पों से बनाये जाने वाले प्राचीन सिक्कों (**रूपादाहतं रूप्यं कार्षापणम्**) के अर्थ में रूप शब्द प्रयुक्त हुआ है।

ठप्पे से रूप (आकृति) बनाते थे। ये रूप प्रतीकात्मक होते थे। इसकी भी जानकारी लोगों को कराई जाती थी। पाणिनि के सूत्र **"रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्"** से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में ऐसे रूप या आकृति युक्त ठप्पे होते थे, जिनसे प्राचीन सिक्कों पर प्रतीकात्मक आकृति बनाई जाती थी और इसे आहतमुद्रा कहा जाता था। ऐसी धातु निर्मित आहतमुद्राये पुरातात्विक खुदाई में बहुत सी प्राप्त हुई हैं।

(४) हर्षचरित में कहा है – **"परिमंडलबदरीमंडपकतल – निखात खदिर कील बद्धवत्सरूपे"**–अर्थात् बेरी के गोल मंडपों के नीचे खैर के खूंटे गाड़कर बछड़े बांध दिये गये थे। वत्सरूप–वत्सरूप–बाछरू। रूप–पशु।

अत (१) **"कुटिलक्रमक्रियमाणरूप"** – यहां पर रूप का अर्थ शिल्पाकृत है। (२) रूप–आकृति युक्त ठप्पा (यह लक्षणार्थ से होगा)। रूपादाहत–ठप्पे से छापी गई आकृतियों से युक्त सिक्के या आहतमुद्राये। (३) रूप – पशु।

(५) दर्शन शास्त्र में भी "रूप" शब्द आता है। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य के २४ गुणों में रूप भी एक है। सांख्य दर्शन में भी पचतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) में रूप भी एक है। पंचतन्मात्राओं से पचमहाभूतो (शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल तथा गन्ध से पृथ्वी) की उत्पत्ति होती है। पच ज्ञानेन्द्रियो में नेत्रेन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है। इस प्रकार यहा रूप शब्द का दार्शनिक अभिप्राय है।

परिशिष्ट (ग)
प्रमाण की दार्शनिक व्याख्या

प्रमाण के सबध में पीछे विचार किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त भी दर्शन शास्त्रो में प्रमाण की व्याख्या की गई है, जो नीचे प्रस्तुत है . .

न्याय दर्शन मे प्रमाणादि षोडश पदार्थ कहे गये है जिसमें प्रमाण ही सबसे प्रधान है। प्रमाण का लक्षण हे – **"कारणदोष–बाधक ज्ञानरहितम् अग्रहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्"** । – वही ज्ञान प्रमाण कहलाता है – (१) जिसके उत्पन्न करने वाले कारणो मे कोई दोष नही होता, (२) जो किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा बाधित नही होता तथा (३) जो पहले से न जाने हुए पदार्थ को बतलाता है। इन तीनो वैशिष्ट्यो से सयुक्त ज्ञान ही प्रमाण की कोटि मे आता है।

प्रमाणादि षोडश पदार्थो के तत्व ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह तत्वज्ञान अथवा पदार्थ–ज्ञान कैसे प्राप्त हो, इसके लिए शास्त्रकारो ने कहा है – उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा – के द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त होता है। न्याय-सूत्र के ऊपर भाष्य करने वाले वात्स्यायन ने भी इस शास्त्रप्रवृत्ति का उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा रूप से तीन भेद दिखलाया है।

प्रमाण को कसौटी पर कसने से ही पदार्थों की वास्तविकता ज्ञात होती है, इसलिए प्रथमतः प्रमाण का निरूपण करना आवश्यक है। **"प्रमाकरणं प्रमाणम् । अत्र च प्रमाणं लक्ष्य, प्रमाकरणं लक्षणम्** ।"– प्रमा के करण को प्रमाण कहते है और यहा प्रमाण लक्ष्य है, प्रमा का करण लक्षण है जो करण होगा वह सफल ही होगा यह नियम (व्याप्ति) सर्वत्र प्रसिद्ध है।

"प्रमा" क्या है ? किसी वस्तु के असदिग्ध तथा यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते है। साराश यह निकला कि प्रमाण किसी विषय का यथार्थ–ज्ञान (संशय-विहीन ज्ञान) पाने का कारण या उपाय है। **"प्रमा चाज्ञाततत्वार्थ-ज्ञानम्** ।"–पहले से न जाने गये (अज्ञात) और सत्य अर्थ के ज्ञान को प्रमा (एनलाइटमेंट) कहते है। प्रमा से यथार्थ–ज्ञान प्राप्त करने के सभी उपायों का (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द–न्याय दर्शन मे) बोध होता है। षट्–दर्शनो मे तथा जैन, बौद्ध, चार्वाक दर्शनों में प्रमाणों की संख्या भिन्न–भिन्न मानी गई है। यथा ...

(१) न्याय–दर्शन मे "प्रमाण" चार हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

(२) वैशेषिक–दर्शन मे "प्रमाण" दो हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान।

(३) साख्य–दर्शन में "प्रमाण" तीन हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

(४) योग–दर्शन में "प्रमाण" तीन है – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

(५) पूर्वमीमांसा–दर्शन में "प्रमाण" छ हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। अनुपलब्धि प्रमाण को केवल भाट्टमीमासक मानते हैं।

(६) उत्तर मीमासा (वेदान्त–दर्शन) मे "प्रमाण" छ है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि (अद्वैत वेदान्त)।

(७) जैन–दर्शन मे "प्रमाण" तीन हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ।

(८) बौद्ध–दर्शन मे "प्रमाण" दो हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान ।

(९) चार्वाक–दर्शन मे "प्रमाण" एक है – चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है । उपर्युक्त नवों दर्शनों मे प्रमाण की विस्तृत व्याख्या के लिए दृष्टव्य ग्रंथ है – तत्व चिन्तामणि, प्रवचन–भाष्य, षड्दर्शन समुच्चय, भारतीय दर्शन आदि ।

इस प्रकार सभी दर्शनों का विश्लेषण करने पर साराश यह निकलता है कि "प्रत्यक्ष" को सभी लोग प्रमाण मानते है, प्रत्यक्ष के द्वारा हमे भौतिक जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु केवल चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी दर्शनो मे "अनुमान" को भी प्रमाण माना गया है । जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान अवश्य होता है, बिना अग्नि के धूम नही उत्पन्न हो सकता । उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को कुछ लोग अलग–अलग प्रमाण मानते है और कुछ लोग अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत ही ये सब समाहित मानते हैं । प्रत्यक्ष भी लौकिक और अलौकिक दो प्रकार का होता है । इस विभेद मे देखा गया है कि इन्द्रिय का वस्तु के साथ किस तरह संयोग होता है । सामान्यत: आत्मा का चैतन्य बुद्धि में जब प्रतिबिम्बित होता है तब ज्ञान का उदय होता है । प्रश्न है प्रमा का स्वरूप क्या है ? सांख्य–दर्शन में बुद्धि को भी महत्तत्व माना गया है । चैतन्य केवल आत्मा (पुरुष) का धर्म है, किंतु आत्मा को स्वत विषयो का साक्षात्कार नहीं होता । यदि ऐसा होता तो हमें सर्वदा सब विषयों का ज्ञान रहता, क्योंकि आत्मा सर्वव्यापी है । आत्मा को बुद्धि, मन और इन्द्रियों के सहारे विषयों का ज्ञान होता है । जब इन्द्रियों और मन के व्यापार से विषयो का आकार बुद्धि पर अंकित हो जाता है और बुद्धि पर आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पड़ता है, तब हमे उन विषयो का ज्ञान होता है । आत्मा मे प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के लिए त्रिविध सबंध की आवश्यकता होती है – आत्मा का सयोग मन से, मन का इन्द्रिय के साथ तथा इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष सम्पन्न होता है । आत्म–मन – संयोग ज्ञान–सामान्य के लिए आवश्यक होता है । इस प्रकार प्रमाण के संबंध में अनेक गूढ़ विचार सन्निहित है ।

परिशिष्ट (घ)
"महाकवि बाण का प्रमुख वर्ण-विन्यास"

विभिन्न वर्णों के द्वारा रूप प्रस्फुटित करने में महाकवि बाण अति निपुण थे। रंगो का प्रचुर व्यवहार जैसा 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र कही नही। बाण भी प्रमुख पांच रंगों को मानते है, किन्तु उनके मिश्रण से अनंत (शेडों) उपवर्णों की अवतारणा उन्होंने इन ग्रन्थों में की है। विशेष रूप से श्वेत, रक्त, हरित, पीत, कपोत, भूरा इन रंगों के भेद तो बाण ने अत्यधिक दिखलाये हैं। यहां पर ही श्वेत वर्ण के १३ प्रकार भेद दिये जा रहे है। इनके अतिरिक्त भी उनके न जाने और कितने भेद किये जा सकते हैं, जिनको बाण ने सूक्ष्म निरीक्षण करके परखा है। इसी प्रकार अन्य वर्णों के विषय मे भी समझना चाहिये। यथासंभव यहा पर उनके रंगो के कुछ शेडों को उद्धृत किया जा रहा हैं.

(१) श्वेत रंग के भेद.

(१) हरिताल शैल श्वेत[१]
(२) हंस-धवल[२]
(३) कमल (पुण्डरीक) श्वेत[३]
(४) सिन्दुवार श्वेत[४]
(५) कर्णिकार[५] श्वेत
(६) चंपक[६] श्वेत
(७) फेन[७] श्वेत।
(८) क्षीर (दुग्ध) धवल[८]।
(९) शंख धवल[९]
(१०) (हाथी) दात के समान धवल[१०]
(११) पूर्ण विकसित केतकी के समान पिञ्जरित धवल[११]

१—हरितालशैलावदातदेहः।–हर्ष०, १८८।
२—हंसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्स्ना।–काद०, ९६।
३—हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते। – काद०, ९६।
४—अभिनवसितसिन्दुवारकुसुमपाण्डुरै। – काद०, ९६।
५—(i) कर्णिकारगौरेण वीध्रकञ्चुकच्छन्नवपुषा। – हर्ष०, ६१
(ii) कर्णिकारगौरेण व्यायामव्यायतवपुषा। – हर्ष०, ६९।
६—बकुलसुरभिनिःश्वसितया चम्पकावदातया। – हर्ष०, ३३।
७—पीयूषफेनपटलपाण्डरम्। – हर्ष०, १०।
८, ९—शंखक्षीरफेनपटलपाण्डरेण। – हर्ष०, २१।
१०—दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव। – हर्ष०, ७०।
११—विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डरं रजः सङ्घातम्। – हर्ष०, २०।

(१२) मुक्ता (मोती) के समान धवल[1]
(१३) शरद् कालीन मेघ के समान श्वेत वर्ण[2]।

(२) लाल वर्ण के भेद :

(१) बन्धूकपुष्प के समान लाल[3]
(२) कुकुमपिञ्जरित[4]
(३) कुसुम्भरागपाटल[5]
(४) धातकी पुष्प के गुच्छे के समान रक्त-वर्ण[6]
(५) सिन्दूरी लाल[7]
(६) मन्दार पुष्प के समान लोहित[8]
(७) मञ्जिष्ठा[9] (मजीठ) के समान लाल
(८) पिञ्जर[10] (-पिंगल) प्रभातकालीन सूर्य के समान
(९) कबूतर के पैरों के समान लाल[11]
(१०) जपा-पुष्प के गुच्छे के समान पाटल[12]
(११) सध्याकालीन आतप के समान लाल[13]
(१२) (i) रक्त कमल के समान लाल[14]
(ii) वृद्ध कुक्कुट की चूडा (अर्थात् मासमयी सिर की शेखरिका) के समान लाल-वर्ण।

(३) हरित वर्ण के भेद

(१) (i) शुक के समान हरा[15]
(ii) कदली (केले) के पत्ते के समान हरा

१—मुक्ता धवलेषु । – हर्ष०, ९३ ।
२—शरज्जलधरैरिव मद्य स्नुतपय पटलधवलतनुभि' – हर्ष०, १०० ।
३—तस्य चाधरदीधतयो विकसितबन्धूकवन राजय. । – हर्ष०, २९ ।
४—कुंकुमपिञ्जरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य । – हर्ष०, ३१ ।
५—कुसुम्भरागपाटल पुलकबन्धचित्रम् । – हर्ष०, ३२ ।
६—रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरकलिह्यमानकठोरधातकीस्तबके । – हर्ष०, ४७ ।
७, ८—लोहितायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि । – हर्ष०, ४७ ।
९—माञ्जिष्ठरागलोहिते किरणजाले । – कादं०, ५३ ।
१०—बालातपपिञ्जरा इव रजन्य: । – कादं०, १०५ ।
११—पारावतपादपाटलराग: । – काद०, ९४ ।
१२—जपापीडपाटलिम् । – हर्ष०, ९५ ।
१३—सध्यातपच्छेदैररुणचामरिकारचितकर्णपूरै' । – हर्ष०, ९९ ।
१४—(i) सरक्तोत्पलैरिव रक्तशालिशालेयै: । – हर्ष०, ९९
(ii) जरत्कृकवाकुचूडारुण । – हर्ष०, ३१ ।
१५—(i) (ii) शुकहरितै. क[illegible]वनै: । – कादं०, ४२ ।

(२) हारीत (हरियल) पक्षी के समान हरा या नील वर्ण[1]
(३) मरकतहरित[2] (पन्ने (मणि) के समान हरा)
(४) तमाल के समान गहरा हरा[3] ।

(४) **धूसर (धूमिल) रंग के भेद :**

(१) धूम्र (धुआँ)–समूह के समान[4] नीली पाण्डु आभा
(२) रासभ (गर्दभ) के रोम के समान धूमिल (या धुमैली)[5]
(३) मटमैले कबूतर के समान धूम-रेखायें[6]
(४) कबूतर के कठ के समान धूमिल[7]
(५) मछली के पेट के समान धूसर वर्ण वाले धूलि-पटल[8] ।

(५) **पीत वर्ण के भेद :**

(१) गोरोचन के समान कपिल (भूरा, बादामी)[9]
(२) हरिताल तथा पके हुए बास के पेड़ के समान कपिल[10] (यलोयिश)
(३) संध्या की लाली लिए हुए, पकते हुए तालफल की त्वचा के समान मलिन पीत वर्ण वाला[11]
(४) ऊँट के रोंगटे के समान कपिल वर्ण वाला तथा धूल-धूसर[12] ।
(५) गोधूम (गेहूँ) के समान[13] ।
कपिल या कपिश–भूरा, बादमी, जिसमें काला-पीला रग मिला हो, जैसे – प्रात. अथवा सायंकाल की धूप ।
(६) वानर के कपोल की भाति कपिल वर्ण[14]

१—हारीतहरिता । – हर्ष०, २२ ।
२—मरकतहरिताना कदलीवनानाम् । (मरकत-एमरल्ड ग्रीन) । – कादं०, ७९ ।
३—तरुणतरतमालश्यामलै । – हर्ष० २८ ।
४—कृष्णाजिननेन नीलपाण्डुभासा—धूमपटलेनेव । – कादं०, ७२ ।
५—रासभरोमधूसरासु । – कादं०, ५२ ।
६—वनदेवताप्रसादाना तरुणा शिखरेषु पारावतमालायमानासु धर्मपताकास्विव समुन्मिषन्तीषु तपोवनाग्निहोत्र-धूमलेखासु । – कादं०, ५२ ।
७—कपोतकण्ठकर्बुरे तिमिरे । – हर्ष०, १४५ ।
८—शफरोदरधूसरे रजसि । – हर्ष०, २१ ।
९—गोरोचनाकपिलद्युति । – कादं०, १२६ ।
१०—हरितालकपिलपक्ववेणुविटपरचितवृतिभि । – काद०, ३९३ ।
११—सन्ध्यानुबन्धताम्रे परिणततालफलत्विषि कालमेघमेदुरे । – हर्ष०, १५ ।
१२—धूसरीचक्रु क्रमेलककचकपिला. पासुवृष्टय· । – हर्ष०, १६२ ।
१३—गोधूमधामभि । – हर्ष०, ९४ ।
१४—कपिकपोलकपिलैः क्रमेलककुलै कपिलायमानम् । – हर्ष०, १०० ।

(७) सिन्दूर-धूलि के समान कपिल वर्ण का रोषराग[1]
यहा पर बाणभट्ट ने कपिल वर्ण को लाल वर्ण के बहुत समीप र
औदुम्बर (गूलर) गेरू अथवा ताम्र के समान हो सकता है। ?
मृत्भाण्ड वर्ण (टेराकोटा रेड) इसके भेद माने जा सकते है।

(६) **काला अथवा श्याम वर्ण :** इसके अत्यधिक भेद (डिग्री एण्ड ग्रेड) है

(१) बूढी भैंस एवं स्याही की भाँति (हल्का) काला[2]
(२) लगूर के चेहरे के समान कुछ अधिक काला[3]
(३) सिन्धुवार के समान नीले घोड़े[4]
(४) चाष पक्षी के समान गहन अधकार (पिचडार्क[5])
(५) मयूर की गर्दन के समान नील वर्ण (पिकॉक ब्लू)[6]

(७) **बहुरंगी रंग (या शर, शबल)** — इसके भी अत्यधिक भेद है, जैसे ·
और उनके मिश्रण से बहुत प्रकार के रग दिखलाई देते है।

(१) विविध वर्ण वाली[7]
(२) आभरणों की प्रभा से हजारों इन्द्रधनुष (के समान रंग) बन ?
(३) पके हुए राजमाष की रगीनी[9]।
(४) चितकबरे बाघ के चर्म के समान रंग[10]
(५) नील-धवल मिश्रित रंग वाला वस्त्र[11]।

(८) **मिश्रित रंग :**

(१) नील-पाण्डु (श्वेत) के मिश्रण से धूम्र रंग (ग्रे कलर[12])

१—सिन्दूरधूलिरिव कपिलः कपोलयोरदृश्यत रोषरागः। – हर्ष०, ३२३।
२—जरन्महिषमषीमलीमसि तमसि। – हर्ष०, १३८।
३—गोलांगूलकपोलकालकायलोम्नि। – हर्ष०, ४१।
४—नीलसिन्धुवारवर्णे वाजिनि।– हर्ष०, ४१।
५—चाषपक्षत्विषि तमस्युदिते। – हर्ष०, २७।
६—नीलीरागनिहितनीलिम्ना शिखिगलशितिना वामश्रवणाश्रयिणा दन्तपत्रेण।—हर्ष०
७—आचमनशुचिशचीमुच्यमानार्चनकुसुमनिकरशारम्। – हर्ष०, ३३।
८—आभरणप्रभाजालजायमानानीन्द्रधनुः सहस्राणि। – हर्ष०, १२१।
९—पाकविशरारुराजमाषनिकरकिर्मीरितैश्च। – हर्ष०, १६०।
१०—शबलशार्दूलचर्मपटपीडितेन। – हर्ष०, ४१५।
११—तिर्यङ्नीलधवलांशुकशाराम्। – हर्ष०, १३४।
१२—स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा तपस्तृणमिपीतेनाम्तनिपतत
काद० ७२

(२) धवल–कृष्ण (काला, श्याम) के मिश्रण से धूसर रंग (ग्रे कलर)[1]

(३) नील–पीत के मिश्रण से हरित वर्ण[2] ।

(४) नील और पाटल (लाल) वर्ण के मिश्रण से बैंगनी रंग[3] ।

उपर्युक्त अवतरणों में बाण ने वर्णों (रंगो) का जो विशद विवेचन किया है वह किसी चित्र–शास्त्र के ग्रंथ मे भी इतने विस्तार मे नही उपलब्ध होता और किसी–किसी कुशल चित्रकार को ही रंगों के इतने उपवर्णों (झलक अथवा आभा) का ज्ञान होता है। बाण ने इन सभी रंगो को, प्राकृतिक जीवन और दृश्य में नित्य प्रति दिखलाई पड़ने वाली वस्तुओ, पुष्पो, फलों, पशु–पक्षियो आदि मे देखकर, निरीक्षण करके, अति कुशलता के साथ उनके वर्ण–उपवर्ण को स्थान–स्थान पर अपनी रचना मे कलात्मक ढंग से गिनाये हैं, जैसे – जम्बू फल, आमलकी, चम्पक–वर्ण, शंखधवल, गजदन्तधवल, धूम्रवर्ण, वनप्रान्त का रंगीन वर्णन, जनपद का रंगीन दृश्य आदि। इनके अतिरिक्त भी रगों के बहुभेद किये जा सकते हैं। किसी कवि ने बाण की प्रशसा मे उक्ति कहीं है – **"बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम् ।"** अर्थात् सपूर्ण जगत् रचना-कौशल में बाणभट्ट का उच्छिष्ट (जूठन) है। यही उक्ति **"वर्णोच्छिष्टं जगत्सर्वम्"** – इस रूप में उनके विशद रग–परिज्ञान के लिए भी चरितार्थ होती है।
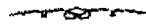
१—सरस्वत्यपि शप्ता किंचिदधोमुखी धवलकृष्णशारां दृष्टिमुरसि पातयन्ती ।–हर्ष०, २३ ।

२—आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिर्मितमप्यन्तर्गतशुकप्रभाश्यामायमानं मरकतमयमिव पंजरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानम् । – काद०, २१ ।

३—आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटलः कषायमधुरः प्रकाममापीतो जम्बूफलरसः ।— काद०, ३६ ।

पारिभाषिक – शब्दावली

अर्धचित्र -- अर्ध पारदर्शी, Relief work.

आकारमातृकालेखा—आकार दिखाने वाली रेखा, बुत बांधना, Sketching.

अंजनरजोलेखा—काले रंग की खाका झाड़ने से की हुई टिपाई.

अविषमरेखा—सुन्दर खिंची रेखा, Fine line

अविरुद्धसूत्रपात—नेत्र, मुख तथा संपूर्ण शरीर की मुद्राओं और सुप्रमाण युक्त अंगरचना विधान।

आख्यानपट (आख्यानक पट)—संपूर्ण कथानक को प्रस्तुत करने वाला पटचित्र। पटचित्र से कथा सुबोध और अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती थी।

आलेख्य—चित्रकला, चित्रकर्म, कारुज, Painting.

इष्टकाचूर्ण—ईंट का चूर्ण, Brick powder.

उज्जोतन—प्रोन्नत, High light.

उन्मीलन—चित्र की खुलाई, तहरीर, आकारजनिका रेखा द्वारा टिपाई, Final outline.

उल्वण—विकट, उत्कट।

कुड्यचित्र—कुड्यक, भित्तिचित्र, आलेख्यचित्र, Wall painting.

कल्क—लुगदी, Paste, Pulp, किट्ट या कीट, कूट-पीस कर बनाई गई लुगदी। उत्तम प्रकार के कार्य मे बालू के स्थान पर सगमरमर के चूर्ण या कल्क-स्पार का प्रयोग होता था।

कल्क-संस्कार—Preparation of mixture or paste.

कूर्चक—कूंची, मूंज को कूचकर बनाई गई मोटी तूलिका, Brush.

कुण्डलित पट—वस्त्र पर बना लंबा चित्रपट जिसे लपेटकर या कुण्डलित करके रखा जाता था, Painted scroll.

कटिशर्करा—गन्ने की चीनी, चूना पत्थर, Lime stone.

गोमूत्रिका रेखा—लहरियेदार रेखा, वक्ररेखा, Wavy line

घट्टित—घोटाई किया हुआ, ओप दिया हुआ, उज्ज्वल, प्रदीप्त, परिमार्जित, Burnished.

चारुत्वतत्व—सौंदर्य-तत्व।

चित्र—सर्वांगदृश्यमान, Figure in round.

चित्रकर—चित्रकार, वर्णाट, रंगाजीव, Artist, Painter.

चित्राचार्य—निपुण, चित्रकार, चित्रविद्योपाध्याय, Master Painter.

चित्राभास—आंशिक भाग दृश्यमान चित्र।

चन्द्रसमप्रभ—श्वेत जस्ताभस्म, सफेदा, Zink Oxide.

चित्रशाला—चित्रागार, चित्रालय, चित्रसद्म, चित्रगृह, चित्रवीथी, चित्रशालिका, अभिलिखितवीथिका, आलेख्यगृह ।

चित्रत्वच्—भूर्ज वृक्ष, भोजपत्र ।

चित्रवपुष—अत्यधिक सुंदर, मणिभूमि को चित्र की आकृति, विषय आदि के अनुसार ठीक-ठीक पृष्ठभूमि तैयार करना, Proper background for picture. क्योंकि भित्ति न तो अत्यधिक चिकनी हो और न असमतल या खुरदरी ।

चित्रफलक—काष्ठ-फलक पर चित्र, Painting board.

चित्रपट—कपड़े पर चित्र, पटचित्र, Painting on cloth, painted canvas, Scroll painting.

छायागत—जिसमे चेहरे का आधा भाग दिखे, एक चश्मी चेहरा, Profile.

ट्रांसपरेंटकलर—पारदर्शी रंग, डाकी रंग ।

द्विक—कर्म–Final outline

धौत—धुला हुआ, स्वच्छ ।

निषधा—शाला ।

परभाग—दूर का भाग या पृष्ठभूमि, Background.

प्रतिकृति चित्र—रूपालेख्य, शबीह, प्रतिच्छन्दक, सादृश्यचित्र, विद्धचित्र, छवि, प्रतिबिम्बचित्र, Portrait painting.

पत्रलता—पत्रावली, पत्रांजलि, पत्रांगुलि, पत्रभंगरचना, पत्रापत्रलता, कल्पवल्ली, Foliage decoration.

प्रक्रिया—विधि-विधान, तकनीक, Technique.

पट्टिका—फलक, काष्ठ-पट्टिका, Board.

पटोलिका—रंग का डिब्बा ।

प्रकीर्णक चित्र—विषय प्रधान चित्र, Subject painting.

प्रोन्नत—उज्जोतन, चिलिक, High light.

पिष्टपत्रांगुल—अंगुली तथा हथेली को रंगीन गाढ़े पिसे चावल – हल्दी के घोल (ऐपन) में डुबोकर बनाये गये चिह्न, थापा, हस्तक ।

भूमिबन्धन—जमीन बाधना, अस्तर-बट्टी, सुधाकर्म (सुधाकम्म-पालि), चित्राधार या पृष्ठभूमि तैयार करना, Preparation of the ground.

भक्तिभि.—काट-काट कर बनायी गई डिजाइन, Stencil, सतह से उभरी हुई डिजाइन, उकेरा हुआ पट्ट, Bas relief.

भूलम्ब (ब)—ब्रह्मसूत्र रेखा, चित्र में सिर से पैर तक की मध्य रेखा ।

मातृपट—रंगों द्वारा कपड़े पर बने मातृका (छठी) चित्रित पट ।

मष्याकारैर्लाञ्छित.—स्याही या काले रंग से बनाया गया रेखांकन । मुगल चित्रकार आज भी "टिपाई" के विकसित रूप के लिए "स्याह-कलम" शब्द का प्रयोग करते हैं जो संस्कृत के शुद्ध रूप 'मष्याकारैः' का हिन्दी रूप है ।

मिश्रवर्ण मिलवा रंग संकर वर्ण, Mixed Colour

यन्त्रचित्रशालागृहाणि—धारागृह में चित्र, फौव्वारा लगे स्नानगृह मे चित्र ।

युक्तलेखता—रेखा तथा वर्तना द्वारा अति कुशलता से किया गया रेखाकन ।

रेखाकन—टिपाई, रेखाकर्म, स्याहकलम, आकारमातृकारेखा, आकारजनिकारेखा, Outline.

रेखामयी मूर्ति—रेखाकित चित्र ।

रूपलव—रूप की अत्यन्त घनिष्ठता, चित्रित रूप में लावण्य की घनिष्ठता (लपट) ।

रगावली—रंगावल्ली, रागोली, अल्पना, मांडना, कोलम्, माझी, चौक पूरना, धूलिचित्र, भौमिकचित्र ।

राजवर्त—राजवन्न, लाजवर्दी (उर्दू), नीलीराग, Altramerin, Lapislazuli

लाछित—रेखांकित, सपाटे की टिपाई, लाछितोमष्या – स्याह कलम ।

लेप्यचित्र—लेपित चित्र, चूने से लिपि-पुती भित्ति पर बनाये गये चित्र, Plaster Painting.

वज्रलेप—बबूल की गोंद या सरेम आदि मिलाकर बनाया हुआ कडा चिपकने वाला पदार्थ, Binding material, adamantine medium.

वर्तना—परदाज, माया – उजाला दिखाना, निम्नोन्नत, नतोन्नत, उज्जोतन (पालि), Shading, stippling rendering,

विष्णुधर्मोत्तर मे तीन प्रकार की वर्तना कही गई है – (१) पत्रवर्तना, (२) आहैरिकवर्तना, (३) बिन्दुवर्तना।

विभक्तता—विलगाव, बाटना, वपुर्विभक्त, शरीर को निम्नोन्नत करके विभक्त बना देना ।

वर्तिका—कालाजनवर्तिका, चित्र की टिपाई या आरंभिक रेखाकन करने वाली काजल की वत्ती, चारकोल, क्रेआन, इमली की लकडी के कोयले की शलाका, रग की बत्ती, कलर पेंसिल, शलाका, किट्टलेखनी ।

वर्णपूरित करना—गदकारी ।

वर्णाढ्यता—चित्र मे रगो का यथोचित समावेश, दबीज रग ।

शेड —साया, छाया, इसमे गाढे रग ही आते है, और Hue–झलक, टोन, आभा, छवि; इसमे हल्के रगों की आभा मात्र होती है ।

सुधापंक—गचकारी, पलस्तर, Stucco.

सरेखवपु—सुन्दर रेखाकन, Fine line drawing

सादृश्य—वस्तु के अन्तर्गत आकार का साम्य, Similarity, likeness.

सर्जरसा—चनरस (चंदरस), धूना या राल ।

स्तम्भना—रंग में गोद आदि मिलाकर पक्का करना ।

स्निग्धलेखा—सुकोमल रेखा, delicate line.

सुधाबंधन—चूनम्, सुधाकर्म, Plaster of paris लगाना ।

क्षय-वृद्धि—घटाव-बढाव या दूरी-निकटता दिखाना, Foreshortening.

चित्रसूची

२५—चन्द्रमा ताराकित ग्रीष्मऋतु की रात्रि में राधिका व कृष्ण, भागवत पुराण, मालवा शैली, १६९० ई०, भारत कला भवन।

२६—श्रावण मास, मेघाच्छन्न आकाश में विद्युत एवं उड़ती बक-पंक्ति, पहाड़ी शैली, १८वीं शती, भारत कला भवन।

२७—कार्तिक मास, पहाड़ी शैली, १८वीं शती, भारत कला भवन।

२८—चकोर-प्रिया, चित्रकार भोलाराम, पहाड़ी शैली, १८१५ ई० भारत कला भवन।

२९—निधिशृंग दर्शाते समुद्रगुप्त के स्वर्ण सिक्के, गुप्तकाल, भारत कला भवन।

३०—हाथ में कमण्डलु-कटोरा लिए कल्पवृक्ष से उद्भूत वनदेवता: कल्पलता से निकलती निधियाँ, भरहुत, शुंगकाल, इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता।

३१—कदली-परिरम्भ, पहाड़ी शैली, १८वीं शती, भारत कला भवन।

३२—नारायण द्वारा प्रथम चित्रांकन एवं शास्त्र-विवेचन, दशावतार मन्दिर, देवगढ़ (झांसी), ५वीं शती।

विष्णु द्वारा विश्वरूप प्रदर्शन, जयपुरी रामायण, राजस्थानी शैली,
१८वीं शती, भारत कला भवन
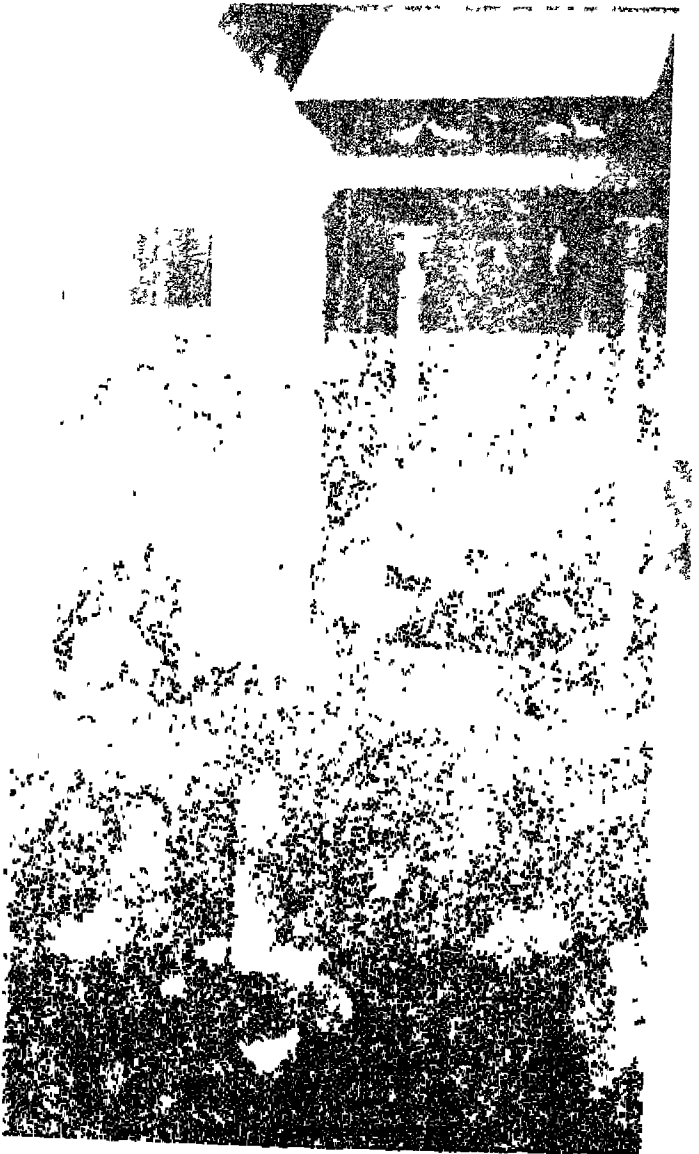
(२) सिद्धार्थ की कला - शिक्षा, अजंता, गुफा १७, गुप्त

) कृष्णाभिसारिका नायिका, पहाड़ी शैली, १८ वी शती, भारत कला भ

(४) यक्ष द्वारा प्रेषित मेघ - दूत, अजन्ता, गुफा २, गुप्तका

(५) शंख - पद्म मोटिफ़, अजंता, गुफा १७, गुप्तकाल
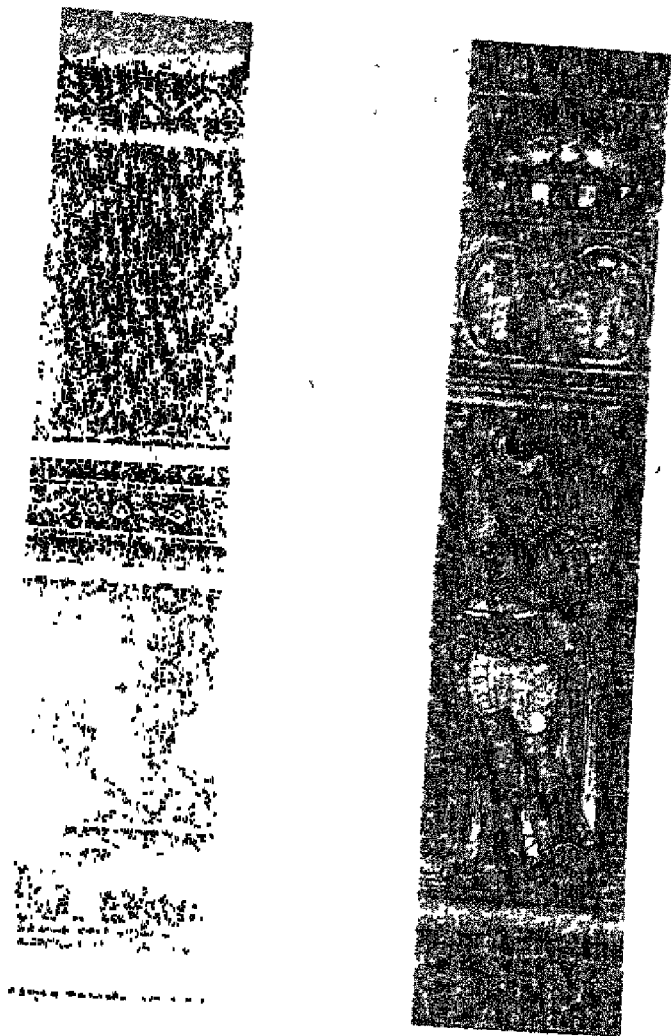
(६) स्तम्भ पुत्तलिका, अजन्ता, गुफा १७, गुप्तकाल

(७) किन्नर-मिथुन, अजन्ता, गुफा १, गुप्तकाल
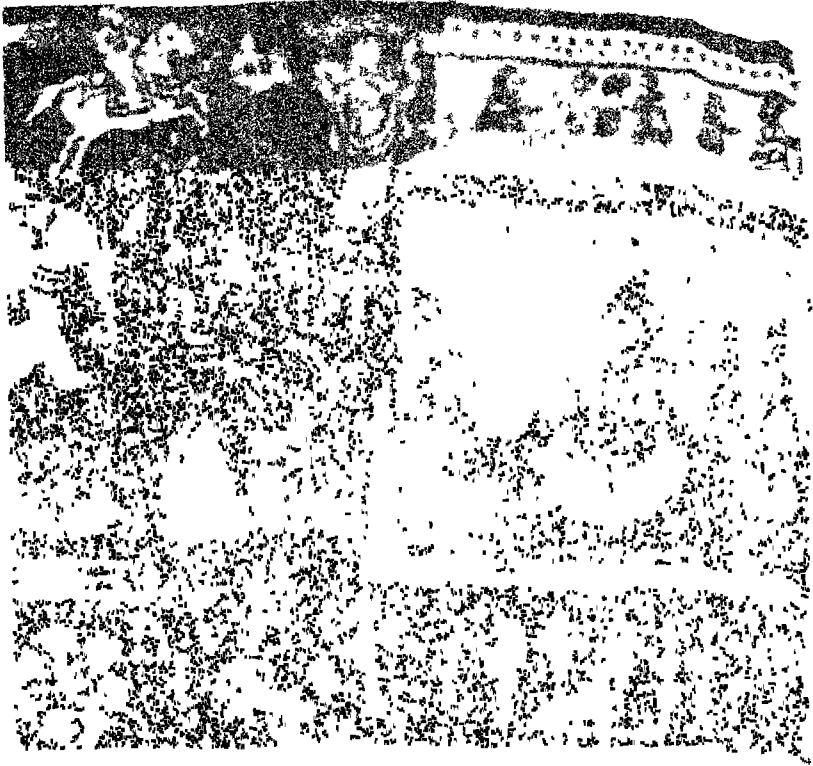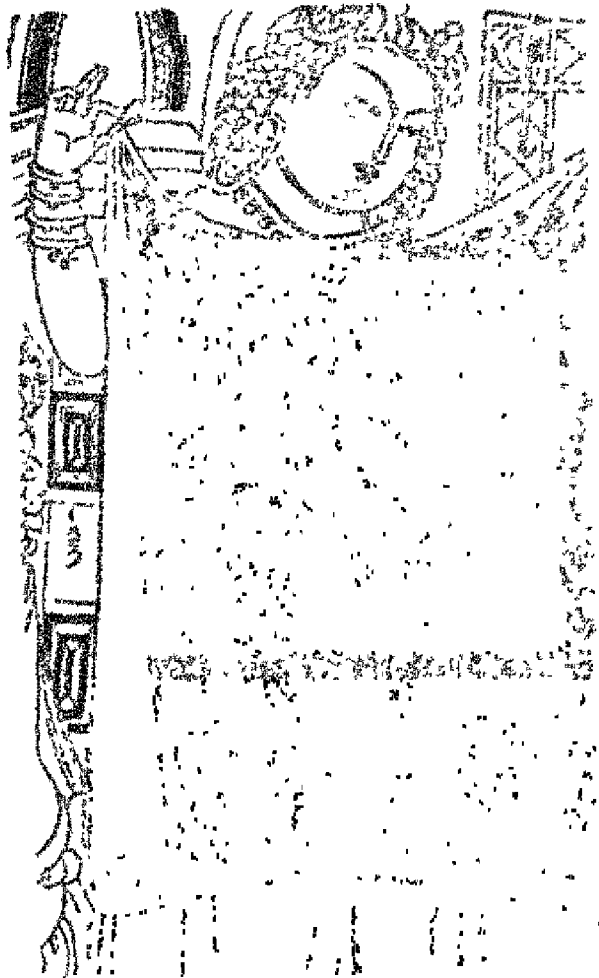
(९) चित्रपट पर बुद्ध-जीवनी के चार दृश्य, मध्य एशिया
लेकॉक द्वारा अन्वेषित

कुल - दोहद, चुलकोका देवता, भरहुत स्तूप का वेदिका स्तंभ, शुंग काल, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली
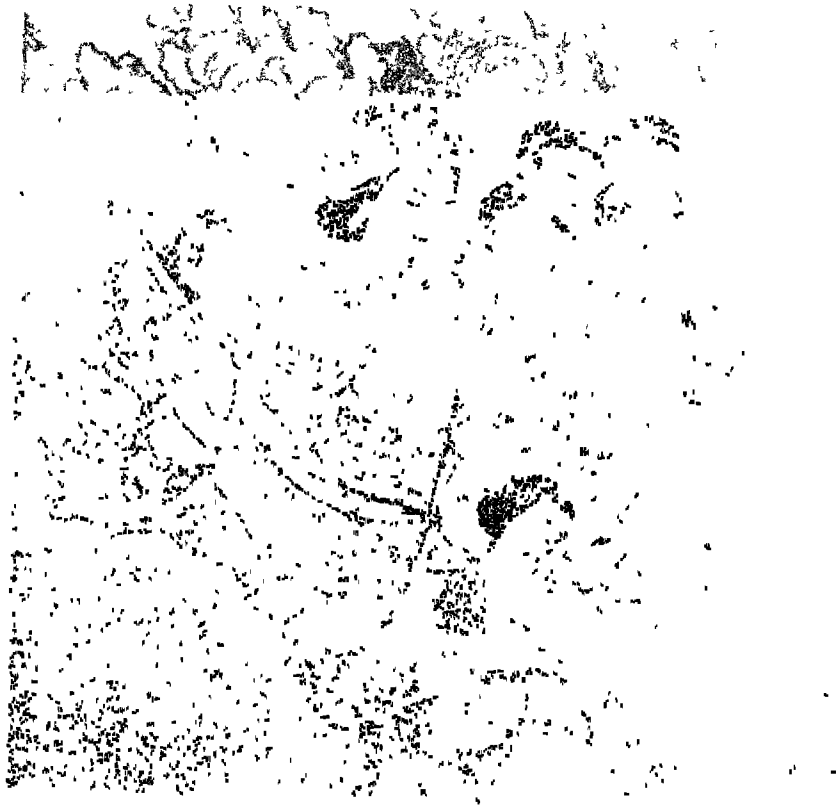
(११) आकाशचारी दिव्य गायक गंधर्व, अजंता, गुफा १७, गुप्तकाल
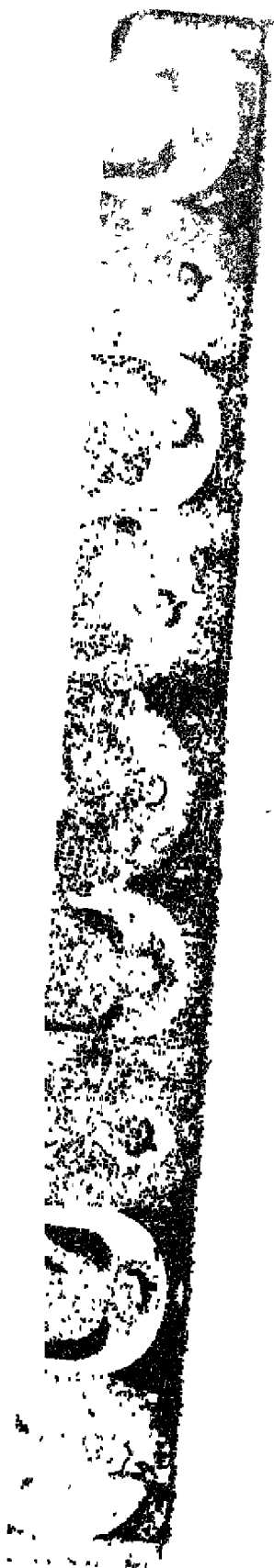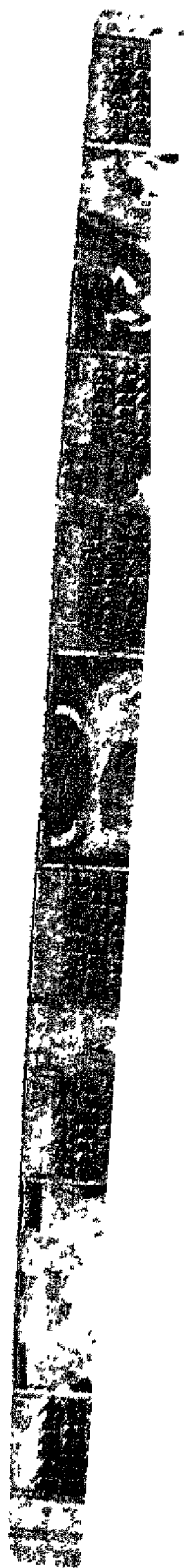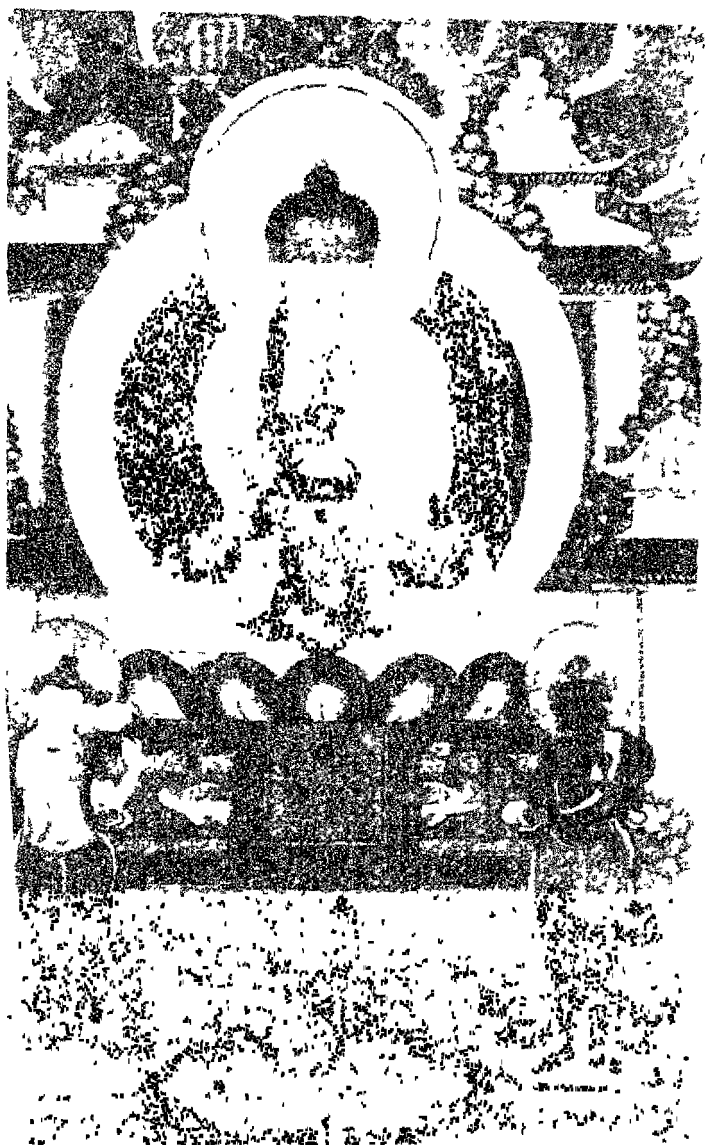
पाली पटचित्र पर अमिताभ, शेरा पॉलिटन म्यूजियम, इंग्लैंड

(१५) आख्यान - पट पर अंकित समुद्र - मंथन, उड़ीसा पटचित्र,
१९वीं शती का प्रारंभ, इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन
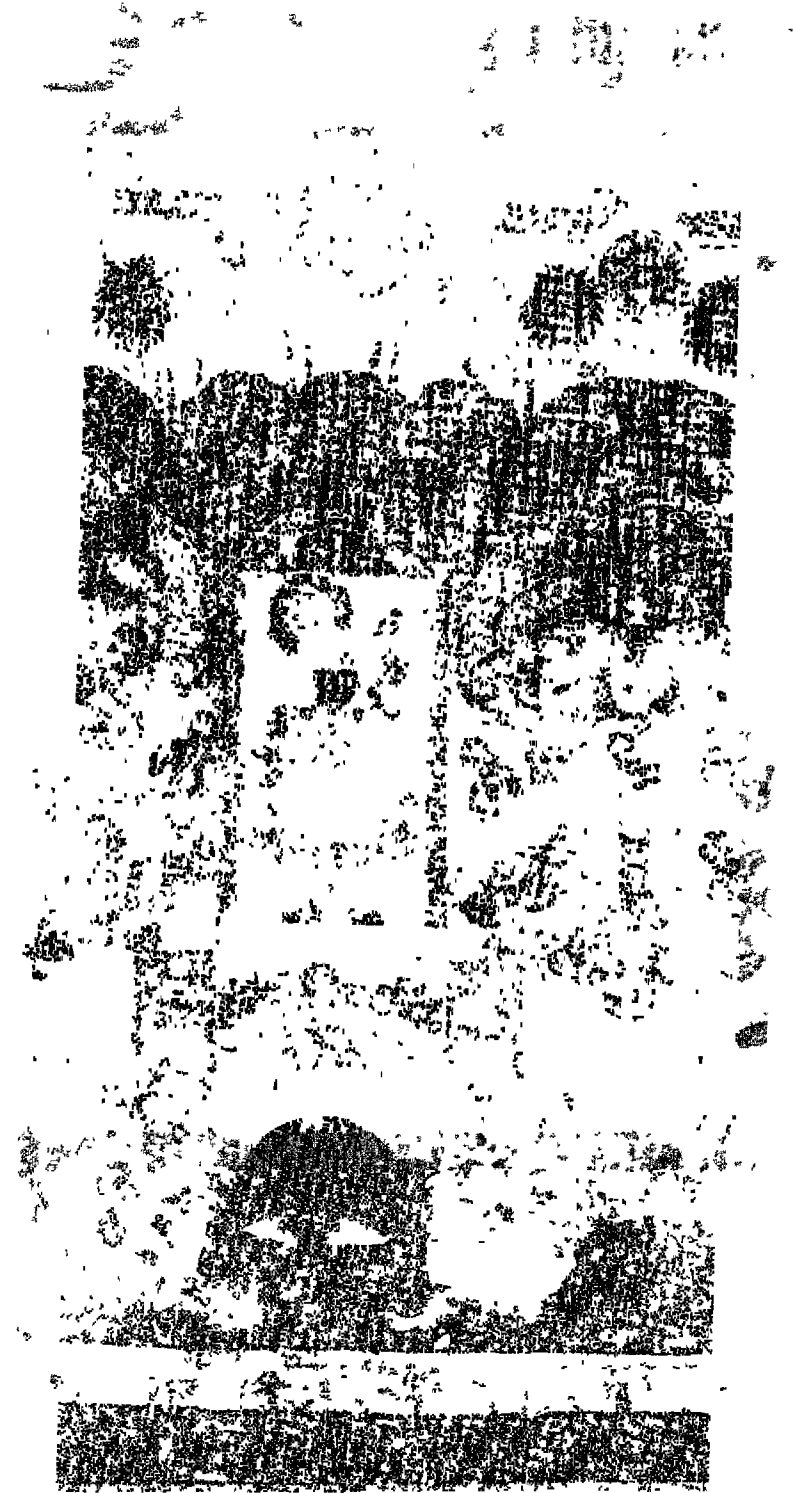
) शरद पूर्णिमा में महारासलीला चित्रित पिछवई, नाथद्वारा शैली,
प्रारंभिक १९वीं शती, भारत कला भवन

(१७) कृष्ण द्वारा राधा के वक्ष पर पत्रालेखन, गीतगोविन्द, पहाड़ी शैली, १७३० ई०, भारत कला भवन

त्रिभंगी मुद्रा में पद्मपाणि बोधिसत्व, अजन्ता, गुफा १, गुप्तकाल
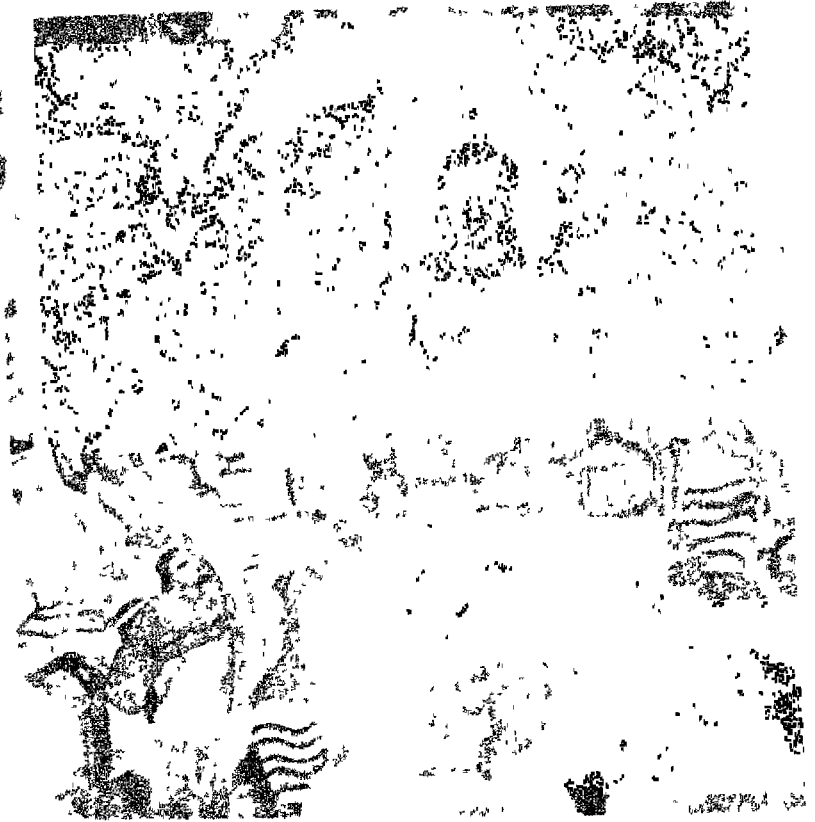
(१९) नव - रस युक्त मार - विजय, अजंता गुफा १, गुप्तकाल
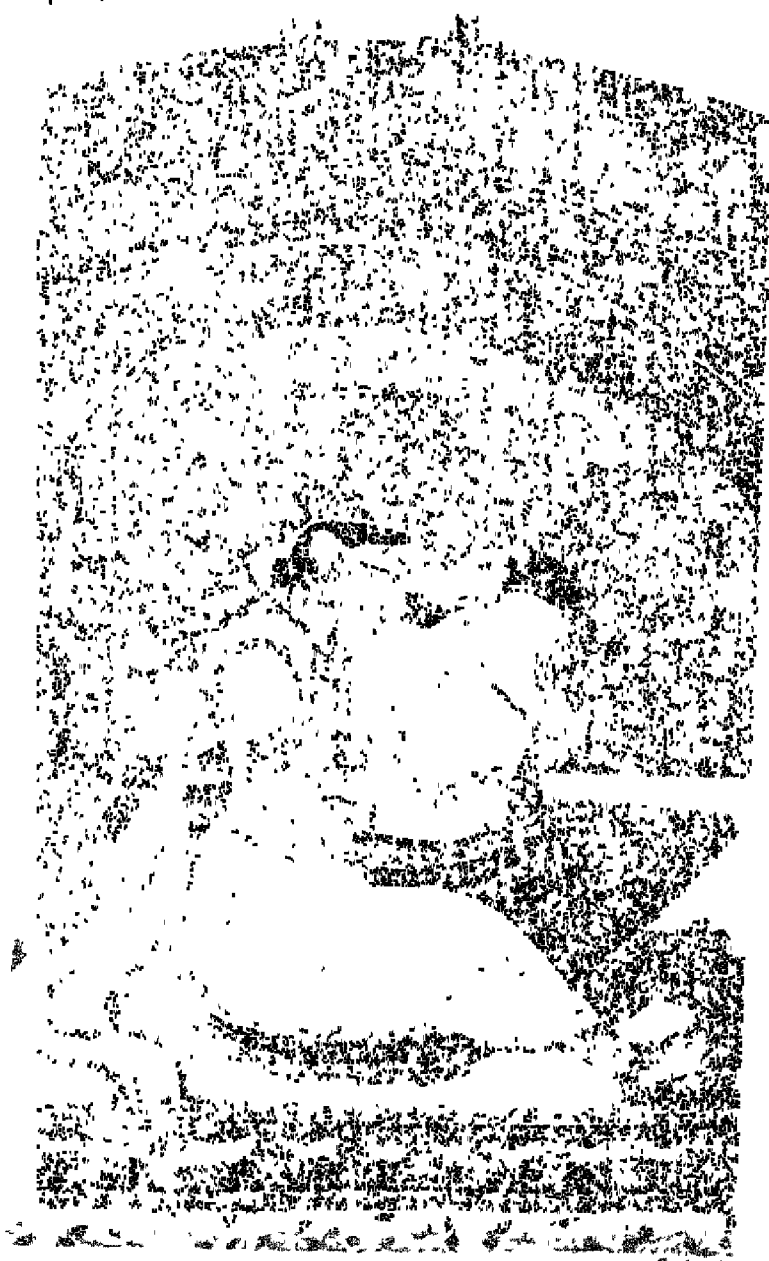
(२०) प्रेम - परिरम्भ में राधा का हेला - भाव, पहाड़ी शैली,
१८वीं शती, भारत कला भवन

(१९) मत्र - ध्वि मुक्त भाव - विज्ञान, अर्थात मुद्रा ९.

(२३) प्रेम-प्रतीक राधा-कृष्ण एवं जड़ चेतन,
१८१० - १८२० ई०, एन० बामन बेदराम सग्र

) कमल - वन में राधा - कृष्ण नयनमिलन, पहाड़ी शैली,
१८वीं शती, भारत कला भवन

(२५) चन्द्रमा तारांकित ग्रीष्मऋतु की रात्रि में द्वारिका में कृष्ण,
भागवत पुराण, मालवा शैली, १६९० ई०, भारत कला भवन

श्रावण मास, मेघाच्छन्न आकाश में विद्युत् एवं उड़ती बक-पंक्ति,
पहाड़ी शैली, १८वीं शती, भारत कला भवन

(२७) कार्तिक मास, पहाड़ी शैली, १८ वीं शती, भारत क

(२८) चकोर - प्रिया, चित्रकार भोलाराम, पहाड़ी शैली,
१८१५ ई०, भारत कला भवन

(२९) निधिश्रृंग दशाति समुद्रगुप्त के स्वर्ण सिक्के, गुप्तका भवन

१८
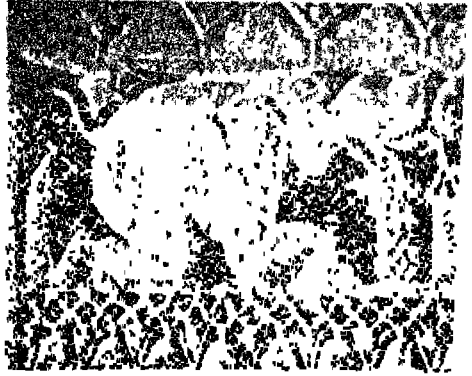
) हाथ में कमंडलु - कटोरा लिए कल्पवृक्ष से उद्भूत वनदेवता; कल्पलता
निकलती निधियां, भरहुत, शुंगकाल, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता

(३१) कदली - परिरम्भ, पहाड़ी शैली, १८वीं शती, भारत कला

(३२) नारायण द्वारा प्रथम चित्रांकन एवं शास्त्र - विवेचन,
मंदिर, देवगढ़ झासी , ५वीं शती

BIBLIOGRAPHY

Agrawal, Bhanu, 1981-83 : Literary Background of Malwa Ramayana Paintings in Bharat Kala Bhavan, Jour. Ind. Soc. Orient. Art, Vol 12-13, Calcutta, pp 41-58.

1981 : Deux miniatures interessantes dun Ramayana du Malwa et leur arriereplan litteraire, Arts Asiatiques, Paris, Vol. 36, pp. 59-61

Agrawal, V. S. 1965 : Indian Art, Prithivi Prakashan, Varanasi

1965 : Studies in Indian Art, Vishwavidyalaya Prakashan, Varanasi.

Anand Krishna, 1968 : Indian Aesthetics as Revealed in Sanskrit Literature, Indian Institute of Advanced Study, Simla.

1971 : Chhavi, I, ed. Anand Krishna, Bharat Kala Bhawan, Varanasi

1981 : Chhavi, II, Rai Krishna Das Commemoration Vol., ed. Anand Krishna, Bharat Kala Bhawan, Varanasi.

Archer, W. G. 1952 : Kangra Painting, London

Barrett, D. E. & Basil Gray 1963 : Paintings of India, Treasures of Asia Series, Skira.

Basava Raja : Sivatatvaratnakara, ed. B. R. Rao and P. S. Shastri, B M. Nath & Co., Madras, 1927, Vol. I; ed. S. Narayana Swami Shastri, Mysore, 1964.

Bhattacharya, A. K. 1976 : Technique of Indian Painting, Saraswat Library, Calcutta.

Birdwood, J. C. M., 1880 : The Industrial Art of India. Chapman and Hall, Ltd. London.

Bose, N. L., 1948-49 : The Use of Anatomy in Painting, Vishva-Bharati Quart. XIV, pp. 33-42

Bose P. N., 1926 : Principles of Indian Silpasastra, Lahore.

Brown, Percy, 1947 : Indian Painting. 5th ed. Y. M. C. A. Publishing House, Calcutta.

Chakrabarti J., 1980 : Techniques in Indian Mural Painting, K. P. Bagchi & Co., Calcutta.

Chatterji, S., 1961 : Rupapati, World Window, I, No. 3, Vishva-Bharati, Calcutta, pp. 31-37.

Coomaraswamy, A. K., 1923 : Introduction to Indian Art. Theosophical Publishing House, Madras.

1926-28 . Citralakshana (Sri Kumara, Silparatna, Ch. 64), Sir Asutosh Mookerjee Commemoration Vol., Patna, pp. 49-60.

1927 : History of Indian and Indonesian Art, Edward Goldston, London, and reprinted, New York, 1965

1928 : Yakshas II, Washington.

1929 : Nagar Painting, Rupam, Calcutta, No. 37, pp. 24-29, No. 40, pp. 127-29.

: One Hundred References to Indian Painting, Artibus Asiae, IV, pp. 41-57.

: Further References to Painting in India, Artibus Asiae, IV, pp. 126-129; First Reprint in West Germany, 1968.

1931 : An Early Passage on Indian Painting, Eastern Art, III, pp. 218-221

1932 : Reactions to Art in India, Jour. American Orient. Soc., 52, pp. 213-220.

: Some Notes on Vishnudharmottara (Chapter 41), Jour. American Orient. Soc . 52, pp. 12-21.

1932 : Abhasa, Jour. American Orient Soc., 52 pp. 208-212.

1935 : The Transformation of Nature in Art. Harward University Press, Dover Pub., New York, U. S. A.

Coomaraswamy, A. K., 1943 : Why Exhibit Works of Art, Luzac & Co., London

1946 : Figures of Speech or Figures of Thought, Luzac & Co., London

1950 : The Technique and Theory of Indian Painting, J. U. P. Hist. Soc. XXIII, pp. 1-34.

1956 : Madiaeval Sinhalese Art, II ed. Pantheon Book, U S.A.

1961 : The Paintings of Nandalal Bose, World Window, I, No. 3, Vishva-Bharati, Calcutta, pp. 28-30.

1974 : The Dance of Shiva, Munshiram Manoharlal Publisher, Delhi.

Dasgupta, R , 1965 : Tai Ahoma Painting in Assam, Pragjyotish Souvenier, p. 87.

Dasgupta, S. N., 1954 : Fundamental of Indian Art, Bharaty Vidya Bhawan, Bombay

Enakshi, B.	:	The Dance in India, Taraporevala, Bombay Encyclopaedia Britanica, Edition, *1910, 1969*. Encyclopaedia of Arts, 1946, ed. Dagobert, D. Ranes and Harry G. Schrickel, Philosophical Library, New York.
Fergusson 1969	:	*Cave Temples of India, Oriental Book Reprint* Corporation, II ed. Delhi,
Gangoly, O. C.	:	Six Limbs of Indian Painting
Ghosh, A. 1967	:	Ajanta Murals; New Delhi
Goetz, H. 1947-48	.	The Neglected Aspects of Ajanta Art, Marg, 2, No. 4, pp 36-64
Griffiths, J. 1896-97	:	The Paintings in the Buddhist Cave Temples of Ajanta; two Vols , London
Guha J. N. 1942-43	:	The Technique of Wall Painting, as reflected in the Abhilashitarthachintamani Vishva-Bharati, Quart , VIII, pp. 170-174
Havell, E. B., 1911	:	The Ideals of Indian Art, Part I, John Murray, London
Hegel, G. M. F., 1920	:	The Philosophy of Fine Art, I, London
Herringham, Lady 1915	:	Ajanta Frescoes, India Society, Oxford, London
Jayasawal, K. P., 1922	:	A Hindu Text on Painting, Modern Review, 33, pp. 732-735.
Keith, A. B. 1924	:	Sanskrit Drama, Oxford University Press, Oxford.
Kern Institute, 1938, 1962-63	:	Annual Bibliography of Indian Archaeology, Leyden
Khandalavala, K. J. 1958	:	Pahari Miniature Painting, Bombay
Kramrisch, S., 1928	:	Vishnudharmottara, III, Calcutta University Press, II ed.
1937	:	A Survey of Painting in the Deccan, Hyderabad, pp. 3-69
Krishna Chaitanya, 1976	:	History of Indian Painting, I, Abhinava Pub., Delhi
1979	:	History of Indian Painting, II, Abhinava Pub., Delhi
1982	:	History of Indian Painting, Rajasthani Tradition, Abhinava Pub., Delhi
1983	:	Profile of Indian Culture, Claron Books Pub.
1984	:	History of Indian Painting, Pahari Tradition, Abhinava Pub.

Langer, 1953 : Feeling and Form, Kegan Paul, London

Le Coq, A. V., 1928 : Buried Treasures of Chinese Turkestan, tr. by Anna Barvell, George Allen & Unwin Ltd., London

Lipsey, R., 1977 : Coomaraswamy : Selected Papers, 3 Vols, Princeton University Press, New Jersey.

Macdonell, A. A. 1897 : Vedic Mythology, Strassburg.

Mehta, N. C. 1926 : Studies in Indian Painting, Taraporevala, Bombay

1961 : Notes on Hindu Painting, Rooplekha, 32, No. 2, pp. 98-103.

Mitra, A. 1950 : Sensus Report of West Bengal, Calcutta

Mookerjee, A. 1966 : Tantra Art, Ravi Kumar, New Delhi

1971 : Tantra Asana, Ravi Kumar New Delhi

Motichandra, 1939 : The Art of Ajanta, Prince of Wales, Bombay.

Motichandra, 1940 : The Technique of Mughal Painting, U. P. Hist. Soc., Lucknow.

1949 : Jain Miniature Paintings from Western India, Sarabhai Nawab, Ahmedabad

1961 : A New Document of Indian Painting Lalit Kala Jour., No. 10, Bombay

1964-66 : Nidhishringa, Prince of Wales Museum Bulletin, No. 9, Bombay.

1974 : Studies in Early Indian Painting, Bombay.

Moitra, D., 1961 : Linear Works of Nandalal Bose, World Window, I, No. 3, Calcutta, pp. 58-59

Mukerjee, R. K. 1959 : The Culture and Art of India, George Allen & Unwin Ltd., London

Oldenberg, H., 1928 : Vedic Words for 'Beautiful' and 'Beauty' and the Vadic Sense of the Beautiful, Rupam, No. 32, Calcutta Division.

Pandey, K. C. 1950 : Comparative Aesthetics, Vol. I & II, Chowkhamba Sanskrit Series, Benares.

Radhakrishnan, S. 1953 : The Principal Upanishads, George Allen and Unwin, London.

Raghavan, V. 1933 : Some Sanskrit Texts on Painting Ind. His. Quart. IX, pp 898-911.

1935 : Two Chapters on Painting in Narada Silpa Sastra, Jour. Ind. Soc. Orient. Art, 3, Calcutta, pp 16-33

1942 : Some Concept of Alankara Sastra, Adyar.

Ramswami Shastri, K. S. 1928 : Indian Aesthetics, Sri Vani Vilas Press, Srirangam.

Randhawa, M. S. 1954 : Kangra Valley Painting, Publication Division, New Delhi

1957 : The Krishna Legend in Pahari Painting, New Delhi

1962 : Kangra Paintings on Love, National Museum, New Delhi

Saunders, V. 1919 : Portrait Painting as a Dramatic Device in Sanskrit Plays, Jour of American Orient. Soc., 39.

Saunders, K. 1930 : The Living Tradition of Ajanta, Rupam, No. 41, pp. 11-14

Shah, Priyabala, 1961 : Vishnudharmottarapurana, 2 Vols., G O. S., Baroda.

Shastri, P. 1940 : Philosophy of Aesthetic Pleasure, Annamalay University

Shukla, D. N. : Vastu-Sastra, II, Hindu Canons of Iconography and Painting, Punjab University

Singh M. 1993 : The Cave Paintings of Ajanta, Thames and Hudson, London

Sivaramamurti, C. 1932-33 : Painting and Allied Arts as Revealed in Bana's Works, Jour. Orient. Res. 6 & 7, Madras, pp. 395-414; 59-81.

1932 : Sivatatvaratnakara, Triveni, July-Aug.

1933 : Kalidasa and Painting, Jour. Orient. Res. 7, Madras, pp. 158-185

1933-34 : Sri Harsa's Observations on Painting with Special Reference to the Naisadhiyacarita, Jour. Orient. Res. VIII, Madras, pp. 331-350.

1934 : The Artist in Ancient India, Jour. Orient. Res. VIII, Madras.

1934 : Sanskrit Saying Based on Painting, Jour. Ind. Soc. Orient Art, Calcutta

1935 : Artist's Materials, Calcutta Orient. Jour., II, No 9

: A Passage on the Painting-Process from Nannechoda's Kumarasambhava, Kuppuswami Commemoration, Vol. pp. 151-158.

1955, 1970 : Sanskrit Literature and Art; Mirrors of Indian Culture, New Delhi

1968 · South Indian Paintings, National Museum, New Delhi

1970 : Indian Painting, National Book Trust, New Delhi

1972 : Sanskrit Literature Illumines Art, Annuals, BORI, Poona.

1974 : Expressive Quality of Literary Flavour in Art, Dharwar.

1978 : Chitrasutra of the Vishnudharmottara, Kanak Pub., New Delhi

1978 : Painters in Ancient India. Abhinav Pub., New Delhi.

1980 : Approach to Nature in Indian Art and Thought, Kanak Pub., New Delhi

Somesvara : Abhilashitarthachintamani, Text ed. Shama Shastri, R., Vol. I, Mysore Sanskrit Series, Mysore, 1926; ed. Shrigondekar, G. K. as Manasollasa of Somesvara Vols. 2, G. O. S. 28, 84, Baroda, 1925, 1939.

Tagore, A. 1961 : Shadanga : Six Limbs of Painting, Abanindranath Tagore Golden Jubilee Vol., Ind. Soc. Orient. Art, Calcutta, pp. 12-23.

Tagore, R. 1981-83 : The Creative Ideal, Jour. Ind Soc. Orient. Art, 12-13, Calcutta, pp 93-98.

Tolstoy, 1946 : What is Art, J. M. Dent Pub., London

Vatsyayan, K., 1968 : Classical Indian Dance in Literature and the Arts, Sangeet Natak Akademi, New Delhi.

Yazdani, G.; 1930-33, 1946, 1955-56 : Ajanta, IV Vols., Oxford University Press, London

Zimmer, H. 1947 : Myths and Symbols in Indian Art and Civilization, Pantheon Books, New York, U. S. A.

अग्रवाल, भानु, १९७६ : उपनिषद् महात्म्य, श्री आनन्दमयी चैरिटेबल सोसाइटी, वाराणसी

१९८५ : पहाड़ी चित्रों में प्रेम-प्रतीक, रूपशिल्प, ज्वाला प्रसाद विद्यासागर इलाहाबाद ।

अग्रवाल, वासुदेवशरण, १९३७ : संस्कृत साहित्य में चित्रकला संबंधी शब्दावली, सम्मेलन पत्रिका (कला अंक) इलाहाबाद ।

१९४८ : भारतीय कला का अनुशीलन, कलानिधि अंक १, भा० क० भ०, वाराणसी ।

१९५० : मेघदूत. एक अध्ययन, राजकमल प्रकाशन, बम्बई ।

१९५३ : हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना ।

१९५८ : कला और संस्कृति, साहित्य भवन, इलाहाबाद, सं० २

१९६४ : प्राचीन भारतीय लोकधर्म, ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक–३ ।

१९६६, १९७७ : भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी

१९७० : कादम्बरी: एक सांस्कृतिक अध्ययन, विद्याभवन, राष्ट्रभाषा ग्रंथमाला–१४ । वाराणसी ।

अग्निपुराणम्, १९८७ : महेश अनुसंधान शोध संस्थान, वाराणसी ।

आचार्य, नारायण राम, १९८३ : दण्डी – दशकुमारचरितम् मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली ।

आचार्य, प्रसन्न कुमार, १९६२ : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

आचार्य, रामकुमार, १९८८ : राजशेखर – कर्पूरमंजरी, मकरन्द संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी ।

आचार्य, विश्वेश्वर, १९६० : मम्मट – काव्य प्रकाश – टीका, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी ।

आत्रेय, भीखनलाल, १९५७ : योगवाशिष्ठ और उसके सिद्धान्त, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी ।

उपाध्याय, बलदेव, १९३१ : श्रीहर्ष – नागानन्दम्, चौ० सं० सी०, वाराणसी ।

१९५० : भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रसाद परिषद्, वाराणसी ।

१९८३ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी ।

उपाध्याय, भगवतशरण, १९५५ : कालिदास का भारत, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।

१९६९ : गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, हिन्दी समिति, लखनऊ ।

उव्वट महीधर, १९८७ : यजुर्वेद संहिता – भाष्य, महेश अनुसन्धान – शोध संस्थान, वाराणसी ।

पवनकुमारी, (व्या०), १९७७ : कालिदास, रघुवंशम् मल्लिनाथ "संजीवनी" टीका, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।

पाठक जगन्नाथ, (अनु०), १९६१ : दामोदर गुप्त – कुट्टनीमत काव्य, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद।

१९६४ : बाणभट्ट – हर्षचरित – टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी।

पाण्डुरंग, काशीनाथ, १९४० : बाणभट्ट कृत कादम्बरी, "भानुचन्द्र" टीकासहित, नि० सा० प्रे०, बम्बई।

पाण्डेय, कान्तिचन्द्र, १९६७ : स्वतंत्र कला शास्त्र, भाग–१, चौ० सं० सी०, वाराणसी।

१९७८ : स्वतंत्र कला शास्त्र, भाग–२, चौ० वि० भ०, वाराणसी।

पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, १९७६ : बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ।

पाण्डेय, जनार्दनशास्त्री, (अनु०), १९६४ : ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

पाण्डेय, परमेश्वरदीन, (व्या०), १९८८ : भट्टनारायण वेणीसंहार नाटकम्, चौ०सु०भा०, वाराणसी।

पाण्डेय, प्रद्युम्न, १९६६ : अमरुक – अमरुशतक, चौ०सं०सी०, वाराणसी।

पाण्डेय, बी० एल०, १९८० : धनञ्जय दशरूपकम् टीका, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।

पाण्डेय, बैजनाथ, १९८० : श्रीहर्ष – रत्नावली – टीका, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

पाण्डेय, रमाशंकर, १९८७ : कालिदास – मालविकाग्निमित्र, टीका, चौ० सु० भा०, वाराणसी।

पाण्डेय, रामतेजशास्त्री, १९४९ : कालिदास – मेघदूतम् "संजीवनी" टीका मल्लिनाथ, पंडित – पुस्तकालय प्रकाशक, वाराणसी।

पारस्कर, १९०४ : गृह्यसूत्रम्, सनातन धर्म, बनारस।

पोद्दार, हनुमान प्रसाद तथा गोस्वामी, १९४९ : चिम्मन लाल (संपा०) : बृहदारण्यकोपनिषद्, कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्, मैत्रेयोपनिषद्, कल्याण, उपनिषद् अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर।

१९५१ : स्कन्दपुराण अंक, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर।

बृहस्पतिस्मृति, १९३३ : गा० ओ० सी०, बड़ौदा।

बिल्हण, १९८५ : कर्णसुन्दरी, पं० दुर्गाप्रसाद (संपा०), नि० सा० प्रे०, बम्बई।

बोस, नन्दलाल, १९४२ : शिल्पी रवीन्द्र नाथ, देश (बंगाल), हिन्दी विश्वभारती से अनुदित।

१९५२ : शिल्पकला, साहित्य भवन, इलाहाबाद। शिल्पचर्चा,

भरत, १९२६ : नाट्यशास्त्र, गा० ओ० सी०, बड़ौदा।

भारद्वाज, विश्वनाथ शास्त्री, १९५८ : बिल्हणविक्रमांकदेवचरितम् महाकाव्य टीका, तीन भाग, सं० सा० रिसर्च कमेटी, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

भोजदेव १९२५ : गा० ओ० सी० बड़ौदा

१९३५ : सरस्वतीकंठाभरण, भाग १, त्रिवेन्द्रम्, राजकीय मुद्रालय (अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली – ११७)

मत्स्य पुराण, १९८७ : महेश अनुसंधान – शोध संस्थान, वाराणसी।

मल्लिक, गुरुदयाल, १९४२ : प्राण के उपासक नन्दलाल, विश्व भारती पत्रिका खण्ड–२, अंक – १, सम्पादक हजारी प्रसाद द्विवेदी।

मल्लिनाथ, १९१६ कालिदास – कुमार सम्भव – टीका, बम्बई।

१९१६ : कालिदास – ऋतुसंहार – टीका, गजेन्द्र गडकर, बम्बई।

मित्तल, जगदीश, १९४८ : पहाड़ी चित्रों का अंकन विधान, कलानिधि, अंक - ३, भारत कला भवन, वाराणसी।

मिश्र, केदारनाथ, १९८७ : राजशेखर काव्य मीमांसा, टीका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

मिश्र, केशव, १९५२ : तर्कभाषा, चौ० सुरभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी।

मिश्र ठाकुरदत्त, १९३७ संस्कृत नाटकों में चित्रकला, सम्मेलन पत्रिका (कला अंक) इलाहाबाद।

मिश्र, बद्रीनारायण (व्या०), १९८८ : भारवि-किरातार्जुनीयम्, घण्टापथ मल्लिनाथ टीका, चौ०स०सी०, वाराणसी।

मिश्र, ब्रह्मशंकर, १९६८ : शुक्राचार्य – शुक्रनीति-टीका, चौ० स० सी०, वाराणसी।

मिश्र, रामचन्द्र, १९५५ : श्रीहर्ष–प्रियदर्शिका–टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी।

१९८४ : दण्डी काव्यादर्श-टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी।

१९८७ : भवभूति–महावीरचरितम्–टीका, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी।

मिश्र, रामजी, (अनु०) १९८२ : भासनाटकचक्रम्, भाग—१–२, चौ० वि० भ०, वाराणसी।

मिश्र, विद्यानिवास, १९६५ : अमरुक – अमरुशतक स० १, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

मिहिरचन्द्र, १९०४ शुक्रनीति-टीका, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

मुकर्जी, राधाकमल, १९७७ भारतीय कला का विकास, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद।

मेहता, नानालाल चमनलाल, १९३३ : भारतीय चित्रकला, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

मैक्समूलर, १८९०-९२ : ऋग्वेद, भाग १–४, लन्दन।

मोतीचन्द्र, १९६६ सार्थवाह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

मोतीचन्द्र तथा अग्रवाल, वासुदेव शरण, १९६० चतुर्भाणी–श्रृंगार–हाट, (पादताड़ितकम्, पद्मप्राभृतक, उभयाभिसारिका, धूर्तविटसम्वाद), टीका, बम्बई।

यतिकृष्ण मिश्र तथा त्रिपाठी, रामनाथ, १९७७ प्रबोध चन्द्रोदय, चौ० अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

रत्नाकर, जगन्नाथदास, १९५५ : बिहारी – रत्नाकर, ग्रंथ पुस्तक माला, लखनऊ, सं० १।

राजशेखर, १९३४ . काव्य मीमांसा, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, गा० ओ० सी०, बड़ौदा।

१९४९ . बालभारतम्, नि० सा० प्रे०, बम्बई।

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली, १९६९ · भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

रामचन्द्र–गुणचन्द्र, १९२९ नाट्यदर्पण, व्याख्या डा० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय, दिल्ली।

राय, उदय नारायण, १९६५ : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

रायकृष्णदास, १९६२ भारत की मूर्तिकला, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

१९७४ : भारत की चित्रकला, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

रायकृष्णदास एवं राय आनन्द कृष्ण, १९५९ अजन्ता के चित्रकूट, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

१९६२ : मध्यकालीन चित्र शैलियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

राय, रामकुमार (अनु०), १९८७ : ए० मैकडोनल–वैदिक–माइथोलॉजी, विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थालय, वाराणसी।

रूपगोस्वामीकृत, १९३१ . श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, श्रीजीवगोस्वामी टीका सहित। विद्या विलास प्रेस।

रेग्मी, शेषराज शर्मा, १९८० . विश्वनाथ–साहित्य दर्पण–टीका, चौ०स०भ०, वाराणसी।

१९८७ . जयदेव–प्रसन्नराघव–टीका, चौ०वि०भ०, वाराणसी।

वर्मा, परिपूर्णानन्द, १९६४ : प्रतीकशास्त्र, हिन्दी समिति, लखनऊ।

वात्स्यायन, १९८२ : कामसूत्र, यशोधर कृत "जयमंगला" टीका सहित तथा देवदत्त शास्त्री व्याख्या। आवृ०। काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, २९। चौ० सं० स०, वाराणसी।

वामन, १९७१ : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, चौ० वि० भ०, वाराणसी

वाल्मीकि, १९७६ श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, भाग—१–२, गीता प्रेस, गोरखपुर।

विद्यारण्य मुनि, १९८८ : पंचदशी, संशो० नारायणराम आचार्य, रतन एण्ड कं० दिल्ली।

विमल कुमार, १९६७ : सौंदर्य शास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

१९६८ : कला विवेचन, भारती भवन, पटना।

विश्वनाथ, १९३१ · साहित्यदर्पण, पाण्डुरंगजावजी बम्बई।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण, १९१२ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

१९५९ : भाग – १, गा० ओ० सी०, बडौदा।

१९७२ : चित्रसूत्रम्, श्रीतारिणीश झा (अनु०) सम्मेलन पत्रिका, कला अक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

१९८७ महेश अनुसधान–शोध–सस्थान, वाराणसी।

विष्णुपुराणम्, १९८७ . महेश अनुसधान शोध सस्थान, वाराणसी।

वेदव्यास, १९७६ श्रीमद्भागवत – महापुराण, खण्ड १–२, गीता प्रेस, गोरखपुर।

वैद्य,किशोरीलाल तथा हाण्डा, ओमचन्द्र, १९६९ पहाड़ी चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

शर्मा, देवेन्द्र, १९८१ बिहारी सतसई, (व्या०), विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

शर्मा, ब्रह्मानन्द, १९६४ . सस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारो का विकास, अजमेर।

शर्मा, शिवदत्त, (सपा०) १९०१ . क्षेमेन्द्र–बृहत्कथामजरी, नि० सा०प्रे०, बम्बई।

शामाशास्त्री, आर०, १९२६, : अभिलपितार्थ चिन्तामणि (मानसोल्लास), भाग–१, प्रकरण ३, मैसूर सस्करण

१९५६ कौटिल्य – अर्थशास्त्र, रघुवीर प्रिंटिंग प्रेस, मैसूर।

शास्त्री, एस० कुप्पूस्वामी, (अनु०), १९३३ वाल्मीकि रामायण, मद्रास।

शास्त्री, कृष्ण मोहन, १९७३ · बाणभट्ट – कादम्बरी – हिन्दी टीका, चौ० सं० सी०, वाराणसी, द्वि० सस्करण।

शास्त्री, गणपति, १९२५ · आर्यमजु श्रीमूलकल्प–टीका, त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरीज।

शास्त्री, गोविन्द देव, (सपा०) १९२६ राजशेखर – बालरामायण, वाराणसी।

शास्त्री द्वारिकादास (संपा०) १९८७ · भदन्तनागसेन, मिलिन्दपञ्हो, बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी।

१९८७ भर्तृहरि – वाक्यपदीय, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी।

शास्त्री, देवदत्त, १९७६ तन्त्र सिद्धात और साधना, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद।

शास्त्री, मथुरानाथ, १९४८ . बाणभट्ट–कादम्बरी, टीका, नि० सा० प्रे०, बम्बई।

शास्त्री, मधुसुदन, १९८१ भरत – नाट्यशास्त्र – टीका, भाग १–३, का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

शास्त्री, रामचन्द्रदास (व्या०), १९६३ : अश्वघोष – बुद्धचरितम्, चौ० वि० भ०, वाराणसी।

शास्त्री, शंकरदेव १९५४ सुबन्धु – वासवदत्ता–टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी।

शास्त्री, शान्तिभिक्षु, १९८४ : ललित विस्तर, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

शास्त्री, शेषराज, १९५४ · भवभूति – मालती माधवम्, चौ० सं० सी०, वाराणसी।